उपाचार्य श्री देवेन्द्र मुनि

श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय का २७१ वां पुष्प

☐ अप्पा सो परमप्पा

☐ उपाचार्य श्री देवेन्द्र मुनि

☐ प्रकाशक
श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय
शास्त्री सर्कल, उदयपुर-३१३००१

☐ वि. सं. २०४६ अक्षय तृतीया
मई १९८९

☐ संजय सुराना के निदशन में
कामधेनु प्रिंटर्स एण्ड पब्लिसर्स
A-7, अवागढ़ हाऊस, एम. जी. रोड
आगरा-२८२००१ द्वारा मुद्रित

श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय संशोधित संस्करण उदयपुर

☐ मूल्य : सिर्फ चालीस रुपया

समर्पण-सुमन

जिन्हें अपनी सत्ता पर विश्वास है,
और जो विकास के अनन्त स्वप्न संजोए,
निरन्तर अभ्युदय वे पथ पर बढ़ना चाहते हैं,
जिन्हें और जिन्हें खोज है,
आत्मानुभूति से परम शान्ति, परम ज्योति की
उन्हीं आत्मा से परमात्मा के यात्रापथ पर
गतिशील
आत्म-बंधुओं को

—उपाचार्य देवेन्द्र मुनि

प्रकाशक के बोल

साहित्य समाज का दर्पण भी है, और दीपक भी है। समाज की यथार्थ स्थिति का वह दिग्दर्शक भी है और समाज का पथ प्रदर्शक भी है, इसलिए साहित्य का अध्ययन, प्रचार, प्रकाशन एक सुरुचिसम्पन्न जागृत समाज का परिचायक है।

हमारी संस्था श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय विगत २५ वर्षों से उत्कृष्ट साहित्य के प्रकाशन में संलग्न है। इसके मूल प्रेरणा स्रोत हैं—श्रद्धेय उपाध्याय गुरुदेव श्री पुष्करमुनिजी म. तथा ऊर्जा स्रोत हैं श्रमणसंघ के उपाचार्य श्री देवेन्द्रमुनिजी। उपाचार्य श्री एक सतत ज्ञानयोग में रत सिद्धहस्त लेखक, चिन्तक और उदार विचारशील संघ नेता हैं। आपकी वाणी में तथा व्यवहार में जहाँ अतीव मधुरता, शालीनता और अनुशासनबद्धता है, वहीं आपके विचार जीवन को ऊर्ध्वमुखी बनाने, मानव मात्र को अध्यात्म व नीति की प्रेरणा देने वाले हैं।

उपाचार्यश्री सतत अध्ययनशील संत हैं। गम्भीर से गम्भीर ग्रन्थों का अनुशीलन करते रहते हैं और फिर उस अधीत विषय को हृदयंगम करके स्वयं भी लिखते हैं तथा हाथ में दर्द होने से बोलकर भी लिखवाते हैं।

उपाचार्यश्री द्वारा समय-समय पर लिखा हुआ साहित्य हमें उपलब्ध होता है और हमारा सौभाग्य है कि हम उसे प्रकाशित कर जन-जन के हाथों में पहुँचा पाते हैं।

श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय ने अब तक विभिन्न विषयों पर लगभग २७० से अधिक पुस्तकें प्रकाशित की हैं जो किसी भी संस्था के लिए एक सात्विक गौरव का विषय बन सकता है। हमें इन प्रकाशनों पर गौरव है। पाठक हमारे प्रकाशन रुचिपूर्वक पढ़ते हैं। अनेक पुस्तकों के द्वितीय संस्करण हो चुके हैं, तथा हो रहे हैं। यह हमारे प्रकाशनों की लोकप्रियता का स्पष्ट प्रमाण है।

हमारे इस प्रकाशन में आर्थिक रूप से जिन्होंने सहयोग प्रदान किया है, हम उन दानी महानुभावों के सहयोग के प्रति आभार प्रकट करते हैं तथा विश्वास है, भविष्य में भी इसी प्रकार वे सहयोग का हाथ बढ़ाते रहेंगे। जिससे हम नित-नया अभिनव साहित्य अपने प्रेमी पाठकों को समर्पित करते रहेंगे।

—चुन्नीलाल धर्मावत
कोषाध्यक्ष
तारक गुरु जैन ग्रन्थालय, उदयपुर।

आदिवचन

एक पुरानी कहानी है कि किसी जंगल में एक शेरनी, शिशु को जन्म देकर तुरन्त मर गई। सिंह का बच्चा पड़ा था कि एक गड़रिये ने उसे पाल लिया। अपनी भेड़-बकरियों के साथ ही वह उसे रखता, खिलाता-पिलाता। इस कारण सिंह-शिशु भी भेड़-बकरी की तरह सब आदतें सीख गया। गड़रिया भी उस सिंह-शावक को रस्सी से बाँध लेता, लकड़ी से हाँकता।

एक दिन जंगल में दूर सिंह की गम्भीर गर्जना हुई। सिंह की गर्जना सुनते ही भेड़-बकरियों का झुंड उल्टे पाँव दौड़ने लगा, उनके साथ ही सिंह-शिशु भी भागता जा रहा था, उधर से सिंह आ गया। उसने भेड़ों के झुंड के साथ सिंह-शिशु को भागते देखा, तो सामने आकर खूब जोर से दहाड़ा, उसकी दहाड़ सुनकर सिंह-शिशु भी दहाड़ने लगा। यह देख गड़रिया भी डर कर भाग खड़ा हुआ। इधर सिंह-शिशु एक सरोवर पर आकर पानी पीने लगा। पानी में अपनी परछाई देखी, तो उसे सामने खड़े सिंह की छवि जैसी ही अपनी छवि लगी। वह सोचने लगा—'अरे, सामने खड़ा जो यह सिंह गर्जना कर रहा है, यह तो मेरे जैसा ही है, मुझमें और इसमें कोई अन्तर नहीं है, फिर मैं इससे डरता क्यों हूँ? उसने पुनः सिंह जैसी गर्जना की। अब तो उसे पक्का विश्वास हो गया कि मैं भेड़-बकरी नहीं, मैं तो सिंह हूँ, और मैं भी इसी प्रकार गर्जना कर सकता हूँ। जंगल में अकेला निर्भय विचर सकता हूँ। मुझे किसी से डर नहीं।

आत्मविज्ञानी विद्वानों ने इस उदाहरण द्वारा यह बताया है, आत्मा सिंह-शिशु की तरह आत्म-बोध-शून्य होकर स्वयं को भेड़-बकरी की भाँति दीन-हीन समझता रहा है चूँकि यह अज्ञान-मोह आदि आवरण से ग्रस्त है, इसलिए स्वरूप का भान नहीं है, अपनी अनन्तशक्ति, अनन्तज्ञान और अनन्त आनन्दमय रूप को भीतर समाहित किए हुए भी यह उसकी सत्ता का अनुभव नहीं कर पा रहा है, इसलिए सच्चिदानन्दमय होकर भी विपद्-कंद में क्रन्दन कर रहा है।

जिन आत्माओं ने पुरुषार्थ और प्रज्ञान द्वारा अपने स्वरूप का अनुभव किया, उस अनन्त चिन्मय रूप को जागृत किया, उन्होंने इस अज्ञानावृत आत्मा को उद्‌बोध देकर कहा—"पुरिसा ! बंध-प्पमोक्खो तुज्झत्थमेव" हे पुरुष ! (हे आत्मन् !) बंधन से मुक्त होने की शक्ति तेरे ही भीतर छुपी है तेरे भीतर अनन्तज्ञान-दर्शन, सुख की सत्ता छिपी है। तू पुरुषार्थ कर। इस स्वरूप को प्राप्त कर। स्वरूप को प्राप्त करने पर यह आत्मा ही परमात्मा बन जायेगा—"अप्पा सो परमप्पा"।

वास्तव में जैनधर्म का यह अद्‌भुत उदात्तघोष समूचे अध्यात्म-जगत् में अद्वितीय कहा जा सकता है, जिसने आत्मा और परमात्मा को एक ही सत्तत्व माना है। आत्मा, परमात्मा में कोई मौलिक स्वरूप का अन्तर नहीं, सिर्फ स्थिति का अन्तर है। अज्ञान-मोहावृत दशा में आत्मा है, और अज्ञान-मोहमुक्त होने पर वही आत्मा परमात्मा बन जाता है। समूचे अध्यात्म क्षेत्र में यह क्रान्तिकारी उद्‌घोष आत्मा की महानता का, अनन्त शक्तिमत्ता का जयघोष है। यद्यपि कहने में यह बात बहुत सरल है कि आत्मा ही परमात्मा है, और सुनने में भी बड़ी कर्णप्रिय मधुर लगती है। कोई भी आत्मा स्वयं को परमात्म-रूप में सुनकर प्रफुल्ल हो उठता है, किन्तु तात्विक दृष्टि से यह साधना की एक सुदीर्घ कठिन प्रक्रिया है।

जिस प्रकार सोने की खान में से मिट्‌टी के कण निकालकर मिट्‌टी से सोना बनाने की बात सुनने में बहुत ही आसान व मोहक लगती है। किन्तु मिट्‌टी से सोना बनाने की कठिन रासायनिक प्रक्रिया का जिसे ज्ञान है, वह समझता/मानता है कि यह प्रक्रिया कितनी कठिन और लम्बी है। जब तक इस रासायनिक प्रक्रिया से मिट्‌टी-कण नहीं गुजरते हैं, सोना नहीं बनता।

आत्मा को परमात्मा बनने के लिए भी इसी प्रकार की रासायनिक प्रक्रिया से गुजरना पड़ता है। अध्यात्म की भाषा में "भावना" को "रस" कहते हैं। भावों के परिवर्तन से कर्म दलिकों में रस-परिवर्तन होता है और उस रस-परिवर्तन से ही आत्मा अशुभ से शुभ और शुभ से शुद्ध दशा को प्राप्त होती है। यह रासायनिक परिवर्तन ही आत्मा को परमात्म-स्वरूप में प्रतिष्ठित करता है।

काफी समय से मैं अध्यात्म ग्रंथों का अध्ययन कर रहा था। आगमों

के अतिरिक्त उपनिषद्, शंकर का अद्वैत दर्शन, तथा योग विषयक विविध ग्रंथ—जिनमें हरिभद्र, आनंदघन, यशोविजयजी आदि अध्यात्मवादी आचार्यों का चिन्तन है। मैंने कई बार उनका अध्ययन-अनुशीलन किया। आचार्य हरिभद्र का यह श्लोक बार-बार मेरे मन-मस्तिष्क में घूमता रहता था। "परमैश्वर्ययुक्तत्वात् आत्मैव मत ईश्वरः" परम-ऐश्वर्य से युक्त होने के कारण आत्मा ही परमात्मा है। उपाध्याय यशोविजयजी का यह वचन—"सिद्धस्य हि स्वभावो यः सैव साधकयोग्यता" (अध्यात्मसार) सिद्ध आत्मा का जैसा ज्ञान-दर्शन-आनन्दमय स्वभाव है, वही शुद्ध स्वभाव की योग्यता साधक आत्मा में स्थित है।

इस प्रकार के अनुभवमूलक प्रेरक सूत्र जहाँ आत्मा की अखण्ड-अनन्त सत्ता का सम्पूर्ण बोध और विश्वास जगाते हैं, वहीं आत्मा से परमात्मपद तक पहुँचने की, अर्थात् आत्मा को परमात्मा बनने तक की सम्पूर्ण विधि का अध्यात्मवादी तात्त्विक विवेचन विश्लेषण भी इन ग्रंथों में मिलता है, जिनके स्वाध्याय से ज्ञान के नित नये आयाम खुलते हैं और साधना को तेजस्वी, प्रभावी बनाने की अनुभूतियाँ भी मिलती हैं। मैंने उन्हीं अध्यात्म ग्रन्थों के स्वाध्याय के आधार पर कुछ निबंध समय-समय पर तैयार किये हैं। इन निबंधों का मूल विषय एक धाराबद्ध है। आत्मा का स्वरूप, आत्मा का अस्तित्व, आत्मा की खोज, आत्मा-परमात्मा में भेद-अभेद, परमात्मा बनने का मार्ग, परमात्म-स्वरूप की उपलब्धि, विविध साधनाएँ आदि।

इस प्रकार इस संपूर्ण विषय का एक वैज्ञानिक अध्ययन हो जाता है, जिसमें हम आत्मा से परमात्मा तक की रासायनिक परिवर्तन की प्रक्रिया का आत्मानुभवगत बोध प्राप्त कर सकते हैं। यद्यपि यह अध्यात्म प्रधान विषय गम्भीर है, इसलिए कुछ नीरसता भी आ सकती है। किन्तु वास्तव में यह नीरसता नहीं, विषय की गम्भीरता ही है। जिन्हें अध्यात्म विषय की अभिरुचि है, इस विषय का अध्ययन है, वे इन निबंधों के स्वाध्याय से अवश्य ही आध्यात्मिक खुराक प्राप्त कर प्रसन्नता का अनुभव करेंगे। मैंने प्रयास यही किया है कि सरल व अनुभवगम्य उदाहरणों द्वारा [illegible]भीर विषय को सुबोध तथा रुचिकर बना लूँ, आशा करता हूँ [illegible]क अवश्य ही इसको पढ़कर आत्मानंद अनुभव कर सकेंगे।

[illegible]श्रमणसंघ के परम श्रद्धेय नायक महामहिम आचार्य प्रवर [illegible]जी महाराज की प्रेरणा और प्रोत्साहन का ही यह सुफल

है कि आज श्रमणसंघ के मुनि अध्यात्म, योग, साधना जैसे विषयों पर अध्ययन और अनुभव के पथ पर गतिमान हो रहे हैं। मैं इस लेखन को आचार्य प्रवर के आशीर्वचन का ही सुफल मानता हूँ।

मेरे चिन्तन; लेखन अध्ययन की प्रेरक शक्ति हैं सद्गुरुदेव उपाध्याय श्री पुष्करमुनि जी महाराज। वे स्वयं अध्यात्मविषयों का अध्ययन, अनुशीलन करते हैं और जप-ध्यानयोग द्वारा आत्मानुभव का रसास्वाद भी करते हैं। उनकी प्रेरणा मेरे जीवन में प्रेरणा प्रदीप बनी है।

विश्रुत विद्वान मुनि श्री नेमीचंदजी म० का आत्मीय सहयोग-स्मरण करता हूँ, जिनकी सतत सहयोग-भावना को विस्मृत नहीं हो सकता। आशा है, अध्यात्मप्रेमी पाठक इससे लाभान्वित होंगे।

—उपाचार्य देवेन्द्रमुनि

महावीर-जयन्ती
राशमी (मेवाड़)
दि० १८ अप्रैल, १९८९

●●

समाजरत्न श्रीमान् जेठमलजी सा. चौरडिया

एक परिचय

भारतीय संस्कृति का उद्घोष है कि जीवन वही श्रेष्ठ है जिसमें सत्य-स्नेह-सद्भावनाएँ-संयम-उदारता-सेवा आदि की सुगन्ध महक रही है। वही जीवन कमल सा श्रेष्ठ है। श्रीमान् जेठमलजी सा. चौरड़िया का जीवन भी इसी प्रकार सुवासित सुरभित है।

श्रीमान् जेठमलजी सा. चौरड़िया स्थानकवासी समाज के एक वरिष्ठ मेधावी उदार उद्योगपति हैं। आपकी प्रकृति बहुत ही मधुर है। आप एक सुलझे हुए चिन्तक हैं। सामाजिक और धार्मिक कार्यों में आपकी रुचि प्रशंसनीय है। भौतिकवाद के युग में भी आपके जीवन के कण-कण में धर्म के प्रति गहन आस्था रमी है। साथ ही आपकी साहित्य रुचि भी बहुत ही प्रशंसनीय है। आप श्रेष्ठतम साहित्य के प्रकाशन में अपना सतत् सहयोग प्रदान करते रहे हैं। साथ ही सामाजिक कार्यों में भी आपकी रुचि बहत ही प्रशंसनीय है। समाज के सभी वर्गों व सभी क्षेत्रों में आपकी सह-योग मंदाकिनी प्रवाहित रही है।

आप राजस्थान में चान्दावतों को नोखा के निवासी रहे हैं। वह पवित्र भूमि है जहाँ पर स्वर्गीय मंत्री पण्डित प्रवर स्वामीजी श्री हजारीमल जी म. का स्वर्गवास हुआ। स्वर्गीय युवाचार्य प्रवर श्री मधुकर मुनिजी म. के वर्षावास हुए। तथा समय-समय पर अनेक दीक्षाएँ भी हुईं। आपका व्यवसाय कर्नाटक की राजधानी बैंगलौर में महावीर ड्रग हाउस के नाम से प्रसिद्ध है। तथा मद्रास में भी आपके व्यवसाय के केन्द्र हैं। दक्षिण भारत के एक लब्ध प्रतिष्ठित परिवार के रूप में आपकी ख्याति रही है।

परम श्रद्धेय उपाध्याय श्री पुष्कर मुनिजी म. और उपाचार्य श्री देवेन्द्रमुनिजी म. के प्रति आपके मन में अपार आस्था है। उस आस्था का यह परिणाम है कि **अप्पा सो परमप्पा** जैसे आध्यात्मिक ग्रन्थ को प्रकाशित करने में आपने अपनी हार्दिक रुचि व्यक्त की। आपकी अपूर्व उदारता के फलस्वरूप यह ग्रन्थरत्न शीघ्र प्रकाशित हो सका। हम आपके पूर्ण आभारी हैं। हमें पूर्ण विश्वास है कि इसी प्रकार आपका हार्दिक सहयोग सदैव मिलता रहेगा जिससे हम उत्कृष्ट साहित्य प्रबुद्ध पाठकों के कर-कमलों में पहुँचा सकेंगे।

चुन्नीलाल धर्मावत
कोषाध्यक्ष
श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय, उदयपुर

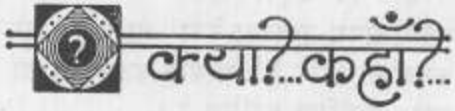

१.	अप्पा सो परमप्पा	१
२.	आत्मा का अस्तित्व	१६
३.	आत्मा का यथार्थस्वरूप	३७
४.	आत्मा को कहाँ और कैसे खोजें	५७
५.	अपने को जानना : परमात्मा को जानना	७७
६.	आत्मानुभव : परमात्म प्राप्ति का द्वार	९७
७.	परमात्मा बनने का दायित्व : आत्मा पर	११८
८.	परमात्मा बनने की योग्यता किस में ?	१३३
९.	आत्मार्थी ही परमात्मार्थी	१४९
१०.	आत्मार्थी की दृष्टि : परमात्मभाव की सृष्टि	१६८
११.	परमात्मा कैसा है ? कैसा नहीं ?	१९०
१२.	परमात्मा को कहाँ और कैसे देखें ?	२१२
१३.	आत्मा और परमात्मा के बीच की दूरी कैसे मिटे ?	२३१
१४.	आत्मा को परमात्मा से जोड़ती है उपासना	२४७
१५.	आत्म-समर्पण से परमात्म सम्पत्ति की उपलब्धि	२५९
१६.	परमात्मशरण से परमात्मभाव वरण	२८२
१७.	आलम्बन : परमात्म-प्राप्ति में साधक या बाधक	३०६
१८.	परमात्म भाव से भावित आत्मा : परमात्मा	३३४
१९.	हृदय का सिंहासन : परमात्मा का आसन	३५२
२०.	एकाकी आत्मा : बनती है परमात्मा	३७७

उपाचार्य श्री देवेन्द्र मुनि

१

अप्पा सो परमप्पा

क्या आत्मा परमात्मा बन सकता है ?

किसी आत्मार्थी मानव से पूछा जाए कि तुम्हारे जीवन का अन्तिम लक्ष्य क्या है ? तब वह यही कहेगा—आत्मा से परमात्मा बनना ही मेरे जीवन का अन्तिम लक्ष्य है। सामान्य मानव सहसा इस बात को सोच नहीं पाता। कई धर्म एवं दर्शन तो यहाँ तक कह देते हैं कि मनुष्य चाहे कितना भी पुरुषार्थ करले, वह कभी आत्मा से परमात्मा बन नहीं सकता। कहाँ सामान्य आत्मा और कहाँ परमात्मा ? कहाँ गांगा तेली और कहाँ राजा भोज ? एक नौकर चाहे कितना ही प्रयत्न कर ले, वह नौकर ही रहेगा, सेठ नहीं बन सकता। इसी प्रकार आत्मा चाहे जितनी साधना कर ले, वह परमात्मा (ईश्वर) नहीं बन सकता। ईश्वर (परमात्मा) ईश्वर ही रहेगा और आत्मा आत्मा ही। हाँ; वह ज्ञान-कर्म-भक्ति के बल पर परमात्मा के निकट पहुँच सकता है, परमात्मा का ज्ञानी भक्त बन सकता है, उच्च कोटि का महात्मा बन सकता है। परन्तु जैसे सेवक स्वामी नहीं बन सकता, वैसे ही सामान्य आत्मा परमात्मा (ईश्वर) नहीं बन सकता। ईश्वर (परमात्मा) तो एक ही होता है; वह अजन्मा, नित्य, शाश्वत और सदा से ही सदाकाल के लिए ईश्वर (परमात्मा) है और रहेगा।

यह मान्यता उन धर्मों या दर्शनों की है, जो ईश्वर

(परमात्मा) को सृष्टिकर्ता-धर्ता एवं संहर्ता मानते हैं। जैनदर्शन परमात्मा को अवश्य मानता है, किन्तु वह उसे सृष्टिकर्ता न मानकर शास्त्रीय प्रमाण, तत्वज्ञान, युक्ति और अनुभूति के आधार पर डंके की चोट कहता है—सामान्य आत्मा भी निरंजन, निराकार, शाश्वत, वीतराग, अनन्त-ज्ञान-दर्शन-शक्ति-सुखमय सिद्ध, बुद्ध एवं कर्मों से सर्वथा मुक्त परमात्मा बन सकता है। बन जाता ही नहीं, आत्मा निश्चयदृष्टि से परमात्मा ही है।

जैनदर्शन का स्पष्ट उद्घोष है—

'अप्पा सो परमप्पा'

जो आत्मा है, वही परमात्मा है।

जैनधर्म के भक्तिमान् श्रावक श्री विनयचन्दजी ने इक्कीसवें तीर्थंकर परमात्मा की स्तुति करते हुए स्पष्ट कहा है—

तू सो प्रभु, प्रभु सो तू है, द्वैत कल्पना मेटो।
सत्-चित्-आनन्दरूप विनयचंद, परमातम-पद भेंटो रे॥

वेदांतदर्शन के अद्वैतवाद के 'तत् त्वमसि' के समकक्ष ही यह सिद्धान्त है।

जैनदर्शन निरंजन, निराकार, सिद्ध-बुद्ध-मुक्त परमात्मा में मिल जाने, विलीन हो जाने या संयोग-सम्बन्ध से जुड़ जाने को इतना महत्व नहीं देता। वह कहता है, आत्मा स्वयं परमात्मा हो सकता है। वह सृष्टि के कर्ता-धर्ता-संहर्ता के रूप में एक ही ईश्वर (परमात्मा) को नहीं मान कर अनेक और यहां तक कि अनंत ईश्वर (परमात्मा) मानता है। अन्य धर्म और दर्शन, जहां यह कहते हैं, कि ईश्वर एक ही है, वही सृष्टि का कर्ता है, वही जीवों को कर्मफल भुगवाता है, उसकी स्तुति, प्रशंसा या भक्ति कर देने से वह जीवों के पाप का फल भी माफ कर देता है; वहां जैनदर्शन कहता है—

'अप्पा कत्ता विकत्ता य दुहाण य सुहाण य।'

आत्मा स्वयं ही अपनी सृष्टि का—अपने सुख-दुःखों का कर्ता और स्वयं ही भोक्ता है।

आत्मा से परमात्मा क्यों और कैसे ?

निष्कर्ष यह है कि व्यवहारदृष्टि से आत्मा स्वयं मोक्षमार्गरूप सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय की साधना में पुरुषार्थ करके निरंजन-निराकार

पूर्ण शुद्ध-बुद्ध-मुक्त परमात्मा बन जाता है। वही अपने पूर्ण ज्ञान, दर्शन, शक्ति और आनन्द का कर्ता है, स्वयं ही भोक्ता है। निरंजन, निराकार परमात्मा कर्मों से मुक्त होकर तथा संसार के जन्म-मरण के समस्त बन्धनों एवं दुःखों से रहित होकर पुनः सृष्टि के जीवों को बनाने के प्रपंच में क्यों पड़ेगा ? यदि मोक्षधाम में जाकर पुनः संसार में वह आएगा तो उस पर अनेक आक्षेप आएँगे। सर्वप्रथम आक्षेप तो यह आएगा कि जिसके कोई आकार या अंगोपांग ही नहीं है; वह अशरीरी परमात्मा बिना अंगों के सृष्टि को बनाएगा कैसे ? यदि वह मुक्त होकर पुनः संसार के बन्धन में पड़ता है तो रागी-द्वेषी बनकर नाना दोषों से लिप्त हो जाएगा। फिर यह भी प्रश्न होगा कि उस तथाकथित ईश्वर को किसने बनाया ? क्योंकि ईश्वर संसार में सृष्टि का निर्माण करने आएगा तो उसे जन्म तो लेना ही होगा। कोई भी जीव, भले ही सिद्ध-मुक्त परमात्मा हो, प्रारम्भ से ही अजन्मा नहीं होता, वह अपनी मोक्षमार्ग की साधना के द्वारा ही जन्म-मरण से रहित हो सकता है। इसलिए जैनदर्शन ईश्वर परमात्मा को तो मानता है, परन्तु एक नहीं, अनेक मानता है, जगतरूप सृष्टि का नहीं, अपनी-अपनी सृष्टि का कर्ता-भोक्ता मानता है।

यही कारण है कि जैनदर्शन ने स्वरूप की दृष्टि से कहा—'एगे आया—आत्मा एक है। तात्पर्य यह है कि जैसी सिद्ध-परमात्मा की आत्माएँ हैं, वैसी ही संसारी आत्माएँ हैं। सभी आत्माएँ मूल स्वरूप की दृष्टि से समान हैं।[1] उनमें कोई भेद नहीं है। बृहद् आलोयणा में इसी तथ्य की ओर इंगित किया गया है—

'सिद्धां जैसो जीव है, जीव सोई सिद्ध होय।'

जैनदर्शनमान्य आत्मा से परमात्मा बनने का रहस्य

इसीलिए भगवान् महावीर ने परमात्मा को तो परमात्मस्वरूप के रूप में माना, किन्तु उस परमात्मा को सृष्टि के कर्ता-हर्ता-धर्ता के रूप में स्वीकार नहीं किया। कुछ दार्शनिक भ्रान्तिवश यह कह देते हैं कि जैनदर्शन परमात्मा को नहीं मानता, वह अनीश्वरवादी है। भगवान् महावीर ने कहा—कोरी परमात्मा की कृपा से, पाप-माफी से अथवा परमात्मा पर अवलम्बित रहने से कोई परमात्मा नहीं बन सकता। अपनी ही आत्म-साधना के बलबूते पर,

---

१ 'जारिसिया सिद्धप्पा भवमल्लिय जीवा तारिसा होंति।'

अपने ही सम्यक् पुरुषार्थ के द्वारा कोई भी मानवात्मा परमात्मा बन सकता है। इसका रहस्य यह है कि महावीर ने परमात्मा की कृपा का अवलम्बन लेने की अपेक्षा स्वयं आत्मा पर परमात्मपद प्राप्त करने का दायित्व डाल दिया। इसका मतलब यह नहीं कि भ० महावीर स्वयं ही परमात्मा बन सकते हैं, अन्य कोई नहीं, अथवा भ० महावीर के जो भक्त-भक्ता होंगे, वे ही परमात्मा बन सकते हैं, अन्य व्यक्ति नहीं। जैनदर्शन ने भ० महावीर के दृष्टिकोण को स्पष्ट करते हुए कहा कि अमुक विशिष्ट धर्म, सम्प्रदाय, देश, वेश, भाषा, प्रान्त, रंग, लिंग या परम्परा वाला व्यक्ति ही सिद्ध (मुक्त परमात्मा) बन सकता है, ऐसी बात नहीं है। किसी भी देश, वेश, धर्म-सम्प्रदाय, जाति, कौम, रंग, लिंग, भाषा, प्रान्त या परम्परा आदि का कोई भी व्यक्ति, वह चाहे स्त्री हो, पुरुष हो, या नपुंसक हो, तीर्थंकरों की मौजूदगी में हो या न हो, जैनसंघ (तीर्थ) में हो, चाहे जैनेतर संघ (तीर्थ) में हो, किसी ज्ञानी, धर्मगुरु या तीर्थंकर आदि विशिष्ट मार्गदर्शक द्वारा उपदिष्ट हो, अथवा अनुपदिष्ट (स्वयं-स्फुरणा से बोध प्राप्त) हो, गृहस्थ हो चाहे संन्यासी, ये सभी सिद्ध-बुद्ध-मुक्त परमात्मा बन सकते हैं, बशर्ते कि सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग की साधना द्वारा समस्त कर्मों का क्षय कर दें।

समवायांगसूत्र[1] में पन्द्रह प्रकार से मुक्त परमात्मा बनने की बात जैनदर्शन द्वारा मान्य 'अप्पा सो परमप्पा' सिद्धान्त का व्यावहारिक रूप से स्पष्ट निदर्शन है। इतना ही नहीं, जैनदर्शन यह भी नहीं कहता कि जैनसंघ द्वारा जो परमात्मपद को प्राप्त हुए हैं, वे परमात्मा ही उच्च या महान् हैं, अन्य संघों द्वारा हुए परमात्मा नीचे या क्षुद्र हैं। जो भी, जहाँ से भी, जिस देश-वेश, धर्म-कौम से मुक्त-परमात्मा हुए हैं, या होंगे, उन सबका दर्जा समान है, वे परम आत्मा सर्वकर्मविमुक्त अनन्त-ज्ञानादिचतुष्टय से सम्पन्न हैं, उनमें न कोई ऊँचा है, न कोई नीचा और न कोई महान् है, न कोई क्षुद्र। सभी एक समान हैं, सभी विश्ववन्द्य है, सभी पूज्य हैं। संसार के या संसारी जीवों के लिए वे सभी परमात्मा महान् प्रेरक हैं, संदेशदाता हैं। उनकी प्रेरणा यह है कि 'हम भी एक दिन तुम्हारी तरह संसार के जन्म-मरण के चक्कर में, राग-द्वेष, मोह, विषय-भोग, कषाय आदि विकारों के कुचक्र में फँसे हुए थे, किन्तु हमें अपनी आत्मशक्ति का भान हुआ, आत्मस्वरूप की प्रतीति एवं अनुभूति हुई और स्वयं में

---

१ समवायांग सूत्र, १५वां समवाय

परमात्मा बनने की—मोक्ष प्राप्त करने का पुरुषार्थ करने की, रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग की साधना करने की प्रेरणा जगी, और हम भी एक दिन अपने से पूर्व हुए सिद्ध-परमात्मा की तरह समस्त कर्मों का क्षय करके, राग-द्वेष मोहादि तथा विषय-कषाय आदि विकारों का कुचक्र समाप्त करके और जन्म-मरण का चक्कर मिटाकर सिद्ध-बुद्ध-मुक्त परमात्मा बने। तुम भी हमारी तरह पुरुषार्थ करो तो तुम भी परमात्मा बन सकते हो।

भगवान् महावीर और नीत्शे के एकेश्वरवाद-निषेध में अन्तर

श्रमण शिरोमणि भगवान् महावीर ने सिद्ध-बुद्ध-मुक्त परमात्मा को प्रेरक, मार्गदर्शक तथा निमित्त के रूप में अवश्य माना, उनके प्रति विनय, बहुमान, श्रद्धा-भक्ति, कृतज्ञता भी प्रकट की, किन्तु किसी परमात्मा, अवतार या किसी देवी, देव, दिव्यशक्ति आदि से हाथ पकड़कर तारने की, स्वयं साधना में पुरुषार्थ किये बिना ही किसी के वरदान से तिर जाने की' पापमाफी कर देने की अथवा प्रत्यक्ष सहायता कर देने की बात से इन्कार कर दिया। अर्थात् इस प्रकार का परमात्मा मानने से उन्होंने इन्कार कर दिया जो सारे जगत का कर्ता-धर्ता-हर्ता हो, जिसके वरदान से, स्वयं पुरुषार्थ किये बिना ही दूसरा व्यक्ति परमात्मा बन सकता हो, जो पापमाफी कर देता हो, जो 'कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुसमर्थ' हो, जीवों को कर्म करवाता और कर्मफल भुगवाता हो। अथवा एक ही ईश्वर हो, अन्य कोई ईश्वर न बन सकता हो।

पश्चिम के महान् दार्शनिक नीत्शे ने भी परमात्मा को मानने से इन्कार कर दिया। उसने कहा कि परमात्मा रहेगा तो मनुष्य पूर्ण स्वतन्त्र नहीं हो सकेगा। मनुष्य के ऊपर परमात्मा रहेगा, तो वह उसके अधीन होकर रहेगा, मनुष्य उसका कृपापात्र बनने का प्रयत्न करेगा, वह उसे येन-केन-प्रकारेण खुश करने की कोशिश करेगा। स्वयं ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप में पुरुषार्थ नहीं करेगा। स्वयं अपना दायित्व कुछ नहीं समझेगा। इसीलिए नीत्शे ने कहा—

"God is dead and now man is free to do what-so-ever he wants to do."

'ईश्वर (परमात्मा) मर गया अब मनुष्य जो कुछ करना चाहता है, करने के लिए स्वतन्त्र है।'

कुछ लोग कहते हैं कि भ० महावीर द्वारा तथाकथित परमात्मा के

इन्कार करने में और नीत्शे के द्वारा परमात्मा का इन्कार करने में अन्तर ही क्या रहा ?

गहराई से सोचें तो भगवान् महावीर ने पूर्वोक्त प्रकार का तथाकथित परमात्मा मानने से इन्कार किया, किन्तु उन्होंने परमात्मतत्त्व को मानने से इन्कार नहीं किया। उन्होंने स्पष्ट घोषणा की कि आत्मा स्वयं परमात्मा बन सकता है। अर्थात्—आत्मा पर परमात्मा बनने का दायित्व डाला। आत्मा पर संयम, तप, त्याग, ज्ञान-दर्शन-चारित्र की साधना के क्षेत्र में स्वतन्त्र रूप से पुरुषार्थ करके परमात्मा बनने की जिम्मेवारी डाली। तात्पर्य यह है कि उन्होंने साधना के क्षेत्र में सभी मनुष्यों को परमात्मपदप्राप्ति की स्वतन्त्रता प्रदान की। इस दृष्टि से भ० महावीर स्वयं भी परमात्म पद के अधिकारी बने, और अनेकों साधक-साधिकाओं को परमात्म पद के अधिकारी बनाये। अर्थात्—भ० महावीर ने मनुष्य को परमात्मा बनने के लिए प्रेरित किया, स्वयं भी उसी उपाय से परमात्मा बने। यह स्वतन्त्रता कोई स्वच्छन्दता का रूप नहीं है, बल्कि जिम्मेवारी है; जबकि नीत्शे ने परमात्मा का सर्वथा निषेध करके स्वतन्त्रता क्या ली स्वच्छन्दता अपना ली। नीत्शे की परमात्मा के विषय में सर्वथा निषेधात्मक मान्यता मनुष्यों के लिए स्वच्छन्दता बनी। मनुष्य निरंकुश होकर अपनी मनमानी करने का रास्ता अपनाने लगा। नीत्शे का परमात्मा तो मर गया, परन्तु वैसी आत्मा का पुनर्जागरण न हुआ; बल्कि आत्मा ने स्वच्छन्दता और निरंकुशता का मार्ग अपना लिया। नीत्शे के मतानुसार परमात्मा के जो बन्धन थे, अंकुश थे, नियमन थे, अथवा प्रतिबन्ध थे, वे नहीं रहे, आत्मा स्वच्छन्द होकर उन्हें उखाड़ने के मार्ग पर चल पड़ा। जो मर्जी में आये करो-धरो, कोई कुछ भी कहने वाला नहीं है। अब तक जिन अकरणीय कार्यों को करने से आत्मा को रोका गया था, अब वह उन्हें कर ले।

जैसे—किसी लड़के का पिता मर जाए तो पुत्र के समक्ष दो रास्ते हो सकते हैं। एक तो यह कि वह बाप के बताये हुए रास्ते पर जागरूक होकर चले। जो कार्य उसका पिता करता था, अब उस पुत्र को करना पड़ेगा। वह यह भी सोचता है कि पिता का अनुशासन तो अब नहीं रहा अब तो मुझे अपने आपके अनुशासन में चलना है। अब वेश्यालय, मदिरालय, जुआघर, मांसाहार आदि प्रवृत्तियों में जाने से रोकने वाला पिता नहीं रहा। अतः मुझे स्वयं ही निर्णय करना पड़ेगा कि मुझे ऐसी दुष्प्रवृ-

त्तियों में पड़ना चाहिये या नहीं ? इस प्रकार उस पुत्र में स्वयं अनुशासन पैदा होगा। दूसरा रास्ता यह है कि पिता जब जिंदा था, तब मदिरालय, वेश्यालय, जूआघर आदि में जाने तथा मांस खाने आदि से रोकता था, लेकिन अब कोई रोकने वाला नहीं रहा। अब कर लें अपना मनचाहा। स्वच्छन्द होकर जिन विषय-भोगों को भोगना है, उन्हें इच्छानुसार भोग लें। अब 'Eat, drink and be merry' खाओ, पीओ और मौज उड़ाओ।

नीत्शे ने परमात्मा का सर्वथा अस्तित्व न मानकर यह दूसरा स्वच्छन्दता का मार्ग अपनाया। परन्तु भगवान महावीर ने पहला मार्ग अपनाकर परमात्मा बनने का दायित्व मानव पर डाल दिया। उन्होंने कहा[1]—"तुम्हारा मित्र, आश्रयदाता या तुम्हें सुखी-दुःखी बनाने वाला दूसरा कोई नहीं है। तुम स्वयं ही अपने मित्र हो, बाहर के मित्रों की अपेक्षा क्यों करते हो ?" तुम स्वयं अपने निर्माता हो। शैतान बनना या भगवान बनना तुम्हारे ही हाथ में है।[2] कोई भी शक्ति या परमात्मा तुम्हें सुख या दुःख नहीं दे सकता। तुम्हारी अपनी आत्मा सुख-दुःख की उत्पादिका है।[3] किसी शक्ति के पास परमात्मपद या मोक्ष प्राप्त करा देने की शक्ति नहीं है। आत्मा उस योग्य बनकर स्वयमेव ही अपने पुरुषार्थ से परमात्मा बन सकता है, या मोक्ष प्राप्त कर सकता है। अपने ही हाथ में आत्मा से परमात्मा बनने की जिम्मेवारी लो। नीत्शे परमात्मा के अस्तित्व को ही न मानकर विषय-वासनाओं की गुलामी में स्वयं फँसा और दूसरों को फँसाया, जबकि भ० महावीर ने परमात्मा का वास्तविक स्वरूप मानकर आत्मा को परमात्मा बनने का सन्देश दिया, दायित्व सौंपा। उन्होंने कहा कि प्रत्येक आत्मा में परमात्मज्योति छिपी हुई—सोई हुई है, उसे रत्नत्रय एवं तप-संयम के पथ पर चलने का पुरुषार्थ करके प्रकट करने, जगाने एवं शुद्ध, निर्मल एवं विकसित करने की उन्होंने प्रेरणा दी। भ० महावीर ने आत्मा के लिये परमात्मा बनने का द्वार खोल दिया, जबकि नीत्शे ने परमात्मा का निषेध करके आत्मा के लिये स्वतंत्रता का द्वार तो खोला, परन्तु वह स्वयं स्वच्छन्दता में उलझ गया। वह स्वच्छन्दता का द्वार हो गया मनुष्यों के लिये।

---

१ 'पुरिसा तुममेव तुमं मित्तं कि बहिया मित्तमिच्छसि ?' —आचारांग सूत्र

२ अप्पा मित्तममित्तं च दुप्पट्ठिओ सुपट्ठिओ। —उत्तराध्ययन

३ अप्पा कत्ता विकत्ता य दुहाण य सुहाण य। —उत्तराध्ययन

स्व-पुरुषार्थ ही आत्मा से परमात्मा बनने का सन्देश

भ० महावीर ने कहा—"अगर तुम्हें समस्त दुःखों से रहित होना है, जन्म-जरा-मृत्यु आदि भयंकर दुःखों से छुटकारा पाना है, इनके बीज-रूप कर्मों तथा राग-द्वेष, मोह, कषायादि कर्मों के कारणों से मुक्त होना है, तो स्वयं सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-तप में पुरुषार्थ करो, तुम स्वयं परमात्मा बन जाओगे, परमात्मा बनने की योग्यता तुम्हारे अन्दर आ जाएगी।"

आत्मा से परमात्मा एवं अनाथ से नाथ बनने का रहस्य

इस प्रकार 'महावीर' ने स्वयं भी आत्मा से परमात्मा बनने का पुरुषार्थ किया। वे कुटुम्ब-परिवार, घरबार, धन-सम्पत्ति आदि का त्याग करके दुनिया की दृष्टि में अनाथ, प्रभुताहीन एवं दीन लगने लगे, किन्तु वे परमनाथ, आत्मा के नाथ (स्वामी) बन गए। जगत् को भी उन्होंने आत्मा से परमात्मा बनने का सही अर्थ समझाया कि अपनी आत्मा के स्वयं नाथ बन जाना; शरीर, इन्द्रियाँ, मन, सांसारिक इष्ट पदार्थों या मनोज्ञ विषयों को अपने वश में कर लेना, इन्हें जीत लेना तथा अपने आत्मस्वरूप में रमण करना ही परमात्मा बनना है। 'नीत्शे' स्वच्छन्दवाद के नशे में पागल होकर स्वयं अनाथ हो गया, इन्द्रियों आदि का गुलाम बन गया, और संसार को भी अनाथ एवं सांसारिक पदार्थों के गुलाम बनने की प्रेरणा दे गया।

वैदिक और जैन परम्परा में भगवान का अर्थ

वैदिक धर्म की परम्परा में और जैनधर्म की परम्परा में—दोनों में परमात्मा के बदले 'भगवान' शब्द का प्रयोग होता है, किन्तु दोनों धर्म-धाराओं में एक ही शब्द का प्रयोग होते हुए भी दोनों की विचारधारा के अनुसार अर्थ अलग-अलग है। वैदिक परम्परा में 'भगवान' का अर्थ है—सृष्टि का कर्ता-हर्ता-धर्ता। जबकि जैन परम्परा में भगवान का अर्थ है—जो राग-द्वेषादि विकारों, इन्द्रिय और मन के विषयों तथा जन्म-मरणादि दुःखों के मूल=कर्मों की गुलामी से सर्वथा मुक्त हो गया है, जिसने अपने पर प्रभुत्व पा लिया है, जो अनन्तज्ञानादि चतुष्टय का धनी होकर स्वयं कृतकृत्य परमात्मा बन गया है, जो सिद्ध-बुद्ध-मुक्त होकर जन्म-मरणादि के कीचड़ से भरे संसार में पुनः लौटकर नहीं आता।

यही कारण है कि जैनदर्शन के प्रखर पुरस्कर्ता साम्ययोगी आचार्य हरिभद्रसूरि ने परमात्मतत्व के विषय में दोनों धर्मधाराओं का समन्वयात्मक श्लोक दिया है—

परमैश्वर्ययुक्तत्वात् आत्मैव मतईश्वरः।
स च कर्तेति निर्दोषं, कर्तृवादो व्यवस्थितः॥

'(शुद्ध) आत्मा ही परम ऐश्वर्ययुक्त है अतः वही परमात्मा (ईश्वर) माना गया है। वही (शुभ-अशुभ कर्मों का अथवा निश्चयदृष्टि से अपने ज्ञान-दर्शन-सुख-शक्ति का) कर्ता=अपनी सृष्टि का कर्ता है। इस प्रकार जैनदर्शन में (आत्मारूप परमात्मा का) निर्दोष (सृष्टि) कर्तृत्ववाद व्यवस्थित है।'[1]

सामान्य आत्मा और परमात्मा में बहुत अन्तर

उपर्युक्त विवेचन से तथा निश्चय नय की दृष्टि से यह तो स्पष्ट है कि 'अप्पा सो परमप्पा' जो आत्मा है, वही परमात्मा है। निश्चयदृष्टि से आत्मा और परमात्मा में कोई अन्तर न होते हुए भी व्यवहारदृष्टि से वर्तमान में सामान्य आत्मा और परमात्मा के बीच में द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की दृष्टि से बहुत ही अन्तर है। द्रव्यकृत अन्तर तो स्पष्ट है। परमात्मा वर्तमान में सिद्ध-बुद्ध-मुक्त और परम विशुद्ध हैं, वे गति-जाति-शरीर, जन्म, मरा, मृत्यु, व्याधि, आधि, उपाधि आदि से तथा कषाय, राग-द्वेष, मोह एवं शुभाशुभकर्म से सर्वथा रहित हैं, अनन्तज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य (शक्ति) आदि आत्मिक गुणों से सम्पन्न, निरंजन, निराकार हैं, किन्तु सामान्य आत्माएँ वर्तमान में सिद्ध-बुद्ध-मुक्त नहीं हैं, न ही पूर्ण विशुद्ध हैं। वे गति, जाति, शरीर, जन्म, जरा, मृत्यु, व्याधि, आधि, उपाधि से संयुक्त हैं। वे अभी तो सिद्धत्व से बहुत दूर हैं, पर्याय रूप से अशुद्ध हैं। कहाँ अनन्तज्ञानादि चतुष्टय से युक्त परमात्मा और कहाँ सामान्य आत्मा, जो अल्पज्ञ, अल्पदर्शी, सांसारिक सुख-दुःखों से ग्रस्त तथा अल्पशक्तिमान है। राग-द्वेष, मोह, कषाय, विषय एवं कर्मों से घिरा हुआ छद्मस्थ मानव कैसे परमात्मा की बराबरी कर सकता है? क्षेत्र से भी परमात्मा और सामान्य आत्मा में काफी दूरी है; करोड़ों कोसों का फासला (Distance) है। परमात्मा लोक के अग्र भाग पर हैं, जबकि सामान्य मानवात्मा अभी मध्यलोक में है। अर्थात्—सामान्य

---

१ शास्त्रवार्ता-समुच्चय स्तवक ३, श्लो० १४

आत्मा, जहाँ अभी है, वहाँ से सात रज्जूप्रमाण लोकभूमि पार करने के बाद सिद्धशिला (परमात्मधाम) आती है, जहाँ परमात्मा का निवास है। इसलिए क्षेत्रकृत अन्तर भी सामान्य मानवात्मा और परमात्मा के बीच में बहुत ही अधिक है। सामान्य मानवात्मा और परमात्मा के बीच में काल-कृत दूरी भी कम नहीं है। इस कालचक्र में अधिकांश तीर्थंकर अवसर्पिणी काल के तीसरे, चौथे आरक में हुए हैं। भगवान् नेमिनाथ से लेकर भ० महावीर तक जितने भी तीर्थंकर या अन्य सामान्य केवली हुए हैं, वे भी कम से कम करीब २५०० वर्ष पूर्व सिद्ध-मुक्त हुए हैं। अतः कालकृत दूरी भी पंचम आरक के वर्तमानकालीन सामान्य मानवात्मा से परमात्मा तक की काफी है। और भावकृत अन्तर भी परमात्मा के और वर्तमानकालिक सामान्य मानवात्मा के बीच में बहुत ही अधिक है। परमात्मा रागद्वेष-रहित, सहजानन्दी, शुद्ध स्वरूपी, अविनाशी, एवं निखालिस आत्मभावों से परिपूर्ण हैं; जबकि सामान्य मानवात्मा राग-द्वेष, काम, क्रोध, अहंकार, माया, लोभ, मोह आदि कषायभावों से युक्त है। आत्मभावों में स्थिर होना शुद्ध-निर्विकार बनना तो दूर रहा, अभी वह थोड़ी-सी देर भी शुद्ध आत्मस्वरूप के ध्यान (चिन्तन) में टिक नहीं सकता।

निष्कर्ष यह है कि जो-जो व्यक्ति परमात्मा बने हैं वे समस्त कर्मों से सर्वथा रहित होने से क्षेत्र से भी वर्तमान सामान्य मानवात्मा से काफी दूर चले गए, काल से भी कर्म नष्ट होते ही काफी पहले वे सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हो गए, द्रव्य और भाव से भी कर्मों के सर्वथा क्षय होने पर उनके और सामान्य मानवात्मा के बीच में काफी अन्तर हो गया। वे सिद्ध-बुद्ध-मुक्त, वीतराग, एवं अनन्तज्ञानी, अनन्तदर्शी, अनन्त आनन्द और शक्ति के धनी हुए और सामान्य मानवात्मा इस समय कर्मों से घिरे होने के कारण बन्धन में जकड़ा हुआ है, संसार के जन्म-मरण के चक्र में फँसा हुआ है, रागद्वेषादि से लिप्त है, अभी उसमें परोक्ष और वह भी अल्पज्ञान है। ऐसी दशा में आत्मा और परमात्मा में साम्य, तादात्म्य या मिलन कैसे सम्भव हो सकता है? और 'अप्पा सो परमप्पा' का सिद्धान्त भी कैसे घटित हो सकता है?

छोटे मुँह बड़ी बात : पूर्णता के लक्ष्य से सिद्ध होती है

कोई कह सकता है कि जो मानवात्मा अभी पर्वतराज की तलहटी में खड़ा है, वह पर्वत के अन्तिम शिखर पर आरूढ़ व्यक्ति की बराबरी करे, उसके समान अपने को बताए, यह तो 'छोटे मुँह बड़ी बात' वाली

कहावत चरितार्थ हो गई। जिस व्यक्ति के पास अभी एक हजार रुपये भी नहीं है, वह कहे कि मैं धनकुबेर अरबपति हूँ, यह कथन जैसे हास्यास्पद मालूम होता है, वैसे ही कोई मानव अभी अपूर्ण है, राग-द्वेषादि विकारों से भरा है, विषय-कषायों से घिरा है, संसार की मोह-माया में लिपटा है, वह यह कहे कि मैं सिद्ध-परमात्मा के समान हूँ, मेरी आत्मा और सिद्ध-परमात्मा में कोई अन्तर नहीं है।[1] क्या यह आदर्श की बात व्यवहार में क्रियान्वित हो सकती है ? अथवा इस सिद्धान्त को अमल में लाया जा सकता है ?

इसका एक समाधान यह है कि जैनदर्शन आशावादी है और निश्चय-व्यवहार दोनों दृष्टियों से किसी सत्य या तथ्य को स्वीकार करता है। जैसे एक व्यक्ति भले ही आज अत्यन्त निर्धन हो, परन्तु उसका भाग्य प्रबल हो जाए तो एक दिन वह धन-कुबेर भी बन सकता है। एण्ड्रयूज कारनेगी एक दिन अत्यन्त निर्धन था। उसकी माँ लोगों के कपड़े धोकर अपना और अपने पुत्र का निर्वाह करती थी। अत्यन्त निर्धन अवस्था में भी उसकी माँ उसे पढ़ने के लिए स्कूल भेजा करती थी। एक कमीज था, जिसे रात को उसकी माँ धोकर सुखा देती थी और सुबह उसे पहनाकर स्कूल भेजती थी। परन्तु उसका स्वप्न था—"माँ ! मैं एक दिन अत्यन्त धनिक बनूंगा, तब तुम्हें सब तरह से सुखी कर दूंगा।" और एक दिन उसका वह सपना साकार हुआ। वह अमेरिका का सबसे अधिक धनाढ्य व्यक्ति बन गया।

नेपोलियन बोनापार्ट साधारण मानव था, कोई सोच भी नहीं सकता था कि वह एक दिन फ्रांस का सर्वोच्च सत्ताधीश बनेगा। परन्तु नेपोलियन ने उस असम्भव माने जाने वाले कार्य को सम्भव कर दिखाया।

निर्धन और अशिक्षित बंगाली पिता का पुत्र ईश्वरचन्द्र अपने अध्यवसाय और पुरुषार्थ के बल पर महान् विद्वान् बना और सबको आश्चर्य-चकित कर दिया।

भगवान् महावीर के २७ पूर्वजन्मों की जीवनी पढ़कर उस युग में कोई यह सोच भी नहीं सकता होगा कि यह सामान्य-सा दिखाई देने वाला वनविभाग का अधिकारी 'नयसार' किसी जन्म में सामान्य आत्मा से परमात्मा बन जाएगा। परन्तु भगवान महावीर ने 'अप्पा सो परमप्पा' इस

---

१ जो परमप्पा सो जिउहं, जो हउं सो परमप्पु। —योगसार २२

सिद्धांत पर अटल विश्वास रखकर तथा परमात्मपद को प्राप्त करने के या सिद्ध-बुद्ध-मुक्त परमात्मा बनने के अपने बृहत् लक्ष्य से जरा भी विचलित न होकर पुरुषार्थ किया और एक दिन सर्वकर्मों से मुक्त सिद्ध परमात्मा बन गए।

आत्मा से परमात्मा बनने का नुस्खा

इसी प्रकार आज जो सामान्य आत्मा है, वह सर्वप्रथम आत्मा का शुद्ध स्वरूप जाने कि मैं शुभाशुभ वृत्ति, प्रवृत्ति, मन, वाणी, शरीर तथा रागादि आत्म-बाह्य विकारों-विभावों एवं परभावों से सर्वथा भिन्न, शुद्ध आत्मा हूँ। फिर सर्वप्रथम अपने अन्तर्मन में यह स्थिर करे कि संसार की सभी आत्माएँ अपने आप में, मूलरूप मे सिद्ध परमात्मा के समान हैं, तत्पश्चात् यह दृढ़ निश्चय करे कि मेरी आत्मा भी सिद्ध परमात्मा के समान है। भले ही किसी को यह 'छोटे मुँह बड़ी बात' लगे, किंतु पूर्ण और शुद्ध स्वरूप को स्वीकार किये बिना पूर्ण का प्रारम्भ कैसे हो सकेगा? अर्थात्—जब तक सामान्य आत्मा (निश्चय दृष्टि से) सिद्ध-परमात्मा के ज्ञान-दर्शन-शक्ति-आनन्द की पूर्णता को अपने में स्थापित नहीं कर लेता, तब तक वह आत्मा परमात्मा कैसे हो सकता है? आत्मबाह्य विषय-कषायादि विभावों एवं तन-मन, वाणी तथा धन, धाम, कुटुम्ब आदि परभावों में जिनकी आत्मीय बुद्धि है, विपरीत दृष्टि है, वे ही लोग अज्ञानतावश सर्वज्ञ आप्त पुरुषों के **'अप्पा सो परमप्पा'** के सिद्धांत को व्यवहार्य मानने से इन्कार करते हैं। अतः मैं (आत्मा) सिद्ध परमात्मा हूँ, इस प्रकार दृढ़निश्चयपूर्वक विश्वास करके स्वीकार किए बिना अन्तिम (पूर्णता के) लक्ष्य तक पहुँच नहीं सकता। पूर्णता के लक्ष्य को निर्धारित अथवा अपने में सिद्ध-परमात्मा की योग्यता स्वीकृत किए बिना इस सिद्धान्त का वास्तविक प्रारम्भ नहीं हो सकता। तलहटी में खड़ा हुआ व्यक्ति यदि स्वयं को हिमालय के सर्वोच्च शिखर पर चढ़ने में अक्षम-असमर्थ मानकर वहीं निराश, हताश, दीन-हीन बनकर बैठ जाए तो वह हिमालय के सर्वोच्च शिखर की ओर चलना भी प्रारम्भ नहीं करेगा, ऐसी स्थिति में वह हिमालय के सर्वोच्च शिखर पर तो पहुँच भी कैसे सकेगा? इसी प्रकार यदि प्रथम सोपान पर खड़ा हुआ कोई व्यक्ति स्वयं को परमात्म-पदरूपी पूर्णता के शिखर पर पहुँचने मे अक्षम-असमर्थ मानता है तथा स्वयं का पामर, दीन, हीन समझता है, वह आत्मबाह्य परभावरूपी सोपान से आगे ही कैसे बढ़ सकेगा? और कैसे परमात्म-पदरूपी पूर्णता के शिखर पर

पहुँचेगा ? वस्तुतः यदि कोई व्यक्ति पहले से ही स्व-स्वरूप से अनभिज्ञ होकर कह दे कि 'नहीं, बाबा नहीं, मैं परमात्मा नहीं हूँ, मैं तो दीन-हीन, पामर अज्ञानी आत्मा हूँ,' इस प्रकार 'ना' कहने से, 'ना' में से 'हां' प्राप्त नहीं हो सकता। जैसे कोई व्यक्ति केंचुए को दूध-शक्कर पिलाए तो वह सर्प नहीं हो सकता, वैसे ही कोई व्यक्ति पहले से ही अपने को दीन हीन अक्षम एवं असमर्थ आत्मा मानकर परमात्म-पद प्राप्ति का पुरुषार्थ करना चाहे तो सफल नहीं हो सकता। सर्प का बच्चा कद में केंचुए के बराबर होने पर भी फुफकारता हुआ सांप ही है। आखिरकार छोटा सांप भी तो फणिधर एवं शक्तिशाली है। इसी प्रकार वर्तमान अवस्था में कोई मानवात्मा भले ही शक्तिहीन दिखाई दे, तथापि स्वभाव से तो वह सिद्ध-परमात्मा के समान पूर्णदशा वाला है।

वट के बीज में आज भले ही पूर्णरूप से फला-फूला समृद्ध वटवृक्ष न दिखाई दे, किंतु उसमें पूर्ण समृद्ध वटवृक्ष होने की योग्यता मौजूद है। एक दिन वह वट-बीज पूर्ण समृद्ध वटवृक्ष बन सकता है। इसी प्रकार सामान्य आत्मा में भी परमात्मत्व का बीज विद्यमान है, वह ज्ञानादि से परिपूर्ण समृद्ध परमात्मा बन सकता है।

आत्मा और परमात्मा का स्वभाव एक ही है

इसीलिए सर्वज्ञ आप्तपुरुष कहते हैं—तू भी पूर्ण है, परमात्मा के समान है, निश्चयदृष्टि से तो परमात्मा ही है; क्योंकि तेरे (सामान्य आत्मा के) धर्म (स्वभाव) और परमात्मा के धर्म (स्वभाव) में कोई भी अन्तर नहीं है। परमात्मा का जो अनन्त ज्ञान, दर्शन, शक्ति और आनन्द का स्वभाव है, वही स्वभाव शुद्ध आत्मा का है।[1] जिस प्रकार मिट्टी के हजारों लाखों दीपक हों, उनमें ज्योति तो एक सी ही होती है। ज्योति का स्वभाव एक है। मिट्टी के दीपकों में, उनकी आकृतियों में, रंग-रूप में, कद में, छोटे-बड़े होने में, बहुत ही अन्तर हो सकता है। किंतु उन दीपकों में जो ज्योति प्रज्वलित होती है, वह एक है। ज्ञानी वीतराग पुरुष कहते हैं —हे मानवात्माओ ! जो मेरे भीतर है, वही ज्योति तुम्हारे भीतर है, उसमें कोई अंतर नहीं है। तुममें और मेरे में जो अंतर है, फासला है, वह मिट्टी के दीपक के समान है। मेरा (अरिहंत प्रभु का) शरीर अलग

---

१ 'सिद्धस्य हि स्वभावो यः सैव साधकयोग्यता'

—अध्यात्मसार

है; तुम्हारे शरीर अलग हैं। मेरे से तुम्हारे रंग-ढंग, शैली, अवस्था आदि भले ही अलग-अलग हों, पर ये सब ऊपर-ऊपर की बातें हैं। जैसे-जैसे तुम अंतर् में उतरोगे, वैसे-वैसे ही ये भेद समाप्त होते जाएँगे। जब ऊपर-ऊपर की पर्तों—औपाधिक पर्तों को चीरकर अंतर्तम में डुबकी लगाओगे, तो पाओगे कि जो ज्योति मेरे अंतर् में जल रही है, वही ज्योति तुम्हारे भीतर जल रही है। ज्योति का स्वभाव एक ही है।

अतः ज्ञानी पुरुष आत्मा के वास्तविक स्वभाव को देखते हैं। वे वर्तमान की अशुद्ध और विकारी आत्मा को आत्मा का यथार्थ स्वरूप नहीं बताते।

पूर्णता की दृष्टि से सोचो, पूर्णता के भाव प्रकट करो

सर्वज्ञ आप्त पुरुष कहते हैं कि जैसे मैं पूर्ण पवित्र सिद्ध-परमात्मा हूँ, वैसे तुम (सामान्य आत्मा) भी स्वभावतः पूर्ण पवित्र परमात्मा हो, इसी प्रकार पूर्णता की दृष्टि से सोचो। और मैं पूर्ण पवित्र-सिद्ध-परमात्मा हूँ। इस प्रकार दृढ़ विश्वासपूर्वक पूर्णता के भाव आत्मा में स्थापित करो, वाणी से भी प्रकट करो, तभी आत्मा पूर्णत्व को प्राप्त हो सकेगी।

जिस प्रकार भूतकाल में आत्मा के ज्ञानादि पूर्णतायुक्त स्वभाव को श्रद्धापूर्वक निश्चितरूप से स्वीकार करके अनन्त मानवात्मा परमात्म दशा को प्राप्त कर चुके हैं, इसी प्रकार मैं भी पूर्ण परमात्मशक्ति—प्रभुत्वशक्ति से युक्त परमात्मा हूँ।[1] जो स्वभाव सिद्ध-परमात्मा का है, मूल में वही स्वभाव मेरा (मेरी आत्मा का) है। इस प्रकार स्वीकार करने से ही परमात्म दशा—पूर्णता की अवस्था प्राप्त हो सकती है। परमात्मपद प्राप्ति की ओर कदम बढ़ सकता है।

लौकिक व्यवहार में भी हम देखते हैं कि विवाह आदि मंगल अवसरों पर सांसारिक लोग भौतिक पदार्थों की पूर्णता के गीत गाते हैं, यथा—'मोतियन चौक पुराये', 'मोतियन थाल भराये' आदि। भले ही घर में एक भी मोती न हो, किन्तु भावना तो वैभव की पूर्णता की भाते हैं। इसी प्रकार कुछ गीतों में कहा जाता है—'हाथी झूमे द्वार पर', भले ही घर में एक गाय भी न हो। जिस प्रकार सांसारिक लोग अपनी हैसियत अल्प होते हुए

---

१. सिद्धोऽहं सुद्धोऽहं अणंतणाणादिगुण-समिद्धोऽहं।

भी गीतों में वैभव की पूर्णता के भाव प्रगट करते हैं, इसी प्रकार सामान्य मानवात्मा भी वर्तमान में (व्यवहार में) भले ही वह अपूर्ण एवं शक्तिहीन दिखाई दे, किन्तु उसे आत्मिक परिपूर्णता के भाव ही प्रकट करने चाहिए। वीतराग सर्वज्ञ प्रभु ने सामान्य मानवात्मा से जो हो सकता है, और जो उसका असली स्वभाव है, वही बताया है। कोई भी भाग्यशाली एवं हितैषी धनाढ्य पिता अपने पुत्र से कहता है कि तू इतनी थोड़ी-सी अर्थ-राशि लेकर जवाहरात का व्यवसाय कर, तो वह 'हाँ' ही कहेगा। यह नहीं कहेगा कि इतनी थोडी-सी पूँजी से क्या होगा ? जवाहरात का व्यवसाय कम पूँजी में कैसे होगा ? क्योंकि वह जानता है कि जैसे मेरे पिता के पास पहले बहुत ही कम पूँजी थी, उससे उन्होंने जवाहरात का व्यवसाय प्रारम्भ किया था, किन्तु धीरे-धीरे व्यवसाय में लाभ होने से पूंजी बढ़ती गई और व्यापार बढ़ता गया। इसी तरह मैं भी पिता की तरह इस व्यवसाय को कम पूँजी से प्रारम्भ करके आगे चलकर पूँजी और व्यवसाय बढ़ा सकता हूँ। इसी प्रकार ज्ञानादि चतुष्टय की पूर्णता पर पहुँचे हुए सिद्ध-परमात्मा जितनी ज्ञानादि-समृद्धि आज भले ही मेरे पास न हो, किन्तु शनैः-शनैः सम्यग्दर्शनपूर्वक ज्ञानादि की समृद्धि बढ़ते रहने से मैं भी एक दिन ज्ञानादि की पूर्णता उपलब्ध कर सकता हूँ। वीतराग सर्वज्ञ प्रभु कहते हैं—'तुम्हारे पास भी मेरे जितनो अनन्त ज्ञानादि की पूँजी पड़ी है।' उनके इस कथन पर विश्वास रखकर जो मानवात्मा उस दिशा में तीव्रतापूर्वक सत्-पुरुषार्थ करता है, वह धीरे-धीरे अपनी ज्ञानादि पूंजी बढ़ाकर एक दिन पूर्णता के शिखर पर पहुँच सकता है और एक दिन आत्मा से परमात्मा बन सकता है।

आत्मा भी पूर्ण है और परमात्मा भी पूर्ण है

सामान्य आत्मा आज भले ही बाह्य दृष्टि से देखने वालों को पूर्ण परमात्मा नहीं मालूम होता हो, किन्तु वीतराग सर्वज्ञ आप्त पुरुषों की दृष्टि में उसका (आत्मा का) स्वभाव पूर्णज्ञानादिमय है, उसमें भी परमात्मत्व विद्यमान है। इसलिए वह भी निश्चयदृष्टि से पूर्ण प्रभु है। उपनिषद् में इसी तथ्य का समर्थन किया गया है—

"ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥"

इसका भावार्थ यह है कि वह (परमात्मा) पूर्ण है, और यह (संसारी जीवात्मा) भी पूर्ण है। पूर्ण में से पूर्ण को निकाल देने पर भी वह पूर्ण ही बचता है। संसारी जीवों के ज्ञानादि की पूर्णता पर आवरण आ जाने से पूर्णता कुछ अंशों में निकल गई या यों कहना चाहिए कि वह आच्छादित=आवृत हो गई। किन्तु सत्पुरुषार्थ के द्वारा आवरण के हटते ही पूर्णता पुनः सोलह कलाओं से युक्त होकर परमात्मा के समान प्रकट हो सकती है। इसी दृष्टि से कहा गया है—

'अप्पा सो परमप्पा'

❁❁

२

आत्मा का अस्तित्व

सर्वप्रथम आत्मा का अस्तित्व-स्वीकार आवश्यक

'आत्मा ही परमात्मा है', यह जैन धर्म का मूल सिद्धान्त तभी माना जा सकता है, जब आत्मा का अस्तित्व सिद्ध हो। आत्मा का अस्तित्व सिद्ध हुए बिना साधना और आराधना का कोई महत्त्व नहीं है। आत्मा हो, तभी तो उसके विकास, कल्याण, हित या शुद्धि के लिए साधना करने का मूल्य है। आत्मा का अस्तित्व ही न हो तो किसके लिए साधना की जाय ? क्यों आत्मा को परमात्मा बनाने, अर्थात्—आत्मा में सुषुप्त परमात्मत्व को जगाने का पुरुषार्थ किया जाए ? अतः आत्मा से परमात्मा बनने के लिए सर्वप्रथम आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करना तथा 'आत्मा है', इस बात पर दृढ़ विश्वास होना चाहिए।

अधिकांश मानव आत्मा का अस्तित्व ही नहीं मानते

आज विश्व में अधिकांश लोग तर्कशक्ति से अथवा प्रत्यक्ष देखकर ही किसी पदार्थ या तथ्य को स्वीकार करते हैं। मनुष्य आज भौतिक विज्ञान से इतना प्रभावित है कि वह जड़ जगत् की शक्तियों को ही सर्वस्व मानने लगा है। जड़ पदार्थों के संयोग से वह अपने अन्दर रही हुई चेतना की शक्ति को भूल-सा गया है। वह प्रत्यक्ष दिखाई देने वाले विज्ञान के एक से एक बढ़कर एक चमत्कारों को मानता है, और उसी का अस्तित्व स्वीकारता है। आत्मा

जो सर्वशक्तिमान् है, उसको प्रत्यक्ष न देख सकने पर उसे मानने से इन्कार करने लगा है। अतीन्द्रिय पदार्थों के प्रति उसकी श्रद्धा डगमगाने लगी है। वीतराग आप्त पुरुषों के वचनों को वह ठुकरा देता है। अनुमान और तर्क से आत्मा का अस्तित्व सिद्ध होने पर भी वह मानने को तैयार नहीं। आत्मा के अस्तित्व को माने बिना आत्मा के विकास, कल्याण या शुद्धि की बात ऐसे लोगों के लिए कोरी बकवास होगी। फिर आत्मा से परमात्मा बनने का कथन तो और भी दूर की बात है। ऐसे लोग आधुनिक विज्ञान की भाषा में या अपने तुच्छ स्वार्थ की भाषा में ही सोच-समझ सकते हैं।

प्रदेशी राजा : जो आत्मा को नहीं मानता था

राजप्रश्नीयसूत्र में राजा प्रदेशी का विस्तृत वर्णन मिलता है। प्रदेशी राजा नास्तिक और क्रूर बना हुआ था। वह आत्मा, परमात्मा, पुनर्जन्म, स्वर्ग-नरक, पुण्य-पाप, व्रत-नियम आदि को बिलकुल नहीं मानता था। उसकी दृष्टि में यह सब थोथी बकवास थी। जो कोई उसके सामने आत्मा की बात करता, वह उसे प्रतितर्क करके निरुत्तर कर देता था। आत्मा का अस्तित्व नहीं मानने के कारण वह निःशंक होकर पाप-कर्म करता था। वह कहता था—जब आत्मा ही नहीं है तो पुनर्जन्म, पुण्य-पाप भी कहाँ से होंगे ? और पुण्य-पाप के अभाव में स्वर्ग-नरक भी सिद्ध नहीं होते। पुण्य और पाप के फल को न मानने के कारण प्रदेशी राजा का जीवन अहर्निश आर्त्त-रौद्रध्यान में डूबा रहता था। उसकी दिनचर्या भी पापमय प्रवृत्तियों में व्यतीत होती थी। आत्मा का अस्तित्व न मानने के कारण राजा प्रदेशी धर्माचरण, नीतिनियम, न्याय, संयम, त्याग, व्रत-प्रत्याख्यान आदि के बिलकुल खिलाफ था। इतना ही नहीं, वह धर्माचरण, नीतिनियम, त्याग, व्रतनियम आदि करने वालों या इन बातों का प्रचार या उपदेश करने वालों को ढोंगी, कपटी, मायावी, जड़, मूढ़ और मिथ्याचारी कहता था। अपने राज्य में वह धर्म, न्याय-नीति आदि का प्रचार या उपदेश नहीं होने देता था। उसकी यह मान्यता दृढ हो चुकी थी कि आत्मा-परमात्मा, पुण्य-पाप, धर्म आदि की बातें कोरी बकवास हैं। किन्तु प्रदेशी राजा में एक खूबी थी। वह जिज्ञासु था, प्रत्येक बात को निरीक्षण-परीक्षण करने के बाद ही स्वीकार करता था। साथ ही वह अपनी मान्यता के प्रति वफादार था। जिसे वह स्वयं सत्य मानता था, उसको समझने, साबित करने तथा ढूँढ़ने के प्रयोग और प्रयास उसने

पृथक्-पृथक् रूप से किये थे। आत्मा को खोजने और देखने के लिए भी उसने कई प्रयोग किये थे। एक चोर को मृत्युदण्ड की सजा दी गई थी। उसे मारना तो था ही। प्रदेशी राजा ने सोचा— इसे ऐसे ही क्यों मारूँ? प्रयोग करके देखूं कि इसमें आत्मा है या नहीं है? उसने उक्त अपराधी को तीनों ओर से बन्द एक लोहे की सघन कोठी में डलवा दिया और ऊपर से ढक्कन इस प्रकार से लगवा दिया कि उसमें हवा प्रवेश करने का जरा-सा छिद्र न रहे। फिर राजा ने सोचा कि अगर आत्मा नामक कोई चीज होगी तो पता लग जायेगा कि वह कोठी के किस भाग से निकली। थोड़ी देर बाद कोठी का ढक्कन खोलकर देखा तो वह चोर मर चुका था। परन्तु राजा ने मन ही मन कहा— अगर आत्मा होती तो निकलते समय इस कोठी में कहीं न कहीं दरार जरूर पड़ती, यह फट जाती। किन्तु ऐसा कुछ भी न हुआ। इससे मालूम होता है कि आत्मा नहीं है।

फिर एक दिन उसने मृत्युदण्ड प्राप्त एक अपराधी के शरीर को फाँसी देने से पहले तोला और फाँसी देने के बाद फिर उसका वजन किया। दोनों अवस्थाओं में उसका वजन समान हुआ। अगर आत्मा होती तो इस अपराधी के मरने के बाद इसके शरीर से निकल जाने पर शरीर का वजन घटना चाहिए था, किन्तु घटा नहीं। इससे सिद्ध हुआ कि आत्मा नहीं है। एक बार उसने एक मृत्युदण्ड प्राप्त गुनाहगार के शरीर के अनेक टुकड़े किये। फिर प्रत्येक टुकड़े में उसने आत्मा को देखने का प्रयत्न किया। जब किसी भी टुकड़े में से आत्मा निकलकर जाती हुई दिखाई नहीं दी, न कहीं आत्मा का पता चला तब राजा को प्रतीति हो गई कि आत्मा है ही नहीं।

इस तरह के अनेक प्रयोग प्रदेशी राजा ने किये और आत्मा को देखने का प्रयत्न किया, मगर उन सभी प्रयोगों से राजा ने यह सिद्ध कर दिया कि आत्मा नामक कोई भी पदार्थ शरीर में नहीं है और न ही था।

उसका यह विश्वास दृढ़तर होता गया कि आत्मा नामक कोई पदार्थ नहीं है। आत्मा को न मानने के कारण वह पूर्वजन्म और पुनर्जन्म को मानने से भी इन्कार करता था। कहता था—अगर पुनर्जन्म या स्वर्ग-नरक आदि होते तो मेरी धर्मपरायणा दादी स्वर्गलोक से आकर मुझे अवश्य ही दर्शन देती और कुछ न कुछ कहती। परन्तु ऐसा भी न हुआ। इसलिए आत्मा-परमात्मा, स्वर्ग-नरक, पुनर्जन्म आदि कुछ नहीं है। इसी कारण राजा प्रदेशी अनेक पापकर्मों में प्रवृत्त रहता था।

यद्यपि बाद में पार्श्वनाथ भगवान् की परम्परा के सुप्रसिद्ध ज्ञानी केशी कुमार श्रमण के उपदेश से तथा आत्मा के अस्तित्व के सम्बन्ध में अनुमान, तर्क, आगम आदि प्रमाणों और युक्तियों द्वारा समझाने से उसे आत्मा के अस्तित्व का बोध हो गया[1] और पुनर्जन्म, स्वर्ग,नरक आदि को भी मानने लगा। वह धर्मनिष्ठ श्रावक बन गया। उसको आत्मा, जो पहले पापकर्मों से कलुषित हो गई, अब धर्माचरण करने के कारण काफी विशुद्ध हो गई। यद्यपि उसने आत्मा की खोज के लिए पहले जो-जो प्रयोग किये थे, वे स्पृहणीय नहीं थे, किन्तु आत्मा को जानने की तीव्र इच्छा प्रशंसनीय थी, यही कारण है कि आत्मा के अस्तित्व का बोध होने पर प्रदेशी नृप का जीवन पूर्णतः परिवर्तित हो गया था। वह धर्मतत्त्वज्ञ और धर्माचरण-परायण बन गया।

आत्मा के अस्तित्व को न मानने वाले

प्राचीन काल में आत्मा के अस्तित्व से साफ इन्कार करने वाले कई लोग हुए हैं। पश्चिम में ऐसे कई वैज्ञानिक भी हुए हैं जो आत्मा-परमात्मा को नहीं मानते थे। उन्होंने देखा कि जो परमात्मा को सारे जगत् का कर्त्ता-धर्ता मानते हैं, उसे ही सारे जगत् का पिता मानते हैं, सारे जगत के प्राणी उसी की संतान हैं, इस दृष्टि से सभी भाई-बन्धु हैं, ऐसा मानकर भी वे विभिन्न धर्म-सम्प्रदायों के लोग परस्पर लड़ते-झगड़ते हैं, एक दूसरे को सताते और मारते-पीटते हैं। जिस धर्म-सम्प्रदाय वाले व्यक्ति के हाथ में राज्यसत्ता आ गई, वह दूसरे धर्म-सम्प्रदाय वालों को घृणा की दृष्टि से देखता है, उन पर कहर बरसाता है। जरा-सा धर्म-सम्प्रदाय के विरुद्ध बोला कि उसे मौत के घाट उतार दिया। जिन वैज्ञानिकों ने भौतिक विज्ञान के नये-नये प्रयोग किये, यदि उनमें से किसी की बात बाईबिल के कथन से विरुद्ध हुई तो उसे जिन्दा जला दिया गया। ईसाइयों और मुसलमानों के, रोमन कैथोलिकों और प्रोटेस्टेटों के, तथा ईसाइयों और यहूदियों के लगभग सौ वर्ष तक धर्मयुद्ध (क्रूजेडो) चले। और यूरोप का इतिहास कहता है कि उन धर्मयुद्धों में खून की नदियाँ बह चलीं। उस क्षेत्र की सारी भूमि रक्तरंजित हो गई। यह सब उन्होंने किया, जो सभी मनुष्यों ही नहीं, सभी जीवों को परमात्मा (God)की सन्तान मानते थे। परमात्मा के भक्तों के ये सब काले कारनामे देखकर उन विचारक लोगों को, जिनमें

---

१. इसकी विस्तृत जानकारी के लिए देखिए राजप्रश्नीय (रायप्पसेणीय) सूत्र।

अधिकांश वैज्ञानिक थे, परमात्मा से और धर्म से घृणा हो गई। उन्होंने किसी भी परमात्मा को मानने से साफ इन्कार कर दिया। जब परमात्मा ही नहीं है तो आत्मा को मानने का कोई प्रश्न ही नहीं है। इस प्रकार उन्होंने आत्मा-परमात्मा को मानने से बिलकुल इन्कार कर दिया।

कई लोग जो बाइबिल के Thou shalt not kill—'तू किसी जीव को मत मार', इस आदेश के होने पर भी मनुष्यों को मारने, सताने और घृणा करने में कोई संकोच नहीं करते थे। तथा कई लोग इस पवित्र आदेश के विरुद्ध कई जीवों को मार कर उनका मांस खाते थे, वे लोग भी अपने इस दुष्कृत्य पर पर्दा डालने के लिए कहने लगे—उन-उन जीवों में आत्मा ही नहीं है। हम आत्मा मानेंगे तो उन जीवों को मारने में पाप लगेगा। जब हम उनमें आत्मा ही नहीं मानते तो उन जीवों को मारने और उनका मांसभक्षण करने में कोई दोष नहीं है। कुछ लोगों ने तो गाय जैसे विकसित चेतना वाले पंचेन्द्रिय जीव के लिए स्पष्ट कहने का दुःसाहस कर लिया—

'Cow has no soul'.

'गाय के आत्मा नहीं होती।'

ये और ऐसे ही कई लोग सब प्राणियों में आत्मा के अस्तित्व को नहीं मानते थे।

कई बर्बर और नरभक्षी जंगली जाति के खूंखार लोग भी आत्मा के नाम से अनभिज्ञ थे। वे धर्म-कर्म से बिलकुल अनभिज्ञ थे। उन्होंने आत्मा-परमात्मा का नाम ही नहीं सुना था, न ही उन्हें आत्मा का अता-पता था, वे लोग मानव-जीवन का उद्देश्य खाना-पीना और सन्तान पैदा करना ही जानते थे, उन्हें आत्मा, परमात्मा के विषय में जानने-सोचने की कोई जिज्ञासा या उत्सुकता भी नहीं थी, ऐसे बर्बर लोग भी आत्मा-परमात्मा को बिलकुल नहीं जानते-मानते थे।

पाश्चात्य जगत् में कई ऐसे नास्तिक लोग भी थे, जो इस मानव जीवन का उद्देश्य 'Eat, drink and be merry'—'खाओ, पीओ और मौज उड़ाओ (खुश रहो)', मानते थे। वे भी यह कहते थे कि क्यों आत्मा को मानकर दुःखी होते हो? आत्मा को मानोगे तो परमात्मा को भी मानना पड़ेगा। साथ ही धर्म-कर्म, पुण्य-पाप आदि के विषय में भी उसके आदेश को मानना पड़ेगा। इस प्रकार अपने सुखोपभोग में, स्वतन्त्रता में, अपनी इच्छानुसार मौज-शौक करने में, इन्द्रियों को मनमाने ढंग से

बेरोकटोक विषय-सुखों में प्रवृत्त करने पर प्रतिबन्ध लग जाएगा। अपनी इच्छानुसार हम इस जिन्दगी का आनन्द नहीं लूट सकेंगे। इससे तो अच्छा है कि हम आत्मा-परमात्मा को ही न मानें, और किसी धर्म-सम्प्रदाय के अनुयायी ही न बनें। इस प्रकार के कई स्वेच्छाचारी लोग भी नास्तिक बन गए। उन्होंने भी आत्मा-परमात्मा का अस्तित्व मानने से इन्कार कर दिया।

प्रत्यक्षवादी नास्तिक आत्मा को नहीं मानते थे

कुछ लोग प्रत्यक्षवादी थे। वे कहते थे—आत्मा को तो हम तब मानें, जब वह प्रत्यक्ष दिखाई दे। न आत्मा कहीं जाता दीखता है और न कहीं से आता दीखता है। इस प्रकार मृत्यु के बाद और जन्म से पूर्व कोई आत्मा जाता या आता—यानी निकलता और प्रवेश करता दिखाई नहीं देता, इसलिए हम आत्मा को नहीं मानते। वे लोगों को ललकारते थे कि अगर आत्मा का अस्तित्व है तो मरने के पश्चात् शरीर से निकलते हुए अथवा जन्म से पूर्व शरीर में प्रवेश करते हुए आत्मा को हमें प्रत्यक्ष दिखलाओ। आत्मा को प्रत्यक्ष न बता सकने पर वे लोग स्पष्ट कहते थे कि आत्मा नाम का कोई पदार्थ नहीं है।

आत्मा के अस्तित्व के विषय में शंकाशील

तथागत बुद्ध का एक शिष्य था—मालुकापुत्र। उसने तथागत बुद्ध के समक्ष अपनी शंका प्रस्तुत की—"आत्मा है या नहीं ?, मरने के बाद क्या होता है ?, यह विश्व सान्त है या अनन्त ?" बुद्ध ने इन प्रश्नों को टालने की दृष्टि से कहा—"यह जान कर तुम्हें क्या करना है ?" कहते हैं—ये और ऐसे दस प्रश्नों के उत्तर में तथागत बुद्ध मौन रहे। उन्होंने इन्हें अव्याकृत कह कर टाल दिया। इस कारण भी कई लोग आत्मा के अस्तित्व के विषय में शंकाग्रस्त रहे। परन्तु भगवान महावीर ने इन तात्त्विक प्रश्नों का सरल और रोचक शैली में विश्लेषण करके उत्तर दिया है।

आत्मा के अस्तित्व के विषय में युक्ति

यह तो हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि समग्र जीवजगत् दो अवस्थाओं में से गुजरता है। वह एक दिन जन्म लेता है, यह एक अवस्था है; तथा एक दिन वह मर जाता है, यह दूसरी अवस्था है। जन्म और मृत्यु की ये दोनों घटनाएं प्रत्यक्ष हैं। परन्तु हजारों वर्षों से यह प्रश्न बार-बार मनुष्य के मन

में उभरता रहा है कि जन्म से पहले और मृत्यु के पश्चात् क्या होता है ? इस प्रश्न का उत्तर दार्शनिकों ने यह दिया कि जन्म से पूर्व भी जीवन है और मृत्यु के पश्चात् भी जीवन है। जब तक जीव सांसारिक अवस्था में रहता है—जन्म-मरण के चक्र से मुक्त नहीं होता, तब तक जन्म और मृत्यु का यह चक्र प्रत्येक जीव (आत्मा) का चलता रहता है। जन्म से पूर्व जीवन (चेतनायुक्त) इसलिए है कि चेतनयुक्त जीवन ही नये शरीर में प्रविष्ट होता है, जड़ नहीं। जड़ से चेतन पैदा नहीं होता और न ही चेतन से जड़ पैदा होता है। अब रही बात मरने के बाद के जीवन की। वह भी इस प्रकार सिद्ध हो जाता है कि चेतनायुक्त जीवन का मरण नहीं होता, मरण होता है—शरीर का। मृत्यु के बाद शरीर यहीं रह जाता है, केवल चेतना ही दूसरे नये शरीर में प्रविष्ट होती है। इस तरह जब तक आत्मा सिद्ध-बुद्ध-मुक्त नहीं हो जाती, तब तक चेतना (आत्मा) स्थानान्तर होती रहती है।

आत्मा की तीन अवस्थाओं से अस्तित्व-सिद्धि

जो प्रत्यक्षज्ञानी थे, उन्होंने आत्मा की अपनी अनुभूति और साक्षात्कार के बल पर यह कहा कि जन्म से पूर्व और मरण के पश्चात् दोनों दशाओं में चेतनामय जीवन होता है। इन दोनों अवस्थाओं को वे क्रमशः पूर्वजन्म और पुनर्जन्म कहते थे। उनका कहना है कि हमारा वर्तमान जीवन, जो हमारे समक्ष है। यह पूर्व और पश्चात् के बीच का मध्यवर्ती जीवन है। जैसे—एक व्यक्ति के एक ही जीवन में बाल्यावस्था, युवावस्था और वृद्धावस्था होती है, ये तीनों एक ही जीव (आत्मा) के होते हैं, वैसे ही पूर्व, मध्यवर्ती और पश्चात् का जीवन भी एक ही जीव (आत्मा) का है। जिसकी बाल्यावस्था नहीं होती, उसकी युवावस्था और वृद्धावस्था नहीं हो सकती, इसी प्रकार जिस जीव (आत्मा) की पूर्वावस्था नहीं होती, उसकी मध्यावस्था कैसे हो सकती है ? उन्होंने कहा—

'जस्स नत्थि पुरा पच्छा, मज्झे तस्स कुओ सिया ?'

'जिसका पूर्व और पश्चात् नहीं है,उसका मध्य कैसे हो सकता है ?'

अनुभव और प्रत्यक्षज्ञान के आधार पर उन्होंने समाधान दिया कि यदि मध्यवर्ती अवस्था है तो उसकी पूर्वावस्था भी होगी और पश्चादवस्था भी होगी। पूर्व और पश्चात् के बिना मध्य अवस्था हो नहीं सकती।

दार्शनिकों में आत्मा के अस्तित्व के विषय में दो दल

प्रत्यक्षज्ञानियों ने तो इसका उत्तर अनुभूति और प्रत्यक्ष ज्ञानशक्ति के आधार पर दे दिया, परन्तु दार्शनिक प्रायः परोक्षज्ञानी थे, उन्होंने इसका उत्तर तर्क की कसौटी पर कस कर दिया। दार्शनिकों में पूर्वजन्म और पुनर्जन्म पर कई विवाद हुए। बुद्धि के द्वारा जब किसी अतीन्द्रिय वस्तु के विषय में समाधान किया जाता है, तब तर्क, अनुमान और युक्ति का ही आश्रय लिया जाता है। इससे दार्शनिकों द्वारा विविध तर्क, अनुमान और युक्तियों के तीर छोड़े गए। इन सबके फलस्वरूप दार्शनिकों में दो दल हो गये।

एक दल ने इस शंका का सयुक्तिक समाधान प्रस्तुत किया कि आत्मा है, क्योंकि इसका पूर्वजन्म और पुनर्जन्म होता है। मध्य विराम इसका साक्षी है, जो कि वर्तमान जन्म है।

दूसरे दार्शनिक दल ने इस तथ्य का विरोध किया। उसने कहा—न पूर्वजन्म होता है और न पुनर्जन्म, केवल वर्तमान जन्म ही प्रत्यक्ष है। उसे ही हम मानते हैं।

आस्तिक और नास्तिक : दो दल

इस प्रकार दार्शनिक दल दो धाराओं में प्रवाहित हो गया। एक दल को आस्तिक कहा गया और दूसरे दल को नास्तिक।[1] आस्तिक का अर्थ यहाँ शब्दशः इतना ही है—जो आत्मा को मानता है वह, और नास्तिक का अर्थ है—जो आत्मा को नहीं मानता वह। इसके अनुसार दार्शनिक दो दलों में विभक्त हो गए—एक आत्मा को मानने वाला दल और दूसरा आत्मा को न मानने वाला।

वास्तव में, जो आत्मा को मानता है, वह स्वर्ग-नरक (परलोक) शुभ-अशुभ कर्म (पुण्य-पाप) एवं पूर्वजन्म-पुनर्जन्म आदि को मानता ही है क्योंकि इनके माने बिना आत्मा की त्रैकालिक सत्ता, या शाश्वतता का स्वीकार नहीं होता। जबकि आत्मा को न मानने वाला दल, आत्मा को त्रैकालिक सत्ता या शाश्वतता का स्वीकार नहीं करता, वह केवल वर्तमान कालिक चेतना (आत्मा नहीं) को ही स्वीकार करता है।

---

१. 'आस्ति नास्ति दिष्टं मतिः'—पाणिनी अष्टाध्यायी के अ. ४, पाद ४, सू. ६० के अनुसार आस्तिक और नास्तिक शब्द बनते हैं।

चार्वाक दर्शन द्वारा आत्मा के स्वतन्त्र अस्तित्व का निषेध

प्राचीनकाल में भारतवर्ष में 'चार्वाक' नामक दर्शन था।[1] उसका प्रवर्तक चार्वाक तथा उसके अनुयायी, आत्मा के अस्तित्व को कतई नहीं मानते थे। वे कहते थे—यह शरीर ही सब कुछ है। पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश, इन पाँच महाभूतों से यह उत्पन्न होता है। इन्हीं पाँच के संयोग से एक विशिष्ट प्रकार की शक्ति उत्पन्न होती है, जिसे चेतना कहना हो तो भले ही कह दो। जिस प्रकार गोबर और मूत्र के संयोग से बिच्छू पैदा हो जाते हैं, उसी प्रकार इन पाँच भूतों के मिलने से विशेष प्रकार की शक्ति उत्पन्न होती है, जिसके आधार से शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि अपने-अपने कार्य (विषय) का संचालन या विषयों में प्रवृत्ति होती है। जब ये पाँच भूत बिखर जाते हैं, अलग-अलग हो जाते हैं, तब वह विशिष्ट शक्ति भी चली जाती है, जिसे चेतना कहा जाता है, बस वह यहीं समाप्त हो जाती है। चेतना समाप्त होते ही सब कुछ समाप्त। यह जीवन भी यहीं समाप्त हो जाता है। यह तथाकथित चेतना बस वर्तमान-कालिक ही होती है। इसके पश्चात् कुछ भी नहीं, और इससे पूर्व भी कुछ नहीं। न तो पहले चेतना थी, और न बाद में चेतना रहेगी। अर्थात् न तो पूर्वजन्म है और न ही पुनर्जन्म है। न भूत है, न भविष्य, केवल वर्तमान ही सब कुछ है। यह खेल यहीं खत्म हो जाता है।[2] इसके लिए चार्वाक दर्शन का एक श्लोक है—

"यावज्जीवेत् सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः॥"

जब तक जीओ, सुख से जीओ, कर्ज करके घी पीओ। इस शरीर के भस्म हो जाने पर न पुनः आना है, और न कहीं जाना है।

---

१ चार्वाक दर्शन के सिद्धान्त की विशेष जानकारी के लिए देखिए 'तत्त्वोपप्लवसिंह' ग्रन्थ।

२ देहः स्थौल्यादियोगाच्च स एवात्मा न चापरः।
न स्वर्गो नापवर्गो नैवात्मा पारलौकिकः। —चार्वाक दर्शन
पाँच स्थूल तत्वों (महाभूतों) के संयोग से बनी हुई यह देह ही आत्मा है। इसके सिवाय आत्मा नाम का कोई पदार्थ नहीं है। न ही उस आत्मा का कोई स्वर्ग और न अपवर्ग (मोक्ष) है, न आत्मा किसी परलोक में जाती है।
—सं०

अर्थात्—यही जन्म पहला है, और यही अन्तिम है। न तो पुनर्जन्म है और न ही पूर्वजन्म था। जब यह पंच भौतिक विशिष्ट चेतनायुक्त शरीर यहीं विनष्ट हो जाता है तो फिर आगे का विचार ही क्या करना है? जब आत्मा ही नहीं है तब कर्म, कर्मफल, पुण्य-पाप या स्वर्ग-नरक कुछ भी नहीं है। जब आत्मा ही नहीं है, तब आत्मा के नाम से किसी भी धर्माराधना या आत्मिक-साधना को करने की आवश्यकता नहीं। ये सब धर्म-कर्म व्यर्थ हैं। भौतिक सुख जितना लूट सको, लूट लो। भौतिक सुखोपभोग के लिए धन की आवश्यकता होती है तो यदि तुम्हारे पास धन न हो तो किसी से कर्ज ले लो। कर्ज न मिले तो लूट-पाट, चोरी, छीना-झपटी आदि से धन प्राप्त कर लो और मनचाहे सुखों का उपभोग कर लो। इस जीवन के पूर्ण होने के बाद आगे कुछ भी नहीं है, कहीं भी नहीं जाना है, जो कुछ सुख-भोग करना है, यहीं करलो। फिर कहाँ सुख-भोग का अवसर मिलेगा।

इस प्रकार चार्वाक दर्शन आत्मा के अस्तित्व को न मानने के कारण अन्ध भौतिकवादी, कट्टर नास्तिक एवं प्रत्यक्षवादी हो गया।

तज्जीव-तच्छरीरवादी नास्तिक

सूत्रकृतांग सूत्र में 'तज्जीव-तच्छरीरवाद' का वर्णन आता है। वह भी चार्वाक दर्शन की तरह शरीर को ही आत्मा मानने वाला प्रत्यक्षवादी दर्शन था। वह भी पंच भौतिक शरीर को चैतन्य मानता था। वहां उसका निराकरण किया गया है।

वायुभूति गणधर की शंका और समाधान

विशेषावश्यकभाष्य आचार्य जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण का एक अद्भुत ग्रन्थ है। उसमें एक प्रकरण है—गणधरवाद। भगवान महावीर के संघ में जो ११ गणधर हुए हैं, उन्होंने प्रभु से मुनिधर्म दीक्षा लेने से पूर्व अपनी-अपनी शंकाएँ उनके समक्ष प्रस्तुत की थीं और प्रभु ने उनकी शंकाओं का जो समाधान किया था, उसका उस ग्रन्थ में विशद निरूपण किया गया है। उसमें वायुभूति नामक तृतीय गणधर ने जो शंका व्यक्त की थी, वह इस प्रकार है—

पृथ्वी, जल, तेज और वायु इन चार भूतों के सम्मिलित होने से यह शरीर बनता है, और उसमें आत्मा नामक एक तत्त्व उत्पन्न होता है।

जिस प्रकार धतूरे के फूल, गुड़ और जल आदि पदार्थ अलग-अलग रहते है, तब तक उनमें नशा चढ़ाने का गुण नहीं होता, किन्तु इन सभी पदार्थों को एकत्रित करके एकमेक कर दिया जाता है, तब उनमें नशा चढ़ाने की शक्ति उत्पन्न हो जाती है, उसी प्रकार पृथ्वी आदि चार भूत जब तक पृथक् पृथक् रहते हैं, तब तक उनमें चैतन्य शक्ति नहीं होती, किन्तु जब ये चारों भूतों का समुदाय एकत्रित हो जाता है, तब उनमें चैतन्य शक्ति प्रकट हो जाती है।

यद्यपि मद्य बनाये जाने वाले पदार्थ पृथक-पृथक रहते हैं, तब तक उनमें मादकता की शक्ति दिखाई नहीं देती थी, तथापि उक्त पदार्थों के एकत्रित होने से मादकता का गुण प्रादुर्भूत हो जाता है और अमुक समय तक उनमें मादकगुण रहकर फिर पुनः वह मादकता की शक्ति नष्ट हो जाती है। इसी प्रकार पृथक्-पृथक् चार भूतों में चैतन्य दिखाई नहीं देता किन्तु उनके एकत्रित होने से चैतन्य प्रादुर्भूत हो जाता है और अमुक समय तक रहकर फिर वह चैतन्य नष्ट हो जाता है। पृथ्वी आदि चार भूतों में ये सभी दार्शनिक चैतन्य (आत्मा) नहीं मानते। अगर उनमें चैतन्य माने तब तो स्वतन्त्र आत्मा का स्वीकार हो जाता है।

आत्मसिद्धि शास्त्र में भी इसी से मिलती-जुलती एक शंका उठाई गई कि पहले पाँच भूतों या चार भूतों से शरीर बनता है, फिर इसमें जीव (चैतन्य) उत्पन्न होता है और शरीर के नष्ट होते ही वह नष्ट हो जाता है। आत्मा नाम का कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है।

श्रमण भगवान् महावीर ने वायुभूति गणधर की पूर्वोक्त शंका का निराकरण इस प्रकार किया है कि तुम पृथ्वी आदि भूतों में चेतना नहीं मानते तब फिर उनके एकत्रित होने से उनमें चेतना कैसे प्रकट हो जाएगी ? धतूरे के फूल, गुड़ आदि से जो मद्य बनाया जाता है और उनमें नशा चढ़ाने का गुण उत्पन्न हो जाता है, उसका मुख्य कारण यह है कि जिन पदार्थों से मद्य बनता है, उनमें मादक (नशीला) तत्त्व रहा हुआ है। इसी से उन पदार्थों के मिलाने से उनमें मादकता की शक्ति आ जाती है। तिलों के प्रत्येक दाने में तेल है, इसीलिए तो उनमें से तेल निकलता है। यदि तिलों में तैलीय पदार्थ न होता तो उनमें से कदापि तेल न निकलता। बालू के कणों में तैलीय पदार्थ नहीं है, इसलिए बालू के कणों को चाहे जितना पीसा जाय, उनमें से तेल कदापि नहीं निकलेगा। इसी प्रकार तुम्हारे मत से पृथ्वी आदि महाभूतों में चेतन्य नहीं है, अतः

उनके समूह के एकत्रित होने पर भी इसमें से चैतन्य कदापि उत्पन्न नहीं हो सकता। जड़ से कभी चेतन उत्पन्न नहीं होता, और न ही चेतन से जड़ उत्पन्न होता है। अतः चैतन्यमय आत्मा एक स्वतन्त्र द्रव्य है जो शरीर के नष्ट होने पर भी नष्ट नहीं होता है। वह उस जीव के कर्मानुसार दूसरी गति एवं योनि में चला जाता है।

शरीर और आत्मा के स्वभाव में अन्तर

एक समाधान यह भी है कि शरीर जड़ है, विनश्वर है, मरणधर्मा है, वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श वाला है, जबकि आत्मा चेतन है, ज्ञानवान है, अविनाशी है, अमरणशील है, उसमें वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श नहीं होते। शरीर प्रत्यक्ष दिखाई देता है, क्योंकि वह मूर्तिमान है, जबकि आत्मा अमूर्त्त है, इसलिए प्रत्यक्ष नहीं दिखाई देता।

आत्मा के स्वतन्त्र अस्तित्व की सिद्धि

मृत शरीर में से चेतना निकल जाने के बाद उसमें कोई ज्ञान अथवा स्वतन्त्र रूप से हलन-चलन की शक्ति नहीं होती, उसके शरीर में पाँचों इन्द्रियाँ होते हुए भी वे अपने-अपने विषयों में प्रवृत्त नहीं होतीं। मन भी किसी प्रकार का मनन-चिन्तन नहीं कर पाता। शरीर के किसी अवयव में अपना-अपना कार्य करने की भी शक्ति नहीं रहती। इसका कारण है कि पहले जो इन सब में शक्ति थी, वह आत्मा की शक्ति थी। वह शक्ति अब मृत शरीर में नहीं रही, क्योंकि उसमें से चेतनाशक्तिमान् आत्मा निकल कर अन्यत्र चला गया है।

मृत शरीर में पंचभूत रहते हुए भी चैतन्य क्यों नहीं ?

पंच महाभूतों अथवा चार भूतों के एकत्र होने से चैतन्य शक्ति उत्पन्न होती है, यह मान्यता भी निराधार है क्योंकि मृत शरीर में पृथ्वी भी रहती है, क्योंकि शरीर पार्थिव कहलाता है, पानी भी रहता है, वायु भी रहती है, शरीर में तेज (गर्मी) भी अमुक समय तक रहती है और आकाश भी रहता है। ये चारों या पाँचों महाभूत उस मृत शरीर में एकत्रित रहते हैं। एक-दूसरे के साथ सम्मिलित रहने पर भी उनमें किसी प्रकार का चैतन्य उस समय प्रकट नहीं होता। अगर मृत शरीर में पाँच या चार महाभूतों के होने पर भी आँख, नाक, कान, जीभ और शरीर, मन, बुद्धि आदि में किसी प्रकार की चेतना हो तो वे अपना-अपना कार्य पूर्ववत् करते, किन्तु वैसा नहीं होता। इसीलिए शरीर

से भिन्न चेतनावान् कोई अनन्य पदार्थ है, जिसके रहने पर ये सब काम करते हैं, न रहने पर ये अपना-अपना कार्य नहीं कर पाते। यह चेतनावान् पदार्थ ही आत्मा है। इसका स्वतन्त्र अस्तित्व है। वह जन्म से पूर्व भी था, और मृत्यु के पश्चात् भी रहता है। अर्थात्—वह भूतकाल में था, भविष्य में भी रहेगा और वर्तमान में भी है।

प्रत्यक्षवादियों द्वारा भी परोक्ष का आश्रय लिए बिना छुटकारा नहीं

प्रत्यक्षवादियों का यह कथन है कि आत्मा अगर प्रत्यक्ष दिखाई दे तो हमें बताओ। परन्तु आत्मा ऐसी वस्तु नहीं है जो इन चर्मचक्षुओं से या किसी इन्द्रिय से प्रत्यक्ष दिखाई नहीं जा सकती। द्रव्य दो प्रकार के होते हैं—मूर्त्त और अमूर्त्त। अमूर्त्त द्रव्य इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य नहीं होते। स्वयं भगवान महावीर ने कहा—

नो इन्दियगेज्झ अमुत्तभावा।
अमुत्तभावा वि य होइ निच्चं॥[1]

अर्थात्—"अमूर्त्त पदार्थ इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य नहीं होते तथा अमूर्त्त पदार्थ नित्य भी होते हैं।" जो अमूर्त्त द्रव्य होता है, वह अभौतिक, अपौद्गलिक होता है, उसका कोई आकार या रूप नहीं होता। उसमें वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श नहीं होते। आत्मा अमूर्त्त है वह इन्द्रियों से ग्राह्य नहीं है। आँखें उसे देख नहीं सकतीं क्योंकि उसका कोई रूप या आकार नहीं होता। कान उसका शब्द सुन नहीं सकते, क्योंकि उसमें शब्द होता ही नहीं, जीभ उसका स्वाद नहीं ले सकती क्योंकि उसमें रस होता ही नहीं, और शरीर के अवयव उसका स्पर्श नहीं कर सकते क्योंकि वह स्पर्शन योग्य है ही नहीं।

प्रत्यक्षवादी भी क्या सभी चीजें प्रत्यक्ष दिखाई देने पर ही उनका अस्तित्व मानते हैं? 'विषापहार स्तोत्र'[2] में इसी तथ्य को प्रकट किया गया है। उसका भावार्थ यह है—अपनी बुद्धि, श्वासोच्छ्वास और पलकों के उघड़ने-बंद होने का प्रत्यक्ष अनुभव आत्मा को होता है, फिर भी

---

१. उत्तराध्ययन सूत्र अ. १४ गा. १९

२. स्वबुद्धि-निःश्वास-निमेषभाजि प्रत्यक्षमात्माऽनुभवेऽपि मूढः।
किं चाखिल-ज्ञेय-विवर्ति-बोध-स्वरूपमध्यक्षमुपैति लोकः॥
—विषापहारस्तोत्र २२

मूढजन समस्त ज्ञेय और पर्यायों के बोधस्वरूप आत्मा का प्रत्यक्ष अनुभव नहीं करते, किन्तु उसे (आत्मा को) मानना तो पड़ता है।

प्रत्यक्षवादी ने अपने परदादे को, प्रमातामह या प्रमातामही को नहीं देखा फिर भी उसे अनुमान से मानना पड़ता है कि मेरा पिता और दादा था, इसलिए दादे को जन्म देने वाला परदादा भी अवश्य होगा। इसी प्रकार उसे यह मानना पड़ेगा कि मेरी माता को जन्म देने वाले माता-पिता के भी माता-पिता अवश्य होंगे। आशय यह कि प्रपितामह, प्रमाता-यह या प्रमातामही प्रत्यक्षवादी के समक्ष अभी प्रत्यक्ष दिखाई न देने पर भी अनुमान, तर्क तथा आप्त पुरुषों के कथन (आगम) से उसे उनका अस्तित्व मानना ही पड़ता है।

प्रत्यक्ष न होने पर भी आत्मा का अस्तित्व नकारा नहीं जा सकता

कई चीजें इतनी सूक्ष्म होती हैं कि उन्हें हम अपनी इन आँखों से नहीं देख पाते, कोई वस्तु दूरवर्ती होती है, वह भी दृष्टिगोचर नहीं हो पाती। दीवार के उस पार या बीच के किसी व्यवधान से युक्त कोई वस्तु रखी हो, वह भी दृष्टिपथ में नहीं आती। परोक्षदर्शी मानव सूक्ष्म, व्यवहित और दूरवर्ती पदार्थों को नहीं देख पाता, क्या इससे उस पदार्थ के अस्तित्व से इन्कार किया जा सकता है? ज्ञान की अपूर्णता किसी भी द्रव्य के अस्तित्व को मिटा नहीं सकती।

एक बार[1] राजगृह निवासी मद्दुक श्रमणोपासक भगवान महावीर को वन्दन करने के लिए जा रहा था। मार्ग में ही परिव्राजकों ने उससे पूछा—तुम्हारे धर्मगुरु श्रमण महावीर पांच अस्तिकायों का प्ररूपण करते हैं, क्या तुम उन पांचों को जानते-देखते हो?

मद्दुक ने उत्तर दिया—जो पदार्थ कार्य करता है, उसे हम जानते-देखते हैं, किन्तु जो पदार्थ कार्य नहीं करता, उसे हम नहीं जानते-देखते।

परिव्राजक बोले—तुम कैसे श्रमणोपासक हो कि अपने धर्मगुरु द्वारा प्रतिपादित पंचास्तिकायों को जान-देख नहीं सकते?

मद्दुक ने उन्हें अपनी बात समझाने के लिए पूछा—"आयुष्मन्! यह जो हवा चल रही है, क्या आप उसका रूप देख रहे हैं?"

---

१ देखिये भगवती सूत्र में मद्दुक श्रमणोपासक और परिव्राजकों का संवाद।

परिव्राजक—"हम हवा को तो नहीं देखते, किन्तु हिलते हुए पत्तों को देखकर हम जान लेते हैं कि हवा चल रही है।"

मद्दुक—"अच्छा, यह बताइये कि फूलों की भीनी-भीनी सुगन्ध के जो परमाणु हमारी नासिका में प्रविष्ट हो रहे हैं, क्या आप उनका रूप देखते हैं?"

परिव्राजक—"नहीं देख पाते।"

मद्दुक ने फिर पूछा—"अरणि की लकड़ी में जो छिपी हुई आग है, क्या उसका रूप आपके दृष्टिपथ में आता है?"

परिव्राजक—"वह तो नहीं आता।"

मद्दुक—"आयुष्मन्! क्या समुद्र के उस पार दृश्य पदार्थ हैं?"

परिव्राजक—"हाँ, हैं तो।"

मद्दुक—"क्या आप समुद्र के उस पार के दृश्यों को देख पाते हैं?"

परिव्राजक—"नहीं जी!"

मद्दुक ने अपनी बात को समेटते हुए कहा—"आयुष्मन्! जिस प्रकार परोक्षज्ञानी सूक्ष्म, दूरवर्ती एवं व्यवहित पदार्थों को जान-देख नहीं पाता, किन्तु उस पदार्थ का अस्तित्व ही नहीं है, ऐसा तो नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार हम अपूर्णज्ञानी यदि अतीन्द्रिय, अमूर्त्त, सूक्ष्म, व्यवहित या दूरवर्ती जीवास्तिकाय (आत्मा) आदि को जान-देख नहीं पाते।[1] इसका यह अर्थ नहीं है कि वे पदार्थ हैं ही नहीं। वे किसी न किसी के प्रत्यक्ष अवश्य हैं। सर्वज्ञों के तो प्रत्यक्ष हैं ही। जो प्रत्यक्ष होते हैं वे अनुमान के विषय हो सकते हैं। अतः आत्मा आदि अमूर्त्त अतीन्द्रिय पदार्थ प्रत्यक्षवादियों के द्वारा अनुमान से मानने पड़ते हैं। सामान्य जनता सूक्ष्म, व्यवहित और दूरवर्ती या अतीन्द्रिय अमूर्त्त को नहीं जान देख पाने पर भी उनके अस्तित्व को मानती है। तब फिर अमूर्त्त जीवास्तिकाय (आत्मा) नास्तिकों के दृष्टिपथ में न आने पर भी उसके अस्तित्व को मानने में क्या आपत्ति है?"

---

१ कहा भी है—

सूक्ष्मान्तरित-दूरार्थाः प्रत्यक्षाः कस्यचिद्यथा।
अनुमेयत्वतोऽग्न्यादिरिति सर्वज्ञसंस्थितिः॥

—आप्तमीमांसा

जिस प्रकार बिजली, हवा आदि को प्रत्यक्ष न देख पाने पर भी बल्ब में प्रकाश, पंखा, हीटर, कूलर, मशीनें आदि चलते देखकर बिजली या हवा के कार्यों को देखकर बिजली या हवा का अस्तित्व मानते हैं, उसी प्रकार आत्मा भी प्रत्यक्ष न दिखाई न देने पर भी उसके निमित्त से हुए इन्द्रियों द्वारा विविध विषयों के ज्ञान, मन के द्वारा मनन-चिन्तन और बुद्धि द्वारा निर्णय आदि कार्य देखकर आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करना चाहिए।

विविध प्रमाणों से सिद्ध : आत्मा का अस्तित्व

इसके अतिरिक्त अनुमान, तर्क, आगम, सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से आत्मा का अस्तित्व सिद्ध हो जाता है। जैनदर्शन ही नहीं, जितने भी आस्तिक दर्शन हैं, वे सब आत्मा के अस्तित्व को मानते हैं। जैनदर्शन आत्मा का स्वतन्त्र अस्तित्व निम्नोक्त प्रमाणों से सिद्ध करता है—

(१) "आत्मा नहीं है" इस प्रकार का कहने वाला तथा निर्णय करने वाला कौन है ? आश्चर्य होता है कि स्वयं आत्मा होते हुए भी 'आत्मा नहीं है' इस प्रकार[1] कहता है ? इन्द्रियाँ, मन, वाणी, बुद्धि आदि इस प्रकार का निर्णय नहीं कर सकतीं, क्योंकि ये सब जड़ हैं। जड़ वस्तु में स्वयं निर्णय करने की शक्ति नहीं है। 'मैं और मेरा' ऐसी प्रतीति किसको होती है ? विचार करने पर अवश्य प्रतीत होगा कि आत्मा के अतिरिक्त अन्य किसी को भी ऐसा संवेदन हो नहीं सकता।

(२) न्यायशास्त्र का यह एक सर्वमान्य नियम है कि विश्व में जिस पदार्थ का अस्तित्व होता है, उसी के विषय में अस्तित्व या नास्तित्व का विकल्प उठता है। अगर आत्मा नामक पदार्थ सृष्टि में नहीं होता तो उसके नास्तित्व का विकल्प उठता ही नहीं। अतः आत्मा के नास्तित्व का विकल्प उठने से आत्मा का अस्तित्व सिद्ध होता है। क्या आपने किसी व्यक्ति को दूसरे से यह कहते देखा-सुना है कि 'जरा, देखो तो मैं हूँ या नहीं ?' किसी अन्य व्यक्ति या पदार्थ के विषय में तो ऐसी शंका उठना स्वाभाविक है, किन्तु स्वयं ही स्वयं के अस्तित्व के विषय में शंका उठाए, ऐसा व्यक्ति मूर्ख-शिरोमणि ही कहलाता है।

---

१ आत्मानी शंका करे, आत्मा पोते आप।
शंकानो करनार ते, अचरज एह अमाप ॥ —आत्मसिद्धि दो. ५८

(३) जैसे दर्पण में किसी वस्तु के पड़ते हुए प्रतिबिम्ब को देखकर, कोई व्यक्ति प्रतिबिम्ब को तो माने, किन्तु दर्पण को न माने, ऐसा हो नहीं सकता, वैसे ही ज्ञानगुण सम्पन्न आत्मा रूपी दर्पण में शरीर, इन्द्रियाँ, अवयव, मन, बुद्धि तथा अन्य पदार्थ विषयक ज्ञान का प्रतिबिम्ब पड़ता है. अतः ज्ञानगुणसम्पन्न आत्मा को माने बिना कोई चारा नहीं। शरीर, मन, इन्द्रियाँ आदि जड़ पदार्थ हैं, उनमें ज्ञान नहीं होता, आत्मा ही ज्ञानगुण से युक्त है,[1] वही किसी प्रकार की शंका या जिज्ञासा कर सकता है, जड़ पदार्थ कदापि शंका या प्रश्न उठा नहीं सकता। जानी जाने वाली घट, पट आदि वस्तुएँ संसार में हैं हो, ऐसी स्थिति में उन्हें जानने वाले आत्मा का अस्तित्व माने बिना कोई चारा ही नहीं।

(४) 'मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ;' इस प्रकार का जो अनुभव होता है, वह आत्मा के बिना हो नहीं सकता। यदि यह माना जाये कि ऐसा अनुभव तन, मन या इन्द्रियों को होता है, तो जागृत, स्वप्न एवं सुषुप्तावस्था में जो ज्ञान होता है, वह किसको होता है ?

पंचास्तिकाय में स्पष्ट कहा है—

जाणदि पस्सदि सव्वं, इच्छदि सुखं, विभेदि दुक्खादो।
कुव्वति हिदमहिदं वा, भुंजदि जीवो फलं तेसिं ॥१२२॥

जो सबको जानता है, देखता है, सुख चाहता है और दुःख से डरता है, तथा कभी हितरूप कार्य करता है, कभी अहितरूप एवं उसके फल को भोगता है, वह जीव (आत्मा) है।

अतः यह मानना चाहिए आत्मा एक स्वतन्त्र द्रव्य है।

(५) आत्मा इन्द्रियों, मन, बुद्धि और अवयव आदि से भिन्न है क्योंकि इन्द्रियों आदि से जो ज्ञान होता है, वह उनके नष्ट हो जाने या खराब हो जाने पर भी स्मृति रूप में बना रहता है। जो प्राप्त ज्ञान को स्मृति रूप में सुरक्षित रखता है, वही आत्मा नामक पदार्थ है।

(६) कभी-कभी आँखों के सामने से कई चीजें गुजर जाती हैं, कानों से कई प्रकार की ध्वनि टकराती रहती हैं, नाक के पास से कई प्रकार की गन्ध भी गुजरती जाती है, फिर भी हम देख, सुन या सूंघ नहीं पाते, इसका क्या कारण है ? इसका कारण है—इन्द्रियों के अतिरिक्त एक और

---

१ 'जे विन्नाणे से आया' —आचारांग १।५।५

पदार्थ है जिसकी सहायता के बिना इन्द्रियाँ या मन अपना कार्य नहीं कर पाते। वह अतिरिक्त पदार्थ आत्मा है। जब आत्मा का ध्यान दूसरी ओर होता है, तब अमुक चीज को देखने, सुनने, सूंघने आदि के प्रति उपेक्षा सी रहती है, तब इन्द्रियाँ मौजूद रहने पर भी कार्य नहीं कर पातीं, जिसके गौर करने से इन्द्रियाँ कार्य करती हैं, वह पदार्थ इन्द्रियों से भिन्न है, वही आत्मा है।

(७) प्रत्येक इन्द्रिय अपने-अपने विषय का ज्ञान करती है, इसके काफी समय के पश्चात् समस्त इन्द्रियों के विषयों का संकलनात्मक ज्ञान जिसे होता है वही आत्मा है। एक इन्द्रिय या सभी इन्द्रियाँ मिलकर सभी विषयों का संकलनात्मक ज्ञान कर नहीं सकतीं।

(८) तर्क और अनुमान प्रमाण के अतिरिक्त आगम प्रमाण के द्वारा भी आत्मा का अस्तित्व सिद्ध होता है। आगम कहते हैं—आप्त (वीत-राग-सर्वज्ञ) पुरुषों के उपदेश वाक्य को। जैन आगमों और ग्रन्थों में यत्र-तत्र आत्मा के स्वतन्त्र अस्तित्व (जीवतत्व) का उल्लेख मिलता है। आप्त पुरुष प्रत्यक्षज्ञानी थे। उन्होंने अनुभव और प्रत्यक्षज्ञान के आधार पर आत्मा का स्वतन्त्र अस्तित्व[1] बताया है।

इन सब प्रमाणों के बावजूद भी परोक्षज्ञानी नास्तिक श्रद्धा और विश्वास को तथा प्रत्यक्षज्ञानी के अनुभव को ताक में रखकर वर्षों तक केवल प्रत्यक्ष को मानने की रट लगाता रहा, तर्क की कसौटी पर कसकर स्वीकार करने की बात भी नजर अन्दाज करता रहा।

वर्तमान परामनोवैज्ञानिक प्रयोगों द्वारा आत्मा की झलक

वर्तमान मनोवैज्ञानिकों तथा परामनोवैज्ञानिकों ने आत्मा के अस्तित्व के प्रश्न को प्रयोग की कसौटी पर कसा। पिछले लगभग ५० वर्षों से वे इस पर प्रयोग पुनर्जन्म और पूर्वजन्म की स्मृति की, यानी जाति-स्मृतिज्ञान की उन्होंने सैकड़ों घटनाओं का अध्ययन किया है। डॉ० स्टीवेन्सन इत्यादि अनेक परामनोवैज्ञानिकों ने गहराई से छानबीन करके सैकड़ों बच्चों के पूर्वजन्म की तथा पुनर्जन्म की घटनाओं को सत्य पाया

---

१ (क) 'अत्थि मे आया ओववाइए।' —आचारांग, श्रुत० १, अ० १, सूत्र ४।
(ख) 'जे आया से विन्नाणे, जे विन्नाणे से आया।'
—वही, श्रुत १, उ० ५, सूत्र ५।

है। उनकी प्रामाणिकता की जाँच की है। जिन-जिन बालकों के पूर्वजन्म पुनर्जन्म की घटनाओं का पता लगा, वे स्वयं घटनास्थल पर गये, जाँच की और उन्होंने निष्कर्ष के रूप में जो वर्णन किया है, वह निःसन्देह आश्चर्य में डालने वाला है। इनके अतिरिक्त उन्होंने अनेक ऐसी घटनाओं का भी अध्ययन किया, जिनमें किसी व्यक्ति को भविष्य में होने वाली घटनाओं का पूर्वाभास हो जाता है। कई व्यक्ति अपने विचारों को बिना किसी माध्यम के अपने इष्ट व्यक्ति तक पहुँचा सके हैं। कई व्यक्ति बिना किसी इन्द्रियादि की सहायता के माध्यम के, किसी घटित घटना को साक्षात् जान लेते हैं, और स्पष्ट कह देते हैं तथा दूसरे व्यक्ति की वर्तमानकालीन वृत्ति-प्रवृत्ति को भी कई लोग साक्षात् जान सके हैं।

परामनोवैज्ञानिकों द्वारा प्रत्यक्ष ज्ञात एवं अभिव्यक्त इन तथ्यों के आधार पर आत्मा को स्वीकार न करने वाले नास्तिकों तथा पूर्वजन्म और पुनर्जन्म को न मानने वाले कतिपय धर्मसम्प्रदाय के लोगों को यह सोचने को बाध्य कर दिया है कि एक ऐसा भी पदार्थ है, जो इन्द्रियों, मन, बुद्धि आदि से परे है, जो भौतिक या पौद्गलिक नहीं है, मूर्त या रूपी नहीं है, तथापि जो ज्ञानमय है। इस प्रकार आत्मा नामक स्वतन्त्र पदार्थ के अस्वीकार करने से अब वे रुक गये हैं।

पुनर्जन्म के ये सबूत भी आत्मा को सिद्ध करने में सक्षम

इसी प्रकार पुनर्जन्म के कई प्रमाण तो प्रत्यक्ष मिलते हैं। जिन व्यक्तियों की प्रबल आकांक्षा अतृप्त रही, अथवा जो अकाल में किसी कारणवश काल-कवलित हो गये, वे लोग हिन्दू धर्मपरम्परा के अनुसार प्रेतयोनि तथा जैनपरम्परानुसार व्यन्तरदेवयोनि में जन्म लेते हैं, और अपने साथ पूर्वजन्म में जिनके साथ कोई प्रबल मोह, आसक्ति या द्वेष, घृणा, शत्रुता रही हो, तो वे पूर्वजन्म के वेष में आकर या तो अपनी अतृप्त आकांक्षा की पूर्ति के लिए चक्कर लगाते हैं, किसी रिश्तेदार के मुँह से बोलते हैं, अथवा अदावत हुई हो तो उसे तरह-तरह से कष्ट देते हैं। कुछ व्यक्ति इन मृतात्माओं से बातचीत करने में माध्यम भी बनते हैं। मृतात्माओं के साथ बातचीत के निष्कर्ष भी सही निकले हैं।

इन उदाहरणों से मरने के बाद पुनर्जन्म सिद्ध होता है।

थियोसोफिकल सोसाइटी की अधिष्ठाता मेडम ब्लेवेट्सकी ने मृतात्माओं का आह्वान करने के अनेक प्रयोग किये हैं। प्लेंचेट के माध्यम से

उन मृतात्माओं का आह्वान कर उनसे कुछ प्रश्न पूछे जाते हैं और उन प्रश्नों के जो उत्तर उन मृतात्माओं से मिलते हैं, वे यथार्थ और प्रामाणिक निकलते हैं। यह पुनर्जन्म का प्रबल प्रमाण है। इस प्रकार के प्रयोग धडल्ले से हो रहे हैं और प्रयोगकर्त्ता आत्मा का अस्तित्व स्वीकार करने लगे हैं।

सूक्ष्म शरीर के अद्भुत कार्य

प्राचीनकाल की कथाओं में परकाया प्रवेश के प्रयोग की घटनाओं का उल्लेख किया गया है। परकाया प्रवेश में आत्मा द्वारा सूक्ष्म शरीर से युक्त होकर दूसरे के शरीर में प्रवेश किया जाता है। वर्तमान में किरलियान दम्पति ने एक विशेष प्रकार की फोटो पद्धति से सूक्ष्म शरीर, आभामण्डल आदि से फोटो लिये हैं। मरते हुए व्यक्ति के फोटो लेने पर उसमें उसके शरीर की एक आकृति शरीर से निकल कर बाहर जा रही है। इस प्रयोग ने तो अनात्मवादियों को प्रबल चुनौती दे दी है। ओपरेशन टेबल पर लिटाये गये एक व्यक्ति को क्लोराफॉर्म सुंघाकर बेहोश करने के बाद उसने अनुभव किया "कि ऑपरेशन के समय मेरा सूक्ष्म शरीर ऊपर चला गया है। मैं अपनी ऑपरेशन क्रिया देख रहा हूँ। ओपरेशन पूरा होने पर मैं पुनः स्थूल शरीर में आ गया हूँ।" इस सूक्ष्म जगत् की जानकारी ने पूर्वजन्म और पुनर्जन्म के समाधान की दशा में एक अनुकूल समाधान प्रस्तुत कर दिया है। जैनशास्त्रों में समुद्घात का वर्णन भी इसी से कुछ मिलता-जुलता है।

यद्यपि सूक्ष्मशरीर जैनदृष्टि से चतुःस्पर्शी परमाणु-स्कन्धों से बना होता है और अभौतिक नहीं, भौतिक पौद्गलिक है। इसका जो फोटो प्लेट पर उतरता है, वह आत्मा का नहीं है, वह तैजस या कार्मण शरीर का है। आत्मा तो इससे भी परे की बात है। उसका फोटो नहीं लिया जा सकता, क्योंकि वह सर्वथा अमूर्त्त—अभौतिक है। किन्तु वैज्ञानिकों ने इसे न्यूत्रिलोन कणों से निर्मित एवं अभौतिक मान लिया। जो भी हो, आत्मा के अस्तित्व की खोज में यह प्रयोग आशास्पद है।

इन सब प्रमाणों और अभिनव प्रयोगों के आधार पर निःसन्देह यह कहा जा सकता है कि आत्मा त्रैकालिक शाश्वत एवं स्वतंत्र पदार्थ है। आत्मा का अस्तित्व मान लेने पर परमात्मा बनने का मार्ग प्रशस्त हो जाता है। ●

३

आत्मा का यथार्थ स्वरूप

परमात्मा बनने के लिए आत्मा का यथार्थ स्वरूप जानना अनिवार्य

'अप्पा सो परमप्पा' इस सिद्धान्त को क्रियान्वित करने के लिए जिस प्रकार आत्मा के स्वतंत्र अस्तित्व का दृढ़ निश्चय होना अनिवार्य है, उसी प्रकार आत्मा के यथार्थ स्वरूप का बोध होना भी अतीव आवश्यक है। आत्मा के अस्तित्व को जान लेने तथा निश्चय हो जाने पर भी वह आत्मा तब तक परमात्मा बनने के लिए उत्साहित नहीं होता, न ही परमात्मा बनने हेतु पुरुषार्थ के लिए उद्यत होता है और न परमात्मा बनने की दिशा में आगे बढ़ने का वह विचार ही करता है; जब तक वह आत्मा के यथार्थ स्वरूप को नहीं जान लेता। आत्मा परमात्मा बनने की तभी साधना करेगा, जब उसे यह बोध हो जायेगा कि आत्मा का मूल स्वरूप परमात्मा के समान है। आत्मा का अस्तित्व जान लेने पर भी जब तक यह बोध नहीं हो जाता कि जो परमात्मा बन सकती है, वह आत्मा क्या है? कैसी है? किस गुण धर्म वाली है? उसका वास्तविक लक्षण और स्वरूप क्या है?

कई व्यक्ति तो आत्मा के स्वरूप से नितान्त अनभिज्ञ रहते हैं, न ही वे आत्मा के स्वरूप को जानने के लिए उत्सुक होते हैं। एक मूर्ख राजा था। उससे किसी ने पूछा—"राजन्! आपके कितनी रानियाँ हैं?" राजा ने कहा—

"कामदार से पूछो। मुझे कुछ भी पता नहीं हैं।" इसी प्रकार अज्ञानी मूर्ख जीव कहता है—"आत्मा का स्वरूप कैसा है? यह हमें पता नहीं है; शास्त्रों से पूछो।"

किसी भी वस्तु को नाम से जान लेना, एक बात है और वह वस्तु किस प्रकार की है? उसका यथार्थ स्वरूप और असाधारण गुणधर्म (लक्षण) क्या है? यह जानना और बात है। जो व्यक्ति आत्मा को यथार्थ रूप में न जानकर उलटे रूप में जान लेगा, वह परमात्मा बनने की दिशा में पुरुषार्थ न करके विपरीत दिशा में पुरुषार्थ करेगा। अगर वह यही जान जाएगा कि आत्मा तो सदा एक-सा ही रहता है, वह तो सदैव कूटस्थनित्य रहता है, उसमें कोई विकार या कर्तृत्व आदि नहीं होते, तब वह क्यों विकार को दूर करके, आत्मा को तप, संयम-त्याग आदि की साधना से शुद्ध करके परमात्मपद प्राप्त करने की दिशा में पुरुषार्थ करेगा? इसलिए आत्मा से परमात्मा बनने के लिए उसके यथार्थ स्वरूप का बोध होना अनिवार्य है। यों तो आत्मा के अस्तित्व को सभी आस्तिक दर्शन एवं समस्त आत्मवादी धर्म-सम्प्रदाय स्वीकार करते हैं, किन्तु उन दर्शनों और धर्म-सम्प्रदायों में आत्मा के स्वरूप के सम्बन्ध में मतैक्य नहीं है। आत्मा का स्वरूप कोई दर्शन या धर्म-सम्प्रदाय कुछ बताता है, और कोई कुछ दूसरा ही राग अलापता है। कई दर्शन और सम्प्रदाय तो आत्मा के स्वरूप के सम्बन्ध में परस्पर विरोधी प्रतीत होते हैं। उनमें परस्पर समन्वय होना भी अत्यन्त दुष्कर है। हमें देखना यह है कि जैनदर्शन, जोकि आत्मा को परमात्मा के समान मानता है, आत्मा का कैसा स्वरूप बताता है? जिससे उस स्वरूप को हृदयंगम करके मानव परमात्मा बनने की ओर गति-प्रगति कर सके और एक दिन परमात्मपद प्राप्ति की अपनी अन्तिम मंजिल को उपलब्ध कर सके। इससे पूर्व अन्य दर्शनों का आत्मा के स्वरूप के सम्बन्ध में मन्तव्य देकर फिर जैनदर्शन का मन्तव्य प्रस्तुत करेंगे।

वेदान्तदर्शन के अनुसार आत्मा का स्वरूप

आत्मवादी दार्शनिकों ने आत्मा के स्वरूप का भिन्न-भिन्न रूप से निरूपण किया है। भारतवर्ष के दर्शनों में वेदान्त दर्शन प्रमुख रहा है। वेदान्त दर्शन के मुख्य आधारभूत ग्रन्थ उपनिषद् हैं। उनमें 'आत्मा' के विषय में गहन चिन्तन संकलित है। वेदान्त के मतानुसार सारे संसार की मूल आत्मा एक है, जिसकी संज्ञा है— ब्रह्म। इस दृश्यमान जगत् में चेतन

और अचेतन (जड़) जो भी हैं, वे सब उसी मूल आत्मा का प्रपंच है। अर्थात्—वह ब्रह्म रूप आत्मा एक ही है अनेक नहीं। सारे ब्रह्माण्ड में एक ही आत्मा का पसारा है, आत्मा के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं। वेदान्त दर्शन के मूल सूत्र हैं—

"सर्वं खल्विदं ब्रह्म, नेह नानाऽस्तिकिंचन।"[1]

"एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म।"

वेदान्त-मतानुसार आत्मा एक ही है और कूटस्थनित्य तथा आकाशवत् सर्वव्यापी है। प्रत्यक्ष में जो भी नानात्व दृष्टिगोचर हो रहा है, वह आत्मा का अपना नहीं, मायाजनित है। परब्रह्म के साथ माया का सम्पर्क होते ही वह एक से अनेक हो गया, संसार बन गया। कितनी क्षुद्र कल्पना है यह आत्मा के लिए! जब आत्मा एक है और सर्वव्यापी है तो देवदत्त, सोमदत्त, यज्ञदत्त आदि सभी व्यक्तियों का सुख-दुःख एक समान होना चाहिए, अलग-अलग अनुभूति क्यों? एक धर्मिष्ठ और एक पापी क्यों? लेकिन सबका अनुभव इसके विपरीत पृथक्-पृथक् होता है। वेदान्तमान्य आत्मा कूटस्थनित्य होने से उसमें कोई परिवर्तन नहीं हो सकेगा। ऐसी स्थिति में कर्ममलिन आत्मा रत्नत्रय-साधना या स्वरूपरमण साधना द्वारा शुद्ध रूप में परिवर्तित न हो सकेगी। फलतः उसका परमात्मा बनना असम्भव है। आकाशवत् निर्लिप्त सर्वव्यापी आत्मा के कर्मबन्धन भी नहीं होगा। बन्धन ही नहीं तो मोक्ष किस बात का? फलतः सर्वव्यापी वह आत्मा आकाशवत् होने से स्वर्ग-नरक आदि विभिन्न स्थानों में जाएगी-आएगी भी नहीं। तब उसका पुनर्जन्म एवं पूर्वजन्म कैसे घटित होगा?

सांख्यदर्शन के अनुसार आत्मा का स्वरूप

सांख्यदर्शन के अनुसार आत्मा अकर्त्ता है, वह कूटस्थनित्य है। इसका अर्थ यह हुआ कि आत्मा सदा-सर्वदा एक रूप रहेगा, उसमें किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होगा। सुख-दुःख आदि जो भी परिणमन आत्मा में दिखाई देता है, वह सब प्रकृति का खेल है। आत्मा बिलकुल तटस्थ अकर्त्ता बना रहता है। प्रकृति ही कर्त्ता-धर्त्ता है। वही कर्मों की या प्रवृत्तियों की कर्त्री है। आत्मा किसी भी प्रकार के कर्म का कर्त्ता नहीं है। आत्मा तो प्रकृति के खेल देखता रहता है, वह केवल द्रष्टा है। परन्तु जब

---

१ छान्दोग्य उपनिषद् ३।१४।१

२ वही, ६।२।१

आत्मा प्रकृति के द्वारा किये जाने वाले कर्मों को अहंकार-मूढ होकर अपने मान लेता है, इसलिए कर्मों का फल भोक्ता होता है। आत्मा के सम्बन्ध में सांख्यदर्शन की इस विचित्र मान्यता के अनुसार तो आत्मा परमात्मा बनने में असमर्थ और पंगु ही ठहरेगा; क्योंकि वह न तो कर्मों का कर्त्ता है, और कर्मों को काटने में भी समर्थ नहीं है। वह कर्तृत्वहीन होने के कारण परमात्मा बनने की रत्नत्रय-साधना भी कैसे कर सकेगा ? जड़ प्रकृति कैसे कर्म करेगी और कैसे कर्मों को काटेगी ? क्योंकि उसमें सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन का अभाव है। आत्मा स्वयं स्वभाव में रमण नहीं कर सकता तो जड़ प्रकृति आत्मा (पुरुष) के बदले कैसे स्वयं स्वभाव में रमण करेगी ?

योगदर्शन भी सांख्यदर्शन का भाई है। सांख्यदर्शन दर्शनपक्ष है और योगदर्शन साधनापक्ष है।

वैशेषिक दर्शन में आत्मा का स्वरूप

वैशेषिक दर्शन के मतानुसार आत्मा एकान्तनित्य है, उसमें किसी भी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता। सुख-दुःख आदि के रूप में आत्मा में जो परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है, वह स्वयं आत्मा में नहीं होता, आत्मा के गुणों में होता है। ज्ञान, सुख-दुःख आदि आत्मा के गुण माने गये हैं, किन्तु ये गुण आत्मा को संसार में भटकाने वाले हैं, आत्मा के लिए हानिकर हैं। जब तक ये गुण नष्ट नहीं हो जाएँगे, तब तक उस आत्मा को मोक्ष नहीं हो सकेगा। अभिप्राय यह है कि आत्मा अपने आप में जड़ है, ज्ञानगुण आत्मा से भिन्न पदार्थ के रूप में माना जाता है। इसी ज्ञान-गुण के सम्बन्ध से आत्मा में चेतना है, स्वतः चेतना नहीं। फिर वैशेषिक दर्शन आत्मा को अनेक और सर्वव्यापी मानता है। आत्मा के इस अटपटे स्वरूप के कारण वैशेषिकमान्य आत्मा परमात्मा बनना तो दूर रहा, ज्ञानगुण युक्त सामान्य आत्मा भी नहीं रहता। एकान्तनित्य आत्मा साधना के द्वारा अपने कर्म कालुष्य को, अपने स्वरूप को, अपने हित, कल्याण एवं लक्ष्य को जान भी नहीं सकता, न ही सर्वकर्मरहित होने की साधना करके परमात्मा बन सकता है।

बौद्धदर्शनमान्य आत्मा का स्वरूप

बौद्धदर्शन आत्मा को एकान्त क्षणिक मानता है। एकान्त क्षणिक आत्मा तो क्षण-क्षण में नष्ट होती तथा नई-नई उत्पन्न होती रहती है।

आध्यात्मिक साधना के द्वारा परमात्मपद पाने के लिए बौद्धमान्य आत्मा अयोग्य सिद्ध होती है, क्योंकि पहले क्षण जिस आत्मा ने ज्ञानादि की साधना की थी, वह दूसरे क्षण नष्ट हो चुकी, फिर उस साधना का पुरुषार्थ व्यर्थ गया। अतः बौद्धमान्य आत्मा परमात्मा बन नहीं सकेगा। वर्तमान आत्मा नष्ट न हो और आगे नवीन आत्मा उत्पन्न न हो, तभी वह आत्मा परमात्मा बन सकती है, अन्यथा नहीं। बौद्धदर्शन के अनुसार यह सम्भव नहीं है। न रहेगी साधना करने वाली आत्मा, और न ही वह परमात्मा बन सकेगी, न मुक्ति प्राप्त कर सकेगी और न ही समस्त दुःखों से मुक्त हो सकेगी।

देवसमाज की मान्यता

देवसमाज आत्मा को प्रकृतिजन्य, जड़-पदार्थ मानता है। उसके मतानुसार आत्मा भौतिक है, अभौतिक=चैतन्यमय नहीं। साथ ही वह अजर, अमर, अविनाशी, सदास्थायी नहीं है, वह एक दिन उत्पन्न होती है और नष्ट हो जाती है। आध्यात्मिक साधना के द्वारा परमात्मपद या मोक्षपद प्राप्त करने का लक्ष्य देवसमाज के पास नहीं है। जब आत्मा चेतनामय नहीं है, तब ज्ञान-दर्शन के बिना परमात्म पद या मोक्षपद प्राप्त करने का सवाल ही कहाँ रहा?

आर्यसमाज-मान्य आत्मा

आर्यसमाज मानता है कि आत्मा सर्वज्ञ-सर्वदर्शी कदापि नहीं हो सकती, वह सदा अल्पज्ञ ही रहेगी। सर्वज्ञ तो एकमात्र परमात्मा ही रहेगा। इसके अतिरिक्त अल्पज्ञ आत्मा कर्मबन्धन से सर्वथा मुक्त होकर कभी परमात्मा या सिद्ध-बुद्ध-मुक्त बन ही नहीं सकती। मृत्यु के बाद शुभ कर्मवशात् आत्मा कुछ दिन मोक्ष में घूम-घामकर, वहाँ का सुखभोग प्राप्त करके पुनः अशुभकर्मवश इधर-उधर की दुर्गतियों और अशुभयोनियों में दुःख भोगेगी। इस प्रकार आत्मा बार-बार सुख-दुःख के हिंडोले में झूलती रहेगी। वह एकान्तसुखस्वरूप मोक्षपद को कदापि प्राप्त नहीं कर सकेगी। ऐसी स्थिति में वह सदा के लिए अजर-अमर, अशरीरी, सर्वकर्मरहित, सर्वदुःखमुक्त शुद्ध—आत्मा=परमात्मा कभी नहीं बन सकेगी।

निश्चय-व्यवहार दृष्टि से : जैनदर्शन-मान्य आत्मा

जैनदर्शन अध्यात्मवादी दर्शन है। वह वेदान्त की तरह चैतन्याद्वैत-

वादी अथवा चार्वाक, देवसमाज आदि की तरह जड़ाद्वैतवादी भी नहीं है। वह द्वैतवादी है। वह व्यवहार और निश्चय दोनों दृष्टियों से आत्मा को तौलता है और उसका यथार्थस्वरूप इस प्रकार का बतलाता है, जिससे आत्मा परमात्मा बन सके।

आत्मा एक नहीं अनन्त हैं—व्यवहारदृष्टि से आत्मा एक नहीं है, प्रत्येक जीव की पृथक्-पृथक् है, और अनन्त है। सारी सृष्टि में एक और सर्वव्यापी आत्मा मानने से एक का सुख, सबका सुख और एक का दुःख सबका दुःख हो जाएगा, तथा एक का कर्मबन्ध सबका कर्मबन्ध और एक का मोक्ष सबका मोक्ष हो जाएगा, परन्तु अनुभव इसके विपरीत है। जैन-दर्शन संसार में आत्मा को अनन्त मानता है। अनन्त का अर्थ है—जिसकी गणना न हो सके, जो काल की सीमा से बाहर हो, जिसका नाप-तौल न हो सके, अन्त न आ सके। जैनदृष्टि से संख्या और काल की अपेक्षा आत्माओं का कभी अन्त नहीं होता। संसार में आत्माओं का कभी अन्त नहीं आया और न ही भविष्य में आएगा। यही कारण है कि अनन्तकाल से अनन्त आत्माएँ सिद्ध-बुद्ध-मुक्त परमात्मा बनी हैं और मोक्ष में जा रही हैं। फिर भी उनका अन्त नहीं होता। जो अनन्त हैं, उनका अन्त आ जाए तब तो अनन्त शब्द ही निरर्थक हो जाए। एगे आया[1]—आत्मा एक है, यह निश्चयदृष्टि से कथन है। इसका भावार्थ सही है कि द्रव्यदृष्टि से सब प्राणियों का आत्मा (स्वरूपतः) एक समान है।

आत्मा सर्वव्यापी नहीं, शरीर प्रमाण होती है—एक विशाल कमरा है, उसमें रखे हुए दिये का प्रकाश बड़ा होगा, किन्तु अगर उसी दिये को एक छोटे-से घड़े में रख दें तो उसका प्रकाश उतने में ही समाविष्ट हो जाएगा। जैनदर्शनमान्य आत्मा प्रकाश के समान संकोच-विकासशील है। वह छोटे प्राणी के शरीर में छोटी और बड़े शरीर में बड़ी हो जाती है। जैसे अत्यन्त छोटे बच्चे के शरीर में आत्मा उतनी ही छोटी होती है, किन्तु ज्यों-ज्यों उसका शरीर उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों आत्मा का भी विस्तार होता जाता है। अर्थात्—प्राणी का जैसा और जितना छोटा या बड़ा शरीर होता है, आत्मा उतने में ही समाविष्ट हो जाती है। हाथी के शरीर में आत्मा हाथी जितनी बड़ी और कुन्थुआ के शरीर में उतनी ही छोटी हो जाती है। परन्तु होती है वह असंख्य प्रदेशात्मक और प्रत्येक

---

१ स्थानांग सूत्र, स्थान १, उ. १, सू० १

प्राणी के शरीर के अणु-अणु में व्याप्त। यह सिद्धान्त है भी अनुभवसिद्ध। हम देखते हैं कि शरीर के किसी भी अंग में चोट लगती है तो पीड़ा का अनुभव उसी एक अंग को नहीं, सर्वत्र होता है। शरीर से बाहर कहीं भी किसी चीज पर प्रहार होता है तो उसकी कोई पीड़ा नहीं होती, क्योंकि शरीर से बाहर तत्-शरीरस्थ आत्मा नहीं है, इसलिए पीड़ा भी नहीं होती। तुम्बे को किसी भी कोने से काट कर लोग चखते हैं, तो उसकी कटुता का स्वाद आएगा, परन्तु तुम्बे से बाहर कहीं भी किसी चीज को तोड़कर चखते हैं तो वैसा कड़वा स्वाद नहीं आता। अंगूर का भी जितना कद होगा, उतने में एक सरीखा मिठास व्याप्त होगा। इसी प्रकार आत्मा भी प्रत्येक जीव के शरीर कण-कण में व्याप्त है, शरीर तक ही सीमित है, सर्वव्यापी नहीं।

उपनिषदों में आत्मा का आकार-प्रकार वर्णन

उपनिषदों में आत्मा का आकार विभिन्न ऋषियों ने पृथक्-पृथक् बताया है। उसका जैनदर्शन मान्यता से जरा भी मेल नहीं खाता। मुण्डकोपनिषद् में बताया गया है—

'एसो अणुरात्मा'[1]

'यह आत्मा अणुरूप है।'

कठोपनिषद् में बताया है—'अंगुष्ठमात्रः आत्मा'[2]

'आत्मा अंगूठे के बराबर (प्रमाण की) है।'

श्वेताश्वतर उपनिषद् इनसे अलग ही राग अलापता है—

"बालाग्र-प्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च।
भागो जीवः स विज्ञेयः॥[3]

बाल के अग्रभाग का जो सौवाँ हिस्सा है, उसके सौवें भाग के समान जीवात्मा समझना चाहिए।

इसी तरह छांदोग्य-उपनिषद् में भी आत्मा के आकार-प्रकार के विषय में विचित्र बातें कही गई हैं—

---

१ मुण्डकोपनिषद् ३/१/९,
२ कठोपनिषद् २/६/१७
३ श्वेताश्वतरोपनिषद् ५/९,

"एष म आत्माऽन्तर्हृदयेऽणीयान् व्रीहेर्वा यवाद्वा, सर्षपाद्वा, श्यामाकाद्वा, श्यामाकतण्डुलाद्वा; एष म आत्माऽन्तर्हृदये ज्यायान् पृथिव्या, ज्यायान् अन्तरिक्षाद् ज्यायान् दिवो, ज्यायानेभ्यो लोकेभ्यः।"[1]

"यह आत्मा हृदय के अंदर चावल, जौ, सरसों, सांवा और सांवा चावल के दाने से भी छोटा है, तथा यह आत्मा हृदय के भीतर पृथ्वी, अन्तरिक्ष, द्यो (दिव्यलोक) तथा इन (दूसरे) लोकों से भी बड़ी है।"

अगर आत्मा हृदय या अंगूठे में ही व्याप्त है या अन्न के दाने से भी छोटा है, अथवा अणुमात्र है, तब तो मस्तक में चोट लगने पर उसकी पीड़ा का अनुभव मस्तिष्क स्थित बुद्धि तथा मन एवं अन्य इन्द्रियों को नहीं होना चाहिए। अगर आत्मा आकाश के समान विशाल या सर्वव्यापी है तो एक व्यक्ति को दुःख का अनुभव होने पर सभी को दुःख का और एक प्राणी को सुख का अनुभव होने पर सभी को सुख का अनुभव होना चाहिए, परन्तु ऐसा होता नहीं। सभी को पृथक्-पृथक् अनुभव होता है। इसलिए आत्मा को आकाशादि के समान विशाल या सर्वव्यापी मानने में कई दोष हैं। ये सब बातें युक्ति और अनुभव से भी विरुद्ध हैं। हाँ, जैनदर्शन में निश्चयनयानुसार आत्मा को ज्ञान की दृष्टि से सर्वव्यापी जाना जाता है। जब केवली समुद्घात करता है, तब आत्मा को समग्रलोक में व्याप्त कर सकता है।

आत्मा परिणामी नित्य है—जैनदर्शन व्यवहार (पर्याय) दृष्टि से आत्मा को परिणामी नित्य मानता है, सांख्यदर्शन की तरह कूटस्थनित्य नहीं। कूटस्थनित्य आत्मा में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं हो सकता, वह सदाकाल एक-सा रहना चाहिए। परन्तु अनुभव और युक्ति इसके विपरीत है। यदि आत्मा कूटस्थनित्य होता तो वह सदैव एक सरीखे भावों में रहता, परन्तु उसके भावों (परिणामों) की धारा बदलती रहती है। जैसा कि 'प्रवचनसार' में बताया गया है—

'जीवो परिणमदि जदा, सुहेण असुहेण वा सुहो असुहो।
सुद्धेण तदा सुद्धो, हवदि हि परिणाम सब्भावो॥"[2]

---

१ छान्दोग्य-उपनिषद ३/१४/३

२ प्रवचनसार १/९

"जब जीव (आत्मा) शुभ या अशुभ रूप में परिणत होता है, तब वह शुभ या अशुभ हो जाता है। और जब वह शुद्ध रूप में परिणत होता है, तब शुद्ध हो जाता है। परिणामों के अनुसार जीव (आत्मा) तद्रूप भाव वाला हो जाता है।"

आत्मा यदि कूटस्थनित्य होता तो वह कभी शान्त, कभी क्रुद्ध, कभी रुष्ट, कभी तुष्ट, कभी सुखी, कभी दुःखी तथा कभी प्रसन्न और कभी उदास नहीं होता। न ही वह बालक, युवक और वृद्ध होता, तथा वय के अनुसार अनुभव और समय में परिवर्तन भी नहीं होता। इसी प्रकार कूटस्थनित्य आत्मा सदाकाल के लिए एक ही गति,योनि तथा एक ही शरीर में रहता। वह अपने शुभाशुभ कर्मानुसार मनुष्य, देव, नरक या तिर्यञ्च गति में विभिन्न योनियों में परिभ्रमण न करता। यदि यह कहा जाए कि सांख्य दर्शन की मान्यता के अनुसार ये ज्ञान तथा सुख-दुःख आदि सब प्रकृति के धर्म हैं, आत्मा के नहीं; तब तो आत्मा के निकल जाने के पश्चात् भी जड़ प्रकृति के सुख-दुःख, ज्ञान आदि धर्म मृत शरीर में होने चाहिए, पर वे होते नहीं। आत्मा से युक्त शरीर के समान आत्मा से रहित मृत शरीर को या शरीर के किसी अवयव को हँसते-रोते या रुष्ट-तुष्ट होते किसी ने कभी नहीं देखा। अतः ये प्रकृति के धर्म नहीं, आत्मा के धर्म हैं। जैनदर्शनानुसार आत्मा एकान्त कूटस्थनित्य नहीं है; वह परिणामीनित्य है।

इस तथ्य को दूसरे दृष्टिबिन्दु से समझें। आत्मा द्रव्य है। द्रव्य का लक्षण है—सत्। वह उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से युक्त है।[1] आत्मा कर्मानुसार नरक, तिर्यञ्च, देव, मनुष्य आदि पर्यायों में उत्पन्न होती है, यह उत्पाद है, अथवा सुख-दुःख, रुष्ट-तुष्ट आदि रूप में परिणमन (परिवर्तन होना) भी उत्पाद है। उत्पन्न होने की तरह उन-उन पर्यायों का नाश होना व्यय है और इन सभी अवस्थाओं में, नानारूप पाकर भी आत्मा का अपने स्वरूप से च्युत न होना, अपने स्वरूप में स्थिर रहना ध्रौव्य = स्थिरता है। आत्मा में चाहे जितनी पर्यायें उत्पन्न और नष्ट हों, परन्तु आत्मा बदलता नहीं है, वह सदा अविनाशी रहता है। आत्मा का कभी नाश नहीं होता, वह जैसा है, वैसा ही रहता है। भगवद्गीता में इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए कहा है—आत्मा को शस्त्र काट नहीं सकते, न

---

१ उत्पादव्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत्। सत् द्रव्यलक्षणम्। —तत्त्वार्थ सूत्र अ. ५

आग जला सकती है, न ही पानी इसे गला सकता है, और न हवा इसे सुखा सकती है। यह अच्छेद्य, अभेद्य, अदाह्य, अक्लेद्य और अशोष्य है।[1] यह सनातन, शाश्वत और अजन्मा है। अनादि निधन है। जो भी परिवर्तन होता है, वह पर्यायों का होता है, द्रव्य का नहीं। इसे सोने के दृष्टांत द्वारा समझिए। सोने का हार, अंगूठी, मुकुट, कड़े आदि विविध आकार के पदार्थ बनाए। ये सोने की पर्यायें हैं। एक पर्याय उत्पन्न हुई और नष्ट हो गई, परन्तु उनमें द्रव्य तो नष्ट नहीं होता, वह तो जैसा है, वैसा ही रहता है। सुनार ने सोने का कड़ा बनाया, यह कड़े का उत्पाद है, और फिर कड़े को मिटा दिया, उसकी अंगूठियाँ बना दीं। इस प्रकार कड़े का पर्याय नष्ट हो गया। इन दोनों पर्यायों में सोना बदला नहीं। वही उसकी ध्रुवता है।

द्रव्य का एक लक्षण यह भी किया गया है—

'गुण-पर्यायवद् द्रव्यम्'[2]

गुण और पर्याय का जो आश्रय रूप है, वह द्रव्य है। द्रव्य के साथ सदव रहने वाला अविनाशी धर्म गुण कहलाता है और द्रव्य में समय-समय पर क्रम से जो विविध अवस्था रूप परिणमन होता रहता है, वह पर्याय है।

आत्मा द्रव्य है। जहाँ द्रव्य होता है, वहाँ पर्यायें अवश्य होती हैं। अतः आत्मा में पर्यायदृष्टि से उत्पाद-व्यय हुआ करते हैं। गतिरूप शरीर को धारण करना आत्मा की वैभाविक पर्याय है। आत्मा अपने आप में मनुष्य-तिर्यञ्च आदि नहीं है। आत्मा का शुद्ध स्वरूप शरीरादि धारण करना नहीं हैं। शरीरादि धारण करना कर्मों के कारण होता है। जहाँ तक आत्मा कर्मसहित है, वहाँ तक यह अनेक शरीर धारण करता है। मृत्यु होने पर अर्थात्—एक शरीर छूटने पर दूसरा देह धारण करता है, परन्तु देह की उत्पत्ति और विनाश एक ही जीव का, चाहे जितनी बार हो जाए,

---

१ (क) नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि, नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो, न शोषयति मारुतः॥
अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः॥ —भगवद्गीता २/२३-२४

(ख) से ण छिज्जइ, ण भिज्जइ, ण डज्झइ, ण हम्मइ कंचणं सव्वलोए।
—आचारांग १/३/३/४००

२ तत्त्वार्थ सूत्र अ. ५

या भविष्य में चाहे जितनी बार होगा, उन सभी पुराने-नये शरीरों में आत्मा तो वही का वही रहता है। उसका नाश नहीं होता। कर्मवशात् जीव ने जितने शरीर भूतकाल में धारण किये, भविष्य में वह जितने शरीर धारण करेगा तथा वर्तमान में वह जिस शरीर में है, ये सब आत्मद्रव्य की वैभाविक पर्यायें हैं। जिस प्रकार पुराना जीर्ण वस्त्र छोड़कर नया पहना जाता है, उसी प्रकार आत्मा भी पुराना शरीर छोड़कर नया शरीर धारण कर लेता है। जन्म-मरण के द्वारा केवल शरीर बदलता जाता है, आत्मा नहीं बदलती, उसका कभी नाश नहीं होता।[1]

इसी प्रकार एक ही शरीर में कई अवस्थाएँ बदलती हैं। पहले बालक फिर युवक और तत्पश्चात् वृद्ध होता है।[2] परन्तु इन सभी अवस्थाओं के बदलने पर भी आत्मा तो वही का वही रहता है। ये शरीर की अवस्थाएँ हैं, आत्मा की नहीं। जिसने बचपन को जाना था, वही जवानी को जानता और भोगता है, और वही बुढ़ापे को जानता है और अनुभव करता है। इन तीनों अवस्थाओं का अनुभव उसने ही किया, उसको तो तीनों अवस्थओं की स्मृति है। शरीर की अवस्थाएँ बदल जाने पर भी वह (आत्मा) नहीं बदला यही सबूत है कि आत्मा ध्रौव्य—नित्य है। ये अवस्थाएँ उत्पाद—व्यय स्वभाव वाली है, अर्थात्—अनित्य हैं।

जिस प्रकार द्रव्य की पर्यायें होती हैं, उसी प्रकार गुण की भी पर्यायें होती हैं। जैसे आत्मा द्रव्य है, ज्ञान आदि उसके गुण हैं। गुण भी परिणमनशील हैं। गुणों में भी पर्यायों का उत्पाद-विनाश होता रहता है। परन्तु गुण की पर्यायें बदलती रहने पर भी उस गुण का नाश नहीं होता। उदाहरणार्थ, पानी का मूल गुण शीतलता है। उसमें हानि-वृद्धि होती रहती है। गर्म हवाएँ चलने के कारण या सूर्य अथवा अग्नि के अत्यन्त उष्ण ताप के कारण पानी कभी गर्म हो जाता है, कभी ठंडी बर्फीली हवाएँ चलने के कारण अत्यन्त ठंडा हो जाता है। इन दोनों ही अवस्थाओं में पानी के शीतलता-गुण की पर्यायें बदलीं। इनके पीछे कारण था—अन्य

---

१ वासांसि जीर्णानि यथा विहाय, नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही॥
—भगवद्गीता २/२२

२ देहिनोऽस्मिन् यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तर प्राप्ति र्धीरस्तत्र न मुह्यति॥ —भगवद्गीता २/१३

द्रव्यों का संयोग । परन्तु उन द्रव्यों का संयोग दूर होते ही पानी अपनी मूल शीतलता गुण को प्राप्त कर लेता है । पानी में से शीतलता का गुण कभी नष्ट नहीं होता । इसी प्रकार ज्ञान आत्मा का मूल गुण है । उसका कभी नाश नहीं होता । कर्मों के संयोग से जीव के ज्ञान का विकास-ह्रास होता रहता है । ज्ञान गुण की ये पर्यायें हैं । ये उत्पन्न-विनष्ट होती रहती है, भ्रमवश जीव यह सोचता है कि स्मृति-दोष के कारण अर्जित ज्ञान विनष्ट हो गया, परन्तु ज्ञान की ये पर्याय नष्ट हो गईं । कभी ज्ञान का विकास हुआ तो मनुष्य सोचता है, ज्ञान उत्पन्न हो गया, परन्तु ज्ञान कभी उत्पन्न-विनष्ट होता नहीं, वह तो आत्मा के साथ सदैव रहता है । ज्ञान गुण की पर्यायों में परिणमन (परिवर्तन) होता रहता है । अतः ज्ञान गुण तो ध्रुव रहता है, कर्मवशात् उसकी पर्यायों का उत्पाद-व्यय होता रहता है । इसीलिए जैसे आत्मा सत् है, अर्थात्—तीनों कालों में अस्तित्ववान् है, उसी प्रकार उसके गुण भी सत् हैं—सदैव अस्तित्ववान् हैं ।

निष्कर्ष यह है कि आत्मा कूटस्थनित्य नहीं, परिणामीनित्य है । वह द्रव्य रूप से नित्य है, परन्तु पर्यायें परिणमनशील होने से अनित्य हैं । अर्थात्—संसारी आत्मा कर्मानुसार नरक, तिर्यंच आदि में या दुःख-सुखादि रूप में बदलती रहती है, फिर भी आत्मतत्व रूप में स्थिर=नित्य रहती है । आत्मा का कदापि नाश नहीं होता । यही परिणामीनित्य का अभिप्राय है ।

निश्चयनय से आत्मा का स्वरूप

निश्चयदृष्टि से आत्मा का स्वरूप समयसार में इस प्रकार प्रतिपादित किया गया है—

जीवो अणाइ अणिधणो, अविनासी अक्खओ धुवोनिच्चं ।

जीव (आत्मा) अनादि है, अनिधन है, अविनाशी है, अक्षय है, ध्रुव है तथा नित्य (शाश्वत) है ।

इस दृष्टि से आत्मा निश्चयनय से 'अनादि' है । उसका किसी विशेष समय पर जन्म नहीं होता, वह अजन्मा है । अगर आत्मा का जन्म हुआ होता तो इसकी आदि होती, और इसको मृत्यु भी मानी जाती । परन्तु आत्मा तो जन्म और मरण दोनों से रहित है । भगवद्गीता में भी कहा है कि "आत्मा किसी काल में न तो जन्मता है, और न मरता है, और न ही यह आत्मा होकर फिर आत्मा होने वाला है । यह तो अज है, नित्य है, शाश्वत है, पुरातन है । शरीर का नाश होने पर भी यह (आत्मा) नष्ट

नहीं होती। जन्म-मरण शरीर का होता है। इस कारण व्यवहारनय की अपेक्षा से यह माना जाता है, शुभाशुभकर्मवशात् आत्मा विविध गतियों और योनियों में तथा विविध पर्यायों (शरीरों) में उत्पन्न होता है। अतः पर्यायदृष्टि से भले ही एक गति से दूसरी में जाने की अपेक्षा से आत्मा को आदि मानी जाती हो, द्रव्य (निश्चय) दृष्टि से तो वह अनादि ही है।

निश्चयदृष्टि से आत्मा अनिधन है, अर्थात् वह अमर है। कभी मरता नहीं है। व्यवहारदृष्टि से जो यह कहा जाता है कि अमुक जीव मर गया, उसका अर्थ भी यही है कि उसने जिस शरीर को धारण किया था, उससे उसका सम्बन्ध-विच्छेद हो गया। आयुष्य की अवधि पूर्ण हो जाने से उसका उस शरीर से छुटकारा हो गया। शरीर-परिवर्तन की आत्मा की इस क्रिया को मरण कहा जाता है, वस्तुतः आत्मा का यह मरण नहीं है।

आत्मा को 'अविनाशी' इसलिए कहा गया है कि शस्त्र, अग्नि, पानी, हवा आदि कोई भी पदार्थ आत्मा का नाश नहीं कर सकता, यहाँ तक कि मन्त्र-तन्त्र, औषधादि प्रयोगों से भी आत्मा विनष्ट नहीं हो सकता। शरीर अवश्य कटता, जलता, गलता, सूखता या नष्ट होता दिखाई देता है। इसे 'अक्षय' भी इसलिए कहा गया है कि आत्मा का कभी क्षय या ह्रास नहीं होता। वह भूतकाल में जितना था, उतना ही आज है, और भविष्य में भी उतना ही रहेगा। उसमें किसी भी प्रकार की घट-बढ़ नहीं होती, हानि वृद्धि होती है शरीर में।

आत्मा को 'ध्रुव' इसलिए कहा गया है कि निश्चयदृष्टि से वह तीनों काल में स्थायी रहता है। पर्यायदृष्टि से वह हाथी, घोड़ा, सिंह, मनुष्य, देव, नारक आदि नाना पर्यायें धारण करता है, किन्तु द्रव्यार्थिक-नय की अपेक्षा द्रव्यरूप से वह स्थायी रहता है।

'आत्मा नित्य है,' यह निश्चय (द्रव्यार्थिक) दृष्टि से कहा गया है, क्योंकि वह सदा एक-सा रहता है, किन्तु पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा से वह नाना पर्यायें धारण करता है, इसलिए अनित्य भी माना गया है।

आत्मा निरन्वय क्षणिक भी नहीं है

बौद्धदर्शन की तरह जैनदर्शन आत्मा को निरन्वय क्षणिक नहीं मानता। निरन्वय क्षणिक का अर्थ है—आत्मा क्षण-क्षण में उत्पन्न और

विनष्ट होती रहती है। यह सिद्धान्त प्रत्यक्षतः बाधित है। एक आदमी ने चोरी करने का संकल्प किया, तब अन्य आत्मा थी, चोरी करने लगा, तब दूसरी आत्मा हो गई, क्योंकि पहले वाली आत्मा नष्ट हो गई, और जब चोरी कर ली, तब अन्य आत्मा उत्पन्न हो गई। अब यदि सरकार उस चोरी करने वाले को गिरफ्तार करके दण्ड देने लगे, तब बौद्धमतानुसार यदि वह कहने लगे कि चोरी करने वाला मैं नहीं, वह तो दूसरी आत्मा थी, मैं दूसरी आत्मा हूँ, वह आत्मा तो नष्ट हो गई, फिर मुझे दण्ड क्यों दिया जा रहा है? क्या इस प्रकार के कथन से चोरी करने वाला दण्ड से छूट सकता है? कभी नहीं। मतलब यह है कि आत्मा को निरन्वय क्षणिक मानने से कर्म और कर्मफल का एकाधिकरणरूप सम्बन्ध अच्छी तरह घटित नहीं हो सकता। आत्मा के इस प्रकार क्षण-क्षण में बदलते रहने से पापकर्म किसी और आत्मा ने किया, उसका फल मिलेगा दूसरी आत्मा को। इस प्रकार कृतकर्म निष्फल हो जाता है, और अकृतकर्म का फल भोगना पड़ता है। यह सिद्धान्त कितना हानिकारक, अन्यायकारक और प्रत्यक्षबाधित है। अनुभव और तर्क की कसौटी पर भी यह सिद्धान्त खरा नहीं उतरता।

जैसे—किसी ने कहा—'आत्मा क्षणिक है।' इस प्रकार कहने वाला तो आत्मा ही है। उसने कब जाना कि आत्मा क्षणिक है? क्योंकि क्षणिक जानने वाला आत्मा तो उसके मत से नष्ट हो गया, अब आत्मा का क्षणिक कहने वाला तो अन्य कोई आत्मा है, जिसने क्षणिक जाना नहीं। यदि वह जानने के बाद कहता है तो वह क्षणिक ही नहीं। यह तो 'वदतोव्याघात' है। क्योंकि जानने में भी कम से कम एक क्षण तो लग ही जाता है, फिर कहने में भी एक क्षण लग जाता है। जिसने जाना है, वही कहता है, ऐसी स्थिति दो क्षण की हो गई। अतः सभी वस्तुएँ क्षणिक हैं, आत्मा भी क्षणिक है, यह सिद्धान्त स्वतः खण्डित हो जाता है।

यह तो सबका अनुभव है कि हम जो कुछ भी बोलते हैं, उससे पूर्व विचार करते हैं। विचारने का क्षण और बोलने का क्षण दोनों अलग-अलग हो गए। ऐसी स्थिति में क्षणिकवाद के अनुसार विचार और विचारकर्त्ता दोनों नष्ट हो गए फिर उन विचारों को कौन कहता है, विचार भी कौन करता है? अतः यह अटपटा सिद्धान्त युक्तिहीन और अनुभवबाधित है।

अगर आत्मा को निरन्वय क्षणिक माना जाए तो किसी आत्मा में क्रोधादि भाव पहले क्षण उठते हैं, दूसरे क्षण वह व्यक्त करता है, यह हो

नहीं सकता। यह तभी हो सकता है, जब आत्मा को परिणामीनित्य माना जाए। इतना ही नहीं, क्रोध, क्षमा, हास्य, शोक आदि भाव भी जिस क्षण आत्मा से उत्पन्न और व्यक्त होते हैं, उसके कितने ही दिनों, महीनों या वर्षों बाद वह उन्हें कहता है कि मुझे अमुक समय क्रोध आ गया था, मैंने अमुक समय अमुक को क्षमादान दिया आदि। यदि आत्मा निरन्वय क्षणिक हो तो चिरकाल के पश्चात् वह उस भाव का कथन कैसे कर पाता है ? अतः आत्मा का सदा अस्तित्व है, यही घटित होता है।

आत्मा को निरन्वय क्षणिक मानने से कर्मसिद्धान्त भी खण्डित हो जाएगा। कर्म फिलोसोफी यह है कि जो कर्म करता है, वही उसका फल भोगता है। कर्त्ता और भोक्ता दोनों एक ही होते हैं, पृथक्-पृथक् नहीं। आत्मा को निरन्वय क्षणिक मानने से 'करे कोई और भरे कोई' वाली कहावत चरितार्थ हो जाती है।

कई बार कर्म जब बंधते हैं तब तत्काल उसका फल नहीं मिलता। अधिकांश कर्मों का फल दीर्घकाल के पश्चात् भोगा जाता है। अतः जिसने वे कर्म बाँधे थे, यदि उसका अस्तित्व फल भोगने के समय तक हो तभी तो वह उन कर्मों का फल भोग सकेगा। अन्यथा, उन कर्मों का फल कौन भोगेगा ? एक के किये हुए कर्मों का फल दूसरा कैसे भोग सकता है ? अपराध किसी का और सजा कोई और भोगे, ऐसा तो व्यवहारिक जगत् में भी नहीं होता, फिर आध्यात्मिक जगत् में ऐसा कैसे हो सकता है ? अतः सभी दृष्टियों से आत्मा नित्य ही सिद्ध होता है, निरन्वय क्षणिक नहीं।

आत्मा का सदैव सहचर मूलगुण : ज्ञान

आत्मा का असाधारण लक्षण है—ज्ञानमय, उपभोगमय। दूसरे शब्दों में कहें तो ज्ञान और आत्मा दोनों अभिन्न हैं।[1] जो ज्ञान है, वही आत्मा है, जो आत्मा है वही ज्ञान है। यह सिद्धान्त भी निश्चित है कि आत्मा के बिना ज्ञान नहीं, और ज्ञान के बिना आत्मा नहीं।[2]

इस दृष्टि से वैशेषिक दर्शन का यह मत सर्वथा अनुभव और युक्ति से विरुद्ध है कि 'ज्ञान आत्मा का स्वाभाविक गुण नहीं है।' जड़ और चेतन

---

१ जे आया से विन्नाया, जे विन्नाया से आया। —आचारांग १/५/५।

२ "अप्पाणं विणु णाणं, णाणं विणु अप्पणो न सन्देहो॥" —नियमसार १७१।

दोनों में भेद-रेखा खींचने वाला यदि कोई असाधारण लक्षण है तो वह ज्ञान ही है। चेतन ज्ञान गुण वाला है, जड़ ज्ञान गुण से रहित है। जिस प्रकार पानी और उसकी शीतलता-गुण दोनों तादात्म्य सम्बन्ध से रहे हुए हैं। लाख उपाय करने पर भी पानी का शीतलता गुण सर्वथा नष्ट नहीं होता, वैसे ही आत्मा के साथ तादात्म्य सम्बन्ध से रहा हुआ ज्ञान गुण भी सर्वथा कदापि नष्ट नहीं होता। आत्मा का कितना ही पतन क्यों न हो जाए, निगोद जैसे अति सूक्ष्म शरीर वाले वनस्पतिकाय आदि स्थावर जीवों की निम्नतम स्थिति तक क्यों न पहुँच जाए, फिर भी आत्मा में रहा हुआ ज्ञान गुण पूर्णतया आवृत या नष्ट नहीं हो पाता। यद्यपि सूक्ष्म-शरीरी आत्मा में ज्ञान को व्यक्त करने के बाह्य साधन नहीं होते, उनका ज्ञान अव्यक्त ही रहता है, फिर भी यों नहीं कहा जा सकता कि उन सूक्ष्म-शरीरी आत्माओं में ज्ञान नहीं है। सूर्य का प्रकाश घने बादलों से कितना ही ढँक जाए, फिर भी उसका प्रकाश और दिवससूचक उजाला कभी नष्ट नहीं होता, इसी प्रकार आत्मा का ज्ञान गुण कर्मों के सघन बादलों से कितना ही आवृत हो जाए, फिर भी ज्ञान का क्षीण प्रकाश उसके अन्दर चमकता रहता है।

वैशेषिकों का यह कथन तो सर्वथा युक्ति और अनुभूति से विरुद्ध है कि आत्मा की मुक्ति तभी होगी, जब ज्ञान नष्ट हो जाएगा। भला, जब आत्मा का ज्ञान गुण ही नष्ट हो गया, तब उसका स्वरूप क्या बचा? गुण के बिना गुणी का कोई अस्तित्व ही नहीं रह पाता। तेजोहीन अग्नि को कोई अग्नि नहीं कहता, इसी प्रकार ज्ञान गुणहीन आत्मा को कोई आत्मा नहीं कहता। अतः ज्ञान आत्मा का असाधारण गुण है, वह कभी नष्ट नहीं होता, अविच्छिन्नरूप से आत्मा के साथ रहता है।

आत्मा पंचभूतमय नहीं है

आत्मा चार या पांच महाभूतों की बनी हुई है, और एक दिन शरीर के नष्ट होने के साथ वह यहीं नष्ट हो जाएगी, फिर उसे कहीं जाना है, न आना है। ऐसा जो चार्वाक, देवसमाज आदि अनात्मवादियों का कहना है, वह भी सर्वथा असत्य है। प्रकृति, पंचभूत आदि सब जड़ पदार्थ हैं, उनमें कोई चैतन्य या ज्ञान गुण नहीं होता, जबकि आत्मा सचेतन होती है, उसमें ज्ञानगुण होता है। जिस वस्तु में जानने की शक्ति या स्वभाव नहीं है, वह जड़ है और जिसमें जानने की शक्ति या स्वभाव है,

वह चेतन है। इस प्रकार भौतिक जड़ पदार्थों से आत्मा की विभिन्नता स्वभाव और शक्ति के अन्तर से स्वतः सिद्ध है। किसी भी भौतिक जड़ पदार्थ में चेतना नहीं होती, जबकि आत्मा, चाहे कितनी ही अविकसित चेतनाशील हो, फिर भी उसमें थोड़ी-बहुत चेतना अवश्य होती है। जड़ चेतन नहीं हो सकता, और चेतन भी जड़ नहीं हो सकता। दोनों के लक्षण में जमीन-आसमान का अन्तर है। जड़ पंचभूतों के सम्मिश्रण से चेतनाशील आत्मा उत्पन्न नहीं हो सकती। जड़ के संयोग से तो जड़ ही उत्पन्न हो सकता है, चैतन्य आत्मा नहीं। कार्य कारण के अनुरूप ही होता है। मिट्टी के अनुरूप ही घड़ा होता है, सूत के अनुरूप घड़ा नहीं हो सकता। चैतन्य आत्मा जड़ के अनुरूप नहीं है। फिर उत्पन्न भी वही पदार्थ होता है, जो पहले न हो। आत्मा तो पहले भी था, बाद में भी रहेगी, वह तो सदाकाल स्थायी है। किसी भी पदार्थ से उसके उत्पन्न होने का सवाल ही नहीं उठता। शरीर-परिवर्तन के साथ आत्मा परिवर्तित या नष्ट नहीं हो जाती। शरीर तो आयुष्यकर्मानुसार नष्ट हो जाता है, यानी तज्जन्य सम्बन्धी आयुष्यकर्म भोग लेते ही वह शरीर नष्ट हो जाता है, और आत्मा नये आयुष्यकर्मबन्ध के अनुसार दूसरा शरीर धारण कर लेती है। इससे यह नहीं समझ लेना चाहिए कि शरीर के नष्ट होने के साथ आत्मा भी नष्ट हो गई। आत्मा आकाश के समान अमूर्त है, वह न कभी नष्ट होती है, न ही कभी उत्पन्न होती है, न कभी वह बनती-बिगड़ती है। बनना-बिगड़ना, उत्पन्न-विनष्ट होना, शरीरादि जड़ पदार्थों का काम है, आत्मा का नहीं। वह तो अनादि निधन है, अखण्ड, अच्छेद्य, अभेद्य, अविनाशी और अनन्त है।

आत्मा अमूर्त, अभौतिक एवं अरूपी है

स्थूल शरीर तो आँखों से दिखाई देता है, परन्तु सूक्ष्मशरीर, मन, बुद्धि, परमाणु आदि सूक्ष्म पदार्थ आँखों से न दिखाई देने पर भी चतुःस्पर्शी पुद्गल हैं। उनमें वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श होता है। जिनमें वर्णादि हों, वे सभी जड़, भौतिक पुद्गल हैं। ये भौतिक पुद्गल—जड़ प्रकृति के धर्म हैं, आत्मा के नहीं। इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि उत्तरोत्तर पर हैं, परन्तु ये सब पुद्गल (जड़) हैं, आत्मा इन सबसे पर है, जो चेतन है।[1] वह निश्चय-

---

१ "इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः॥"

दृष्टि से अरूपी है, उसमें कोई शब्द, रूप, वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श नहीं होता। न ही वह दीर्घ, ह्रस्व, वृत्त, त्र्यंस (तिकोन), चतुरस्र (चतुष्कोण), होता है, न ही परिमण्डलाकार होता है। अर्थात्—आत्मा का कोई रंग रूप नहीं होता, न आकार-प्रकार होता है। वह अरूपी सत्ता है। न तो वह शरीर है, न उत्पत्ति वाली है, वह असंग है। न ही वह स्त्री है, पुरुष है या नपुंसक है, अथवा और किसी आकृति या लिंग वाली है। आचारांग सूत्र में निश्चयदृष्टि से शुद्ध आत्मा का स्वरूप स्पष्टतः बताया गया है। कोई कह सकता है कि फिर आत्मा किस प्रकार का हैं? जिस प्रकार गूंगा गुड़ आदि के स्वाद को वाणी द्वारा व्यक्त नहीं कर सकता, शब्दों द्वारा उसका स्वरूप समझाया नहीं जा सकता, बुद्धि द्वारा भी उसका स्वरूप अगम्य है, इन्द्रियों द्वारा अगोचर है,[1] तर्क या उपमान द्वारा भी उसे बताया नहीं जा सकता वह तो अनुभवगम्य है। यह सब कथन निश्चय-दृष्टि से किया गया है।[2]

निश्चयदृष्टि से आत्मा कर्मों का कर्त्ता या भोक्ता भी नहीं है। क्योंकि कर्मों का आस्रव (आगमन) अथवा कर्मों का बन्ध ये सभी परभाव हैं, विभाव हैं। आत्मा परभावों का कर्ता कैसे हो सकता है? इसी कारण निश्चयदृष्टि से आत्मा स्वभाव का ही कर्त्ता-भोक्ता कहा जाता है। व्यवहारनय की दृष्टि से यह कहा जाता है कि आत्मा कर्मों का कर्ता और भोक्ता है। वही रागद्वेषादिवश कर्मबन्धन करता है, मिथ्यात्व अविरति प्रमाद कषाय और योग के कारण वही कर्मों का आस्रव और बन्ध करता है। परन्तु निश्चयनय की दृष्टि से शुद्धआत्मा राग-द्वेष, मोह, कषाय आदि विकारों से रहित है। यही आत्मा का यथार्थ स्वरूप है।

---

१ तुलना कीजिए—"न तत्र चक्षुर्गच्छति, न वाग्गच्छति, नो मनः।"
—केनोपनिषद् खण्ड १, कण्डिका ३

२ से ण दीहे, ण हस्से, ण वट्टे, ण तंसे, ण चउरंसे, ण परिमंडले। ण किण्हे, ण णीले, ण लोहिए, ण हालिद्दे, ण सुक्किल्ले। ण सुब्भिगंधे, ण दुरभिगंधे। ण तित्ते, ण कडुए, ण कसाए, ण अंबिले, ण महुरे। ण कक्खडे, ण मउए, ण गरुए, ण लहुए, ण सीए, ण उण्हे, ण णिद्धे, ण लुक्खे।....से ण रुहे, ण रूवे, ण गंधे, ण रसे, ण फासे इच्चेतायंति।....ण काऊ, ण रुहे, ण संगे, ण इत्थी, ण पुरिसे, ण अण्णहा। अरूवी सत्ता। उवमा ण विज्जए। सव्वे सरा णियट्टंति, तक्का तत्थ न विज्जइ, मई तत्थ न गाहिया।
—आचारांग १/५९२-५९३

इस प्रकार शुद्ध आत्मा का यथार्थ स्वरूप जानने पर ही व्यक्ति परमात्मा बनने के लिए अथवा परमात्मपद को प्राप्त करने के लिए अग्रसर एवं उत्साहित हो सकता है। ऐसी शुद्ध आत्मा और परमात्मा में कोई अन्तर नहीं रह जाता। ऐसी शुद्ध आत्मा राग-द्वेष-मोह आदि विकारों, कर्मों तथा कर्मों से प्राप्त होने वाले जन्म-मरण से तथा शरीरादि से सर्वथा रहित हो जाती है। ऐसा आत्मा सर्वज्ञ, मुक्त तथा संसार में आवागमन से रहित निरंजन निराकार परमात्मा बन जाता है।

शुद्ध, सर्वज्ञ एवं मुक्त आत्मा अल्पज्ञ एवं जन्म-मरण से युक्त नहीं होता

शुद्ध आत्मा का ऐसा यथार्थस्वरूप जान लेने पर व्यक्ति जन्म-मरण से मुक्त सर्वज्ञ परमात्मा बनने और उसके लिए तप, त्याग, व्रत, संयम आदि की साधना के लिए तत्पर हो सकता है। इसलिए आर्यसमाज का यह कथन सर्वथा युक्तिविरुद्ध है कि आत्मा कभी सर्वज्ञ तथा मुक्त नहीं हो सकती, वह मोक्ष से वापस लौटकर पुनः संसार में आ जाती है। यदि आत्मा सदैव अल्पज्ञ और अमुक्त ही रहे, संसार में ही परिभ्रमण करने के लिए वापस आ जाए, तब भला तप, संयम, व्रत-महाव्रत, त्याग-प्रत्याख्यान आदि की साधना एवं परमात्मा की आराधना-उपासना का क्या अर्थ है? धर्म आत्मा को परमपद-परमात्मपद या मोक्षपद पर पहुँचाने के लिए ही तो है। सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रयरूप धर्म का व्यवहार और निश्चय से पालन-आराधन करने पर जब आत्मा ज्ञानादि की पूर्णता के शिखर पहुँच जाती है, तब वह अवश्य ही समस्त कर्मों से, जन्ममरण से, शरीरादि बन्धनों से, समस्त दुःखों से, समस्त राग-द्वेषादि विकारों से मुक्त सिद्ध-बुद्ध परमात्मा हो जाती है। इस प्रकार मोक्ष प्राप्त करने के बाद फिर कभी उसे संसार में वापस आने की आवश्यकता नहीं होती। जो कर्मों से सर्वथा रहित, कृतकृत्य और पूर्ण हो गया है, वह भला पुनः कर्मों से लिपटने, संसार के पचड़े में पड़ने और अपूर्ण होने को क्यों आएगा? अतः जैनदर्शन का ही नहीं, अन्य दर्शनों का भी यह मन्तव्य है कि परमधाम—सिद्धधाम या मोक्ष प्राप्त करने के बाद वह आत्मा पुनः कभी संसार में वापस नहीं लौटता। दशाश्रुतस्कन्ध में इसी तथ्य को रूपक द्वारा बताया गया है—

जहा दड्ढाण-बीयाणं ण जायंति पुणरंकुरा।
कम्मबीएसु दड्ढेसु न जायंति भवांकुरा॥[1]

---

१ दशाश्रुतस्कन्ध ५/१५

जिस प्रकार जला हुआ बीज फिर कभी अंकुरित व उत्पन्न नहीं होता, उसी प्रकार तपश्चरण, ध्यान, संयम आदि की आध्यात्मिक अग्नि से जले हुए कर्मबीज भी फिर कभी जन्म-मरणरूप संसार के विष-अंकुर के रूप में उत्पन्न नहीं होते।

जिस प्रकार दूध में से मथकर अलग निकाला हुआ मक्खन, अपने स्वरूप को छोड़कर पुनः दूध रूप नहीं हो सकता, उसी प्रकार कर्मों से सर्वथा पृथक् होकर पूर्ण शुद्धरूप हुई आत्मा—परमात्मस्वरूप बनी हुई सिद्ध-बुद्ध-मुक्त आत्मा पुनः कर्मों से, तत्फलस्वरूप जन्म-मरणरूप संसार से, कर्मजन्य सांसारिक सुख-दुःखों से कदापि आबद्ध नहीं हो सकती। न्यायशास्त्र का यह अकाट्य सिद्धान्त है—कारण के बिना कार्य नहीं होता। जब मुक्त आत्मा के संसार में जन्म लेने के कारणभूत कर्म ही नहीं रहे, तब फिर संसार में पुनरागमनरूप कार्य कैसे हो सकेगा? इसीलिए मुक्त आत्मा के लिए कहा गया है—

अपुणरावित्ति सिद्धिगइ नामधेयं ठाणं संपत्ताणं[1]

अर्थात्—वे जहाँ से संसार में पुनरागमन नहीं होता ऐसी सिद्धि-गति=मुक्ति नामक स्थान को प्राप्त हो चुके हैं।[2]

इसीलिए प्रारम्भ में कहा गया था कि आत्मा के स्वरूप के सम्बन्ध में विविध दर्शनों और मतों की विपरीत प्ररूपणा की अटवी से निकलकर जैनदृष्टि से आत्मा के यथार्थस्वरूप को जान लेने पर ही व्यक्ति परमात्म-प्राप्ति की ओर अग्रसर हो सकता है।

●

---

१ नमोऽत्थुणं का पाठ

२ तुलना कीजिए—
मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्।
नाप्नुवन्ति महात्मानः, संसिद्धि परमांगताः॥ १५
अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम्।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते, तद्धाम परमं मम॥ गीता, ८/१५-२१

४

आत्मा को कहाँ और कैसे खोजें ?

परमात्मा बनने के लिए आत्मदर्शन आवश्यक

आत्मा के अस्तित्व और उसके स्वरूप का बोध हो जाने पर भी प्रश्न यह रह जाता है कि क्या इतने मात्र से ही आत्मा परमात्मा बनने की ओर अग्रसर हो सकता है ? इसके उत्तर में यही कहा जा सकता है कि कई विद्वान या शब्द शास्त्री भी आत्मा का अस्तित्व एवं उसके स्वरूप का विश्लेषण व्याकरण से, विविध प्रमाणों, युक्तियों और तर्कों से सिद्ध कर सकते हैं, परन्तु इतने मात्र से उन्होंने आत्मा का अस्तित्व और स्वरूप हृदयंगम कर लिया या अनुभूत एवं निश्चित कर लिया, यह नहीं कहा जा सकता। केवल आत्मा के अस्तित्व एवं स्वरूप को सिद्ध करने मात्र से कोई व्यक्ति सहसा परमात्मा नहीं बन सकता, अथवा परमात्मपद पर पहुँचने के लिए उत्साहित नहीं हो सकता। परमात्मा बनने के लिए आत्म-साधना के केन्द्रीभूत आत्मा को देखना, ढूंढ़ना, खोजना और पाना अतीव आवश्यक है।

जब तक साधक अपनी आत्मा में स्थित नहीं हो जाता, तब तक वह परमात्मपद को प्राप्त नहीं कर पाता। आत्मा में स्थित होने के लिए आत्मा को जानना-देखना, ढूंढ़ना-खोजना और पाना बहुत आवश्यक है। इसीलिए ऋषि याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी से कहा था—

आत्मावाऽरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यश्च ।[1]

अरी मैत्रेयी ! आत्मा को ही तुम्हें देखना चाहिए, सुनना चाहिए, उसी का मनन करना चाहिए और निदिध्यासन (एकाग्रतापूर्वक ध्यान) करना चाहिए । (तभी तुम उस परब्रह्म को पा सकोगी ।)

परमात्मपद के लिए आत्मावलोकन अनिवार्य

आत्मा के अस्तित्व को जान लेने तथा उसके स्वरूप या लक्षण को पुस्तकों में पढ़कर स्मरण कर लेने या किसी मन्त्र, स्तोत्र का पाठ कर लेने अथवा किसी देवी-देव या भगवान की छवि को देख लेने, उसकी पूजा-अर्चना कर लेने, अथवा उसका गुणगान, स्तवन या भजन कर लेने मात्र से आत्मदर्शन नहीं हो पाता । वेद की एक ऋचा है—

'यस्तद् न वेद, किम् ऋचा करिष्यति ?'[2]

जो उस आत्मा को नहीं जान-देख पाया, उसका ऋचा (मंत्र) पाठ, विवेचन या उच्चारण क्या कर सकता है ?

आत्मा की अन्तर् में अनुभूति किये बिना केवल पठन-पाठन या उच्चारण आत्मा को परमात्मपद के निकट नहीं ले जा सकता । शास्त्रों और ग्रन्थों के पढ़ने से जानकारियाँ बढ़ सकती हैं, परन्तु आत्मा को देखने-खोजने पर जो आत्मानुभूति होती है, उससे अपने आपको और परमात्मा को जाना जा सकता है । शब्दों या शास्त्र पाठों का श्रद्धारहित उच्चारण एवं ऊहापोह करते रहने से भी आत्मा की उपलब्धि=प्राप्ति नहीं होती ।

आत्मा की उपलब्धि=प्राप्ति का एकमात्र मार्ग है—अन्तर् में डुबकी लगाकर आत्म-ज्योति का दर्शन करना । ज्ञान, दर्शन, आनन्द और आत्मशक्ति से ओतप्रोत शुद्ध आत्मज्योति के दर्शन करने से ही परमात्मा के दर्शन करने की-सी अनुभूति होती है । इसीलिए एक अध्यात्म-रसिक कवि ने कहा है—

करो तुम लाख तदबीरें, जोग तप ज्ञान पाने की ।
मगर घट को बिना खोजे, नहीं खुलता दुवारा है ।।

अर्थात्—शुद्ध आत्मा=परमात्मा का द्वार तभी खुलता है, जब आत्मा को खोज लिया जाएगा ।

इस प्रकार की शुद्ध आत्मा का सतत् निरीक्षण करने से मनुष्य का

---

१ बृहदारण्यक उपनिषद् ३/५

२ ऋग्वेद

हृदय स्वतः बोल उठता है—'मेरे भीतर परमात्मा निवास कर रहा है।' ऋग्वेद का निम्नोक्त सूत्र इस तथ्य का साक्षी है—

"इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते।"[1]

'आत्मा (अपनी शुद्ध) अनुभूति रूपी लक्ष्मियों से उस समय परमात्मा रूप हो जाता है।'

इसलिए परमात्मा को जानने-देखने के लिए आत्मा को शुद्ध रूप में जानना-देखना आवश्यक है। अथर्ववेद में भी बताया गया है—

'ये पुरुषे ब्रह्म विदुः, ते विदुः परमेष्ठिनम्।'[2]

जो पुरुष आत्मा को ब्रह्म (शुद्ध आत्मा) के रूप में जान लेते हैं वे परमेष्ठी=परमात्मा को भी जान लेते हैं।

दोष-परिष्कार के लिए भी आत्मदर्शन आवश्यक

आत्मा को जानने-देखने की इसलिए भी आवश्यकता है कि ऐसा करने से व्यक्ति को आत्मा पर आई हुई एवं आत्मा से भिन्न कई मलिनताएँ भी दृष्टिगोचर हो सकती हैं और व्यक्ति उन मलिनताओं को दूर करके आत्मा को शुद्ध-परिष्कृत एवं उज्ज्वल रूप में जान-देख सकता है। कई बार साधक की असावधानी से आत्मा में कई वासनाएँ, पाप, दोष, दुर्वृत्तियाँ एवं मलिनताएँ प्रविष्ट हो जाती हैं, जो आत्मा के अनन्त सौन्दर्य को प्रभावित एवं आच्छादित कर देती हैं। आत्मा जब अपने अन्तर् की गहराई में उतरकर चेतना के दर्पण में स्वयं को देखता-परखता है, तो उसे अपना उज्ज्वल, स्पष्ट, सुन्दर स्वरूप परिलक्षित होने लगता है। फलतः आत्मा में प्रविष्ट मलिनताएँ उसे स्पष्ट दिखाई देने लगती हैं, और वह उन मलिनताओं को दूर भी कर सकता है।

गाँव के बाहर नदी तट पर एक पण्डित जी रहते थे। वे विद्वान तो थे ही, साथ ही मिलनसार और सौम्य स्वभाव के थे। उनका जीवन श्रम और प्रामाणिक व्यवहार से चल रहा था। एक दिन पण्डितजी के मन में आत्मा को जानने-देखने और खोजने की प्रबल इच्छा उठी। वे उसके लिए प्रयत्न करने लगे। फिर तो ऐसी धुन सवार हुई कि वे आत्मा की खोज में अपने पारिवारिक एवं आजीविका-सम्बन्धी सब उत्तरदायित्वों को छोड़ बैठे। वे आत्मा की खोज तो कर रहे थे, पर कर रहे थे बाहर ही बाहर। घर में कोई काम होता, या घर वालों को किसी वस्तु की आवश्यकता

---

१ ऋग्वेद ६।४७।१८।

२ अथर्ववेद।

होती तो वे झिड़क देते, कोई बात पूछने पर झल्ला उठते। रात-दिन उनके मन-मस्तिष्क में एक मात्र आत्मा को ही देखने-जानने की धुन लगी हुई थी। वे जब देखो तब शास्त्र, ग्रन्थ एवं गुरुवाणी उकलते रहते। परन्तु व्यावहारिक कार्यों के प्रति उपेक्षा के कारण उनके पारिवारिक सम्बन्धों में कटुता आ गई। पण्डितजी को स्वयं महसूस होने लगा कि मेरा जीवन नरकमय होता जा रहा है।

एक दिन रात के समय पण्डितजी आत्मदर्शन के हेतु ध्यान में मग्न थे, तभी उनके अन्तर् में प्रकाश की किरण फूटी। एक अव्यक्त आवाज आई—पण्डित जी! तुमने मिथ्यामार्ग क्यों अपनाया है? जहाँ जीवन में कटुता हो, वहाँ आत्मा के दर्शन कहां होंगे? आत्मा को बाहर खोजने की अपेक्षा अपने अन्तर् में खोजो। वह तो तुम्हारे पास, अन्दर ही है। अपने अन्तर् में शुद्ध आत्मा को देखो-जानो और उस पर आए हुए आवरणों, दोषों, विकारों और विभावों को दूर करो। ऐसा करने से ही तुम्हें ज्ञान, दर्शन, आनन्द और शक्ति से ओतप्रोत शुद्ध आत्मा के दर्शन होंगे।

अतः दोषों और मलिनताओं को दूर करने के लिए भी आत्मावलोकन करना आवश्यक है।

आत्मा को देखने में शरीरादि समर्थ नहीं

यह तो निश्चित है कि इन चर्मचक्षुओं से मनुष्य शरीर, इन्द्रियाँ, अंगोपांग या उनके आकार-प्रकार को देख सकता है, किन्तु आत्मा—चेतना को नहीं। आँखें ताँबे के तार देख सकती हैं, विद्युत्-तरंगों को नहीं। कान मनुष्यों आदि की भाषा को सुन सकते हैं, वृक्षों आदि की भाषा को नहीं। इसीलिए आचारांग सूत्र में स्पष्ट बताया गया है कि आत्मा नेत्रों से नहीं देखा जा सकता, न कानों सुना जा सकता है, न नाक से सूँघा जा सकता है, न जिह्वा से चखा जा सकता है, और न ही स्पर्श से अनुभव किया जा सकता है।[1] मन, बुद्धि, वाणी आदि भी आत्मा के यथार्थ स्वरूप को प्रकट करने में असमर्थ हैं। यही तथ्य केनोपनिषद् ने अभिव्यक्त किया है। अतः आत्मा को जानने देखने में वैज्ञानिक युक्तियाँ, बुद्धि की तर्कशक्ति या स्थूल इन्द्रियाँ, मन की कल्पनाएँ काम नहीं आतीं।

---

१ (क) से ण सद्दे, ण रूवे, ण गंधे, ण रसे, ण फासे इच्चेतावंति।
सव्वे सरा णियट्टंति, तक्का तत्थ न विज्जइ, मई तत्थ न गाहिया।"
आचारांग १/५/५/५४२ ५६३

(ख) न तत्र चक्षुर्गच्छति, न वाग्गच्छति, नो मनो, न विद्मो न विजानीमो, यथैतद् अनुशिष्यात्·····।
—केनोपनिषत्

आत्मा को आँखों से देखा जाना असम्भव है

आध्यात्मिक जगत् में आत्म-साक्षात्कार करने की चर्चा बहुत चलती है। परन्तु आत्मा अमूर्त्त होने से इन चर्मचक्षुओं से जाना-देखा नहीं जा सकता। आत्मा को स्थितप्रज्ञा से या अन्तःस्थित विवेक बुद्धि से अनुभव किया जा सकता है। इसे ही आध्यात्मिक भाषा में आत्म-साक्षात्कार या आत्मदर्शन कहते हैं। परन्तु यदि कोई बुद्धिवादी चाहे कि मैं आत्मा को हथेली पर रखे हुए आँवले की तरह प्रत्यक्ष देख लूं, यह असम्भव है।

एक बार कुछ विद्यार्थी भूतपूर्व राष्ट्रपति महान दार्शनिक सर्वपल्ली डॉ० राधाकृष्णन से आत्मिक तत्त्वज्ञान की चर्चा करने आए। आत्मा के विषय में जब चर्चा चली तो वे कहने लगे—डॉ० साहब ! हम आत्मा को तभी मान सकते हैं, जब आप उसे हथेली पर लेकर प्रत्यक्ष बताएँ।" इस पर से उन्होंने कहा—"विद्यार्थियो ! आत्मा है, वह अनुभवगम्य है। यह सनातन सत्य है। तुम न मानो, इससे आत्मा का अस्तित्व मिट नहीं जाता। वह त्रिकाल स्थायी शाश्वत पदार्थ है। तुम कहते हो—इसे प्रत्यक्ष बताओ; किन्तु आत्मा ऐसा तत्व है, जिसे स्थिरबुद्धि वाला प्राज्ञ ही जान सकता है। तुममें से जो सबसे अधिक बुद्धिमान हो, वह आगे आए।"

उन्होंने एक सबसे बुद्धिमान विद्यार्थी को आगे कर दिया। डॉ. राधाकृष्णन् ने कहा—"मैं इसे पहचानता नहीं, तुम्हारे कथन पर विश्वास करके मान लेता हूँ कि यह विद्यार्थी महाबुद्धिमान है। अब एक काम करो। इसकी बुद्धि निकाल कर टेबल पर रखो। फिर मैं भी अपनी आत्मा निकाल कर टेबल रख दूंगा।"

विद्यार्थीगण—ओह ! डाक्टर साहब ! कैसी बात करते हैं आप ? क्या बुद्धि दिमाग में से निकालकर बताने की या आँखों से देखने की वस्तु है ?"

"तो फिर बुद्धि को कैसे जाना जाए ?" उन्होंने कहा।

विद्यार्थियों ने कहा—बुद्धि तो इन्द्रियों से देखने-सुनने आदि की चीज नहीं है, वह तो सिर्फ अनुभव करने की चीज है। हमारा यह विद्यार्थी उसका अनुभव कर पाता है। बुद्धि के परिणामस्वरूप उसकी शक्ति को हम देख सकते हैं, परन्तु बुद्धि तो निकाली या दिखाई नहीं जा सकती।"

डॉ० राधाकृष्णन्—"प्यारे मित्रो ! यही बात आत्मा के सम्बन्ध में समझो। आत्मा केवल अनुभव करने की चीज है। वह आँखों से साक्षात् देखी नहीं जा सकती। परिणामस्वरूप देह में होने वाली—खाना-पीना,

चलना-फिरना, बोलना आदि क्रियाओं को देखकर हम अनुमान लगा लेते हैं कि देह में कोई विशिष्ट शक्ति है, जिसके द्वारा ये क्रियाएं हो रही हैं। वह आत्मा ही है। समझ गये न ?"

आत्मा निकाल कर हाथ में लेकर दिखाने की चीज नहीं है।"

मुण्डकोपनिषद्[1] में इसी तथ्य को उजागर किया गया है।

इन्हें भी आत्म-प्रेक्षण नहीं कहा जा सकता

अतः आत्मा ऐसी कोई वस्तु नहीं, जिसे किसी बाह्य भौतिक पदार्थ द्वारा देखा जा सके। उसकी कोई छवि या मूर्ति भी नहीं है, न किसी ने उतारी या बनाई है कि जिसे देखकर आत्मा की प्रतिच्छाया या प्रतिबिम्ब को पकड़ा जा सके, क्योंकि वह अमूर्त्त, अरूपी और निराकार है। और किसी की परछाई या प्रतिबिम्ब को पकड़ लेने मात्र से भी उसकी प्राप्ति नहीं हो जाती।

यह देखा जाता है कि प्रायः साक्षर, विद्वान्, पंडित, दार्शनिक, तार्किक या सुशिक्षित जन आत्मा को शास्त्रों और ग्रन्थों में खोजते हैं। कई लोग भगवद्वाणी में आत्मा को ढूंढते हैं, कई साधुओं और बहुश्रुतों के प्रवचनों में उसे तलाशते हैं। कई रिसर्च स्कॉलर आत्मा के सम्बन्ध में सैकड़ों ग्रन्थों एवं पुस्तकों का मन्थन करके उनका सार दिमाग में भरते हैं और अपना थीसिस (शोध-महानिबन्ध) लिखकर पूर्ण करते हैं। उस पर उन्हें पी-एच० डी० (डॉक्टर) की उपाधि मिल जाती है। क्या इन सबके प्रयास को आत्मा का अवलोकन, आत्मा का प्रेक्षण-दर्शन या अन्वेषण अथवा आत्मा की प्राप्ति कहा जा सकता है ?

इसका समाधान यह है कि इस प्रकार से ग्रन्थों, पुस्तकों या प्रवचनों, लेखों आदि से आत्मा के विषय में जानकारी कर लेने मात्र से उसे

---

१ न चक्षुषा गृह्यते नाऽपि वाचा, नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा।
ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः॥
—मुण्डकोपनिषद्

उसे आँखों से या वाणी से अथवा अन्य इन्द्रियों से जाना नहीं जा सकता। कोई तप या क्रियाकाण्ड से उसे जाना नहीं जा सकता है। जिसका अन्तःकरण विशुद्ध होता है, वही अविकल (अखण्ड) ध्यान के द्वारा ज्ञान-रूप-गुण के माध्यम से आत्मा को देख सकता है।

आत्मावलोकनकर्ता नहीं माना जा सकता। आत्मसाक्षात्कार की मंजिल तो बहुत ही दूर है। कोई व्यक्ति सरोवर या जलाशय में डुबकी लगाये बिना ही तैरने की कला पर अपना शोध प्रबन्ध लिख डाले और डॉक्टर की उपाधि प्राप्त कर ले तो कोई भी उसे तैरने की कला का साक्षात्कारकर्ता नहीं मानेगा। इसी प्रकार आत्मदर्शन के विषय में शोध-प्रबन्ध लिख देने मात्र से ही उसे आत्म-द्रष्टा या आत्म-साक्षात्कारकर्ता मानने को कोई तैयार नहीं होगा।

आत्मा को बाहर में खोजने का प्रयास निरर्थक

प्रायः सामान्य जन आत्मा को बाहर ही देखने और खोजने का प्रयास करते हैं, जबकि उसका केन्द्र भीतर है। ऐसे लोग आत्मा के बाहर ही बाहर यात्रा करते हैं। उन्हें कभी भीतर जाने की सूझती ही नहीं, क्योंकि उन्हें बाहर रंग-बिरंगी दुनिया फैली हुई मिलती है, वही सब उन्हें अच्छा लगता है। उसी को वे सारभूत समझते हैं। भीतर उन्हें इन चर्मचक्षुओं से तो कुछ दिखाई नहीं देता। इसलिए भीतर खोजने में उन्हें नीरसता, ऊब या समय की बर्बादी प्रतीत होती है। ऐसे लोगों को अध्यात्म की भाषा में बहिर्मुखी दृष्टि वाले या बहिरात्मा कहा जाता है। ऐसे लोग बाहर में फैले हुए विस्तृत जगत् को ही सरस एवं मूल्यवान समझते हैं। उसी में आत्मा को ढूँढ़ते-खोजते हैं। वास्तव में जिसे ढूँढ़ना-खोजना, देखना और पाना है, उस आत्मा का अस्तित्व भीतर ही विद्यमान रहता है। जैसे कस्तूरी का मृग अपनी नाभि में अत्यन्त निकट कस्तूरी होने पर भी उसकी सुगन्ध के लिए दूर-दूर झाड़ियों, पत्तों एवं टहनियों में खोजता है, उसी प्रकार बहिर्मुखी दृष्टि वाले लोग भी अत्यन्त निकटवर्ती आत्मा को बाहर खोजते हैं, पर वहाँ वह है ही नहीं, तो मिलेगी कहाँ से ? बाहर खोजने में निष्फलता ही नहीं, खीज और निराशा ही पल्ले पड़ती है। "परमानन्द पंचविंशतिका" में इस तथ्य को स्पष्ट करते कहा गया है कि 'जिस प्रकार जन्मान्ध व्यक्ति सूर्य को नहीं देख पाते, उसी प्रकार आत्मा के स्वरूप से अनभिज्ञ लोग अपने देह में स्थित अनन्तचतुष्टयसम्पन्न ब्रह्म (आत्मा) का रूप नहीं देख पाते।'[1]

---

१ "अनन्त ब्रह्मणो रूपं, निजदेहेव्यवस्थितम्।
ज्ञानहीना न पश्यन्ति, जात्यन्धा इव भास्करम्॥"
—परमानन्द पंचविंशतिका श्लोक ९

आत्मा है कहाँ और खोजते कहाँ हैं ?

सच है, आज अधिकांश व्यक्ति आत्मा की खोज में जुटे हैं, परन्तु जब तक मन, वचन और काया को स्थिर करके एकाग्रचित्त से उसमें तन्मय नहीं हो जाएँगे, तब तक केवल बाह्य क्रियाकाण्डों में, अनुष्ठानों में बाह्य तप-जप में खोजने से आत्मा के दर्शन नहीं हो सकेंगे। अमितगति सामायिक पाठ में इसी तथ्य की ओर संकेत है।[1]

एक गाँव में एक भट्टारक पूजा-पाठ करवा रहे थे। वहीं एक दूसरे भट्टारक भी आ गए। उन्होंने पूछा—यह क्यों करवा रहे हैं ? इस पर पूजा-पाठ-परायण भट्टारक ने कहा—"यह हमारी परम्परा है। आत्म-कल्याण के लिए हम यही करवाते आ रहे हैं।"

दोनों भट्टारक परस्पर वार्तालाप कर रहे थे, इतने में ही आगन्तुक भट्टारक का एक शिष्य दौड़ा-दौड़ा आया और बोला—आज तो हमारे हार का सबसे बड़ा मोती गुम हो गया। आश्चर्य है, हमने उसे जिस कमरे में रखा था, वहाँ नहीं मिल रहा है। भट्टारक गुरु ने तुरन्त अपने पाँचों शिष्यों को बुलाया और उनमें से एक को आदेश दिया—जाओ, उसे नदी तट पर खोजो। दूसरे से कहा—तुम होम करो और मोती को हवन मंत्र से आकर्षित करो। तीसरे को आदेश दिया—जाओ, मोती को पहाड़ की तलहटी में खोजो। चौथे को आदेश दिया—नगर की परिक्रमा करो, मोती आखिर नगर से बाहर कहाँ जाएगा ? पाँचवें शिष्य से कहा—तुम जाकर कुण्ड में खोजो। स्थानीय भट्टारक साश्चर्य बोला—आपका मोती गुम हुआ है कमरे में और आपने शिष्यों को भेजा है उसे ढूंढने के लिए कमरे से बाहर नदीतट, कुण्ड, पहाड़ आदि पर। क्या इस तरह मोती मिल जाएगा ? आगन्तुक भट्टारक ने उत्तर में कहा—अजी ! जहाँ का जैसी परम्परा होती है, तदनुसार ही करना पड़ता है। आत्मा हमारे भीतर विराजमान है, उसको ढूंढने-पाने-देखने के लिए आत्मा से जिनका वास्ता नहीं है, ऐसी कितनी बाह्य क्रियाएँ आप करवा रहे हैं, तब मैं भी इसी प्रकार कर रहा हूँ।

दोनों महानुभाव चुप थे, परन्तु दोनों ही आत्म-कल्याण के लिए आत्मा को अन्दर में खोजने-देखने के बजाय बाहर ही देख-ढूंढ रहे थे।

---

१ "एकाग्रचित्तः खलु यत्र-तत्र स्थितोऽपि साधुर्लभते समाधिम्।"
—सामायिक पाठ श्लो० २५

अधिकांश लोग बाहर ही खोजते हैं

निष्कर्ष यह है कि आत्मा अपने भीतर ही पाया जा सकता है, बाहर नहीं। बाहर में जो दिखता है, उसे मायिक इन्द्रजाल या मृग-तृष्णा समझना चाहिए। जैसे सूर्य की ऊर्जा की उत्पत्ति तो उसके केन्द्र में होती है, बाहर तो विकिरण के वितरण की प्रक्रिया चलती रहती है। परमाणुओं और जीवाणुओं के नाभिक मध्य में होते हैं। शक्ति के स्रोत उन्हीं में होते हैं। बाहर उनका सुरक्षा-दुर्गमात्र खड़ा रहता है। इसी प्रकार आत्मा, उसकी शक्ति या उसके ज्ञानादि निजीगुण तो भीतर में होते हैं, बाहर तो उसका कलेवर मात्र लिपटा हुआ है। आत्मा तो काय-कलेवर के अन्तरंग में है। बाहर तो उसके निवास, निर्वाह का भवन मात्र खड़ा है।

बाहर में जो कुछ दिखाई देता है, उसके बीज तो भीतर विद्यमान हैं। वास्तविक समृद्धि और प्रगति के मूल तत्त्व तो भीतर हैं। सुख और शान्ति के केन्द्र अथवा ज्ञान और दर्शन स्रोत भी भीतर में हैं। तुष्टि, पुष्टि, तृप्ति, आनन्द, उल्लास, उत्साह एवं शक्ति (वीर्य) के रत्न भण्डार भी वहीं दबे हुए हैं। बाहर की मृगमरीचिका में भटकने की अपेक्षा यदि दृष्टि सम्यक् एवं स्पष्ट बना ली जाए तो भीतर में निहित अनन्तज्ञान, दर्शन, आनन्द एवं शक्ति की निधि का उपयुक्त स्थान खोजने-देखने और तृप्त होने का पुरुषार्थ सार्थक हो सकता है।

बाहर में जड़तत्वों और पुद्गलों का विस्तार ही हाथ लगता है, जो बाहर से रमणीय और आकर्षक लगता है, मगर है वह नाशवान् क्षण-भंगुर ही। इस बाह्य जगत की चकाचौंध में पड़कर मनुष्य ने अगणित जन्म-मरण किये, दुर्गतियों और कुयोनियों में अगणित कष्ट उठाए और जन्म, जरा, मृत्यु, व्याधि के दुःख सहे। प्रायः सबका यह प्रत्यक्ष अनुभव होने पर भी बाह्य जगत् में ज्ञानादि को ढूंढने-खोजने में अपनी शक्ति लगाकर मनुष्य जान-बूझकर अशान्ति और असमाधि मोल लेते हैं। अतः आत्मा को तथा आत्मिक वैभव को बाहर ढूंढने और पाने की अपेक्षा अन्तर् में खोजो, देखो और पाओ। इन्द्रियों द्वारा ज्ञान-दर्शन आनन्दमूर्ति आत्मा दिखाई नहीं देता, इन्द्रियों द्वारा तो बाहर के बड़े पदार्थ ही दिखाई देते हैं, जाने जाते हैं।

बाहर का विस्तार एवं बिखराव बहुत ही व्यापक है। उसे ढूंढ़-ढूंढ़ कर एकत्रित करने में अत्यधिक श्रम और समय लगाने की अपेक्षा अल्प-

कालीन मानव जीवन में अन्तर् में विराजमान आत्मदेवता को खोजना, देखना और पाना अधिक सार्थक है, इसमें श्रम और समय भी कम लगता है। बाहर के जड़जगत के वैभव की अपेक्षा अन्तर् का आत्मिक वैभव बहुत अधिक मूल्यवान, आनन्दप्रद एवं शक्तिप्रदायक है। अतः बाह्य जगत् को खोजने और पाने की अपेक्षा अन्तरंग जगत् को खोजना और पाना अधिक लाभदायक है। बहिर्मुखी दृष्टि वाले मानवों ने जितने अपने पुरुषार्थ से बाहर में प्रकृति के विस्तार में से जितना खोजा और पाया है, उतना ही पुरुषार्थ अगर आत्मा के अंतरंग को खोजने-पाने में किया होता—जो कि मानव के लिए सहज, सुलभ और अनिवार्य था—तो उससे कई गुना अधिक आत्मानन्द मिलता।

बाह्य जगत् के भौतिक पदार्थों को खोजने-पाने तथा उसके कारण संयोग-वियोगजनित दुःखों को पाने का क्रम तो जन्म-जन्मातर से चला आ रहा है, किन्तु अन्तर्जगत् को खोजने-पाने का अवसर तो इसी जन्म में मिला है। फिर यह सुनहरा अवसर छोड़कर बाह्यजगत् के जाल में फंस कर क्यों अपना श्रम, समय, बुद्धि आदि खर्चे जाएँ, और क्यों नाना विडम्बनाओं, चिन्ताओं और यातनाओं का बोझ लादा जाय, मनमस्तिष्क पर ?

परन्तु वर्तमान युग का मानव इतना अश्रद्धालु, अधीर और नास्तिक-सा बना हुआ है कि वह बाह्य जड़जगत् को देखने-पाने के चक्कर में पड़कर उसी में अपनी जिंदगी पूरी कर देता है, उसे अवकाश नहीं मिल पाता—आत्मा को ढूंढने, जानने, देखने और पाने का।

आत्मा को ज्ञानचक्षुओं से शुद्ध रूप में देखो

स्फटिक की प्रतिमा पर धूल पड़ी होने पर भी वह दिखाई देती है, क्योंकि स्फटिक पारदर्शी है, निर्मल है। इसी प्रकार चैतन्यमूर्ति आत्मा स्फटिक-सा निर्मल है, उस पर कर्मों की धूल पड़ी हुई है, फिर भी ज्ञान-चक्षुओं से देखने वाले को वह दिखाई देती है। आत्मा अपने आपमें ज्ञानमय स्वभाव वाली निर्मल चैतन्यमूर्ति है, वह कर्म तथा शरीर की धूल से पृथक् है। इस प्रकार शुद्ध आत्मा का ध्यान करे, उसे अन्तर् में ज्ञाननेत्रों से देखने का प्रयत्न करे तो स्फटिक प्रतिमा के समान शुद्ध आत्मा का अनुभव हो सकता है। स्फटिक की प्रतिमा के चारों ओर धूल पड़ी होने पर भी वह धूल उस प्रतिमा मे प्रविष्ट नहीं हो सकती, इसी प्रकार शरीर और कर्मों रूपी धूल ज्ञानमूर्ति आत्मा के चारों ओर पड़ी होने पर भी वह

(कर्म और शरीर रूपी) धूल आत्मा में प्रविष्ट नहीं हो सकती। इस प्रकार जो आत्मा को जाने और अन्तर् में देखने का प्रयत्न करे तो वह दिखाई देती है। यद्यपि स्फटिक की प्रतिमा तो इन आँखों से दिखाई देती है, हाथों से छुई जा सकती है, अर्थात्—इन्द्रियगोचर हो सकती है, किन्तु आत्मा=शुद्ध आत्मा ज्ञानानन्दमूर्ति है, वह इन्द्रियों द्वारा जानी-देखी नहीं जा सकती[1], किन्तु अतीन्द्रिय ज्ञान-दर्शन रूपी चक्षु से जानी-देखी जा सकती है।

आत्मा को कहाँ देखें ?

परमानन्द पंचविंशति[2] में इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए कहा है—

नलिन्यां च यथा नीरं भिन्नं तिष्ठति सर्वदा।
अयमात्मा स्वभावेन देहे तिष्ठति सर्वदा ॥७॥

पाषाणेषु यथा हेमं, दुग्धमध्ये यथा घृतम्।
तिलमध्ये यथा तैलं, देहमध्ये तथा शिवः ॥२४॥
काष्ठमध्ये यथा वह्निः शक्तिरूपेण तिष्ठति।
अयमात्मा शरीरेषु यो जानाति स पण्डितः ॥२५॥

अर्थात्—जिस प्रकार कमलिनी जल में रहती हुई भी जल से सदा पृथक् रहती है, इसी प्रकार यह आत्मा देह में रहती हुई भी देह से सर्वदा भिन्न स्वभाव में स्थित रहती है।

जिस प्रकार पाषाणों में सोना रहता है, दूध में घी रहता है, तिलों में तेल रहता है, परन्तु सोना, घी, या तेल मर्दन करने, मथने या पीलने पर ही निकल सकते हैं, इसी प्रकार आत्मा भी शरीर में स्थित रहती है; परन्तु शरीरजनित विकारों से पृथक् करके शुद्ध आत्मा को विवेक की मथनी से मथने पर ही वह प्रतीत हो सकती है। जैसे अरणि को लकड़ी में अग्नि शक्ति रूप से रहती है, इसी प्रकार यह आत्मा भिन्न-भिन्न शरीरों में स्व शक्तिरूप में स्थित रहती है। अरणि के काष्ठ को परस्पर रगड़ने पर ही अग्नि प्रकट होती है, इसी प्रकार शरीर में स्थित आत्मा की शक्ति

---

१ (क) केन उपनिषद् में भी कहा है—न तत्र चक्षुर्गच्छति, न वाग्गच्छति, नो मनः।
—केनोपनिषद् खण्ड १, कण्डिका ३
(ख) तक्का तत्थ न विज्जइ, मइ तत्थ न गाहिया।—आचारांग १।५। सू० ५९२

२ परमानन्द पंचविंशति श्लोक ७, २४, २५

को ज्ञानादि की विभिन्न साधनाओं में प्रयुक्त करने पर ही वह प्रकट होती है, इस प्रकार शरीर और आत्मा का जो पृथक्करण (विवेक) कर पाता है, वही पण्डित है।

आत्मा को जड़ माध्यमों से जाना-देखा नहीं जा सकता

अभिप्राय यह है कि अधिकांश व्यक्ति शरीर में स्थित आत्मा को शरीर में खोजने की कोशिश करते हैं। वहाँ आत्मा को प्रत्यक्ष न पाकर यही समझ लेते हैं कि शरीर के साथ संलग्न मन, बुद्धि, हृदय, इन्द्रियाँ, प्राण या अंगोपांग ही आत्मा है। परन्तु वे देखते हैं—इन इन्द्रियों के द्वारा ही। क्या इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि या हृदय आदि अतीन्द्रिय और अमूर्त्त (अरूपी) आत्मा को देख सकते हैं? कदापि नहीं। इन्द्रियों आदि के द्वारा देखने पर तो बाह्य जड़ पदार्थ ही दिखाई दे सकते हैं, आत्मा नहीं। शरीर और आत्मा को एक मानने से भी शरीर में स्थित रहते हुए भी आत्मा शरीर से भिन्न दिखाई नहीं दे सकता। जिस प्रकार स्फटिक-प्रतिमा में स्फटिक तो जड़ है, वह तो इन चर्मचक्षुओं से देखा जा सकता है, उसी प्रकार शरीर, इन्द्रियाँ आदि भी जड़ होने से इन चर्मचक्षुओं से देखे जा सकते हैं। मगर आत्मा तो चैतन्यमूर्ति अमूर्त्तिक और अतीन्द्रिय है, वह बाह्य नेत्रों से नहीं दिखाई दे सकती। ज्ञानचक्षुओं—अन्तर् नेत्रों से ही उसे देखा जा सकता है।

आत्मा को किस माध्यम से जानें-देखें?

प्रश्न होता है, आत्मा को जब इन्द्रियों आदि से नहीं देखा जा सकता, तब आत्मा को देखने-जानने का माध्यम क्या है? आचारांग सूत्र में इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए कहा गया है—

'जेण वियाणइ से आया, तं पडुच्च पडिसंखाए।'

जिससे स्व और परपदार्थों को जाना जाता है, वह आत्मा ही है। जानने की इस शक्ति की अपेक्षा ही आत्मा की प्रतीति की जा सकती है।

आत्मा को जानने-देखने के लिए किसी दूसरे भौतिक प्रकाश की आवश्यकता नहीं। अन्तर् में रोम-रोम में जगमगाता हुआ आत्मा का ज्ञान प्रकाश ही आत्मा को तथा आत्मेतर बाह्य पदार्थों को देखने-जानने में समर्थ है। अनन्त तेजोमय आत्मा स्व-पर-प्रकाशक है। उसी के उज्ज्वल एवं अन्तःस्फुरित प्रकाश से आत्मा स्वयं प्रतिभासित हो जाता है। जिस

प्रकार दीपक स्व-पर-प्रकाशक होता है, उसको देखने के लिए किसी दूसरे दीपक की आवश्यकता नहीं रहती, उसी प्रकार स्व-पर-प्रकाशक आत्मा को देखने-जानने के लिए किसी दूसरे साधन या दूसरे के प्रकाश की आवश्यकता नहीं रहती। क्योंकि ज्ञान आत्मा का अविनाभावी गुण है, और वह स्व-पर-प्रकाशक है। अतः आत्मा भी स्व-पर-प्रकाशक है। सूर्य को दीपक से देखने की जरूरत नहीं पड़ती; क्योंकि सूर्य तो स्वयं प्रकाशमान है। प्रकाश को प्रकाश से देखने की क्या आवश्यकता ? बृहदारण्यक उपनिषद् में इसी विषय पर ऋषि ने प्रश्न उठाया है—

विज्ञातारं अरे ! किं विजानीयात् ?

"अरे जो स्वयं विज्ञाता है, उसे कैसे जाना जाए ?"

ज्ञान की सत्ता को जानने के लिए दूसरा ज्ञान कहाँ से लाया जाए ? ज्ञान तो अपने आपको जानने के लिए स्वयं ही पर्याप्त है। अंधेरे को देखने के लिए दीपक की आवश्यकता होती है, इसी प्रकार दीपक तथा अन्यान्य वस्तुओं को जानने के लिए ज्ञान की आवश्यकता रहती है। चूँकि दीपक और ज्ञान तो स्वयं प्रकाशमान हैं, उन्हें जानने के लिए दूसरे दीपक या दूसरे प्रकाश की आवश्यकता नहीं रहती। इसीलिए आगमों में कहा गया—

'संपिक्खए अप्पगमप्पएण'

आत्मा से आत्मा का सम्प्रेक्षण करे, जाने-देखे।

ज्ञानचक्षुओं से शुद्ध आत्मा को जानना-देखना या अनुभव करना अभेदभक्ति है। इस प्रकार की अभेदभक्ति से आत्मा पर आए हुए आवरणों का क्षय होकर आत्मा सिद्ध परमात्मा-रूप दिखाई देता है। परमात्म-सुख भी प्राप्त होता है। अर्थात्—भावश्रुत से यानी ज्ञानचक्षु से आत्मा को जानने-देखने का प्रयत्न करे तो वह दिखाई देती है। उपनिषद् के एक ऋषि के भी ऐसे ही उद्गार हैं—

"आत्मन्येवात्मानं पश्येत्।'

आत्मा को आत्मा से ही देखो-जानो।

इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि आत्मा को यथार्थ जान-देख नहीं सकते। यदि इन्द्रियों से आत्मा को देखने का प्रयत्न किया जाएगा तो निराशा या भ्रान्ति ही पल्ले पड़ेगी। इन्द्रियों से तो बाहर के जड़ पदार्थ ही देखे जा

सकते हैं, आत्मा जाना-देखा नहीं जा सकता। इन्द्रियों द्वारा आत्मा को देख सकना तो दूर, उसकी अनुभूतियों का तथा आशा-निराशा, प्रसन्नता-अप्रसन्नता, सन्तोष-असन्तोष, मोह-द्रोह, रोष-द्वेष, राग-मोह आदि का भी अनुभव नहीं किया जा सकता। इतना ही नहीं, आत्मा अपनी चेतना की गतिविधियों तथा विकास-ह्रास को भी इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि के द्वारा जान-देख नहीं सकती। इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि तथा वैज्ञानिक युक्तियों, आदि से खण्ड-खण्ड रूप में विभिन्न द्वन्द्वात्मक विभिन्नताओं का दर्शन होता है, किन्तु इनसे पूर्ण आत्मतत्त्व को जाना-देखा या पाया नहीं जा सकता। इन्द्रियाँ पंच भौतिक पदार्थों-जड़पुद्गलों की बनी होने से वे सजातीय स्थूल जड़ पदार्थों को ही जान-देख सकती हैं। उनसे चैतन्यस्वरूप पूर्ण आत्मतत्त्व को तथा आत्मा की गतिविधियों को जान-देख सकना सम्भव नहीं है।

आत्मा जड़ पदार्थों से सर्वथा पृथक् गृहीत होता है

जड़-पदार्थों के साथ रहने से चैतन्यमय आत्मा कभी जड़ नहीं हो जाता, वह चेतन ही रहता है। अध्यात्मरसिक श्री सहजानन्दजी की इन उक्तियों और युक्तियों से भरी कविता कितनी प्रेरणाप्रद है, इस सम्बन्ध में—

अग्नि काष्ठ-आकारे रहे पण, थाय न काष्ठ ए बात नक्की।
शाके लूण देखाय नहीं पण, अनुभवाय ते स्वाद थकी ॥१॥

शरीराकार रही शरीर न थाऊं, लवण जेम जणाऊं सही।
रत्नदीप जेम स्व-पर-प्रकाशक, स्वयं ज्योति छुं प्रगट अहीं ॥२॥

अग्नि जेम उपयोग चींपिए, पकड़ाऊं कोई सज्जन थी।
प्रयोग थी बिजली माखण जेम, सहजानन्द घन अनुभव थी ॥३॥

अरणि की लकड़ी में वर्षों तक अग्नि रहती है, परन्तु वहाँ वह आँखों से दिखाई नहीं देती। वह तो घर्षण करने पर ही प्रकट होती है। वर्षों तक लकड़ी के साथ रहने के बावजूद भी वह अग्नि की शक्ति कभी लकड़ी नहीं बन जाती। यद्यपि वह शक्ति उस लकड़ी के अणु-अणु में व्याप्त होकर रहती है तथापि कोई उसे लकड़ी से पृथक् करना चाहे तो भी नहीं कर सकता। वह शक्ति-रूप में उसमें रहती ही है, फिर भी वह उस लकड़ी के आकार की नहीं बन जाती, न ही वह उस लकड़ी के गुणधर्मों को अंगीकार करती है।

साग में डाला हुआ नमक दिखाई नहीं देता, परन्तु साग खाने पर उसके स्वाद पर से अनुभव होता है कि यह नमक है । इसी प्रकार शरीरस्थित आत्मा आँखों से या अन्य इन्द्रियों से नहीं दिखाई देती किन्तु इन्द्रियों द्वारा जानने-देखने आदि क्रिया को देखने से, पूर्वगृहीत विषयों की स्मृति से तथा पूर्वजन्म-पुनर्जन्म आदि के स्मरण से आत्मा का अनुभव होता है। जिस प्रकार साग में रहा हुआ नमक साग नहीं बन जाता, न ही साग का आकार या गुणधर्म अपनाता है, उसी प्रकार आत्मा भी शरीर में रहने पर भी शरीराकार नहीं बनती, न ही शरीर के गुणधर्मों को अपनाती है।

इसी प्रकार आत्मा कहती है कि मैं अनादिकाल से शरीर के साथ हूँ, शरीर में स्थित रहती हूँ। छोटा-बड़ा जैसा शरीर होगा, उसमें उसी रूप में रहती हूँ। हाथी का शरीर हो तो उसमें उतनी बड़ी होकर और कुन्थुवा का शरीर हो तो उसमें उतनी छोटी होकर रहती हूँ। जैसा छोटा-बड़ा शरीर बदलता है, मैं उसमें उसी रूप में समाविष्ट हो जाती हूँ। परन्तु इतना होने पर भी मैं देहरूप नहीं बन जाती और भविष्य में भी कभी बनूंगी नहीं। मैं शरीर में रहते हुए भी आँख से दिखाई नहीं देती, न ही अन्य इन्द्रियों से ज्ञात होती हूँ बल्कि मैं तो स्व-पर-प्रकाशक हूँ। मुझे देखने के लिए उसी प्रकार दूसरे किसी प्रकाश की जरूरत नहीं जिस प्रकार रत्न या दीपक को देखने के लिए दूसरे किसी प्रकाश की जरूरत नहीं रहती। मैं तो स्वयं ज्योतिस्वरूप हूँ। मेरे ऐसे प्रकट चैतन्य लक्षण से ही मुझे जाना जा सकता है।

मुझे जानने-पकड़ने की भी एक विशिष्ट पद्धति है, मैं यों की यों सीधी पकड़ में नहीं आती। जिस प्रकार कोयले के अंगारे को हाथ से सीधा नहीं पकड़ा जाता, उसको पकड़ने के लिए चींपिये की जरूरत होती है, उसी प्रकार मुझे (आत्मा को) पकड़ने के लिए भी ज्ञानोपयोगरूपी चींपिये की जरूरत पड़ती है। परन्तु मुझे पकड़ सकता है कोई सज्जन पुरुष ही। सत्+जन=सज्जन का फलितार्थ है—जिसे सत् (त्रिकाल-स्थायी आत्मा) को जानने की तीव्रता-उत्सुकता है—वही व्यक्ति। ऐसे सज्जन-पुरुष का उपयोग जागृत होता है, इसलिए वही मुझे (आत्मा को) पकड़ सकता है।

पानी में रही हुई बिजली और दूध में रहा हुआ मक्खन ऐसे ही हस्तगत नहीं हो जाते। ये दोनों प्रयोग=पुरुषार्थ द्वारा ही प्राप्त किये जा सकते हैं। पानी में से बिजली प्राप्त करने के लिए कितना भगीरथ पुरुषार्थ

करना पड़ता है ? कितनी भारी, भरकम मशीनें लगानी पड़ती हैं ? कितनी सम्पत्ति, समय, श्रम और शक्ति खर्च करनी पड़ती है ? इतना सब कुछ करने पर भी विधिपूर्वक योग्यरूप से उन मशीनों का संचालन करने पर ही पानी में से बिजली मिल सकती है, अन्यथा करोड़ों वर्षों तक पानी यूँ ही पड़ा रहे तो उसमें से अंशमात्र भी बिजली प्राप्त नहीं हो सकती। इसी प्रकार दूध में से मक्खन प्राप्त करने के लिए भी उतना ही, उसी प्रकार का तदनुरूप पुरुषार्थ करना पड़ता है। इसी प्रकार शरीर में रही हुई आत्मा को प्राप्त किया जा सकता है, बशर्ते कि सहज ज्ञान, शक्ति, और आनन्द के पिण्डरूप आत्मा का अनुभव-ज्ञानोपयोगरूप पुरुषार्थ किया जाए।

महापुरुष समझाते हैं कि आत्मा अनुभवगम्य है। वह इन्द्रियों या मन-बुद्धि की पकड़ में नहीं आती, क्योंकि वह इन्द्रियातीत वस्तु है। इसी तथ्य को परमानन्द-पंचविंशति में अभिव्यक्त किया गया है—

अनन्तब्रह्मणो रूपं निजदेहे व्यवस्थितम्।
ज्ञानहीना न पश्यन्ति, जात्यन्धा इव भास्करम्॥

परमानन्द-संयुक्तं निर्विकारं निरामयम्।
ध्यानहीना न पश्यन्ति निजदेहे व्यवस्थितम्॥

सदानन्दमयं जीवं यो जानाति स पण्डितः।
स सेवते निजात्मानं परमानन्द-कारणम्॥[1]

इनका भावार्थ यह है कि जिस प्रकार जन्मान्ध जीव आकाश में स्थित सूर्य को नहीं देख सकते, इसी प्रकार अपने शरीर में स्थित अनन्त-ज्ञानादि-चतुष्टय-सम्पन्न आत्मा (ब्रह्म) के रूप=स्वरूप को ज्ञानोपयोग से हीन व्यक्ति नहीं देख सकते। इसी प्रकार अपने शरीर में स्थित, किन्तु शरीर के गुण-धर्म एवं स्वभाव से सर्वथा पृथक्, निर्लिप्त तथा राग, द्वेष, मोह, काम, क्रोध आदि विकारों से सर्वथा रहित, निरामय एवं परम आनन्द से युक्त आत्मा को अन्तर्ध्यान (तन्मयतापूर्वक ज्ञानोपयोग) से रहित व्यक्ति नहीं देख सकते। सत्-चित्-आनन्दमय शुद्ध आत्मा को जो जानता है, वही पण्डित (सज्जन) है। वही परम आनन्द के कारणभूत अपनी आत्मा का अनुभव=सेवन कर पाता है।

---

१ परमानन्द-पंचविंशति श्लोक, ६, १, ६।

निष्कर्ष यह है कि आत्म-तत्व शुद्धरूप में तो प्रत्येक मानव के अन्तर् में पड़ा है, परन्तु उसे जाना—देखा जा सकता है—अन्तर्मुखी स्वानुभव द्वारा ही, या ज्ञानोपयोग अथवा अन्तर्ध्यान द्वारा ही। वाणी से आत्मा का स्वभाव या स्वरूप का कथन पूर्णतया नहीं किया जा सकता। चैतन्य मूर्ति आत्मा की महिमा इतनी विस्तृत है कि वाणी उसे पकड़ नहीं सकती, ज्ञानोपयोग या ज्ञान के अनुभव से ही सर्वज्ञ उसे पूर्णतया जानते हैं। श्रीमद्राजचन्द्र ने भी कहा है—

जे पद श्रीसर्वज्ञे दीठं ज्ञानमां, कही शक्या नहि ते पणश्री भगवान जो।
तेहस्वरूप ने अन्य वाणी तो शुं कहे ?, अनुभवगोचर रह्युं ते ज्ञान जो ॥[1]

घी का वर्णन लिखकर चाहे जितने पोथे भर दे, चाहे जितना विस्तृत कथन कर दे, उससे जीव को घी का स्वाद नहीं आ सकता। इसी प्रकार चैतन्य का चाहे जितना कथन किया जाये, स्व-अनुभव के बिना उसका आनन्द, उसका पूरा ज्ञान या दर्शन प्राप्त नहीं हो पाता। इसलिए आत्मा को यथार्थरूप में जानने-देखने वाला स्वयं आत्मा ही है, जो स्वानुभव से ही जानता है। वाणी जड़-अचेतन है। उसके द्वारा आत्मा नहीं जाना-देखा जा सकता। और जब तक व्यक्ति आत्मा को ही यथार्थरूप में जानेगा– देखेगा नहीं, तब तक वह कोई भी साधना करेगा, उसके द्वारा पुण्य लाभ भले ही हो जाये, जन्म-मरण का अन्त नहीं आयेगा, जन्म-मरण का अन्त आये बिना परमात्मपद प्राप्ति होगी नहीं। अतः यह निश्चित है कि शुद्ध आत्मा को जानने देखने के लिए शुभरागवश भी कोई पुण्य कार्य उपयोगी नहीं होता। जिस प्रकार स्वच्छ दर्पण पर कोई चन्दन का लेप करे, तो वह उसके लिए आवरण का कारण होता है, इसी प्रकार आत्मा पर भी शुभराग आवरण ही होता है। अतः शुभरागवश भगवान् की भक्ति या द्रव्य पूजा-अर्चा से शुभकर्मबन्ध होता है। गौतम गणधर का भी अपने परम आराध्य गुरु, श्रमण भगवान् महावीर के प्रति प्रशस्त राग शुभकर्मबन्ध का कारण होने से आत्मा पर आवरणकारक बना। इसीलिए उनकी आत्मा जब तक सर्वथा रागरहित नहीं हुई, तब तक उन्हें केवलज्ञान नहीं हो सका। इसका फलितार्थ यह है कि शुद्ध निर्विकार आत्मा को ही जानने-देखने से परमात्मपद प्राप्त करने का द्वार खुलता है।

---

१ 'अपूर्व अवसर' गा० २०।

शुद्ध आत्मा को ही जानो देखो

शुद्ध आत्मा शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के कर्मों से रहित है। जैसा कि परमानन्द पंचविंशति में कहा गया है —

द्रव्यकर्म-विनिर्मुक्तं भावकर्म-विवर्जितम्।
नोकर्म-रहितं विद्धि निश्चयेन चिदात्मनः॥[1]

निश्चयनय की दृष्टि से ज्ञानमय शुद्ध आत्मा को द्रव्यकर्मों से सर्वथा मुक्त, भावकर्मों से रहित और नोकर्म-विहीन जानो।

शुद्ध आत्मावलोकन का तात्पर्य है—आत्मा को देह, गेह, मन, वाणी, बुद्धि, या अन्य कषायादि विकारों से पृथक् समझे और आत्मा के शुद्धरूप पर मनन, चिन्तन करे, दृढ़निश्चय करे। परमानन्द पंचविंशति में शुद्ध आत्मा की कुछ झांकी मिलती है—

अनन्तसुख-सम्पन्नं, निजदेहे व्यवस्थितम्।
अनन्तवीर्यसम्पन्नं दर्शनं परमात्मनः॥[2]

निर्विकारं निराधारं सर्वसंग-विवर्जितम्।
परमानन्द-सम्पन्नं शुद्ध चैतन्य लक्षणम्॥[3]

अर्थात्—अपने शरीर में स्थित अनन्त सुख और वीर्य (शक्ति) से सम्पन्न परमात्मस्वरूप आत्मा का दर्शन करो। यही शुद्ध चैतन्यमय आत्मा का लक्षण है, जो कि निर्विकार (रागद्वेषादि विकारों से रहित) समस्त आसक्तियों से दूर है, तथा शरीरादि किसी के आधार पर भी नहीं है। स्वतंत्र आत्मद्रव्य है।

जैन दृष्टि से कहें तो आत्मा की वर्तमान जो पर्यायें हैं वे सब आत्म-स्वभाव से भिन्न हैं। द्रव्यदृष्टि से आत्मा एकरूप है तथा अपने स्वभाव से परिपूर्ण है। अतः पर्यायदृष्टि छोड़कर द्रव्यदृष्टि से शुद्ध आत्मा का अनुभव न हो जाए, तब तक बार-बार श्रवण, मनन, निदिध्यासन करना चाहिए। पर्यायदृष्टि से विचारने पर विकार एवं मलिनताएँ ही प्रतीत होती हैं। परन्तु वे विकार या मालिन्य आत्मा के नहीं हैं। वे मलिनताएं या विकृतियाँ आत्मा के स्वभाव में मिल नहीं जातीं। उनसे आत्मा का शुद्ध स्वभाव कभी विकारी नहीं हो जाता। आत्मा का स्वभाव तो विकार से

---

१ परमानन्द-पंचविंशति श्लोक ८।
२ वही, श्लोक २।
३ वही, श्लोक ६

पृथक् ही रहने का है। बुद्धिमान् मानव समुद्र की सतह पर आई मलिन तरंगों को देख कर सारे समुद्र को मलिन नहीं मान लेता। वह जानता है कि सारा समुद्र स्वच्छ है, ये मलिन तरंगें उसकी स्वरूपभूत नहीं हैं। बल्कि समुद्र तो उस मलिनता को उछाल कर बाहर फेंक देता है।

यह भी निश्चित है कि रागद्वेषादि या विषय-कषायादि का मैल आत्मा पर चढ़ाकर या कर्मोदय प्राप्त औपाधिक पदार्थों की दृष्टि से आत्मा या कोई भी वस्तु देखी जायेगी तो उसका वास्तविक स्वरूप प्रतीत नहीं होगा। चर्मचक्षुओं से तो सबको वस्तु एक-सी प्रतीत होती है, किन्तु वस्तु को देखने के बाद उसके साथ कषायों या रागद्वेषादि विकारों का रंग मिला होगा, तो वह विभिन्न व्यक्तियों को भिन्न-भिन्न रूप में नजर आयेगी। एक ही स्त्री है, उसे कामी पुरुष, बालक और निर्विकारी साधु तीनों तीन दृष्टियों से देखेंगे। सभी चीजें पीली न होने पर भी पीलिया के रोगी को वे पीली ही नजर आयेंगी। इसलिए विकारों का चश्मा उतार कर शुद्ध निर्विकार निष्पक्ष दृष्टि से सम्यग्दर्शनादि सम्पन्न होकर शुद्ध आत्मा को आत्मा में देखना चाहिए।

आत्मा में डूबकर भी यदि कोई व्यक्ति वहाँ शुद्ध आत्मा का चिन्तन समीक्षण, निरीक्षण करना छोड़कर उसकी वर्तमान पर्यायों या बाह्य-पदार्थों का चिन्तन-मनन निरीक्षण करने लगे तो वह आत्मा को यथार्थरूप में नहीं देख-जान सकेगा।

आत्मा को शुद्ध रूप में खोजने-देखने की प्रक्रिया

आत्मा को शुद्ध रूप में खोजने और देखने की सर्वसुलभ विधि यह है कि सर्वप्रथम आत्मा के शुद्ध स्वभाव या शुद्ध आत्मा को जानने-समझने की जिज्ञासा उत्पन्न होनी चाहिए कि अनन्तकाल तक मैंने विभिन्न गतियों और योनियों में भ्रमण करते हुए आत्म-स्वभाव नहीं जाना-समझा। आत्मा कैसी है? मेरा या मेरे शरीर का उसके साथ क्या सम्बन्ध है? मनुष्य जन्म पाकर भी मैंने कुटुम्ब, शरीर, धन, यश वैषयिक सुख आदि का ही प्रायः चिन्तन किया। परन्तु ये सब क्या मेरी आत्मा के साथ रहेंगे तथा जायेंगे? वस्तुतः इन सब नाशवान् जड़ पदार्थों से मेरी आत्मा पृथक् है, एकाकी है, सदा शाश्वत मैं शुद्ध चिदानन्दस्वरूप हूँ। सिद्ध परमात्मा जितना पूर्ण सामर्थ्य मेरे में भरा है, उसे मैं जानूं-पहचानूं और प्रकट करूं।

इस प्रकार की जिज्ञासा के पश्चात् तीव्र लोभ, मोह, ममता आदि कम करके इसी शुद्ध आत्म-स्वरूप का श्रवण निर्ग्रन्थ धर्मगुरुओं के सान्निध्य

में बैठकर करे। तदनन्तर एकान्त में जाकर एकाग्रचित्त होकर आत्मा के शुद्ध स्वभाव का चिन्तन, मनन एवं मन्थन करे। इस प्रकार बार-बार शुद्ध आत्मा का ही रटन, पुनरावर्तन एवं अभ्यास करे। अपने अन्तर् में आत्मा के सिवाय अन्य पदार्थों के विषय की रुचि एवं तमन्ना उत्पन्न न होने दे। आत्मा के शुद्ध स्वरूप का ध्यान करे। आत्मा का स्वरूप शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के राग से रहित है। यों रागरहित ज्ञानानन्दमयी आत्मा के प्रति श्रद्धा-ज्ञान करके उसके ध्यान में एकाग्र हो जाओ। यही अभेद भक्ति है, यही मोक्षसुख—परमात्म-सुख का या मुक्ति का कारण है। तत्पश्चात्

सहजानन्दी शुद्ध स्वरूपी अविनाशी मैं आत्मस्वरूप

इस प्रकार की धुन बार-बार बोलें। निष्कर्ष यह है कि जैसे वैज्ञानिक अपनी लेबोरेटरी (प्रयोगशाला) में बैठकर एकमात्र अपने अभीष्ट प्रयोग के सम्बन्ध में ही सर्वस्व चिन्तन, मनन, विश्लेषण, निरीक्षण-परीक्षण करता है, वैसे ही आत्मार्थी साधक एकाग्रचित्त होकर आत्मा में डूब जाए। उसी में स्थित होकर आत्मा से ही सम्बन्धित सर्वस्व चिन्तन मनन, विश्लेषण, निरीक्षण-परीक्षण करे। छान्दोग्य उपनिषद् में इस सम्बन्ध में स्पष्ट चिन्तन प्रस्तुत किया गया है—

"आत्मजिज्ञासा के पश्चात् साधक आत्मा के आदेश में रहकर नीचे, ऊपर, पीछे, आगे, दक्षिण, उत्तर आदि दिशाओं में सर्वत्र आत्मा ही है, इस प्रकार देखता/मनन करता है। ऐसे ही जानता-मानता है, वह आत्मरति, आत्मा में क्रीड़ा करने वाला तथा आत्मा में ही विचरण करने वाला और आत्मा में आनन्द पाने वाला स्वराट् (आत्मराजा) हो जाता है।"[1]

इस प्रकार की प्रक्रिया साधक को शुद्ध आत्मा का अनुभव और अन्त में साक्षात्कार तथा आत्मसमाधि प्राप्त करा सकेगी, जो उसे परमात्मा के समकक्ष बना देगी।[2]

---

१ अथात आत्मादेश एवात्मैवाधस्तादात्मोपरिष्टादात्मा पुरस्ताद् आत्मा दक्षिणतः आत्मोत्तरतः, आत्मैवेदं सर्वमिति। स वा एष एवं पश्यन्नेवं मन्वान एवं विजानन् आत्मरतिरात्मक्रीड, आत्म-मिथुन आत्मानन्दः स स्वराड् भवति।"
—छान्दोग्योपनिषद्

२ आत्मानमात्मन्यवलोक्यमानस्त्वं दर्शन-ज्ञानमयो विशुद्धः।
एकाग्रचित्तः खलु यत्र-तत्र, स्थितोऽपि साधुर्लभते समाधिम्॥
—सामायिकपाठ श्लोक २५

५

अपने को जानना : परमात्मा को जानना है

पहला सोपान : आत्मानं विद्धि

'अप्पा सो परमप्पा'—आत्मा स्वभाव से, गुणों से, धर्म से परमात्मा है; इस सिद्धान्त को प्रकट करना आसान है, किन्तु इसे क्रियान्वित करना मनुष्येतर प्राणियों के लिए तो दुर्लभतम है ही, मनुष्य के लिए भी दुर्लभ और दुष्कर है। वही व्यक्ति इसे क्रियान्वित कर सकता है, इस सिद्धान्त को अमल में ला सकता है, जो सर्वप्रथम अपने आपको भली-भाँति जान ले। यही परमात्म तत्व को जानने का सबसे पहला सोपान है। यही कारण है कि परमात्मा को जानने की पौर्वात्य और पाश्चात्य सभी दार्शनिक मनीषियों ने सर्वप्रथम एक ही शर्त रखी है—

'आत्मानं विद्धि'

'Know thyself'

वियाणिया अप्पगमप्पएणं[1]

अपने आपको जानो, पहचानो।

१ (क) उपनिषद्, (ख) आंग्ल साहित्य
(ग) दशवैकालिक सूत्र अ. ६ उ. ३ गा. ११

अपने आपको जानने का रहस्यार्थ

स्थूलदृष्टि व्यक्ति कह सकता है कि स्वयं को तो सभी मनुष्य, यहाँ तक कि द्वीन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के सभी जीव, जानते हैं कि "मैं कौन हूँ?" परन्तु यह जानना, सच्चे माने में स्वयं को जानना नहीं है। द्वीन्द्रिय से लेकर तिर्यञ्च पंचेन्द्रिय तक के जीव तो बेचारे अज्ञान और मोह से ग्रस्त हैं, उनके पास स्वयं को व्यक्त करने की, दूसरों को समझाने की तथा स्पष्ट बोध कराने की भाषा नहीं है। परन्तु मनुष्य के पास तो सम्यक् विवेक व निर्णय करने वाली बुद्धि है, मनन करने की क्षमता वाला मन है, अपनी बात को स्पष्टतः व्यक्त करने के लिए वाणी है, सर्वज्ञोक्त सिद्धान्तों पर श्रद्धा करने के लिए हृदय है, फिर भी सभी मनुष्य यथार्थ रूप में अपने आपको कहाँ जानते-पहचानते हैं, अथवा सम्यक् विवेक करके निश्चयपूर्वक कहाँ कह सकते हैं, या स्वयं का मौलिक परिचय सिद्धान्त रूप में कहाँ दे पाते हैं।

अपने आप से अनजान व्यक्ति

अधिकांश मनुष्य अपने आप से अपरिचित हैं, अनजान हैं। उनसे पूछा जायेगा कि आप कौन हैं? आपका क्या परिचय है? तो वह या तो अपना नाम बतायेगा कि मैं रामलाल हूँ, श्यामबिहारी हूँ या अमुक नाम वाला हूँ। अथवा अपने पिता-माता आदि के नाम से अपना परिचय देगा कि मैं अमुक का पुत्र हूँ, पौत्र हूँ, पिता हूँ, दौहित्र हूँ, भानजा या भतीजा आदि हूँ। अथवा वह अपने वंश, गोत्र या जाति (ज्ञाति) के माध्यम से अपना परिचय देगा कि मैं चन्द्रवंशी हूँ, सूर्यवंशी हूँ, या रघुवंशी हूँ, या मैं ओसवाल, पोरवाल, अग्रवाल, खण्डेलवाल, जायसवाल आदि हूँ, अथवा कहेगा कि मैं गर्ग, गोयल, सरयूपारी, शाकद्वीपीय, बोथरा, सेठिया आदि गोत्रवाला हूँ। अथवा वह जातिकारक परिचय देगा कि मैं ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य (बनिया), हरिजन, चमार, कायस्थ आदि हूँ। अथवा वह अपने धर्म-सम्प्रदाय के माध्यम से अपना परिचय देगा कि मैं जैन हूँ, बौद्ध हूँ, वैष्णव, वैदिक, आर्यसमाजी, शैव, सिक्ख, ईसाई, मुसलमान, हिन्दू, आदि हूँ अथवा मैं स्थानकवासी, तेरापन्थी, दिगम्बर, मन्दिरमार्गी, श्वेताम्बर, हीनयानी, महायानी, शिया, सुन्नी, रोमन कैथोलिक या प्रोटेस्टेन्ट आदि हूँ। अथवा वह अपने देश, प्रान्त या भाषा आदि के माध्यम से अपना परिचय देगा कि मैं भारतीय हूँ, मैं पाकिस्तानी हूँ, बर्मी हूँ,

जापानी, अरबस्तानी हैं, इंग्लिस्तानी, जर्मन या अमेरिकन आदि हैं। किन्तु ये सब उत्तर शरीर के हैं, शरीर से सम्बन्धित हैं। आत्मा के या आत्मा से सम्बन्धित ये उत्तर नहीं है। शरीर से सम्बन्धित ये जितने भी उत्तर हैं, वे सब कर्मोपाधिक हैं। क्योंकि शरीर या शरीर से सम्बन्धित परिवार, जाति, धर्मसम्प्रदाय, कौम, वर्ण, वंश, गति आदि जितने भी साधन मनुष्य को प्राप्त होते हैं, वे सब शुभनामकर्म या अशुभनामकर्म के उदय से प्राप्त होते हैं। इसलिए ये सारे परिचय शरीर के हैं, शरीर से सम्बद्ध हैं। शरीर के संयोग से ये संयुक्त हैं, मानव-शरीर प्राप्त हुआ है, उसके साथ ही ये सब प्राप्त होते हैं। ये सभी क्षणिक हैं, नाशवान् हैं। शरीर के नष्ट-मृत होते ही, ये सब नष्ट हो जाते हैं। इनका कोई अस्तित्व नहीं रहता। केवल नाम लेने या याद करने को ये कुछ संकेत रह जाते हैं। इसके अतिरिक्त जो अपने पद या प्रतिष्ठा के आधार पर अपना परिचय देते हैं कि मैं सत्ताधीश हूँ, शासक हूँ, मंत्री हूँ, राष्ट्रपति हूँ, धनिक हूँ, व्यापारी हूँ, सज्जन हूँ, परोपकारी हूँ, अथवा जनसेवक हूँ, दीन-हीन, पीड़ित आदि हूँ, ये उत्तर भी अहंकार या दैन्य से युक्त हैं। और शरीर से ही सम्बन्धित हैं कर्मजन्य हैं, क्षणिक् एवं नाशवान हैं।

आत्मा को जाने बिना परमात्मा को जानना-पाना असम्भव

वास्तव में ये उत्तर ऐसे नहीं है, जो आत्मा को परमात्मभाव की ओर गति-प्रगति करने में सहायक हों। अथवा अविनाशी, शाश्वत शुद्ध आत्मा को जानने-पहचानने में सक्षम हों। आत्मा को शुद्ध एवं शाश्वतरूप में जाने बिना यथार्थरूप से अपने आपको जानना (आत्मज्ञान), पहचानना (आत्मपरिचय) नहीं है। और अपने आपको (आत्मा को) शुद्ध शाश्वत, चैतन्यस्वरूप, ज्ञानानन्दमय जाने बिना परमात्मभाव को जानना और पाना सम्भव नहीं है। इसीलिए 'योगसार' में स्पष्ट कहा गया है—

"अप्पा अप्पउ जइ मुणइ, तउ णिव्वाणं लहइ।
पर-अप्पा जइ मणुहि, तउ संसारं भमेइ॥"[1]

"यदि आत्मा स्वयं (आत्मा) को जान-पहचान लेता है, अथवा आत्मा का मनन-चिन्तन करता है तो निर्वाण पद (परमात्म-पद) को

---

१ योगसार १२।

प्राप्त कर लेता है। इसके विपरीत यदि उसने 'पर' (आत्मा से बाह्य) पदार्थों को अपना (आत्मरूप) मान लिया, तो वह (जन्म-मरणरूप) संसार में परिभ्रमण करता रहेगा।"

अपने विषय में भ्रान्ति है, 'पर' विषयक नहीं

जीव (आत्मा) के लिए सबसे बड़ा अगर कोई रोग है तो वह आत्मभ्रान्ति है, अपने विषय का अज्ञान है। वह स्वयं अपने आपको पहचानता-जानता नहीं है। उसे यह पता ही नहीं है कि मैं कौन हूँ ? श्रीमद् रायचन्दजी के शब्दों में—

"हुँ कोण छुं, क्यां थी थयो, शुं स्वरूप छे मारूं खरूं ?"[1]

"अपने विषय में व्यक्ति इतना अनजान है कि मैं कौन हूँ, कहाँ से आया हूँ, मेरा वास्तविक स्वरूप क्या है ?" यह नहीं जानता; जितनी कि अपने बाह्यस्वरूप की और जड़ सम्बन्धों की उसे जानकारी है। सामान्य मनुष्य गाढ़ निद्रा में सोया हुआ हो, और कोई उसका नाम लेकर आवाज दे तो वह झट जाग जाता है। वह यह भी जान जाता है कि मुझे ही बुला रहा है और अमुक व्यक्ति बुला रहा है। वह दोनों को जान-पहचान जाता है। इसी प्रकार समग्र विश्व में व्यक्ति अनेक पदार्थों को जानता-पहचानता है। कई लोगों की स्मरणशक्ति इतनी तीव्र होती है कि वर्षों पहले कोई व्यक्ति उससे मिला हो, उसे वे भूलते नहीं हैं। उनकी पहचान वैसी की वैसी होती है, परन्तु उन्हीं व्यक्तियों को अपनी पहचान नहीं है। अपनी पहचान में भ्रान्ति है। यह भ्रान्ति दूर न हो, वहाँ तक 'मैं आत्मा हूँ' इसका यथार्थ ज्ञान-भान नहीं हो पाता। 'मैं आत्मा हूँ ?' इसका जब तक यथार्थ ज्ञान नहीं होता, तब तक वह मुझे क्या करना चाहिए ?, इसे कैसे जान सकता है ?

यह आत्मभ्रान्ति अनेक जन्मों की है

यह भ्रान्ति केवल एक जन्म की ही नहीं, अनन्त जन्मों की भी सम्भव है। आत्मा तो अनन्तकाल से है, वह कोई नया नहीं होता, शरीर

---

१ (क) अमूल्य तत्व-विचार
(ख) तुलना कीजिए—
कोऽहं, कथमिदं जातं, को वै कर्ताऽस्य विद्यते ?
उपादानं किमस्तीह ?, विचारः सोऽयमीदृशः ॥ —शंकराचार्य

का सम्बन्ध नया-नया होता रहा है। फिर भी अनन्तकाल से आत्मा को पता नहीं कि मैं कौन हूँ ? मेरा स्वरूप क्या है ? इस विषय में मनुष्य अनभिज्ञ है।

अपने आपको जानने की रुचि भी नहीं है

सामान्य मानव की रुचि जितनी शरीर, इन्द्रिय विषयों तथा धन आदि पर-पदार्थों को जानने-समझने की है, उतनी आत्मा को तथा उसके स्वभाव और गुणों को जानने-समझने की नहीं है।

आत्मा से अपरिचित व्यक्तियों का मानवजन्म निरर्थक

अज्ञानी मानव मनुष्य-जन्म पाकर विषय-भोगों में तथा पुण्य में सुख मान कर उसके क्षणिक स्वाद को जानने-मानने में अपने अमूल्य आत्मा-रूपी रत्न को उसी तरह बेच देता है, जिस तरह अबोध बालक एक पेड़े के बदले लाखों रुपयों का रत्न दे देता है। वह महंगे मनुष्य-भव को पाकर आत्मा को जानने-समझने के बदले, विषय-भोगों में अपने बहुमूल्य जीवन को खो देता है।

मानव शरीर पाना भी दुर्लभ है, उसमें भी अपने आप (आत्मा) को जानना-समझना तो महादुर्लभ है। ऐसे महामूल्य मनुष्य-जन्म को पाकर भी जो आत्मा की पहचान नहीं करता, वह मनुष्य-जन्म को व्यर्थ खोकर आत्मा के सम्बन्ध में अज्ञानी रहकर दुःखी होता है, श्रीमद् रायचन्द्रजी कहते हैं—यह प्रचुर पुण्य राशि के फलस्वरूप मानवदेह पाकर भी संसार चक्र का एक भी चक्कर कम[1] नहीं कर पाता, वह पुनः पुनः संसार में जन्म-मरण करता है। अतः मनुष्यजन्म की सार्थकता इसी में है कि मनुष्य आत्मा को यथार्थ रूप से जाने-समझे। जो मनुष्यजन्म पाकर आत्मा को जानता-पहचानता नहीं, और विषय-कषायों के बीहड़ वन में भटकता रहता है वह विषय लोलुपतावश कौए-कुत्ते का-सा जीवन बिताता है। कई अज्ञजन चिन्तामणि-सम मानवदेह को दुराचार में, अज्ञान में, विषय-वासना में, तथा विविध मदों में वृथा खो देते हैं। वे तो नाममात्र के

---

१ बहुपुण्यकेरा पुंज थी शुभदेह मानवनो मल्यो।
तो ये अरे भवचक्रनो आंटो नहिं एके टल्यो॥
—अमूल्य तत्त्वविचार

मानव कहलाते हैं, हैं वे वानररूप ही। सचमुच, जो मानव मानव-जीवन पाकर आत्मा का भान नहीं करता, उसके जीवन में और वानर के जीवन में क्या अन्तर है? आत्म-भानरहित मानव के जैसे दो हाथ, दो पैर, दो आँख, दो कान, एक मुख, एक नाक आदि होते हैं, वैसे तो वे बन्दर के भी हैं। अगर उपर्युक्त अंगोपांगों वाले को मानव कहें तो बंदर को भी मानव कहना चाहिए। परन्तु जो मानव देह से भिन्न आत्मा को यथार्थ रूप से जानता है, वही वास्तव में मनुष्य है। उसी को ज्ञानी पुरुष उत्तम मानव कहते हैं जो मैं कौन हूँ? मेरा स्वरूप क्या है? मेरे से भिन्न पदार्थ कौन-कौन से हैं? इन सब बातों को जानने का प्रयास करता है, जानता है।

धर्म आत्मा को यथार्थ रूप से जानने में है

मनुष्य-जन्म पाकर प्रचुर धन या विषय-सुख-सामग्री एकत्र कर लेने से आत्मा की महत्ता नहीं बढ़ जाती और निर्धनता होने से आत्मा की महत्ता घट नहीं जाती, क्योंकि जैसे निर्धन और सधन के जन्म और मरण का एक ही मार्ग है, वैसे ही धर्म और मोक्ष का मार्ग भी सभी मनुष्यों के लिए एक ही प्रकार का है। निर्धन हो या सधन, जो आत्मा का भान करता है, उसी को धर्म होता है।

मानव द्वारा आत्मा का यथार्थ भान : परमात्मभाव का कारण

आत्मा को जानने-पहचानने से धर्म और अन्त में मोक्ष प्राप्ति= परमात्मभाव-प्राप्ति का साधन इस मनुष्यदेह में ही है। दूसरी गति में आत्मा का यथार्थ ज्ञान-भान हो सकता है, किन्तु मोक्षदशा का पूर्ण साधन मनुष्यगति के अतिरिक्त अन्य गति में हो नहीं सकता। पुण्य की प्रचुरता से जीव स्वर्ग में जाता है, पाप की प्रचुरता से नरक में और माया-कपट की अधिकता से तिर्यंचगति में जाता है। तिर्यंच पचेन्द्रिय जीवों में किसी-किसी को आत्मा का भान होता है, परन्तु मोक्षदशा-परमात्मदशा प्राप्त करने का पूर्ण पुरुषार्थ उनमें भी नहीं हो सकता। अतः मनुष्य शरीर पाकर मानव ही आत्मा का यथार्थ भान करके मोक्षदशा=परमात्मदशा प्राप्त करने का पूर्ण पुरुषार्थ कर सकता है।

आत्मा की समझ नहीं, शरीरादि की समझ है

अधिकांश मनुष्यों को आत्मा नाम की वस्तु समझ में नहीं आती। वे प्रत्यक्ष दृश्यमान शरीर को ही आत्मा समझ लेते हैं। या शरीर से सम्बन्धित मन, बुद्धि, चित्त या इन्द्रियों को ही आत्मा समझ लेते हैं। शरीर के

काले-गोरे, स्थूल या पतले-दुबले होने को देखकर कहते हैं—मैं काला हूँ, गोरा हूँ, स्थूल हूँ या दुबला-पतला हूँ। अथवा मन और बुद्धि को अत्यधिक मननशील-चिन्तनशील, निर्णायक व विवेकी अथवा मनन-चिन्तन में या निर्णय में या विवेक में असमर्थ देखकर कह देते हैं—मैं तीक्ष्ण मन, चित्त या प्रखर बुद्धि हूँ, अथवा मैं मन्दमति, मन्द-मनस्वी या विचारशक्ति-हीन, अविवेकी बुद्धि या मन वाला हूँ।

जो व्यक्ति शरीरादि को आत्मा मानता-जानता है, वह बहिरात्मा है। वस्तुतः शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि जड़ हैं, आत्मा चैतन्यमूर्ति है। शरीरादि न तो स्वयं अपना ज्ञान कर सकते हैं और न ही दूसरे पदार्थों को जान सकते हैं, जबकि आत्मा स्वयं को भी जानता है और दूसरे पदार्थों को भी जानता है। वह स्व-पर-प्रकाशक है।

अन्य पदार्थों के विषय में जितनी रुचि, उतनी आत्मा में नहीं

आत्मा को यथार्थ रूप से न जानने वाले लोगों में जितनी प्रीति और अहंता-ममता अपने शरीर तथा शरीर से सम्बन्धित स्वजनों के प्रति अथवा अपनी प्रसिद्धि या प्रशंसा में, अथवा पुण्यकार्यों के करने में जितनी रुचि, लगन होती है, उतनी शुद्ध आत्मा पर या आत्मा के शुद्ध स्वरूप को जानने में नहीं होती। वह संसार की इसी मोहमाया या भ्रमजाल के चक्कर में पड़ा रहकर जिन्दगी भर में आत्मा को जान-समझ नहीं पाता।

स्वयं आत्मा होते हुए भी अपने विषय में शंका

कई लोग कहते हैं कि आत्मा को क्या स्वयं जाना जाता है? वह प्रत्यक्ष दिखाई दे तो हम उसे जान लें, पहचान लें। आश्चर्य तो तब होता है, जब 'मैं हूँ' यह कहने वाला आत्मा ही अपने अस्तित्व के विषय में शंका करता है और स्वयं कैसा हूँ, कैसा नहीं? इस विषय में जानने की कोई रुचि, या लगन नहीं रखता। कोई भी जड़ पदार्थ कभी किसी प्रकार की शंका या प्रश्न नहीं उठा सकता, क्योंकि जड़ में ज्ञानशक्ति ही नहीं है। अतः जिसने शंका की है, वही आत्मा है, ज्ञानगुणयुक्त चैतन्य द्रव्य है। वह कहीं बाहर नहीं है, अपने अन्दर ही बैठा है, फिर भी कई लोग आत्मा को जानने के लिए बाहर पर्वतों, नदी-तटों, गुफाओं या तीर्थों में भटकते रहते हैं। ऐसे लोग अपने आपको जानने-पहचानने और ढूंढ़ने के लिए दूसरे के पास या अन्यत्र जाते-आते हैं। जिस प्रकार कस्तूरी मृग अपने पास कस्तूरी होते हुए भी बाहर में उसकी सुगन्धि जानता-मानता और खोजता है, उसी

प्रकार शुद्ध, सच्चिदानन्दस्वरूप आत्मा अपने पास होते हुए भी अज्ञानी मानव उसे जानने-मानने तथा उसके ज्ञान, आनन्द और शक्ति के खजाने को बाहर ढूंढ़ने और पाने जाता है। यदि उसे आत्मा का ज्ञान-बोध हो जाए तो उसे अपने अन्दर ही ज्ञान, आनन्द, सुख-शान्ति और शक्ति मिल सकती है। किन्तु आत्मा को यथार्थ रूप से जानने-पहचानने में ही सच्चा सुख है, वास्तविक शान्ति है, यह उसे पता ही नहीं है। इसीलिए एक अध्यात्म रसिक ने कहा है—

इदं तीर्थं इदं तीर्थं, भ्रमन्ति तामसा जनाः।
आत्मतीर्थं न जानन्ति, सर्वमेव निरर्थकम्॥

अज्ञानी मनुष्य अपने अन्तर् में होते हुए भी आत्मतत्त्व को नहीं जानता, वह बाहर भटकता फिरता है।

आत्मज्ञान से अनभिज्ञ एक व्यक्ति किसी आत्मानुभवी के पास पहुँचा और उससे कहा--'मुझे आत्मज्ञान दीजिए।' उन्होंने उस स्थूल-बुद्धि वाले मानव से कहा– "तुम्हें मानसरोवर की मछलियाँ आत्मज्ञान बताएँगी। उनके पास जाकर कहो कि मुझे आत्मज्ञान चाहिए।" मान-सरोवर की मछलियों के पास जाकर उनसे आत्मज्ञान देने प्रार्थना की की। इस पर मछलियों ने कहा—"हमें प्यास लगी है, पहले तुम हमें पानी दो, फिर हम आत्मज्ञान बताएँगीं।" उस व्यक्ति ने आश्चर्यचकित होकर कहा—"वाह! तुम मधुर-जल से परिपूर्ण इस सरोवर में रहती हो, फिर भी मुझसे पानी मांग रही हो।" तब उन मछलियों ने कहा—"अरे भाई! तुम्हारा ज्ञान तो तुम्हारी आत्मा में भरा पड़ा है, उसे तुम जानते और प्रकट करते नहीं और उस ज्ञान को बाहर से प्राप्त करना चाहते हो। तुम अपने को पहचानो। तुम स्वयं ज्ञानमय हो।"

आत्म बाह्य पदार्थों की ओर आकर्षित होकर आत्मा को भूल जाता है

वर्तमान युग का भौतिकदृष्टि-प्रधान मानव इन्द्रिय-विषयों के तथा क्रोध, मोह, आसक्ति, अहंकार, राग आदि मनोविकारों की ओर झटपट आकर्षित हो जाता है। इनमें लुब्ध होकर वह अपने आप (आत्मा) को भूल जाता है। भोला मानव चारों ओर दृष्टिपात करता है तो देखता है कि चारों ओर इन्द्रिय-विषयों के पोषक और मोहक तत्त्व पड़े हैं। कहीं सुन्दर रूप को देखने का, कहीं मधुर मनोज्ञ संगीत सुनने का, कहीं भीनी-भीनी रम्य सुगन्ध सूंघने का, कहीं स्वादिष्ट और चटपटे खाद्यपदार्थों

को खाने-पीने-चखने का तो कहीं कोमल गुदगुदे मोहक पदार्थों को स्पर्श करने का आकर्षण हो जाता है और उनकी आसक्ति और लालसा में मुग्ध मनुष्य इतना खो जाता है कि वह अपने आप को ही भूल जाता है। उन बाह्य आकर्षणों में फंसकर वह उनको प्राप्त करने और उनका उपभोग-परिभोग करने में इतना रच-पच जाता है कि उसे भान नहीं रहता कि "मैं कौन हूँ ? कैसा हूँ ? कहाँ हूँ ? मेरा वास्तविक स्वरूप क्या है ? रागादि करने का स्वभाव मेरा नहीं है।' इसीलिए आचारांग सूत्र में कहा गया है—

एवमेगेसि णो णातं भवति—अत्थि मे आया ओववाइए, णत्थि मे आया ओववाइए, के अहं आसी ? के वा इओ चुओ इहपेच्चा भविस्सामि ?[1]

"कितने ही जीवों को यह ज्ञान नहीं होता, मेरी आत्मा (औपपातिक) पुनः जन्म-प्राप्त है या नहीं है ? मैं पूर्वजन्म में कौन था ? अथवा यहाँ से मर, दूसरे लोक में क्या बनूंगा ?"

तात्पर्य यह है कि अधिकांश जीवों को यह ज्ञान-भान ही नहीं होता कि पूर्वभव में हम कौन थे ? वहाँ क्या-क्या कर्म किये थे, जिसके परिणाम-स्वरूप इस जन्म में आए ? उनको यह भान-ज्ञान कहाँ से हो ? क्योंकि उन-उन जन्मों में भी आत्मा को नहीं जाना था, आत्मा के स्वरूप, स्वभाव और सद्गुणों को नहीं समझा था, इसी कारण उन जीवों ने विभाव-दशा बढ़ाकर अपने संसार में वृद्धि की, स्वभाव-दशा का सेवन कर संसार परिमित (सीमित) नहीं किया। यह कहाँ से होता ? उन-उन जन्मों में भी पाँचों इन्द्रियों के विषयों की ओर तथा मन के विकारों (विभावों) की ओर दौड़ के कारण उनके मन, बुद्धि, चित्त, इन्द्रियाँ आदि उन्हीं मोहक, आपातरमणीय, क्षुद्र आकर्षणों में रची-पची रहीं। आत्मा को यह ज्ञान-भान ही नहीं रहा कि विषयों में मिलने वाले क्षणिक और दुःखबीज पराधीन सुख की अपेक्षा आत्माधीन, स्थायी और अव्याबाध सुख, मेरी आत्मा में मौजूद है, ज्ञान, आनन्द और आत्मशक्ति का खजाना मेरे अन्तर् में ही पड़ा है, ऐसा दृढ़ विचार, दृढ़ श्रद्धान या दृढ़ निश्चय आता कहाँ से ? और इस जन्म में बहुमूल्य मनुष्यभव प्राप्त कर लेने के बावजूद भी उन्हीं पूर्वोक्त बाह्य आकर्षणों में फँसा रहा, अच्छे से अच्छे अवसर प्राप्त हुए, धर्मश्रवण के, सत्संग के एवं आत्मा के विषय में चिन्तन-मनन के तथा बुद्धि से आत्मस्वरूप के विषय में एवं मैं कौन हूँ ? इस विषय में निश्चय करने के

---

१ आचारांग सूत्र श्रु. १ अ. १ सू. २

परन्तु सभी अवसरों को उन्होंने खो दिया, उन्हें आत्मा के विषय में ये शास्त्रोक्त प्रश्न उठते भी कहाँ से ? पूर्वजन्मों में एकेन्द्रिय जीवों में या द्वीन्द्रिय से लेकर तिर्यञ्च पंचेन्द्रिय तक की विविध योनियों में जन्म लिया, परन्तु वहाँ तो इन प्रश्नों के उठने का अवकाश ही नहीं था। इसलिए मैं कौन हूँ ? इत्यादि विचारणा और जिज्ञासा भी नहीं हुई। मगर आश्चर्य तो यह है कि मनुष्यभव में सभी प्रकार के बाह्य संयोग प्राप्त होते हुए भी अधिकांश मनुष्यों को कहां इन आत्मविषयक बातों को श्रवण, मनन करने की रुचि, जिज्ञासा या तमन्ना होती है ?

आत्मरत्न को जाना-परखा नहीं

यह तो वैसा ही हुआ कि एक ग्रामीण ब्राह्मण को एक बार जंगल में जाते हुए एक चिन्तामणिरत्न मिला। फिर उसने भोजन, मकान, शयन-सामग्री आदि जिस-जिस वस्तु का चिन्तन किया, वह वस्तु उसे मिलती गई। परन्तु उस मूर्ख ने जाना नहीं कि चिन्तामणिरत्न मेरे पास है, उसी का यह प्रभाव है। फलतः एक कौआ उसके पास आकर बारम्बार काँव-काँव करने लगा। तब उस मूर्ख ने उसे उड़ाने के लिए चिन्तामणिरत्न उसकी ओर फेंका। चिन्तामणि फेंकते ही मकान, शयनसामग्री आदि सब सुख-सामग्री लुप्त हो गई। वह मूर्ख ब्राह्मण पहले के जैसा ही हो गया। इसी प्रकार जिसे इस देवदुर्लभ मनुष्यजन्म में किसी प्रकार से आत्मा रूपी चिन्तामणिरत्न प्राप्त हुआ। परन्तु अविवेकी मनुष्य उसे पर-पदार्थों में आसक्त होकर व्यर्थ ही खो देता है। जिसके लिए पद्मनन्दी पंचविंशति में कहा गया है—

'तदेवैकं परं रत्नं सर्वशास्त्रमहोदधेः।
रमणीयेषु सर्वेषु तदेकं पुरतः स्थितम् ॥४३॥

समस्त शास्त्ररूपी महासमुद्र का मथन करने से वही एक मात्र आत्मारूपी चिन्तामणि उत्कृष्ट रत्न निकला है, जो अपने सामने पड़ा है। और संसार के सभी रमणीय रत्नों तथा मनोरम्य पदार्थों में वही ज्ञानानन्दमय आत्मरत्न ही रमणीय तथा उत्कृष्ट है।

अविवेकी मनुष्य ऐसे आत्म-चिन्तामणिरत्न को पाकर भी उसके स्वरूप को जानने-समझने और परखने का प्रयत्न नहीं करता। वह इस महामूल्यवान् रत्न को विषय-वासनाओं के मोहक जाल में फँसकर अथवा हीरा, पन्ना, माणिक आदि पाषाणरत्नों के धन के अर्जन करने में व्यस्त रहकर खो देता है।

एक वृद्ध जौहरी था। रत्नों की परीक्षा करने में अत्यन्त निपुण ! उस नगर के राजा ने उसकी प्रशंसा सुनकर अपने एक कीमती हीरे को परखने के लिए उसे बुलाया। राजा उसकी रत्नपरीक्षण कला से अतीव प्रसन्न हुआ। राजा ने उसे पारितोषिक देने का आदेश अपने दीवान को दिया।

दीवान आत्मार्थी और धर्मिष्ठ था। उसने उस जौहरी को बुलाकर पूछा—भाई ! आप रत्नों को परखना तो जानते हैं, किन्तु इस जिन्दगी में कभी सच्चिदानन्दस्वरूप चैतन्य रत्नरूपी आत्मा को जाना-परखा या नहीं ? जौहरी को आत्मा के विषय में न तो दिलचस्पी थी, न ही उसने उसे जानने-परखने का प्रयत्न ही किया था। अतः उसने इस बात से इन्कार कर दिया।

राजा के द्वारा जौहरी को इनाम देने के बारे में पूछे जाने पर दीवान ने कहा—"महाराज ! इस जौहरी के सात जूते मारे जायं, यह इनाम इसे दीजिए।" राजा सुनकर आश्चर्य में पड़ गया। ८० वर्ष का वृद्ध एवं रत्न-परीक्षा में निपुण जौहरी, उसे रुपयों के बदले सात जूते मारने का इनाम ! राजा की इस जिज्ञासा का समाधान दीवान ने किया कि महाराज ! यह जौहरी ८० वर्ष का हो गया। परिवार में इसके पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र हो गये। इसकी जिन्दगी का किनारा आने लगा है, फिर भी यह सद्धर्म को व आत्मा को जानने-समझने का कुछ विचार नहीं करता। सारी आयु इसने पाषाण-रत्नों को परखने में बिता दी, परन्तु आत्मारूपी चिन्तामणि रत्न को परखने का कभी विचार नहीं किया। इसलिए इसके लिए मैंने सात जूते मारने का इनाम सोचा है।"

जौहरी की आत्मा सुपात्र थी। उसके हृदय में यह बात लग गई। उसने अत्यन्त प्रसन्न होकर राजा से कहा—"राजन् ! मुझे रुपयों का इनाम नहीं चाहिए, दीवानजी ने जो आत्मारूपी रत्न को जानने-परखने हितोपदेश दिया है, वही मेरे लिए बहुत बड़ा इनाम है।"

हाँ, तो संसार के बाह्य मोहक रत्नों या लुभावने आकर्षणों एवं पदार्थों के चक्कर में मनुष्य को नहीं फँसना चाहिए, परन्तु इस बात को न समझ कर जो आत्मरत्न को यों ही खो देता है, उसे सब बाह्य पदार्थ यहीं छोड़कर जाना पड़ता है, परलोक में नरकादि गतियों में जन्म-जरा-मृत्यु-व्याधि, पीड़ा आदि भयंकर दुःखों के जूते खाने पड़ते हैं।

अपने आपको न पहचानने से क्या हानि ?

कई अविवेकी लोग यह कह देते हैं कि अपने आप (आत्मा) को जानने-परखने की क्या आवश्यकता है ? वह (आत्मा) तो हमारे पास है ही। उसे न जानें-परखें तो क्या हानि है ? यहाँ सुख से जीवन यापन कर रहे हैं। मनुष्यजन्म में प्राप्त सुख-भोगों में मस्त हैं। सभी प्रकार की सुख-सामग्री उपलब्ध है, फिर आत्मा को न जानने से इन सुखों में कोई भी विघ्न-बाधा तो उपस्थित होती नहीं और इसे जानने से कोई अधिक सुख प्राप्त हो जाता हो, वैसा भी नहीं प्रतीत होता। तब फिर क्यों अपना समय खोएँ इस आत्मा (स्वयं) को जानने-पहचानने में ?

इस पर दीर्घदृष्टि से विचार करें तो इस तथ्य की सत्यता मालूम हो जाएगी कि आत्मा को जानने-समझने पर सभी ऋषि-महर्षियों, महापुरुषों और धर्मशास्त्रों ने क्यों जोर दिया है।

आत्मा को नहीं जानने-समझने वाला व्यक्ति प्रायः विषय-भोगों तथा काम, क्रोध, अहंकार, लोभ, मोह, मद, मत्सर, ममत्व आदि विभावों तथा राग-द्वेषवर्द्धक हिंसा, झूठ, कपट, दम्भ, ठगी, बेईमानी, व्यभिचार, अनाचार, आदि परभावों में फंसकर अधिकतर पापकर्म का बन्धन कर लेता है। उसके फलस्वरूप अपने आत्मस्वभाव को भूलकर अनन्तकाल तक चौरासी लाख जीवयोनि में जन्म ग्रहण करके संसार-परिभ्रमण करता रहता है। यह मनुष्य शरीर तो नया है, वह भी एक दिन श्मशान में जलाकर भस्म कर दिया जाएगा। जब तक आत्मा का ज्ञान-भान नहीं करेगा, तब तक उसे विविध योनियों में अनन्त विविध शरीर धारण करने पड़ेंगे। संसार में जन्म-मरणादि के भयंकर अपार दुःख हैं। भगवान महावीर ने अपनी अन्तिम देशना में यही फरमाया है—

जम्म दुक्खं जरा दुक्खं रोगाणि मरणाणि य।
अहो दुक्खो हु संसारो, जत्थ कीस्संति जंतवो ॥[1]

जन्म दुःखरूप है, बुढ़ापा भी दुःखमय है, रोग और मृत्यु भी दुःख रूप हैं। आश्चर्य है कि यह संसार दुःखमय है, जहां अज्ञानी जीव क्लेश पाते हैं, (फिर भी इसे छोड़ने व सीमित करने का प्रयत्न नहीं करते।)

इस जन्म से पूर्व भी इस जीव ने एक के बाद दूसरी अनेक गतियों में लगातार परिभ्रमण किया है, वह जन्ममरण का चक्र अभी तक चल ही रहा है। इसका कारण जीव स्वयं ही है। किसी भी जीव को कोई दूसरा

---

१ उत्तराध्ययन सूत्र अ० १९ गा० १५

जन्माता या मारता नहीं है, वह स्वयं ही आत्मभान भूलकर कषाय, राग-द्वेष, कर्म आदि विभावों में फंसकर जन्म-मरण करता है। सुगति का कारण भी स्वयं है, दुर्गति का कारण भी खुद है। दूसरे तो जन्म-मरण में निमित्त बन जाते हैं। अगर व्यक्ति जन्म-मरण के कारणों को जानकर आत्मस्वभाव का विज्ञ बनकर इनसे बचना चाहे तो बच सकता है।

सर्पादि से भय : जन्म-मरणादि का भय नहीं

अविवेकी मानव सर्प को देखते ही कितने भयभीत हो जाते हैं; क्योंकि उन्हें अपने शरीर पर ममत्व और आसक्ति है। ज्ञानी पुरुष कहते हैं कि सर्प के काटने से होने वाले दुःख का तो तुम्हें इतना भय है, किन्तु अनेक सर्पों के काटने के दुःख के समान अनन्त जन्म-मरणादि का भय क्यों नहीं है ? अपने आप (आत्मा) को जाने-पहचाने बिना जो अनन्तजन्म-मरणादि का दुःख सामने सिर ताने खड़ा है उसका भय क्यों नहीं ? आत्मा के ज्ञान-भान के बिना एक जन्म पूरा होते ही दूसरा जन्म तैयार है। और जिसके मन में इस प्रकार बार-बार सतत् भवभ्रमण का भय नहीं है, उसे आत्मा को जानने समझने की रुचि नहीं होती। 'भय बिना प्रीति नहीं' यह कहावत अपने से अनजान अविवेकी लोगों पर पूरी घटित होती है। जन्म-मरणरूप संसार परिभ्रमण के भय के बिना आत्मा के प्रति प्रीति नहीं होती। आत्मा को यथार्थ रूप से जाने-समझे बिना जन्म-मरण रुक नहीं सकता।

आत्म-स्वभाव से अनभिज्ञ प्रतिक्षण भावमरण करता है

इतना ही नहीं, जो आत्मा (अपने आप) को भलीभाँति जानता-समझता नहीं है, वह आत्मस्वभाव के विपरीत आचरण, चिन्तन, मनन, प्ररूपण करके अपने आत्म-स्वभाव का हनन करता है। वह आत्मभावों की हत्या ही एक प्रकार से भावमरण है, जिसे विवेकमूढ़ मानव राग-द्वेष, काम-क्रोधादि क्षणिक विकारों—विभावों को अपने मानकर आत्मदेव का अनादर करता है, विभावों और परभावों के प्रति रागद्वेष के प्रवाह में बह जाता है, यही तो भावमरण है, जिसे आत्मस्वभाव से अनभिज्ञ जीव प्रतिक्षण करता रहता है। इसीलिए श्रीमद्रायचन्द्र ने चेतावनी देते हुए कहा है—

"क्षण-क्षण भयंकर भावमरणे कां अहो ! राची रहो !"[1]

ऐसे भावमरण से व्यक्ति तभी बच सकता है, जब वह आत्मा के

---

१ अमूल्य तत्व विचार

अमर, शाश्वत, अविनाशी, ज्ञानानन्दमय स्वभाव-स्वरूप को जान-पहचान लेता है।

आत्मा को जाने बिना सभी व्रत-तपादि संसारवर्द्धक

कई लोग कहते हैं कि हम विविध उपवासादि तप करते हैं, विविध धार्मिक क्रियाएँ करते हैं। सत्य, अहिंसा आदि व्रतों का पालन करते हैं, नियम, व्रत-त्याग-प्रत्याख्यान आदि करते हैं, फिर अपने आप (आत्मा) को जानने-पहचानने या परखने की क्या आवश्यकता है? हम बहुत-से पुण्य कार्य करके मानव देह को सार्थक करते हैं, दान देते हैं, प्रभु नाम का जप करते हैं, भगवान की भक्ति-पूजा करते हैं, फिर आत्मा को न जानें तो क्या आपत्ति है?

आत्मज्ञान विहीन क्रियाएँ मुक्तिदायिनी नहीं

इस विषय पर जब हम दीर्घदृष्टि से विचार करते हैं तो एक बात स्पष्ट हो जाती है कि आत्मा को जाने-पहचाने बिना कोई भी साधना जप, तप, दान, धर्मक्रियादि की जाती है, वह सब सम्यक्त्वयुक्त क्रिया नहीं है, मिथ्यात्वयुक्त है। आत्मज्ञान से रहित कोई भी क्रिया की जाएगी, वह क्रिया मोक्षफलदायक-परमात्मभावप्राप्तिपरक नहीं होगी, वह संसार-वर्द्धक ही होगी। पुण्य कर्म भी तो संसारवृद्धि का कारण है, कर्म क्षय कारक नहीं। इसलिए विश्व के सभी अध्यात्मज्ञानी मनीषियों ने एक स्वर से इस तथ्य को स्वीकार किया है कि आत्मा को जाने (ज्ञान) बिना व्यक्ति चाहे जितने कष्ट सह ले, तप कर ले, वह अपने भव-बन्धन का उच्छेद नहीं कर सकता अर्थात्—मुक्ति या परमात्मभाव को प्राप्त नहीं कर सकता। आद्यशंकराचार्य ने भी इसी तथ्य का समर्थन किया है—

कुरुते गंगा-सागर गमनं व्रत-परिपालनमथवा दानम्।
ज्ञानविहीनः सर्वमतेन, मुक्ति न भजति जन्मशतेन॥[1]

चाहे तो गंगासागर आदि महान् तीर्थों की यात्रा कर लो, चाहे व्रत-नियमों का पालन कर लो, चाहे दान दो, किन्तु सर्वमत-पंथों से सम्मत बात यह है कि (आत्म) ज्ञान से विहीन व्यक्ति सैकड़ों जन्मों में भी मुक्ति (परमात्मभाव) को प्राप्त नहीं कर सकता।

---

१. भजगोविन्दम् श्लोक १७

जैनदर्शन के उद्भट विद्वान उपाध्याय यशोविजय जी ने भी स्पष्ट कहा है—

कष्ट करो, संजम धरो, गालो निज देह।
ज्ञान दशा विण जीव ने नहिं दुःखनो छेह ॥[1]

निष्कर्ष यह है कि आत्मज्ञान के बिना चाहे जितने व्रत, महाव्रत, नियमादि तथा कठोर क्रियाकाण्डों का पालन कर लें, भयंकर कष्ट सह लें फिर भी उसके जन्ममरण के दुःखों का अन्त नहीं आ सकता, मुक्ति उससे दूरातिदूर ही रहती है।

कमठ का पंचाग्नि तप संसारवर्द्धक बना

जैनधर्म के तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ भगवान पर घोर उपसर्ग (कष्टवृष्टि) करने वाला कमठ तापस उस युग में लोक पूज्य एवं चमत्कारी माना जाता था। वह पंचाग्नि तप करता था। वैशाख मास की आग बरसाने वाली तपतपाती दुपहरी में नगर के बाहर खुले मैदान में अपने चारों ओर आग जलाकर तथा ऊपर से सूर्य का ताप सेवन करके स्वयं बीच में बैठकर पंचाग्नि तप करता था। शरीर को कितना भयंकर कष्ट देता था। परन्तु आत्मतत्व से बिलकुल अनभिज्ञ था। इसलिए ये सारे कठोर क्रियाकाण्ड उसके लिए मुक्तिदायक नहीं बने, किन्तु संसार के जन्म-मरण का चक्र बढ़ाने वाले ही सिद्ध हुए।

स्वरूप से अनभिज्ञ व्यक्ति को रत्नत्रयी आराधना परमात्मभाव प्रापक नहीं

इसलिए ज्ञान, दर्शन, चारित्र एवं तप की बाह्यदृष्टि से आराधना करने पर भी जब तक व्यक्ति अपने आप (आत्मस्वरूप) से अनभिज्ञ रहता है, तब तक वह परमात्म पद या मोक्ष के निकट पहुँच नहीं सकता। बल्कि आत्मतत्व को=अपने आपको जाने-पहचाने बिना अन्धाधुन्ध धर्मक्रिया या जप-दानादि प्रवृत्ति करते रहने पर व्यक्ति को अहंकार आ घेरता है। वह अपने आपको दूसरे व्यक्तियों से भिन्न, विशिष्ट और अधिक योग्यता वाला समझ बैठता है। अपने (आत्मा के) वास्तविक स्वरूप को जानना एक बात है और किसी बात का अहंकार करना और बात है। आत्मा के वास्तविक स्वरूप को जान लेने पर तो व्यक्ति परमात्मपद की ओर गति-प्रगति कर सकता है, उसका ज्ञान और दर्शन सम्यक् हो जाता

१. सवासो गाथानुं स्तवन ढाल ३ गाथा २७

है, चारित्रगुण भी परमात्मलक्ष्यी हो जाता है, मोह-माया, अज्ञान, अन्ध-विश्वास और प्रशंसा तथा प्रसिद्धि के घेरे से वह दूर रहकर आत्मा के यथार्थ विकास में लग सकता है।

आत्मज्ञान का अभाव : आत्मा से परमात्मा बनने में सबसे बड़ी रुकावट

आत्मा और परमात्मा दोनों का स्वभाव, गुण और स्वरूप एक समान है, यह जान लेने पर ही आत्मा परमात्मपद की ओर बढ़ सकता है। जब तक अपने आपको ठीक से यथार्थ रूप से नहीं पहचाना जाता, तब तक कितनी ही तप, जप, ध्यान, मौन आदि की साधनाएँ की जाएँ, वे व्यर्थ हो जाती हैं। वे साधन केवल तन-मन के ही एक प्रकार के व्यायाम हो जाते हैं। गुजरात के प्रसिद्ध भक्त नरसी मेहता ने अपनी अनुभव-पुनीत वाणी में कहा—

ज्यां लगी आत्मतत्त्व चिन्यो नहीं,
त्यां लगी साधना सर्व झूठी।

जहाँ तक व्यक्ति आत्मतत्त्व को नहीं पहचान लेता, वहाँ तक उसकी सभी साधनाएँ मिथ्या हो जाती हैं, क्योंकि आत्मा को जाने बिना जो व्यक्ति किसी प्रकार की साधना करता है, वह अज्ञान और अन्धविश्वास के गड्ढे में गिरकर गतानुगतिक हो जाता है। उसकी साधना आत्मलक्ष्यी या मोक्ष-लक्ष्यी नहीं हो पाती है। उस साधना से स्वर्गादि ही भले ही मिल जाएँ, जो संसारवृद्धि के ही कारण हैं। कर्मों का क्षय होने पर ही जन्म-मरणरूप संसार-परिभ्रमण से छुटकारा हो सकता है। और कर्मों के क्षय की साधना तभी हो सकती है, जब व्यक्ति आत्मा और कर्मों के भेद को समझे। आत्मा क्या है? उसका स्वरूप क्या है? कर्म क्या हैं, वे आत्मा के साथ कैसे लग जाते हैं? इत्यादि बातों को यथार्थरूप से जानने पर ही व्यक्ति आत्मा से परमात्मतत्त्व की ओर कदम बढ़ा सकता है।

आत्मा को जाने बिना ये साधनाएँ किसलिए?

अगर कोई व्यक्ति घोर तप, जप, संयम, त्याग, उग्र क्रियाकाण्ड करता है, उससे पूछा जाए कि ये सब अनुष्ठान किसलिए किये जा रहे हैं तो प्रायः सभी धर्म-सम्प्रदाय या मत-पंथ वाले एक स्वर से कहेंगे– मोक्षप्राप्ति का परमात्मप्राप्ति के लिए हैं। परन्तु मोक्ष या परमात्मभाव की प्राप्ति क्या शरीर इन्द्रियों या मन-बुद्धि के लिए है? नहीं, वह तो आत्मा के लिए है। तब तो आत्मा को सर्वप्रथम जाने-समझे और पहचाने बिना परमात्म-भाव, या मोक्ष की प्राप्ति कथमपि संभव नहीं है। अपने आप (आत्मा) के

शुद्ध, निरुपाधिक और ज्ञानादि गुणयुक्त स्वरूप को जाने-माने बिना परम-शुद्ध पूर्ण ज्ञानानन्दयुक्त परमात्मभाव को या मोक्ष को प्राप्त करना कैसे सम्भव हो सकता है ? इसलिए सभी महापुरुषों और शास्त्रों ने आत्मतत्व (अपने आपके स्वरूप) को सर्वप्रथम जानने का निर्देश किया है।

सर्वप्रथम आत्मा का ज्ञान करने से लाभ

परमात्म-प्राप्ति या मोक्ष-प्राप्ति की साधना में सर्वप्रथम आत्मज्ञान को इसलिए भी महत्व दिया गया है कि मोक्ष या परमात्मपद की प्राप्ति तभी हो सकती है, जब सभी कर्मों से आत्मा मुक्त हो। आत्मा की सम्पूर्ण रूप से शुद्धि भी तभी हो सकती है, जब साधक समग्ररूप से आत्मभावों में रमण करे। आत्मभावों का ज्ञान करे और शुद्ध आत्म-तत्व पर पूर्ण श्रद्धा करे। इसलिए आत्मज्ञान से विहीन साधक चाहे जितना भी कठोर तप करता हो, कठोर क्रियाकाण्ड करता हो, अथवा घोर कष्ट सहन करता हो, वह अनेक करोड़ पूर्व (वर्ष) तक जिन कर्मों को क्षय कर पाता है, उन्हीं कर्मों को त्रिगुप्ति से युक्त आत्मज्ञानी एक श्वासोच्छ्वास भर में क्षय कर डालता है। यह सिद्धान्त दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों जैनसम्प्रदायों के ग्रन्थों द्वारा मान्य है।[1]

आत्मज्ञानी समझा किसे जाए ?

अब यह प्रश्न उठता है कि क्या अत्मज्ञानी बनने के लिए हजारों पुस्तकों, शास्त्रों और ग्रन्थों का पढ़ जाना, आगमों को कण्ठस्थ करना या तत्त्वज्ञान या दशनशास्त्र का अध्ययन करना, सिद्धान्तों एवं थोकड़ों की चर्चा में निपुणता प्राप्त कर लेना आवश्यक है, अथवा और कोई शर्त है आत्मज्ञानी बनने की ?

इस विषय में सर्वज्ञ आप्त पुरुषों का यहाँ तक कथन है कि साढ़े नौ पूर्वों का अध्ययन करने वाला भी अज्ञानी हो सकता है।

कोई व्यक्ति न्यूयार्क या मास्को की विशाल लायब्रेरी की पचास हजार पुस्तकों को पढ़ जाए और उन पुस्तकों के ज्ञान को दिमाग में ठूंस

---

१ जं अन्नाणी कम्मं खवेइ बहुयाइं वासकोडीहिं।
तं नाणी तिहिं गुत्तो खवेइ ऊसासमित्तेण। —बृहत्कल्पभाष्य उ.१, गा. ११७०
अज्ञानी तपसा जन्मकोटिभिः कर्म यन्नयेत्।
अन्तं ज्ञानतपोयुक्तस्तत् क्षणेनैव संहरेत्॥—अध्यात्मसार आत्मनिश्चयाधिकार श्लो-१६२

ले, तो क्या हम उसे ज्ञानी कह देंगे ? नहीं, उसने तो सिर्फ उन पुस्तकों में लिखी जानकारी (माहिती) हासिल की है। इसी प्रकार कोई व्यक्ति विशाल ज्ञान भण्डारों में संग्रहीत सकल शास्त्रों में पारंगत हो जाए तो भी उसे उतने भर से ज्ञानी नहीं कहा जा सकेगा, क्योंकि उसने केवल उन शास्त्रों में लिखित बातों का संग्रह दिमाग में कर लिया है। इसलिए शास्त्रों, ग्रन्थों या अमुक भौतिक ज्ञान-विज्ञान शाखा की पुस्तकों के पढ़ने मात्र से उसे ज्ञानी नहीं कहा जा सकता। न ही शास्त्रों की न्यूनाधिक जानकारी से ही ज्ञानी-अज्ञानी की भेद-रेखा खींची जा सकती है। अधिक पढ़ा हुआ भी अज्ञानी हो सकता है और कम पढ़ा हुआ या शास्त्रज्ञ न होने पर भी महाज्ञानी हो सकता है। माषतुष क्या पढ़ा हुआ था ? परन्तु उसे आत्मा (स्व-चतेन) और जड़ (पर) का भेदविज्ञान दृढ़श्रद्धापूर्वक हो गया था, वह अपने स्वभाव में तल्लीन हो गया था, इस कारण उसे केवलज्ञान प्राप्त हो गया था।

यथार्थ आत्मज्ञान

अतः आध्यात्मिक क्षेत्र में सम्यग्ज्ञान वही माना जाता है, जो आत्मा से सम्बन्धित हो। एक मुमुक्षु या आत्मार्थी भी अन्य वस्तुओं का—जगत् का, परपदार्थों का भी ज्ञान प्राप्त करता है, वह आत्मा और जगत् (स्व-पर) के सम्बन्धों को समझने के लिए ही। वह पर-पदार्थ—जगत् का ज्ञान भी प्राप्त करता है तो केन्द्र में आत्मतत्व को दृष्टिगत रखकर ही। अतः आत्मशुद्धि, तथा स्वपर-भेदविज्ञान के प्रकटीकरण में या आत्मा को परमात्मभाव तक पहुँचाने में जो ज्ञान सहायभूत हो, वही ज्ञान आत्मार्थी के लिए अपेक्षित होता है। आत्मार्थी मुमुक्षु का आत्मज्ञान आत्मा, जगत् और परमात्मा इन तीनों के परस्पर सम्बन्ध को बताने वाला होता है।

इसीलिए योगशास्त्र में आत्मज्ञान का अर्थ किया गया है—आत्मा सम्बन्धी केवल बौद्धिक ज्ञान नहीं, अपितु आत्मा का स्व-संवेदन रूप प्रत्यक्ष ज्ञान।[1] ऐसा आत्मज्ञान तभी प्राप्त हो सकता है, जब आत्मा को शरीर से सर्वथा पृथक् समझे, कर्मोपाधिक व्यक्तित्व से अपनी शुद्ध आत्मतत्व को अलग समझे। इस प्रकार का भेदविज्ञान करके स्व-संवेदनरूप साक्षात्कार

---

१ आत्मज्ञानं च""आत्मनः चिद्रूपस्य स्व-संवेदनमेव मुख्यते। नातोऽन्यदात्मज्ञान नाम। —योगशास्त्र प्रकाश ४ श्लोक ३ की टीका

करने के लिए आत्महित की दृष्टि से धर्म-शुक्ल ध्यान करना आवश्यक है।[1] और इस प्रकार की ध्यानसाधना से आत्मज्ञान की प्राप्ति के लिए बौद्धिक-विकास, हृदय की विशालता, संयम, संकल्पशक्ति, सुदृढ़ता तथा चित को शान्त, शुद्ध एवं एकाग्र करने की शक्ति सम्पादन करना अनिवार्य है। अन्तः-करण की ऐसी अवस्था में ही वास्तविक आत्मतत्व की उपलब्धि हो सकती हैं।[2] साथ ही आत्मज्ञान पाने के लिए चित्त में त्याग और वैराग्य होना जरूरी है।[3]

आत्म (स्वरूप) स्मृति को टिकाए वही आत्मज्ञानी

अभिप्राय यह है कि किसी के आत्मज्ञानी होने का पुष्ट प्रमाण यह है कि वह अपनी आत्मा को प्रत्येक प्रवृत्ति में विस्मृत नहीं करता, अपनी स्वरूप-स्मृति यथाशक्ति टिकाये रखता है। आत्मजागृति पलपल में रखता है। वह प्रत्येक कायिक, मानसिक एवं वाचिक प्रवृत्ति करते समय गहराई में उतर कर आत्मनिरीक्षण करेगा।

आत्म-स्मृति टिकाए रखने की प्रक्रिया

सामान्य मानव तन, मन, वचन और इन्द्रियों की प्रवृत्ति चालू होती है, तब उसके प्रवाह में ऐसा घुल-मिल जाता है कि उसे अपनी आत्मा का भान-ज्ञान या स्वरूप का स्मरण नहीं रहता। अतः आत्म (स्वरूप) स्मृति टिकाये रखने के लिए प्रतिदिन निर्धारित समय पर अन्य सब प्रवृत्तियों को बन्द करके आत्मानुसन्धान का अभ्यास करना चाहिए।

ध्यान के लिए एक आसन से स्थिर होकर सर्वप्रथम करीब १० गहरे श्वास लें। श्वासोच्छ्वास की क्रिया शान्त, धीमी और लयबद्ध हो। फिर आँखें बन्द करके अपनी सच्ची पहचान करने का प्रयत्न करें। तीव्र जिज्ञासापूर्वक मन ही मन प्रश्न करें—'मैं कौन हूँ?' इस प्रश्न का उत्तर शब्दों से न देकर मनोनेत्र के समक्ष उत्तर को उभरने दो। मनोनेत्र के समक्ष अपनी आकृति खड़ी करके विचार करो कि 'क्या यह शरीर मैं हूँ?' बीच में दूसरे फालतू विचारों को अवकाश न देकर चित्रपट पर अंकित दृश्य की तरह बचपन से लेकर आज तक शरीर में जो-जो परिवर्तन हुए

---

१ "मोक्षः कर्मक्षयादेव स चात्मज्ञानतो भवेत्।
ध्यानसाध्यं मतं तच्च, तद्ध्यानं हितमात्मनः॥"—योगशास्त्र प्र. ४, श्लोक ११३

२ विंशति विंशिका १, गाथा १७-२०।

३ त्याग वैराग न चित्तमां थाय न तेने ज्ञान। —आत्मसिद्धि

हैं, उन्हें क्रमशः अपने मन के स्मृतिपट पर लायें। जन्म के समय का, बाल्यावस्था का, किशोरावस्था और फिर युवावस्था का और वर्तमान-काल का यह शरीर कितना परिवर्तित हो गया है ? परन्तु इन सब परिवर्तनों के बीच 'मैं' की प्रतीति तो एक सरीखी रही है। 'मैं' की प्रतीति में कोई न्यूनता नहीं आई। इसलिए यह निश्चित हुआ कि शरीर 'मैं' (आत्मा) नहीं है। 'मैं' नामक तत्व का (आत्मा) शरीर से पृथक् अपना स्वतन्त्र अस्तित्व है।

इसके पश्चात् बचपन से लेकर आज तक अपनी इच्छाओं, आकांक्षाओं, रुचियों, वृत्तियों आदि को भी पूर्ववत् टटोलें। आप देखेंगे कि ये भी बदलती रही हैं—अवस्था एवं परिस्थिति के अनुसार। परन्तु इन सबके अन्दर रहा हुआ जो 'मैं' है, वह एक रूप रहा है। वह जन्म से आज तक एकरूप—एकसरीखा रहा है, जबकि इच्छाओं एवं रुचियों आदि में लगातार परिवर्तन होता रहा है।

तदनन्तर मन में उठने वाले विचारों की ओर दृष्टिपात करें तो देखेंगे कि चित्त में विचारों की कतारें लगातार आ रही हैं। पुराने विचार नष्ट हो रहे हैं, नये विचार उठ रहे हैं, फिर शान्त हो रहे हैं। बचपन से लेकर अब तक कई प्रकार के विचार उठे हैं, कोई पसन्द थे, कोई नापसन्द ! परन्तु विचारों को पसन्द या नापसन्द करने वाला कोई और तत्व है, जो अपनी सहमति या असहमति दर्शाता है। इसलिए विचार से 'मैं' तत्व अलग है, जो विचार प्रवाहों का निरीक्षण और नियन्त्रण करता है। इस प्रकार 'मैं' को ढूंढने-जानने का प्रयत्न करें। इस सबके बाद चेतना को गहराई में उतरने देकर सोचना कि आखिर मैं कौन हूँ ? कुछ देर विचाररहित रहकर आतुरतापूर्वक 'मैं कौन हूँ ? इसके उत्तर की प्रतीक्षा करो। फिर चित्त में उठने वाले विचारों को रोककर विचारों के उद्गम-स्थानरूप विशुद्ध चैतन्यमूर्ति आत्मा का प्रत्यक्ष अनुभव करो। इस प्रकार चित्त को एकाग्र करके 'मैं कौन ?' इस विचारधारा पर आग्रहपूर्वक चिपके रहने से समग्र जीवन में, प्रत्येक दैनिकचर्या में अल्पसमय में ही पूर्वोक्त आत्मविचार ओतप्रोत हो जायेगा। फिर वह मन-वचन-काया की प्रत्येक प्रवृत्ति में आत्मस्मृति या आत्मजागृति रखकर देखेगा कि यह विचार या कार्य कौन व क्यों कर रहा है ? यह शुद्ध आत्मा के अनुरूप है या नहीं ? इस प्रकार शुद्ध आत्मा के साथ परमात्म भाव का तादात्म्य बढ़ने से ध्यान, ध्येय और ध्याता एकरूप हो जायेंगे। अतः आत्मज्ञान ही परमात्मज्ञान का मूल है।

६

आत्मानुभव : परमात्म-प्राप्ति का द्वार

आत्मानुभव का जादू

आत्मा को जानने-देखने के पश्चात् आगे का क्रम है—शुद्ध आत्मा का अनुभव। आत्मा की अनुभूति परमात्म-प्राप्ति अथवा अपनी आत्मा में परमात्म-तत्व को प्राप्त करने का अमोघ उपाय है।

अध्यात्मयोगी श्री चिदानन्द जी महाराज ने अत्मानुभूति का माहात्म्य बताते हुए कहा—

निज अनुभव लवलेश थी, कठिन कर्म होय नाश।
अल्प भवे भवि ते लहे, अविचलपुर को वास॥

भावार्थ यह है कि आत्मा के स्वल्प अनुभव से भी कठिन कर्मों का क्षय हो जाता है और वह आत्मार्थी साधक कुछ ही भवों में समस्त कर्मों से मुक्ति पा जाता है। अर्थात्—आत्मा से परमात्मा बन जाता है।

प्रश्न होता है—आत्मानुभव में ऐसा क्या जादू है कि उसे पाने वाला व्यक्ति अल्प भवों में मुक्ति प्राप्त कर लेता है, भवभ्रमण का अन्त कर डालता है? इसका रहस्य यही है कि आत्मा की जब किसी को अनुभूति हो जाती है तो वह क्षणभर में उसका प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त कर लेता है। निज की यह अनुभूति व्यक्ति की जीवनदृष्टि में जबर्दस्त क्रान्ति का सृजन करती है। श्रुत—शास्त्रादि

द्वारा प्राप्त होने वाला बौद्धिक स्तर का ज्ञान ऐसी आमूल-चूल क्रान्ति नहीं कर पाता और जब तक व्यक्ति आत्मा का अनुभव नहीं कर लेता तब तक दृष्टि की भ्रान्ति दूर नहीं होती। आत्मानुभूति से रहित व्यक्ति के मन में अनादि काल से पड़ी हुई इन्द्रियों और मन के विषयों में सुख की भ्रान्ति मिटती नहीं।[1] वह मिटती है—आत्मानुभूति से ही। आत्मानुभूति द्वारा निज के निरुपाधिक आध्यात्मिक आनन्द का आस्वाद मिलता है। उसके कारण इन्द्रिय-विषयों का उपभोग वास्तव में नीरस प्रतीत होता है। इतना ही नहीं सभी पुद्गलों का खेल भी इन्द्रजाल-सम प्रतिभासित होता है।[2] इतना ही नहीं, आत्मानुभवी संसार के बनावों को स्वप्न के बनावों से अधिक नहीं समझता। इसीलिए वह संसार की पौद्गलिक क्रीड़ाओं में अनुरक्त नहीं होता।

आत्मानुभव से सम्पन्न को विषय-सुखों में रस नहीं

श्रुत द्वारा जो स्वरूप का बोध होता है, उससे चित्त भावित होने पर कुछ अंशों में मोह की पकड़ तो ढीली हो जाती है, साथ ही विषय-कषायों का आवेग भी मन्द हो जाता है, लेकिन विषयों का रस, दूसरे शब्दों में, विषयों में अनादिकाल से रही हुई सुखभ्रान्ति दूर नहीं होती।

परन्तु जिसे आत्मानुभव हो जाता है, उसे आत्मा में आनन्द के सिवाय किन्हीं बाह्य विषयों में सुख की बात बिल्कुल नहीं सुहाती। जैसे—कोई मोदक खाने में सुख मानता है। वह दो-चार मोदक खाता है, अन्त में कह देता है, बस, अब रहने दो। अब मोदक खाने में आनन्द नहीं आता। अतः समझ लेना चाहिए कि कई मोदक खाने में बाद में जैसे सुख का अभाव महसूस हुआ, उसमें पहले से ही सुख का अभाव है। मोदक के बदले किसी भी विषय को ले लीजिए, गहराई से सोचने पर निःसन्देह प्रतीत होगा कि विषयों में सुख नहीं है, अपितु आत्मस्वभाव के अनुभव में ही सच्चा सुख है।

यों तो बीमार मनुष्यों या पागलों के लिए इन्द्रिय-विषयों का त्याग करना आसान है, किन्तु वे उनका राग (आसक्ति) नहीं छोड़ सकते।

---

१ न चादृष्टात्मतत्वस्य दृष्टभ्रान्तिर्निवर्तते।—अध्यात्मोपनिषद् ज्ञानयोग श्लोक ४

२ आत्म ज्ञाने मगन जो, सो सब पुद्गल खेल।
इन्द्रजालकरी लेखवे, मिले न तिहाँ मनमेल—समाधि शतक दोहा०।

परन्तु जो आत्मध्यानी या आत्मानुभवसम्पन्न होता है, वह आत्मा की परमज्योति का दर्शन पाकर तृप्त हो जाता है, फिर उसके मन के किसी कोने में विषय-सुख की वांछा नहीं रहती।[1]

आत्मानुभूति की ऊषा या चन्द्रिका परमात्मभाव के लिए आवश्यक

जिस प्रकार सूर्योदय से पूर्व रात्रि के सघन अन्धकार को चीरती हुई ऊषा प्रकट होती है, उसी प्रकार आत्मार्थी साधक के जीवन में परमात्मभाव के सूर्योदय से पूर्व कुमति की रात्रि के अज्ञान एवं मिथ्यात्वरूपी सघन अन्धकार को दूर करती हुई आत्मानुभूति की ऊषा प्रकट होती है। इसके अतिरिक्त आत्मानुभूति का जब आगमन होता है तब आत्मार्थी को सम्यक्त्व के स्वच्छ प्रकाश में सकल कलाओं से परिपूर्ण अगम्य आत्मा के स्वरूप की, आत्मज्ञान की तथा आत्मा के शुद्ध स्वभाव की उज्ज्वल चन्द्रिका की दृढ़ प्रतीति हो जाती है, जिससे आत्मा के समस्त गुणों और शक्तियों की सम्पूर्ण कलाएँ जान-पहचान ली जाती हैं। इस कारण उसकी बहिरात्मदृष्टि पूर्णरूप से निराधार बनकर समाप्त हो जाती है और अन्तरात्मदृष्टि खिल उठती है, जो परमात्मभाव के चन्द्रोदय तक व्यक्ति को पहुँचा देती है। एक आत्मानुभवी के उद्‌गार इस प्रकार झंकृत हुए हैं—

ज्ञानतणी चांदरड़ी प्रगटी, तब गई कुमति की रयणी रे।
अकल अनुभव उद्योत थयो, जब सकल कला पिछाणी रे॥

अनुभव : परमात्मा के प्रासाद का प्रहरी

सिद्ध परमात्मा अथवा जीवन्मुक्त परमात्मा (अरिहन्तदेव) के या अपने शुद्ध आत्म-स्वरूप का चिन्तन-मनन-ध्यान करते-करते किन्हीं धन्य क्षणों में मन शान्त हो जाता है और ध्याता ध्येय के साथ तदाकार होकर शुद्ध आत्म-स्वरूप में तन्मय हो जाता है। यही आत्मानुभव की अवस्था है जो परमात्मा के प्रासाद का प्रहरी बनकर एक दिन परमात्मपद को प्राप्त करा देता है।

---

१ आतुरैरपि जड़ैरपि स्वकृत्मत् सुत्यजा हि विषया न तु रागः।
ध्यानवांस्तु परमद्युतिदर्शी तृप्तिमाप्य न त मृच्छति भूयः।
—अध्यात्मसार ध्यान, श्लो. २

इसी तथ्य को कविवर बनारसीदासजी ने समयसार नाटक में इस प्रकार व्यक्त किया है।

"कहे सुगुरु जो समकिती, परम उदासी होई।
सुथिर चित्त अनुभौ करे, प्रभुपद परसै सोई॥"

सद्गुरु कहते हैं कि जो सम्यग्दृष्टि आत्मा, संसारभाव से अत्यन्त उदासीन होकर मन को अत्यन्त स्थिर करके आत्मानुभव करता है, वही परमात्मपद का स्पर्श करता है।

क्योंकि ऐसी स्थिति में आत्मा की शाश्वत, अलौकिक आनन्दमयी अनुभूति से मोहान्धकार दूर होते ही ध्याता को तत्काल आत्मज्ञान का प्रकाश प्राप्त हो जाता है।[1] इस अपूर्व घटना को ही शास्त्रीय परिभाषा में आत्मज्ञान या आत्मानुभव की संज्ञा दी गई है।

अनुभव : जीवन्मुक्ति का अरुणोदय

सूर्योदय से पूर्व जैसे अरुणोदय आकर रात्रि के अन्धकार को हटा देता है, वैसे ही केवलज्ञान का सूर्य प्रकाशित हो, उससे पूर्व आत्मानुभव रूपी अरुणोदय आकर मोहान्धकार को उलीच डालता है। जैसे प्रभात-काल में बाल सूर्य का प्रकाश आकर समग्र रात्रि की गाढ़ी निद्रा या स्वप्न माला का एक क्षण में अन्त ला देता है, वैसे ही अनुभवरूपी अरुणोदय आकर देह और कर्मकृत व्यक्तित्व के साथ मानव के अनादिकालीन तादाम्य तिमिर को एक क्षण में चीर डालता है।

यह शरीर और इसमें रहने वाला 'मैं' (आत्मा) दोनों एक ही आत्मप्रदेश के निवासी होने से सामान्यतया एकरूप प्रतिभासित होते हैं, किन्तु ये दोनों एक नहीं, सर्वथा भिन्न हैं। अनुभव के प्रकाश में यह तथ्य सिर्फ बौद्धिक समझ न रहकर, जीवित सत्य बन जाता है। पहने हुए वस्त्र, अपने शरीर से पृथक् है, यह भान प्रत्येक मानव को जितना स्पष्ट होता है, उससे भी अधिक स्पष्ट शरीर और आत्मा की पृथक्ता का भान आत्मानुभव-सम्पन्न व्यक्ति को होता है।

बौद्धिक प्रतीति और आत्मानुभूति में अन्तर

आत्मा की, अथवा आत्मा के यथार्थ स्वरूप की बौद्धिक प्रतीति

---

१ आतम-अनुभव-तीर से, मिटे मोह-अंधार।
आपरूप में जलहले, नहि तस अन्त-अपार॥
—अध्यात्म बादनी

विकल्प एवं तर्क-वितर्क से होती है। विकल्प प्रायः अविद्याजनित होते हैं। इस कारण आत्मा की या आत्मस्वरूप की संशयरहित निर्भ्रान्त प्रतीति बुद्धि से नहीं होती। वह होती है, आत्मानुभूति से। क्योंकि जब विकल्प और तर्क-वितर्क शान्त होकर मन एकदम निश्चल-एकाग्र होकर सिर्फ आत्मा में—आत्मध्यान में तन्मय हो जाता है, तभी आत्मानुभूति होती है। मन की इस उपशान्त (उन्मनी) अवस्था में ही आत्मा की संशयरहित, निर्भ्रान्त दृढ़प्रतीति = अनुभूति होती है।

प्रायः शब्दशास्त्री (व्याकरणाचार्य), विद्वान्, दार्शनिक या पण्डित आत्मा की ऐसी निर्भ्रान्त तथा संशयरहित दृढ़ अनुभूति नहीं कर सकते क्योंकि वे प्रायः तर्क-वितर्कों या विकल्पों के सहारे से बौद्धिक प्रतीति करते हैं।

कोरे शब्दशास्त्री आत्मानुभूति नहीं कर पाते

व्याकरणशास्त्री या तर्कशास्त्री, दार्शनिक विद्वान् प्रायः शास्त्रों से या शब्दों से आत्मा के स्वरूप को जानते हैं, उसी को सत्य मान लेते हैं, अथवा वे आत्मा को अपने अन्तर् में खोजने की अपेक्षा बाहर ही बाहर खोजते हैं, इस कारण उन्हें आत्मा की अथवा आत्मस्वरूप की निर्भ्रान्त, संशयरहित प्रतीति नहीं हो पाती। केवल तर्कों या विकल्पों के सहारे आत्मा को या आत्मस्वरूप को जानने का प्रयास बहिर्मुखी है। आत्मा को या आत्मस्वरूप की संशयरहित तथा भ्रान्तिरहित प्रतीति, अथवा दृढ़ निश्चय या स्पष्ट पहचान अन्तर्मुखी स्वानुभूति से हो सकती है, क्योंकि अन्तर्मुखी स्वानुभव स्वल्प मनुष्यों को ही होता है। अध्यात्मयोगी श्री सहजानन्दजी ने ठीक ही कहा है—

अनुभव क्या जाने व्याकरणी ?
कस्तूरी निज नाभि में पर, लाभ न पावे हरणी।
अनुभव से भरपूर भरी पर, गन्ध न जाने वरणी ॥१॥
मणों बन्ध घृत-पान करे पण, खालीखम थो गरणी।
लाखों मण अन्न मुख चावे, शक्ति न पावे दलणी ॥२॥
पीठे चन्दन पण शीतलता, पावे नहीं खर-खरणी।
मणि-माणिक रत्नो उरमां पण, शोभा न पावे धरणी ॥३॥
भावधर्म-स्पर्शन बिन निष्फल, तप-जप-संयम-करणी।
शब्दशास्त्र सह भावधर्म जो, सहजानन्द निःसरणी ॥४॥

कोरा शब्दशास्त्री आत्मा का अनुभव कैसे कर सकता है, क्योंकि वह ऊपर-ऊपर तैरता है। क्या समुद्र के अन्दर डुबकी लगाए बिना केवल उसके किनारे पर खड़े रहने और समुद्र के स्वरूप का वर्णन कर देने से मोती या रत्न मिल सकते हैं? इसी प्रकार जो शब्दशास्त्री लच्छेदार शब्दों में आत्मा के अस्तित्व एवं स्वरूप का शब्दस्पर्शी वर्णन करके ही रह जाता है, अन्दर में डुबकी लगाकर नहीं खोज पाता, क्या उसे आत्मानुभव रूपी मोती या रत्न मिल सकते हैं? कस्तूरीमृग की नाभि में कस्तूरी होती है, उसकी सुगन्ध भी उसे आ रही है, पर वह उसकी सुगन्ध को अन्यत्र ढूंढ़ता फिरता है, उसके निकट होते हुए भी वह उस सुगन्धि का लाभ नहीं उठा पाता। इसी प्रकार आत्मा प्राणी के अत्यन्त निकट होते हुए भी वह उसे ढूंढने और खोजने पर्वतों, नदियों, गुफाओं, तीर्थों आदि में भटकता है। अत्यन्त निकट होते हुए भी शुद्ध आत्मा के गुणों की सौरभ वह प्राप्त नहीं कर पाता। एक अमृतबान मुरब्बे से भरा हुआ है। किन्तु वह अमृतबान कभी मुरब्बे के स्वाद को या सुगन्ध को प्राप्त नहीं कर पाता। इसी प्रकार अनन्तज्ञानादि से परिपूर्ण आत्मा अपने अन्दर भरे हुए इन ज्ञानादि रत्नों को तब तक नहीं प्राप्त कर सकता, जब तक कि वह अपनी आत्मा में भरी हुई ज्ञानादि निधि को भलीभाँति जान न ले, उस पर सम्यक् विश्वास और निश्चय न कर ले। स्टील के कमण्डल में बार-बार घी भरा जाता है। वह लाखों मन घी जिंदगीभर मे पी जाता है, परन्तु घी के स्वाद से वह रिक्त ही रहता है। इसी प्रकार शब्दशास्त्री लाखों शब्दों का चयन करता है, लाखों वाक्य आत्मा के सम्बन्ध में लिख-पढ़ लेता है, किन्तु जब तक वह आत्मा का अनुभव करने के लिए गहराई से अन्तर् में डुबकी नहीं लगाता, तब तक आत्मानुभूति का स्वाद नहीं आ सकता। आटा चक्की लाखों मन अनाज चबा जाती है, पर क्या उसे आटे का स्वाद आता है? इसी प्रकार विद्वान् वक्ता आत्मा के विषय में लाखों पुस्तकें पढ़ लेता है, हजारों लेख लिख डालता है, किन्तु उसे आत्मा का यथार्थ अनुभव तब तक नहीं होता, जब तक कि वह आत्मा के विषय में स्वयं यथार्थ स्वरूप हृदयंगम करके दृढ़निश्चय और अनुभव नहीं कर लेता। गधे की पीठ पर चन्दन के बोरे लाद देने पर भी वह उसकी सुगन्ध और शीतलता का अनुभव नहीं कर पाता,[1] वह केवल भार ढोता है।

---

१ तुलना कीजिए—जहा खरो चंदण-भारवाही, भारस्सवाही न हु चंदणस्स ॥
एवं खु नाणी चरणेणहीणो नाणस्स भारो, न हु सोग्गइए ॥ —आ. नि. १००

इसी प्रकार व्याकरणाचार्य पण्डित के मस्तिष्क में व्याकरण शास्त्र के छहों खण्ड भरे होने पर तथा आत्मा की शब्दस्पर्शी चर्चा करने लेने पर भी उसे आत्मानुभूति का आनन्द नहीं आता। पृथ्वी रत्नगर्भा कहलाती है। उसके पेट में हजारों मणि, माणिक्य एवं रत्न रहते हैं, परन्तु उन रत्नों के रहते भी वह शोभा नहीं पाती, क्योंकि वह उन्हें यथास्थान धारण नहीं कर पाती। इसी प्रकार तर्कशास्त्री के मस्तिष्क में हजारों तर्करत्न आत्मा के विषय में होने पर भी वह जब आत्मा को स्वभाव एवं निजी गुणों के अनुरूप अनुभवरत्नों से अलंकृत नहीं कर लेता तब तक वह आध्यात्मिक शोभा नहीं पा सकता।

निष्कर्ष यह है कि एक व्यक्ति तप, जप, क्रियाकाण्डों के चाहे जितने अम्बार लगा दे, बाह्य आचरण चाहे जितना ऊँचा बता दे, कितने ही कष्ट सह ले, संयम का चाहे जितना प्रदर्शन कर दे, आत्मा के विषय में चाहे जितने लच्छेदार भाषण कर दे, लेख लिख दे, तर्कों के तीर छोड़ दे, किन्तु जब तक उन शब्दों के साथ आत्मा के स्वभाव-धर्म का स्पर्श नहीं होगा, तब तक वे सब क्रियाकलाप निरर्थक सिद्ध होंगे, वे आत्मा को सच्चिदानन्द-स्वरूप परमात्मा तक पहुँचाने वाले सोपान नहीं बनेंगे।

आशय यह है कि शब्दों से आत्मा को अस्तित्व एवं स्वरूप को चाहे जितना जान लेने पर भी जब तक आत्मा के स्वरूप और स्वभाव की, निजी गुणों की तथा आत्मा की शक्तियों की दृढ प्रतीति एवं निश्चिति नहीं हो जाती, तब तक उसे सही माने में आत्मानुभूति नहीं कही जा सकती।[1]

आत्म-विषयक भ्रान्तियां अनुभव से ही मिटती हैं

रात्रि के गाढ़ अन्धकार में रस्सी को सांप मान लिया जाता है, तब वह रस्सी व्यक्ति के चित्त में भय उत्पन्न कर देती है। ऐसे व्यक्ति को शब्दों से या युक्तियों से चाहे जितना समझाया जाये कि इस स्थान में सर्प का भय नहीं है, फिर भी उसके दिमाग में घुसा हुआ भय निकालता नहीं, उसे

---

१ अतीन्द्रियं परं ब्रह्म, विशुद्धानुभवं बिना।
शास्त्रयुक्तिशतेनाऽपि नैव गम्यं कदाचन ॥२१॥
अधिगत्याखिलं शब्द ब्रह्म शास्त्रदृशा मुनिः।
स्वसंवेद्यं परं ब्रह्मानुभवेनाऽधिगच्छति ॥२८॥
—अध्यात्मोपनिषद, ज्ञानयोग, श्लोक २१-२८

भयमुक्त वास्तविक स्थिति की प्रतीति नहीं हो पाती। किन्तु जब टोर्च से उस माने हुए सर्प पर प्रकाश डालकर दिखाया जाता है, तो रस्सी में सर्प का भ्रम और भय दोनों समाप्त हो जाते हैं। इसी प्रकार आत्मा के विषय में मन, बुद्धि एवं तर्क-वितर्कों द्वारा विविध शंकाएँ एवं भ्रान्तियाँ नहीं मिटती, इन्द्रियों तथा वाणी आदि से सत्यता की प्रतीति नहीं हो पाती, श्रुतज्ञान से, विविध शास्त्रों के अध्ययन से भी ऐसी भ्रान्तियाँ नहीं मिटतीं।[1] वे भ्रान्तियाँ मिटती हैं—अनुभव की निर्मल ज्योति से; आत्मा के अबद्ध, शुद्ध, ज्ञानमय, आनन्दमय, आत्मशक्तिमय स्वरूप को श्रवण, मनन तथा बार-बार पुनःस्मरण करके प्रत्यक्ष अनुभव करने पर। अध्यात्मसार में इसी तथ्य को स्पष्ट किया गया है।[2]

तुर्यावस्थारूप आत्मानुभव से परमात्मा के साथ अभिन्नतानुभव

ज्ञानी पुरुषों ने आत्मानुभूति को तुर्यावस्था—चतुर्थ अवस्था बताई है। सुषुप्ति, स्वप्न और जागृति, इन तीन अवस्थाओं से सब परिचित हैं। 'सुषुप्ति' (गाढ़निद्रा) अवस्था में बाह्य जगत् के साथ सम्पर्क टूट जाता है। इन्द्रियाँ और मन अपना काम बन्द करके छुट्टी मनाते हैं। उस समय हम शून्यता में खो जाते हैं। कई बार हम शून्यता में खो जाने के बदले 'स्वप्न' देखते हैं। स्वप्नावस्था में इन्द्रियाँ बाह्य जगत् का भान नहीं करती, शरीर भी निश्चेष्ट पड़ा रहता है। बाह्य मन भी जगत् से बेखबर रहता है, किन्तु अन्तर्मन गतिशील रहता है। तीसरी अवस्था है—जागृति। जागृत-अवस्था में बाह्य मन और इन्द्रियाँ गतिशील रहकर, बाह्य जगत् के साथ सम्बद्ध होकर उसका ज्ञान कराते हैं, आत्मा का भी बाह्य दृष्टि से ज्ञान करा देते हैं, किन्तु अन्तर्जगत् का—आत्मा का यथार्थ ज्ञान वे नहीं करा सकते। वह ज्ञानभान एवं दृढ़निश्चय होता है—अनुभूति से। इसलिए अनुभूति की अवस्था को 'तुर्या' कहा गया है, जो इन (पूर्वोक्त) तीनों से पृथक् है। उसका अपना महत्त्व एवं स्वतंत्र स्थान है।

गाढ़ निद्रा (सुषुप्ति) में बाह्य जगत् की विस्मृति हो जाती है, उसके साथ जागृति भी चली जाती है, जबकि तुर्या के इस अनुभव के समय

---

१. व्यापारः सर्वशास्त्राणां दिग्प्रदर्शनमेव हि।
पारं तु प्रापयत्येकोऽप्यनुभवोः भववारिधेः॥— ज्ञानसार अनुभवाष्टक श्लोक २

२. श्रुत्वा मत्वा मुहुः स्मृत्वा साक्षादनुभवन्ति ये।
तत्त्व न बन्धधीस्तेषामात्माऽबन्धः प्रकाशते॥
—अध्यात्मसार, आत्मनिश्चयाधिकार श्लोक २

बाह्य जगत् का भान न होने पर भी पूर्ण सावधानी=जागृति होती है; और अपने (आत्मा के) सच्चिदानन्दपूर्ण अस्तित्व का प्रबल अनुभव होता है। एक संत ने इस अवस्था का वर्णन करते हुए कहा है—

"जागृति में हुई गाढ़निद्रा से मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ, अहंकार आदि सब निद्राधीन हो जाते हैं। किन्तु उस (तुर्या के) समय देह में परमात्मा (ईश्वर) जागता है।"

निष्कर्ष यह है कि तुर्यावस्था की अन्तर्जागृति से जो आत्मानुभव होता है, उससे विश्व का यथार्थ मूल्य समझ में आ जाता है; तथा परमात्मा के साथ अपने अभेद सम्बन्ध का भान हो जाता है। अर्थात्—उसे यह विश्वास हो जाता है कि परमात्मा की अक्षय सत्ता, अखण्ड आनन्द एवं अनन्त ज्ञान अपने अन्दर भरा पड़ा है। इसीलिए कविवर बनारसीदास जी ने अनुभव का माहात्म्य बताते हुए कहा है—

अनुभव चिन्तामणि रतन, अनुभव है रसकूप।
अनुभव मारग मोख को, अनुभव मोख-सरूप॥[1]

सचमुच, सर्वविशुद्ध आत्मा की अनुभवदशा ही परमात्मदशा है, यही मोक्ष है।

आत्मानुभूति से परमात्म-पथ की ओर तीव्र गति-प्रगति

जिसे आत्मानुभव हो जाता है, उस व्यक्ति के अन्तर् की गहराई में प्रतिकूल दिखाई देने वाली बाह्य परिस्थितियों में भी प्रसन्नता का एक शान्त प्रवाह बहता रहता है। कदाचित् चेतना के ऊपरी स्तरों में क्षोभ की जरा सी लहरें आ जाती हों, फिर भी उसकी अन्तश्चेतना विपत्ति के क्षणों में भी क्षुब्ध नहीं होती। अमावस्या की घोर अन्धेरी रात में अपरिचित भूमि में शंका-कुशंका से घिरा हुआ यात्री लड़खड़ाता हुआ कदम रख रहा हो, वहाँ अचानक बिजली चमक जाए तो उस यात्री को आगे का मार्ग अपने सामने दिखाई देता है, तब उसे कितना आश्वासन मिलता है? फिर तो उसके डगमगाते हुए वे कदम विश्वास से, कितनी तेजी से आगे बढ़ते हैं? मार्ग तो उतना का उतना ही तय करना होता है, फिर भी यात्री अब निश्चिन्त हो जाता है। इसी प्रकार आध्यात्मिक-पथ का यात्री भी चारों ओर मिथ्यात्व एवं अज्ञान से घिरे जगत् में आत्मानुभूति की बिजली चमक जाने पर निश्चितता और स्वस्थता का अनुभव करता है। और

---

१. समयसार नाटक (कविवर बनारसीदासजी रचित)

आगे का मोक्षपथ या परमात्मप्राप्ति-पथ विश्वासपूर्वक तय कर सकता है। आत्मानुभूति से पूर्व जो उसके मन में घबराहट, भीति, व्याकुलता, आशंका और अनिश्चितता थी, वह आत्मानुभूति के पश्चात् चित्त से विदा हो जाती है।

आत्मनुभवी के अनुभव की एक झलक

जिसे आत्मानुभव हो जाता है, उसकी मनःस्थिति की एक झलक देखिये श्री चिदानन्द जी महाराज के शब्दों में—

आपे आप विचारतां, मन पाये विसराम।
रसास्वाद-सुख ऊपजे, अनुभव ताको नाम॥[1]

जब आत्मानुभव होता है, तब व्यक्ति का चित्त सहसा विचार-तरंगों से रहित एवं शान्त हो जाता है। चित्त को एक प्रकार की विश्रान्ति मिलती है। मन-मस्तिष्क समस्त चिन्ताओं, तनावों और द्वन्द्वों से रहित हो जाते हैं। प्रायः देह का भान नहीं रहता। देहाध्यास से परे हो जाता है, व्यक्ति का अन्तर्। ऐसा अनुभव जब आता है, तो अकस्मात् आता है। जैसे मेघों से आच्छादित अन्धकारपूर्ण रात्रि में बिलकुल अज्ञात स्थान में खड़े यात्री को सहसा चमकती और कड़कती बिजली की चमक से अपने आस-पास का दृश्य स्पष्ट दिखाई देने लगता है, वैसे ही आत्मानुभव प्राप्त होते ही साधक को एक पल में आत्मा के निश्चय-शुद्ध-स्वरूप का साक्षात् हो जाता है। अपने अबद्ध, शुद्ध, शाश्वत और अगम्य स्वरूप का अनुभव हो जाता है, उसकी प्रतीति हो जाती है। श्रुत (शास्त्र) से प्राप्त ज्ञान की जैसे क्रमशः वृद्धि होती है, वैसे अनुभव से प्राप्त ज्ञान की नहीं होती परन्तु क्षण भर में ही पूर्व के अज्ञान या अस्पष्ट व शंकायुक्त आत्मज्ञान का स्थान भ्रान्तिरहित आत्मज्ञान ले लेता है। वर्षों तक मनोयोगपूर्वक आत्मजिज्ञासा मुमुक्षालक्ष्यी शास्त्राध्ययन से जो आत्मज्ञान प्राप्त होता है, उससे भी अधिक स्पष्ट, निश्चित और गहन आत्मज्ञान अल्पक्षणों में ही प्राप्त हो जाता है। यही है—आत्मानुभवयुक्त व्यक्ति की पहचान!

आत्मानुभूति का ज्वलन्त उदाहरण

दक्षिण भारत के विश्वविख्यात संत श्री रमणमहर्षि को अपने

---

१. अध्यात्म बावनी

जीवन में किसी भी प्रयत्न, साधना या शास्त्राध्ययन के बिना अकस्मात् आत्मानुभूति हो गई थी। उस समय वे केवल १७ वर्ष के थे। हाईस्कूल के अन्तिम वर्ष में वे पढ़ते थे। उनका शरीर पूर्ण स्वस्थ था, उस समय किसी भी निमित्त के बिना एक दिन सहसा ऐसी असाधारण आत्मानुभूति हुई। उनकी अनुभूति की संक्षिप्त झाँकी उन्हीं के शब्दों में यहाँ प्रस्तुत है—

"मदुराई से सदा के लिए प्रस्थान करने से छह सप्ताह पहले मेरे जीवन में यह महान् परिवर्तन हुआ। उस समय मैं अपने चाचाजी के मकान की पहली मंजिल पर एक कमरे में अकेला बैठा था। मुझे कभी कोई बीमारी नहीं हुई थी। उस दिन भी मेरा स्वास्थ्य बिलकुल ठीक था। परन्तु सहसा मृत्यु के भय ने मुझे आ घेरा।""मृत्यु की भीति के कारण मैं अन्तर्मुख हुआ। और मेरे अन्तःकरण में अनायास ही ये विचार स्फुटित होने लगे—

"अब मेरी मृत्यु आ पहुँची है। परन्तु मृत्यु का अर्थ क्या? मृत्यु किसकी? आत्मा की या शरीर की? मुझे लगा कि यह शरीर अब नहीं रहेगा। और मैं सहसा मृत्यु का अभिनय करने लगा। मैं अपने अंगोपांगों को स्थिर रखकर भूमि पर लेट गया। मैंने अपने श्वास को रोक लिया। ओठ कसकर बन्द कर लिये। ताकि किसी प्रकार की आवाज न निकले। मैंने अपने शव का अनुसरण किया, जिससे मैं इस शोध के अन्तःस्तल तक पहुँच सकूं। फिर मैंने अपने आपको कहना शुरू किया—"मेरा यह शरीर मुर्दा है। लोग इसे अर्थी पर उठाकर मरघट में ले जाएँगे और फूंक देंगे। तब यह राख हो जाएगा। किन्तु क्या इस शरीर की मृत्यु से मेरी (आत्मा की) मृत्यु हो जाएगी? क्या मैं शरीर हूँ? मेरा शरीर मौन और जड़ होकर पड़ा है, पर मैं अपने व्यक्तित्व का पूर्णरूप से अनुभव कर रहा हूँ और अपने अन्दर उठने वाली 'मैं' की आवाज को भी सुन रहा हूँ। अतः मैं शरीर से पर आत्मा हूँ। मृत्यु शरीर की होती है, परन्तु आत्मा को मृत्यु स्पर्श भी नहीं कर सकती। अर्थात्—"मैं अमर आत्मा हूँ।" यह कोई शुष्क (दार्शनिकों की) विचारधारा नहीं थी। जीते-जागते सत्य की तरह ये विचार विद्युतवत् अत्यन्त स्पष्टतापूर्वक मेरे चित्त में कौंध गए। किसी विचार के बिना मुझे सत्य का प्रत्यक्ष दर्शन हो गया। वास्तव में अहं की ही सत्ता थी। शरीर से सम्बद्ध सारी हलचल इस 'अहं' पर ही केन्द्रित थी। मृत्यु का भय सदा के लिए समाप्त हो चुका था। इसके पश्चात् आत्मकेन्द्रित ध्यान अविच्छिन्न रूप से चालू रहा।"

"...इस नई चेतना का परिणाम भी मेरे जीवन में प्रत्यक्ष दिखाई देने लगा।....लोगों के साथ व्यवहार करने में मैं अत्यन्त विनम्र और शांत बन गया था।... अब मेरे में बहुत परिवर्तन हो गया था। मुझे जो कुछ भी काम सौंपा जाता, मैं उसे खुशी से करता था। मुझे चाहे जितना सताया जाता, मैं उसे शान्ति से सहन कर लेता। विक्षोभ और बदला लेने की वृत्ति वाला मेरा 'अहं' लुप्त हो चुका था। मित्रों के साथ बाहर खेलने जाना मैंने बन्द कर दिया और एकान्त पसन्द करने लगा। प्रायः मैं अकेला ध्यानावस्था में बैठ जाता और आत्मा में लीन हो जाता।.....भोजन के विषय में मेरी कोई रुचि-अरुचि न रही। मेरी थाली में स्वादिष्ट-अस्वादिष्ट या अच्छा-बुरा जो कुछ भी परोसा जाता, मैं उसे उदासीन भाव से से निगल जाता।"

"मुझे यह आत्मानुभव हुआ, उससे पहले भवभ्रमण से मुक्त होने की या मोक्ष-प्राप्ति करने की या वासनाशून्य होने की कोई तमन्ना मेरे मन में नहीं उठी थी।....ब्रह्म, संसार या ऐसे किसी (आध्यात्मिक) तत्व के विषय में मैंने कभी कुछ सुना न था।....बाद में मैंने 'रीमुगीता' और अन्यान्य धार्मिक ग्रन्थ पढ़े। तब मुझे पता लगा कि धार्मिक ग्रन्थों में जिस अवस्था का विश्लेषण और नामोल्लेख है, उसे मैं बिना किसी विशेषण या नामोल्लेख के मेरे में स्फुरणारूप से अनुभव कर रहा था।"[1]

रमणमहर्षि के इस आत्मानुभव की एक विशेषता यह थी कि उनका अनुभव क्षणिक नहीं था। सामान्यतया ऐसी अनुभूति जब प्राप्त होती है, तब साधक परमानन्द महसूस करता है। परन्तु वह आनन्द उन क्षणों तक ही सीमित होता है। उन क्षणों के पश्चात् वह पुनः सामान्य मानव के समान संसार के द्वन्द्वों में फँस जाता है। परन्तु रमणमहर्षि को तो इस अनुभव के पश्चात् आत्मा के साथ सतत् अनुसन्धान रहने लगा था।

अनुभव की अभिव्यक्ति

यह भी ध्यान देने योग्य है कि ऐसा अनुभव अत्यन्त सुखद होता है। उस समय वचनातीत शान्ति प्राप्त होती है। परन्तु अकेले शान्ति और आनन्द के अनुभव को स्वानुभूति का लक्षण नहीं कहा जा सकता। चित्त कुछ

---

१ Raman Maharshi and the path of self knowledge by Arthur Osborne, pp. 18-24 (Rider and Co. London)

स्थिर और एकाग्र होता है, तब भी शान्ति और आनन्द की अनुभूति हो सकती है। परन्तु इस स्वानुभूति में ध्याता और ध्येय एकाकार हो जाते हैं, ज्ञाता और ज्ञेय दोनों में भेद नहीं रहता। फलतः परमात्मतत्व के साथ ऐक्य = तादाम्य का अनुभव होता है। अनुभव का आनन्द वचनातीत होता है।

डॉ० सर्वपल्ली राधाकृष्णन् के शब्दों में आत्मानुभूति की झांकी देखिये—

"इस दर्शन—साक्षात्कार के साथ निरवधि आनन्द आता है। जहाँ बुद्धि पहुँच नहीं सकती, ऐसा (आत्म-) ज्ञान प्राप्त होता है। स्व-जीवन की अपेक्षा भी तीव्रतर संवेदन तथा अपार शान्ति और संवाद का अनुभव होता है।....इस शाश्वत तेज की स्मृति का स्थायी प्रभाव रह जाता है और व्यक्ति का मन ऐसे अनुभव को पुनः प्राप्त करने के लिए उत्कण्ठित होता है।"[1]

शब्दों (शास्त्रों या ग्रन्थों) के द्वारा जिस अनुभव के विषय में हम जान सकते हैं, वह तो हमारे मन द्वारा खींचा हुआ चित्र है। यथार्थ आत्मानुभव के समय तो ज्ञाता और ज्ञेय का भेद करने वाला मन सो जाता है और आत्मा ही ज्ञेय के साथ तदाकार हो जाता है। बाद में जब मन जागृत होता है, तब अनुभव में जो कुछ बना, उसका उल्लेख करने के प्रयास में शायद ही सफल होता है।

वस्तुतः जिन-जिन लोगों ने इस दशा का अनुभव किया है, वे कहते हैं कि हमने जो अनुभव किया है, उसे हूबहू वाणी द्वारा अभिव्यक्त करने में हम असमर्थ हैं। अनुभव की अवस्था को बताने का प्रयास करने में अनुभवियों के सामने यही समस्या है। जन्मान्ध को वाणी द्वारा रंगों का भेद कैसे समझाया जा सकता है? या जिसने कभी घी या मक्खन को चखा ही नहीं, उसे घी या मक्खन का स्वाद बताने के लिए क्या कहा जाए? इसी प्रकार जो स्थिति वाणी से परे है, वह वाणी द्वारा कैसे व्यक्त की जा सकती है? इस दृष्टि से इस अपरोक्ष-अनुभव को पूर्णतया समझने के लिए उसका स्वयं अनुभव ही प्राप्त करना चाहिए। शब्द तो केवल उसका संकेत ही कर सकते हैं, अथवा साधारण रेखाचित्र ही अंकित कर सकते हैं। जिस प्रकार द्वितीया के चन्द्रमा को वृक्ष की शाखा की ओट में अँगुलि से बताया जाता है, इसी प्रकार शब्दों द्वारा इशारा करके आत्मानुभूति का महत्व बताया जाता है, वह श्रोताओं की दृष्टि को आत्मानुभूति की

---

१ धर्मोनुं मिलन—डा. सर्वपल्ली राधाकृष्णन् पृ. २६७

ओर ले जाने का स्थूल प्रयास है। फिर भी आत्मानुभवी व्यक्ति, संगीत या लेख द्वारा अपने अनुभव के कुछ संकेत करते हैं।

आत्मानुभूति में तारतम्य

आत्मानुभवों में भी गहराई और स्थायित्व का तारतम्य देखा जाता है। किसी का अनुभव गहरा और अधिक टिकाऊ होता है, तो किसी का क्षणजीवी होता है। किसी को प्रारम्भिक अनुभव थोड़े पलों का होता है। बिजली की चमक की तरह एक क्षण में शुद्ध-आत्मा=परमात्मा के दर्शन हो जाते हैं। किन्तु ये थोड़े-से क्षण भी व्यक्ति के जीवन में—मानसिक चिन्तन में, जबर्दस्त क्रान्ति ला देते हैं। किसी व्यक्ति के बाह्य जीवन में आत्मानुभव प्राप्त होने के बाद जबर्दस्त परिवर्तन आता है, जबकि किसी के बाह्य जीवन में थोड़ा-सा परिवर्तन होता है। आत्मानुभव के पश्चात् व्यक्ति के बाह्य जीवन में कदाचित् परिवर्तन न हो, परन्तु उसका आन्तरिक जीवन, मानसिक रुख, रुचि और दृष्टि तो अवश्य बदल जाती है। जीवन और जगत् के प्रति उसका दृष्टिकोण समूल बदल जाता है। इतना ही नहीं, क्षणिक अनुभव भी व्यक्ति के मानस पर अपनी अचूक छाप छोड़ जाता है।

ऐसा आत्मानुभव ध्यान के दौरान ही हो, ऐसा एकान्त नहीं है। किसी को किसी भव्य दृश्य, हृदयस्पर्शी कविता, उच्चभावों से परिपूर्ण संगीत, अनुभवी महान् आत्माओं के प्रवचन, ग्रन्थ या लेख, ज्ञानी पुरुष के किसी वाक्य को पढ़ते-पढ़ते, उस पर मनन-चिन्तन एवं ऊहापोह करते-करते सहसा देह का भान चला जाता है और आत्मा के उज्ज्वल प्रकाश का अनुभव होता है। ऐसा भी सम्भव है कि कोई व्यक्ति किसी संकट, आफत या मुसीबत में फँस गया हो, उस समय निराशा, उदासीनता, विषाद और चिन्ता ने उसे घेर लिया हो, उसी बीच सहसा ऐसी अनुभव की ज्योति उसके अन्तर् में जगमगा उठे तथा निराशा, उदासीनता, विषाद और चिन्ता आदि सब मिट जाएँ और वह अपनी परिस्थिति का निर्लेप साक्षी या ज्ञाता-द्रष्टा बनकर रहे। किसी को जन्मान्तर के संस्कार जागृत होने से वर्तमान जीवन में किसी भी प्रयत्न, बाह्यनिमित्त या पूर्व तैयारी के बिना अनायास ही आत्मतत्व के दर्शन हो जाते हैं। कभी-कभी तो ऐसे व्यक्ति को भी अकस्मात् आत्मानुभव प्राप्त हो जाता है, जिसका बाह्य-जीवन पाप और अनाचार के मार्ग पर चढ़ा हुआ था। उसके जीवन की

दिशा बिलकुल नया मोड़ ले लेती है। अपराधी और पापात्मा मानव महात्मा बन जाता है। चिलातीपुत्र चोर, हत्यारा अर्जुनमाली, दृढ़प्रहारी, आदि इस तथ्य के ज्वलन्त प्रमाण हैं।[1]

चाहे जिस प्रकार से आत्मानुभव प्राप्त हुआ हो, पूर्णता के शिखर पर, अर्थात् परमात्म-तत्व के निकट पहुँचने में सबका एक मत हो जाता है। जिन्हें-जिन्हें आत्मतत्व की अपरोक्ष अनुभूति होती है, उनमें एक मूलभूत साधर्म्य आ जाता है। पन्द्रह[2] में से किसी प्रकार से सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हुए परमात्मा को जैनदर्शन परमात्मा मानता है और उन सबको एक ही कोटि के, समानधर्मा मानकर पंच परमेष्ठी में उनकी गणना करके 'नमो सिद्धाणं' पद से उन्हें वन्दन-नमन करता है। देखिये कलिकालसर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्र के शब्दों में—

यत्र यत्र समये, योऽसि सोऽस्यभिधया यया
तया वीतदोषकलुषः स चेद् एक एव भगवन्नमोऽस्तु ते।

निष्कर्ष यह है कि किसी भी माध्यम से किसी भी जाति, लिंग, वर्ण, देश, वेश, धर्म-सम्प्रदाय, भाषा, प्रान्त आदि के व्यक्ति को आत्मानुभव किसी भी रूप में हुआ हो। सभी आत्मानुभवियों के अन्तर् में एक बात उत्कीर्ण-सी हो जाती है कि अपनी (आत्मा की) तात्त्विक सत्ता शरीर और जगत् से पर है, भिन्न है और उसमें = निज आत्म-स्वभाव में स्थिर होना ही परमात्मपद को प्राप्त करना है, मुक्त होना है। फलतः परिभाषाभेद की दीवार को लांघकर वे एक दूसरे के मन्तव्यों में निहित साम्य और साधर्म्य को परख सकते हैं।

अपनी स्वायत्त सत्ता का अनुभव प्राप्त होने के परिणामस्वरूप इन सबको एक नई जीवनदृष्टि प्राप्त होती है, जिसका प्रभाव इनके समग्र जीवन-व्यवहार पर पड़ता है। दृष्टि की विशालता और आशावादी जीवन-दृष्टि आत्मानुभवी व्यक्ति के असाधारण लक्षण बन जाते हैं। परम आदर्श

---

१ देखिये ज्ञाताधर्मकथा सूत्र, अन्तकृद्दशा सूत्र आदि में इनकी जीवन गाथा।

२ समवायांगसूत्र समवाय १५ में तीर्थसिद्धा, अतीर्थसिद्धा, तीर्थंकरसिद्धा, अतीर्थंकरसिद्धा, स्वयंबुद्धसिद्धा, प्रत्येकबुद्धसिद्धा, बुद्धबोधितसिद्धा, स्त्रीलिंगसिद्धा, पुरुषलिंगसिद्धा, नपुंसकलिंगसिद्धा, स्वलिंगसिद्धा, अन्यलिंगसिद्धा, गृहस्थलिंगसिद्धा, एकसिद्धा, अनेकसिद्धा, ये मुक्तपरमात्मा होने के १५ प्रकार हैं।

आत्मा से परमात्मा का अन्तिम लक्ष्य इनके अन्तर् में स्पष्ट रूप से अंकित हो जाता है। उनकी दृष्टि पल्लवग्राही प्रवाहपाती या आपातरमणीय न बन कर दृढ़ आत्मतत्त्वग्राही बन जाती है। वह बाह्य आडम्बरों, प्रदर्शनों और धुंआधार प्रचारों या लच्छेदार भाषणों से बहक नहीं जाती, न ही वह लकीर की फकीर बन कर भेड़ियाधसान बनती है। वह धर्म, नीति, राष्ट्रभक्ति, जीवन स्तर, संस्कृति, सभ्यता आदि किसी भी जीवन-क्षेत्र की प्रचलित मान्यताओं और प्रवाहों को अपनी विवेक बुद्धि, स्वतंत्र आत्महित एवं आत्मसाधकदृष्टि की कसौटी पर कसता है। शास्त्र वचनों का हार्द भी वह शीघ्र ही ग्रहण कर सकता है। व्यर्थ के वाद-विवाद में वह नहीं पड़ता। आत्मानुभवहीन व्यक्ति जहाँ साम्प्रदायिक एवं अन्धविश्वास के पुट से युक्त दृष्टि से वस्तु तत्त्व को मानकर उग्र चर्चाओं में ग्रस्त एवं व्यस्त हो जाते हैं, वहाँ अनुभवी आत्मा शान्त एवं सच्चिदानन्द स्वभाव में मस्त रहते हैं।

अनुभव से पूर्व और पश्चात् की स्थिति और दृष्टि

एक बात निश्चित है कि जिसे आत्मानुभव प्राप्त हो जाता है, उसकी अनुभव से पूर्व की और पीछे की मानसिक स्थिति में अन्तर पड़ जाता है। जिस प्रकार निद्रा से जाग जाने वाले व्यक्ति को यह ज्ञान-भान हो जाता है, कि स्वप्न की सारी सृष्टि सिर्फ मानसिक कल्पना—भ्रमणा थी। यह स्पष्ट भान होते ही स्वप्न की घटना का इसके समक्ष कोई महत्त्व नहीं रहता, उसी प्रकार आत्मा के ज्ञानानन्दमय शाश्वतस्वरूप की स्वानुभव सिद्ध प्रतीति होते ही भव-भ्रमणा मिट जाती है और बाह्य जगत् सपनों का खेल सा निःसार मालूम होने लगता है। कारण यह है कि अनुभव-प्राप्ति से पूर्व की दृष्टि और बाद की दृष्टि में रात-दिन का अन्तर पड़ जाता है। इस अपेक्षा से पहले की दृष्टि अनुभव की भूमिका से मिथ्या प्रतीत होती है। अनुभव प्राप्त होते ही आत्मा के शाश्वत अस्तित्व की तथा ज्ञानानन्दमय स्वरूप की ऐसी दृढ़ प्रतीति हो जाती है कि मृत्यु का भय उस व्यक्ति को जरा भी स्पर्श नहीं कर पाता। अनुभव के पश्चात् उसे यह दृढ़ विश्वास हो जाता है कि वह स्वयं सुरक्षित है, अविनाशी है।

"देह विनाशी मैं अविनाशी अजर-अमर पद मेरा"

यह सिद्धान्त उसके रोम-रोम में रम जाता है। पुद्गलकृत (जड़ पदार्थों द्वारा जनित) अवस्थाओं, कर्मकृत-बाह्य परिस्थितियों और संयोगों

में होने वाले अनिवार्य परिवर्तन से आत्म-अनुभवी व्यक्ति अधिक चिन्तित व्यथित नहीं होता; तथा बाह्य न्यूनताओं (कमियों या खामियों) से वह दीनता-हीनता का अनुभव भी नहीं करता; क्योंकि उसे 'पर' से निरपेक्ष अपने आन्तरिक आत्मिक वैभव की अनन्तज्ञानादि-चतुष्टयनिधि की प्रतीति होती है। देह और व्यक्तित्व की पर्त्त की ओट में रहे हुए अपने अविनाशी, अलौकिक ज्ञानमय आनन्दस्वरूप की प्रत्यक्ष अनुभूति के फल-स्वरूप उसका जीवन स्वस्थता, शान्ति, प्रसन्नता और निश्चितता से परिपूर्ण बना रहता है। आत्म के निरतिशय, निरुपाधिक स्वाधीन आनन्द का प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त होने से विषयों में तथा देह, गेह, परिवार धनादि में सुख की भ्रान्ति मिट जाती है। स्वरूप में स्थिर होने का अदम्य आकर्षण जाग्रत हो जाता है। उसकी प्रज्ञा आत्मा में, आत्म-भावों में स्थिर होती है। आत्मानुभव के रस में मस्त होने से आत्मानुभवी के मन-मस्तिष्क में रोग, शोक, चिन्ता, उपाधि, लोकापवाद आदि सब स्वतः ही नहीं रहते। योगीश्वर आनन्दघनजी आत्मानुभव की मस्ती में कहते हैं—

"अवधू अनुभव-कलिका जागी।
मति मेरी आतम समरन लागी॥

अनुभव-रस में रोग न शोका, लोकापवाद सब मेटा।
केवल अचल अनादि शिवशंकर भेटा॥ अवधू० ॥१॥
वर्षाबूंद समुद्रे समानी, खबर न पावे कोई।
'आनन्दघन' कहे ज्योति समावे, अलख कहावे सोई॥ अवधू० ॥२॥

सम्यग्दर्शन का मूलाधार : आत्मानुभव

सम्यग्दर्शन का मूलाधार देह और आत्मा की पृथक्ता की प्रतीति कराने वाला आत्मानुभव है। इसे स्पष्ट शब्दों में कहें तो सम्यग्दर्शन का 'समग्र सृष्टि—आत्मा है' सिर्फ ऐसी श्रद्धा पर अथवा देह और कर्म आदि से भिन्न एक स्वतन्त्र आत्मद्रव्य का अस्तित्व है, ऐसी केवल बौद्धिक समझ पर आधारित नहीं है, अपितु दोनों की भिन्नता की स्वानुभूतिजन्य प्रतीति पर आधारित है।

वस्तुतः कोरी श्रद्धा और बौद्धिक प्रतीति — ये दोनों सम्यग्दर्शन के लिए पर्याप्त नहीं हैं। इन दोनों के पश्चात् आत्मानुभूति होनी चाहिए। शरीर और आत्मा की भिन्नता की अनुभूति होने पर ही सच्चे अर्थ में

सम्यग्दर्शन प्राप्त हुआ समझना चाहिए। इसलिए सम्यग्दर्शन का मूल आधार आत्मानुभूति है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि काया से 'मैं' (आत्मा) को पृथक् अनुभव करने वाली दृष्टि ही सम्यग्दृष्टि है। अर्थात्—स्व-आत्मा और पर—शरीर के भेद का साक्षात्कार करने वाली दृष्टि। आप्तवचन (आगम) पर विश्वास से और तर्क द्वारा प्राप्त स्व (आत्मा) और 'पर' के भेद का ज्ञान चाहे जितना गहरा हो, तो भी वह बौद्धिक स्तर का होने से इन दोनों के भेद की दृढ़ प्रतीति उत्पन्न नहीं कर सकता, जिससे कि निबिड़ राग-द्वेष की ग्रन्थिभेद हो जाए। इसलिए स्व और पर की भिन्नता=पृथक्ता का साक्षात्कार कराने वाले अनुभव को ही सम्यग्दर्शन में प्रथम स्थान दिया गया है।

अनुभवहीन और अनुभवयुक्त दृष्टि में अन्तर

आत्मानुभवहीन व्यक्ति सदैव शरीर और अपने कर्मकृत व्यक्तित्व के साथ अपना तादात्म्य=ऐक्य समझते हैं, जबकि स्वानुभूति के पश्चात् भेदविज्ञान जागृत रहता है, उस व्यक्ति को यह प्रतीति रहा करती है कि मैं शरीर और शरीर से सम्बन्धित वस्तु नहीं हूँ। खाते-पीते, चलते-फिरते यानी प्रत्येक क्रिया करते समय आत्मानुभवी सम्यग्दृष्टि आत्मा की वृत्ति स्व-स्वरूप की ओर बहती रहती है। अनेक व्यस्तताओं और प्रवृत्तियों के कोलाहलों के बीच भी शाश्वत आत्मा के साथ तादात्म्य की स्मृति उसके मानस पर झलका करती है। क्षायिक सम्यग्दृष्टि को तो यह भान सतत एक सरीखा रहता है।

स्वानुभूति की प्रतीति की पहचान

सम्यग्दृष्टि स्वानुभूति-सम्पन्न आत्मा समग्र भवचेष्टा को नाटक के खेल की तरह अलिप्त भाव से देखता है, क्योंकि उसे स्व-रूप की स्वानुभूति-जन्य यथार्थ प्रतीति हो जाती है। वह समझता है मेरा वर्तमान व्यक्तित्व तो संसाररूपी नाटक के स्टेज (रंगमंच) पर मेरा कर्मोपाधिजन्य अभिनय मात्र है। स्टेज पर मैं अनेक पर शासनकर्ता राजा होऊँ या दीनतापूर्वक भीख माँगने वाला भिखारी होऊँ, मालिक होऊँ या नौकर, तत्त्ववेत्ता होऊँ या मन्दमति मूर्ख, यह सब क्षण-भर का प्रदर्शन है। नाटक में काम करने वाला नट जिस प्रकार मार्गदर्शक की सूचनानुसार विविध पार्ट अदा करता है, उसी प्रकार मुझे भी इस संसारनाटक में कर्मपरवश होकर कर्म द्वारा

दिया हुआ पार्ट अदा करना पड़ता है। इस प्रकार के भानपूर्वक वह अपने कर्मकृत व्यक्तित्व को जानता-देखता रहता है। ऐसा स्वानुभूति-सम्पन्न व्यक्ति दुनिया की दृष्टि में चाहे जितने गौरवशाली पद या स्थान पर हो, फिर भी कर्म के परवश वह अपनी वर्तमान गुलाम अवस्था मानता है। इसलिए उसके अन्तर् में तो खटक होती रहती है। देह और मन की बाह्य सर्वपर्यायों को वह कर्मजनित मानकर अपने (आत्मा) से पृथक् वस्तु के रूप में देखता है, इसलिए उनके प्रति राग, मोह, ममत्व या द्वेष, घृणा, रोष आदि अत्यन्त मन्द होते हैं। चारित्रमोहनीयकर्म के उदयवश वह बाह्य विषयोपभोग आदि में प्रवृत्त दिखाई देता है, किन्तु उसके अन्तर् की गहराई में तो विषयोपभोग आदि के प्रति आनन्द के बदले विरक्ति, उदासीनता या अनासक्ति होती है। देहादि सब कर्मजनित हैं, मेरे से पृथक् हैं, परभाव हैं, एक ओर इस प्रकार की प्रतीति उसे व्यक्त या अव्यक्तरूप से रहती है, दूसरी ओर उसे यह भान भी रहता है कि मैं परभाव में घिसटता जा रहा हूँ। इस कारण उसका मन विषयोपभोगों में या अन्य राग-मोहवर्द्धक प्रवृत्तियों में तीव्ररसपूर्वक नहीं जुड़ता। ऐसी प्रवृत्तियों में उसकी प्रायः गाढ़ कर्तृत्व-भोक्तृत्वबुद्धि नहीं रहती।

परमात्म-पद तक की उड़ान के लिए आत्मानुभूति की ठोस भूमिका

जिस प्रकार पक्षी को अनन्त आकाश में उड़ने के लिए नीचे ठोस भूमि की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार आध्यात्मिक गगन में उड़कर परमात्म-पद तक पहुँचने के लिए उड़ान भरने से पूर्व साधक को आत्मानुभूति की ठोस भूमिका की आवश्यकता होती है।

आत्मानुभवी के आत्मतृप्त जीवन का चमत्कार

सामान्य व्यक्ति प्रायः परिवार, सम्पत्ति, पद, प्रतिष्ठा, सामाजिक अग्रगण्यता, बौद्धिक चातुरी, व्यवसायकौशल और शारीरिक स्वास्थ्य आदि को ही जीवन के आधार मानकर जीता है। परन्तु आत्मानुभवी को ये सब विनाशशील, क्षणभंगुर, आपातरमणीय, संसार का मोह-ममता में फंसाने वाले एवं जन्म-मरणरूप संसारचक्र में भ्रमण कराने वाले प्रतीत होते हैं। वह सोचता है, किस क्षण ये सब धराशायी हो जायेंगे, यह निश्चित नहीं है।

हम देखते हैं कि जिसका जीवन आज सही-सलामत और स्थिर

बुनियाद पर प्रतिष्ठित प्रतिभासित हो रहा है, वह रातोरात असह्य अभाव की परिस्थिति में पड़ जाता है। राष्ट्रपति देशद्रोही समझकर कैद कर लिया जाता है, करोड़पति रोडपति हो जाता है, निर्धनदशा में जेल के सींखचों के पीछे धकेल दिया जाता है। सरकारी व्यवस्था तन्त्र में रद्दोबदल हो जाए या अर्थतन्त्र में अकल्पित उथल-पुथल हो जाए अथवा राज्य के कानून कायदों में सहसा परिवर्तन हो जाए तो व्यवसाय की सारी परिस्थिति में जबर्दस्त परिवर्तन आ जाता है। अथवा किसी नगण्य निमित्त को लेकर परिवार में खींचातानी या मन-मुटाव हो जाए तो स्नेही परिवार के अन्य सभी सदस्य उसके विरोधी बनकर खड़े हो जाते हैं। अथवा अकस्मात् कोई जानलेवा व्याधि शरीर में पैदा हो जाती है, तो वह व्यक्ति को पराधीन बना देती है। इस प्रकार जीवन में नाना विपत्तियाँ, विघ्न-बाधाएँ, अड़चनें और दुःखदायी परिस्थितियाँ पूर्वबद्ध कर्मों के फलस्वरूप आती हैं, उस समय सामान्य मानव जहाँ आर्त्तध्यान करके हाय-तोबा मचाने लगता है, वहाँ जिसे अपने अविकारी शुद्ध स्वरूप की प्रतीति हो गई है, वह आत्मानुभवी ऐसी विकट परिस्थितियों में से उत्पन्न होने वाली असुरक्षितता की भीति, चित्तक्षोभ, दीन-हीनताभाव और आर्त्तध्यान से स्वयं को दूर रख पाता है। उसकी अन्तरात्मा में ऐसा दृढ़ निश्चय हो जाता है कि ये सब पदार्थ या परिस्थितियां क्षणिक हैं; ये सब संयोग या परिस्थितियाँ पुद्गलकृत या कर्मकृत हैं, औदयिकभावजन्य हैं। ये मुझे बेचैन नहीं बना सकते, क्योंकि मेरी आत्मा परमानन्दमय है, ज्ञानदर्शन-स्वरूप है। अपनी (आत्मिक) सुख-सम्पत्ति, सुरक्षा एवं सत्ता (अस्तित्व) बाह्य वस्तु, व्यक्ति या परिस्थिति से निरपेक्ष है। इस प्रकार की समझ और श्रद्धा-विश्वास उसके अवचेतन मन के स्तर पर स्थिर हो चुकते हैं कि बाह्य जगत् में होने वाली चाहे जैसी उथल-पुथल से या अनचाही प्रतिकूल मोड़ लेने वाली परिस्थितियों से वह क्षुब्ध, व्यग्र या व्याकुल नहीं होता। समस्त सांसारिक विडम्बनाओं, अनिष्ट स्थितियों, संकटों और विपदाओं के बीच आत्मानुभवी समभाव में या ज्ञाता-द्रष्टा-भाव में स्थिर रह सकता है; क्योंकि उसका जीवन-दर्शन ही बदल जाता है। यह बात उसकी अन्तरात्मा में उत्कीर्ण हो जाती है कि अपनी सुख-सम्पदा, सुरक्षा और शान्ति, तथा अपना अस्तित्व 'पर' पर निर्भर नहीं है। इस प्रकार आत्मलक्ष्यी अनुभव के कारण वह बाह्य उथल-पुथल से व्यग्रता एवं खिन्नता का अनुभव नहीं करता। यद्यपि पूर्वकृत (प्रारब्ध) कर्मानुसार उसके बाह्य जीवन में सुख-दुःख, मान-अपमान, लाभ-अलाभ, सम्पत्ति-विपत्ति, अभाव

पर्याप्तिभाव के प्रसंग आते हैं, पर उसे यह स्पष्ट बोध—स्पष्ट अनुभव होता है कि इन सबसे मैं अस्पृष्ट हूँ, पृथक् हूँ। इस कारण समस्त बाह्य घटनाओं और परिवर्तनों में वह साक्षीभाव से विचरण करना पसन्द करता है।

भौतिक जीवन के उतार-चढ़ाव में आत्मानुभवी बहुधा स्थितप्रज्ञ रहकर पार हो जाता है। उसमें उसे कुछ खोने की भीति या पाने की अपेक्षा नहीं होती। उसकी एकमात्र इच्छा 'स्व' में स्थिर होने की होती है। चारित्रमोहनीयकर्मवश चित्त में उठती वृत्तियों के आवेगों को उपशांत करके वह स्वभाव में अधिकाधिक स्थिर रहने का प्रयत्न करता है। इस प्रकार आत्मानुभवी का समग्र जीवन समतायोगमय ज्ञाताद्रष्टारूप हो जाता है।

आत्मानुभूति : परमात्मप्राप्ति के द्वार तक पहुँचाने वाली

निष्कर्ष यह है कि आत्मानुभूति की दृढ़ नींव पर जिसके जीवन का निर्माण हो, वह आत्मतृप्त व्यक्ति अविनाशी परमात्मा का शान्त सान्निध्य सतत अनुभव करता है, क्योंकि उसे अपनी अखण्ड सत्ता, सुरक्षा तथा ज्ञानानन्दमयी स्थिति का सतत अनुभव रहता है। वह हर्ष, शोक, राग-द्वेष, द्रोह-मोह, यश-अपयश के द्वन्द्वों से परे निर्भय, निरीह, निराकुल एवं निःस्पृह रहता है। अभ्यासवश उसे ध्याता-ध्येय की एकता या आत्मारामतारूप अनुभवप्राप्ति इसी जन्म में सम्भव हो जाती है। ऐसी अनुभूति ही उसे परमात्मा के द्वार तक पहुँचा देती है।

●

७

परमात्मा बनने का दायित्व : आत्मा पर

आत्मा और परमात्मा में मूलभूत कोई अन्तर नहीं

जैनदर्शन का यह मूलभूत सिद्धान्त है—'अप्पा सो परमप्पा'—जो आत्मा है, वही परमात्मा है। दोनों का स्वभाव एक-सा है, दोनों के गुणधर्म एक समान हैं। दोनों की जाति भी समान है। आत्मा और परमात्मा में मूलभूत कोई अन्तर नहीं है। ये दोनों एक ही चैतन्य के दो रूप हैं। एक ही स्वभाव के दो संघट हैं।

आत्मा पर ही सारा दायित्व

भगवान् महावीर के चिन्तन का सारा आधार आत्मा था। प्रत्येक प्राणी का आत्मा ही सर्वस्व है। वह उसे अच्छा बनाये या बुरा बनाये, सारा दारोमदार उसी पर है।

अपनी आत्मा के अतिरिक्त जितने भी जीव हैं, या जितने भी इष्ट या अनिष्ट पदार्थ हैं, उनका कोई मूल्य नहीं है। वे अपनी आत्मा का अच्छा या बुरा कुछ भी नहीं कर सकते। यहां तक कि परमात्मा भी या कोई देवी-देव या शक्ति भी अपनी आत्मा का कुछ बिगाड़ या सुधार नहीं कर सकती। अपना हित, अपना मंगल, अपना

कल्याण या अपना स्वार्थ-प्रयोजन अपनी आत्मा के हाथ में है। दूसरा कोई भी, यहां तक कि परमात्मा भी अपना हित, कल्याण या मंगल नहीं कर सकते।

स्वयं अनाथ, दूसरों का नाथ नहीं बन सकता

जो व्यक्ति स्वयं सुखी नहीं है, वह दूसरों को कैसे सुखी कर सकता है? जो स्वयं संसार के जन्म, जरा, मृत्यु, व्याधि या कर्मजन्य दुःखों से ग्रस्त है, वह दूसरों को सुख या आनन्द दे सके, यह बात अनुभव के विपरीत है। जो स्वयं अपना नाथ नहीं है, वह दूसरों का नाथ कैसे बन सकता है? उत्तराध्ययन सूत्र में मगधसम्राट् श्रेणिक और अनाथीमुनि का संवाद इस सम्बन्ध में बहुत ही प्रेरक है। अनाथीमुनि को अकिंचन और सुख-सुविधाओं से रहित देखकर श्रेणिक राजा ने उनके समक्ष प्रस्ताव रखा कि आप इतने तेजस्वी और यौवनवयस्क प्रतीत होते हैं, फिर आप इस सम्पन्नता की अवस्था में सब कुछ त्यागकर मुनि क्यों बने?" मुनि का संक्षिप्त उत्तर था—"मैं अनाथ था।"[1] लोक व्यवहार में 'अनाथ' का अर्थ होता है—"जिसके माता-पिता, भाई-बन्धु आदि कोई न हो, जो असहाय और अभावपीड़ित हो।" इसी अर्थ में श्रेणिक राजा ने मुनि को अनाथ एवं अभावग्रस्त समझकर उनसे कहा—"लो मैं आपका नाथ बनता हूँ। आपको समस्त परिवार से युक्त बना देता हूँ। आप नाथ बनकर मनचाहे भोगों का उपभोग करें। आपको मैं जरा से अभाव से भी पीड़ित नहीं रहने दूंगा। चलिये मेरे यहां।"

इसके उत्तर में मुनि ने जो वाक्य कहा था, वह भगवान् महावीर की आत्म-परक दृष्टि से ओतप्रोत था—

"अप्पणाऽवि अणाहोऽसि, सेणिया मगहाहिवा।
अप्पणा अणाहो संतो, कहं नाहो भविस्ससि॥"[2]

हे मगधाधिप श्रेणिक! तू स्वयं भी तो अनाथ है। जो स्वयं अनाथ है, वह दूसरों का नाथ कैसे बन सकता है?

---

१ 'अणाहोमि महाराय! नाहो मज्झं न विज्जइ।'
—उत्तराध्ययन सूत्र अ. २०, गा. ९

२ उत्तराध्ययन अ० २० गा० १२।

इसका तात्पर्य यह है कि दूसरे का नाथ बनना अथवा दूसरे को सुख-दुःख देना किसी के वश की बात नहीं है।

'करना' और 'होना' में अन्तर

प्रश्न होता है कि तीर्थंकरों के लिए जो यह कहा जाता है कि 'लोगनाहाणं'[1]—आप लोक के नाथ हैं, इसका क्या रहस्य है? जब कोई किसी का नाथ बन नहीं सकता, तब तीर्थंकर कैसे दूसरों के नाथ बन सकते हैं?

इसका समाधान यही है—'करना' और 'होना' ये दोनों अलग-अलग बातें हैं। तीर्थंकर जैसे महान् व्यक्ति तीर्थंकर अवस्था में दूसरों का कुछ करते नहीं। वे यह नहीं सोचते कि **मैं** किसी का नाथ बनूं, किसी को सुखी करूं। वे करने की भाषा ही नहीं बोलते, न ही सोचते हैं। वे स्वयं अपनी आत्मा के नाथ बनने की साधना करते हैं, या कर चुके हैं। उनसे कोई प्रेरणा लेकर स्वयं का नाथ बनने की साधना करता है, तो करे। वे मन से भी यह नहीं सोचते कि मुझे दूसरे लोगों को नाथ बनाना है, अथवा मुझे अमुक लोगों का नाथ बनना है। वे दूसरों को नाथ बनाते नहीं, न ही दूसरों के नाथ बनते हैं। उनसे प्रेरणा लेकर दूसरे नाथ हो जाते हैं। होते हैं, करते नहीं। दूसरे का 'होना' स्वयं का कृत्य नहीं है। यही तीर्थंकरों की भावदशा है। दूसरे लोग जब स्वयं अपने नाथ बनते हैं, तब महावीर जैसे तीर्थंकरों को श्रेय देते हैं कि आप जगत् के जीवों के नाथ हैं। जबकि तीर्थंकर किसी के नाथ बनने की या किसी को नाथ बनाने की चेष्टा स्वयं नहीं करते। वे स्वयं हिसाब लगाने नहीं बैठते कि मुझे इतने लोगों का नाथ बनना है, या इतने अनाथ व्यक्तियों को नाथ बनाना है।

सूर्य प्रातःकाल उदित होने से पहले रात को कोई हिसाब लगाने नहीं बैठता कि मुझे कल कितने फूल या कमल खिलाने हैं, कितने पौधों और वनस्पतियों में प्राण-संचार करने हैं, कितने पक्षियों के कण्ठ में गीत भरने हैं, कितने मयूरों को नचाना है, कितने सोये हुए लोगों को जगाना है, नित्य-कृत्य में लगाना है, कितने फलों को पकाना है? अगर आप सूर्य से पूछें तो वह कभी ऐसा नहीं कहेगा कि मुझे उदित होकर ये-ये काम करने हैं। सम्भव है, उसे तो पता भी नहीं होगा कि मेरे उगने से सोये हुए लोग जगते हैं, फूल खिलते हैं, पक्षी चहचहाते हैं, प्रभात होता है। यह सब

---

१ 'नमोऽत्थुणं'—शक्रस्तव का पाठ।

स्वाभाविक है। सूर्य ये सब करता है, ऐसी बात नहीं है, सूर्य की उपस्थिति से यह सब होता है। यह सहज परिणाम है।

इसी प्रकार तीर्थंकर या वीतराग परमात्मा स्वयं दूसरों का कुछ करते हैं, या दूसरों को सुखी-दुःखी या नाथ बनाते हैं, या बनाने या करने का सोचते हैं, यह उनके सिद्धान्त के विपरीत हैं। उनकी विद्यमानता से दूसरों का कुछ होता है, दूसरों को लाभ मिलता है। श्रमण भगवान् महावीर का यही सन्देश था कि तुम स्वयं के पुरुषार्थ से नाथ बनो, दूसरे किसी से यह आशा मत रखो कि वह तुम्हें नाथ बना देगा, या तुम्हारा नाथ बनेगा। तुम स्वयं के पुरुषार्थ से अपनी आत्मा के नाथ बनोगे, आत्म-विजयी बनोगे एवं तुम्हारी आत्मा पर आये हुए सभी आवरण हट जायेंगे और तुम परिपूर्ण हो जाओगे तो तुम्हारे जीवन में यह सब घटित होता रहेगा, जिससे दूसरों को भी लाभ होगा; दूसरों को लाभ देना तुम्हारा मूल प्रयोजन नहीं है। वह लाभ तुम्हारा लक्ष्य नहीं है। दूसरों को लाभ होना सहज परिणाम है। वह लाभ स्वाभाविक होता है।

भगवान् महावीर अगर दूसरों को नाथ बनाने, या परिपूर्ण बनाने या स्वयं दूसरों के नाथ बनने की बात सोचते तो उनका स्वयं का अन्तेवासी शिष्य बना हुआ मंखलीपुत्र गोशालक उनके सान्निध्य में लगभग छह वर्ष तक रहकर भी क्यों नहीं परिपूर्ण हो गया ?[1] उसे भगवान् महावीर ने आत्मा का नाथ क्यों नहीं बनाया ? भगवान् महावीर जैसे प्रबल निमित्त के होते हुए भी गोशालक उनसे कुछ भी आध्यात्मिक विकास का लाभ न ले सका, और गणधर गौतम ने उनसे प्रचुर आत्मिक विकास का लाभ लिया। इसमें मूल कारण है—अपने-अपने उपादान का। उपादान शुद्ध होता है तो कोई भी अच्छा निमित्त मिल जाता है। और उपादान शुद्ध नहीं होता है, तो अच्छे से अच्छा निमित्त मिलने पर भी परिणाम विपरीत आता है।

इसीलिए तथागत बुद्ध से भी जब पूछा गया कि कौन किसका नाथ है ? तो उन्होंने स्पष्ट कहा—

[2]"अत्ता हि अत्तनो नाथो, को हि नाथो परो सिया।"

---

१ देखिये, भगवती सूत्र शतक १५ गोशालकाधिकार।

२ धम्मपद।

आत्मा ही अपना नाथ है। दूसरा कौन किसी का नाथ हो सकता है ?

तीर्थंकरों या महान् आत्माओं को लोग भक्ति की भाषा में श्रेय दे देते हैं कि आप जगत् के नाथ हैं।

आत्मार्थ को सोचो, पदार्थ को नहीं

वास्तव में, भगवान् महावीर ने साधकों से—गृहस्थवर्ग या साधुवर्ग सभी से यही कहा कि 'पर' का कुछ करने विचार मत करो। अपना आत्मार्थ साधो। परार्थ करने की बात ही मत सोचो। आत्मार्थ को कई लोग भ्रान्तिवश स्वार्थ (खुदगर्जी) अर्थ में ले लेते हैं, यह ठीक नहीं। आत्मार्थ का अर्थ होता है—अपना हित, अपना कल्याण, अपना विकास, अपना प्रयोजन। तीर्थंकरों ने सदा से यही कहा—जो आत्मार्थ को पूरा साध लेते हैं, उनसे परार्थ अपने आप सध जाता है। परम स्वार्थ ही दूसरे शब्दों में परमार्थ है। कारण यह है कि जो अपने हित, अपने कल्याण और अपने मंगल के लिए पुरुषार्थ करता है, अपना हित साधता है, वह दूसरों का अहित, अकल्याण या अमंगल कर ही नहीं सकता, क्योंकि वह यही सोचता है कि दूसरों का अहित या अकल्याण करने में मेरा ही अहित-अकल्याण है। जिसने अपने कल्याण और हित को भली-भाँति जानना, पहचानना और साधना शुरू किया, वह क्रमशः यह जानने लगता है कि जो अपने हित या कल्याण के लिए उचित नहीं है, वह दूसरे के हित या कल्याण के लिए उचित नहीं है। जिससे अपना अहित होता है, उससे दूसरे का भी अहित हो सकता है, जो अपने लिए हितकर है, वही दूसरे के लिए भी हितकर हो सकता है। इसीलिए श्रमण भगवान् महावीर ने कहा—

"अप्पणा सच्चमेसेज्जा, मेत्तिं भूएहिं कप्पए।"[1]

"अपनी आत्मा से सत्य का अन्वेषण करो, और प्राणिमात्र के प्रति मैत्रीभाव का विचार करो।"

जिन कार्यों से मैत्रीभाव भंग हो, अमैत्रीभाव हो, उन्हें स्वयं न करो; क्योंकि जैसी तुम्हारी आत्मा है, वैसी ही दूसरे की आत्मा है। तुम्हारे और दूसरे की आत्मा के स्वभाव में जरा भी अन्तर नहीं है। तुम्हें

---

१ उत्तराध्ययन अ० ६ गा० २।

जो वस्तु अनुकूल है, प्रिय है, वही दूसरे के लिए प्रियकर एवं अनुकूल है। जो दूसरे के लिए अप्रीतिकर है, वह तुम्हें भी अप्रीतिकर है। 'ऐगे आया'[1] सूत्र से तीर्थंकर महावीर ने यह रहस्य प्रकट कर दिया है कि सभी प्राणियों में एक-समान आत्मा है, सबमें एक ही सरीखा चैतन्य विलसित हो रहा है। यही बात नीतिकारों ने कही है—

'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।'[2]

जो बातें अपने (अपनी आत्मा के) प्रतिकूल हैं, उन्हें दूसरों के लिए भी न करो।

निष्कर्ष यह है, कि तुम अपनी आत्मा का इस प्रकार से हित या कल्याण साधो, जिससे दूसरे भी तुम्हारा अनुकरण करें, या तुमसे प्रेरणा लें तो भी उनका अहित या अकल्याण न हो। आत्मार्थी साधक दूसरों का हित या कल्याण स्वयं नहीं करता, उसकी आत्म-साधना इतनी विकसित या उन्नत हो जाती है कि जिज्ञासु, आत्मार्थी, या मुमुक्षु स्वयमेव उससे प्रेरणा लेने लगते हैं, उसे अपना हितैषी, नाथ या तारक मानने लगते हैं। जिनको अपनी सुषुप्त आत्मा जगानी होती है, वे स्वयमेव उस महान् आत्मा के विचार, वाणी और वर्तन से अपनी आत्मा को जगा लेते हैं। उनके ज्ञानचक्षु खुल जाते हैं, जन्म-जन्मान्तर से भटके हुए लोग उनके निमित्त से सन्मार्ग पा जाते हैं।

तात्पर्य यह है कि भ० महावीर या अन्य तीर्थंकर अथवा उनके अनुगामी श्रमण साधक अपने आत्मार्थ को पूरी गहनता से साध लेते हैं, कि उनके उस आत्मार्थ से सबका परम स्वार्थ सध जाता है। उन्हें अलग से परहित या परकल्याण साधने की चेष्टा नहीं करनी पड़ती। जहाँ वे विचरण करते हैं, वहाँ अनायास ही आनन्द और उत्साह की लहरें उछल पड़ती हैं। जहाँ वे विराजते हैं, वहाँ भी जिज्ञासु और मुमुक्षु जनता के मन मयूर आनन्द से उसी प्रकार खिल उठते हैं, जिस प्रकार सूर्य के उदय होते ही सूर्यविकासी फूल या कमल खिल उठते हैं। जो स्वयं सम्यग्ज्ञान, सम्यग्-दर्शन एवं सम्यक्चारित्र को उपलब्ध कर लेता है, अथवा जो स्वयं आनन्द से परिपूर्ण है, वही दूसरों को आनन्दित करने का आधार बन सकता है।

---

१ स्थानांग सूत्र स्थान १, उ० १ सूत्र १।

२ पंचतन्त्र, मित्र लाभ।

लेकिन चेष्टा से नहीं, अनायास ही। सोच-विचार कर, वह दूसरों को आनन्दित करने, सुखी करने की चेष्टा नहीं करता। उसके आनन्दित स्वभाव से दूसरे भी सहज ही आनन्द पाने लगते हैं।

आत्मिक सुखसम्पन्न व्यक्ति से ही जिज्ञासु सुख प्राप्त कर सकते हैं

जो स्वयं आनन्द से ओतप्रोत है, आत्मिक सुख से युक्त है, वही दूसरों में आत्मिक सुख सम्पन्नता अथवा आनन्द की किरणें फैला सकता है, अर्थात्—उसी के आत्मिक सुख और आनन्द के परमाणु सान्निध्य में आने वालों में फैल सकते हैं, बशर्ते कि उसके हृदय का द्वार उन्हें ग्रहण करने के लिए खुला हो। रेडियो में एक समय में कई स्टेशनों से कई बातें चलती रहती हैं, किन्तु रेडियो सुनने वाला जिस स्टेशन पर रेडियो की सांकेतिक सुई लगाता है, उसी स्टेशन से रिले होने वाली बातें वह ग्रहण कर पाता है। नदी बहती रहती है, वह किसी को कहती नहीं कि तुम पानी ले लो या नहाने आदि की क्रिया कर लो; जिसकी इच्छा होती है, वह उसमें से अपने बर्तन आदि में पानी भर लेता है। जिसके पास जैसा छोटा-बड़ा बर्तन, घड़ा आदि साधन होता है, उतना भर पानी वह ले लेता है। नदी पानी से भरी होती है, तभी लोगों को वह पानी दे पाती है। बादल जब जल से भरे होते हैं, तभी वे बरसते हैं, और लोग उनसे जल प्राप्त कर पाते हैं। फूल जब सुगन्ध से भर जाता है, तभी वह अपनी सुगन्ध बिखेरता है, और भौंरे आदि उस सुगन्ध को ग्रहण कर पाते हैं। दीपक जब प्रकाश से परिपूर्ण होकर जगमगाता है, तभी लोग उसके प्रकाश से लाभ उठा पाते हैं। इसी प्रकार जिसके पास आत्मिक सुख एवं आनन्द की परिपूर्णता या प्रचुरता है, वही ग्रहण करने वाले जिज्ञासुओं में सुख के परमाणु बिखेर सकता है, दूसरों में आनन्द की लहरें फैला सकता है। वह दूसरों को सुखी करने की चेष्टा नहीं करता, न ही सुखी करने का दावा करता है। जो व्यक्ति आत्मिक-सुख या आनन्द लूटना चाहते हैं, वे उससे ग्रहण करके स्वयं के पुरुषार्थ से सुखी या आनन्दित हो जाते हैं।

दूसरों को सुखी करने की चेष्टा या दावा व्यर्थ

जो स्वयं अनेक दुःखों, चिन्ताओं, कामनाओं, कषायादि विकारों से दुःखाक्रान्त है, वह तो अपने आसपास दुःख की लहरें ही फैलाएगा, दुःख के परमाणु ही बिखेरेगा; दूसरों को वह सुखी कैसे कर सकेगा? इसलिए दूसरों को सुखी या दुःखी करने की चेष्टा या दावा व्यर्थ है।

आप स्वयं विचार कीजिए कि जो दूसरों को सुखी करने की चेष्टा में लगा है, दूसरों को धन, साधन या वैषयिक सुख-सामग्री देकर सुखी करने का दावा करता है, क्या सही माने में वह दूसरों को सुखी कर पाता है ?

एक पति अपनी पत्नी को सुखी करने की चेष्टा में लगता है। वैषयिक सुख के सभी साधन वह उसके पास जुटा देता है। क्या इतने से वह (पत्नी) सुखी हो गई ? क्या उसे क्रोध नहीं आता ? क्या वह दूसरों से ईर्ष्या नहीं करती ? क्या वह अपने बालकों की चिन्ता में बार-बार सूखती नहीं ? क्या उसे कभी बीमारी, बुढ़ापा तथा अन्य आकस्मिक संकट, प्राकृतिक विपदाएँ आदि नहीं घेरतीं ? क्या उसके दिमाग में अपने परिवार, समाज, जाति, राष्ट्र, सम्प्रदाय आदि की समस्याएँ, चक्कर नहीं काटतीं ? सच है, कोई किसी को सुखी या दुःखी नहीं कर सकता, न ही कोई सुखी या दुःखी करने का दावा कर सकता है।[1] आज संसार में दूसरों को सुखी करने का दावा तो प्रायः सभी वर्ग के लोग कर रहे हैं, पर क्या कोई किसी को सुखी कर पाया है ? राजनेता राष्ट्र या राज्य को सुखी करने का नारा लगाते हैं, समाजनेता समाज को सुखी करने का दावा करते हैं, धर्म-सम्प्रदाय के नायक जनता को सुख-सम्पन्न करने का प्रयत्न करते हैं। परन्तु राष्ट्र की जनता, समाज या साम्प्रदायिक जनों से पूछा जाए कि क्या वे अपने-अपने नेताओं द्वारा सुखी कर दिए गए हैं ? उन सबका प्रायः यही उत्तर होगा—

"एकस्य दुःखस्य न यावदन्तं, तावद् द्वितीयं समुपस्थितं मे।"[2]

"एक दुःख का अन्त नहीं आया, तब तक दूसरा दुःख उपस्थित होकर सामने खड़ा है।"

निष्कर्ष यह है कि कोई दूसरा किसी को सुखी नहीं कर सकता, जब तक कि व्यक्ति वास्तविक आत्मिक सुख के लिए तथा दुःखों के वास्तविक कारणों का पता लगाकर उन्हें दूर करने के लिए स्वयं प्रयत्न नहीं करता। भगवान् महावीर से जब यह पूछा गया कि क्या कोई व्यक्ति या स्वयं परमात्मा किसी को सुख या दुःख देता है या दे सकता है ? तब उन्होंने आत्म-परायण दृष्टि से बताया—

---

१ उत्तरा. ३/२० गा. २५-२६, 'न य दुक्खा विमोयंति एसा मज्झ अणाहया।'

२ हितोपदेश

'अप्पा कत्ता विकत्ता य दुहाण य सुहाण य।'[1]

आत्मा ही सुखों और दुःखों का कर्त्ता और विकर्त्ता भोक्ता है, दूसरा कोई नहीं।

दुःख के लिए भी व्यक्ति स्वयं ही जिम्मेवार

अधिकांश लोग सुख का श्रेय तो स्वयं लेने को तैयार हो जाते हैं, किन्तु दुःख का दायित्व दूसरों पर डाल देते हैं। वे अपने मुंह से अपना बखान करने लगते हैं कि हमने सुख के साधन जुटाये, अमुक-अमुक को सुखी किया, परन्तु स्वयं दुःखी होते हैं, तब उसके जिम्मेवार स्वय को न मानकर, दूसरों को ठहराते हैं। अमुक ने ऐसा किया, इसलिए हम दुःखी हो गये। पिता दुःखी होता है तो सोचता है, पुत्रों ने दुःखी कर दिया। माता दुःखी होती है तो सोचती है, बहुओं ने दुःखी कर दिया। पति दुःखी होता है, तो उसके लिए पत्नी को जिम्मेवार बताता है, और पत्नी दुःखी होती है तो पति को दुःखी करने वाला बताती है। ये सब यह तो मान ही नहीं सकते कि मैं ही अपने को दुःखी कर रहा हूँ या मेरे द्वारा कृत अशुभ कर्म ही इस दुःख के कारण है, मैंने ही दुःख के बीज बोये थे, उसी का फल मुझे मिल रहा है। इस दुःख के लिए मैं स्वयं ही जिम्मेवार हूँ। तत्व से अनभिज्ञ मनुष्य जब दुःखी होता है तो सोचता है कि कोई न कोई मुझे दुःखी कर रहा होगा। वह अवश्य ही किसी न किसी पर दुःख देने का दोषारोपण कर देता है। क्या मैं कभी स्वयं दुःखी हो सकता हूँ? यदि कोई प्रत्यक्ष कारण नहीं मिल पाता है तो मनुष्य अप्रत्यक्ष कारणों पर अपने दुःख एवं संकट का सेहरा बाँध देता है। कोई अपनी जाति या समाज को दुःख के लिए दोषी ठहराता है, कोई अर्थव्यवस्था को उत्तरदायी बताता है तो कोई राज्य की नीति-रीति को कोसता है। अगर इन या ऐसा ही कोई निमित्त नहीं मिलता तो मनुष्य भाग्य, विधाता, दैव, भगवान् या किसी शक्ति को दोष देता है। साफ है कि वह 'अप्पणा सच्चमेसेज्जा' की भगवद् प्ररूपित नीति-रीति को नहीं अपनाता। अपने आपके अन्दर में निरीक्षण-परीक्षण करके दुःख के वास्तविक कारण को—सच्चाई को नहीं ढूंढ़ता।

एक व्यक्ति का पुत्र बीमार था। काफी इलाज कराया गया, परन्तु

---

१ उत्तराध्ययन सूत्र अ. २० गा. ३७

वह बच न सका। पिता के साथ वह व्यवसाय में हाथ बंटाता था। किन्तु उसके मर जाने से पिता बहुत दुःखी हो गया। अपने दुःख का कारण वह मृत पुत्र को मानने लगा। वह कहने लगा—"पुत्र मर गया, हमें दुःखी कर गया। क्या यही समय था उसके मरने का? अभी तो एक साल ही हुआ था, उसके विवाह को। उसने व्यावसायिक क्षेत्र में काफी उन्नति कर ली थी। अभी तो वह युवक था। हमारी आशाओं और मनोरथों पर पानी फिरा दिया उसने।" पिता रो रहा है। माता भी फफक-फफक कर रुदन और विलाप कर रही है। तत्वज्ञ लोग उन्हें समझाते हैं—वह तुम्हारा पुत्र न होता और मर जाता तो क्या तुम्हें दुःख होता? वह कहता है—फिर मैं क्यों दुःखी होता? दुनिया में कितने ही लोगों के पुत्र मरते हैं। अगर मैं हर एक के पुत्र के वियोग में दुःखी होने लगूं तो फिर मुझे सुखी होने का अवसर ही नहीं मिलेगा। प्रतिदिन किसी न किसी का पुत्र तो मरता ही है जगत् में।

यही जैन दर्शन कहता है—पुत्र के प्रति पिता को ममत्व—'यह मेरा है' के कारण दुःख हो रहा था। वह किसी दूसरे व्यक्ति का पुत्र होता और मर जाता तो उस पिता को कोई भी दुःख न होता। यह पुत्र 'मेरा था' इस 'मेरे' में से दुःख आ रहा है। उस पिता का यह ख्याल भी गलत था कि मेरा पुत्र मेरे सुख का आधार था। वास्तव में, देखा जाए तो पुत्र पिता के लिए न तो सुख का आधार था, और न ही मरने के बाद वह उसके दुःख का कारण बना। सुख और दुःख का मूल आधार कोई दूसरा व्यक्ति या कोई भी सांसारिक पदार्थ नहीं होता, न ही किसी दूसरे व्यक्ति या सांसारिक पदार्थ का वियोग ही दुःख का कारण है। किसी सजीव या निर्जीव पदार्थ को सुख या दुःख का कारण मानना व्यक्ति के मन की कल्पना या वासना है। मन, राग या द्वेष, मोह या घृणा से रंगा हुआ होता है, तब व्यक्ति राग या मोहवश अनुकूल या मनोज्ञ वस्तु या व्यक्ति को सुख का कारण मान लेता है, इष्ट वस्तु के वियोग को दुःख का कारण मान लेता है। परन्तु वास्तव में सुख-दुःख का आधार तो स्वयं की ही आत्मा है। सुख या दुःख के बीज जिसने बोये हैं, उसे सुख या दुःख स्वकृत कर्म फल के रूप में मिलते हैं। दूसरा कोई सजीव या निर्जीव पदार्थ निमित्त भले ही बन जाए, वह उत्तरदायी नहीं है, सुख या दुख देने के लिए मनुष्य की आत्मा ही सुख-दुःख के लिए स्वयं ही जिम्मेवार है। श्रमण भगवान महावीर से जब पूछा गया—

किं भया पाणा ? दुक्खभया पाणा ।
दुक्खे केण कडे ? जीवेण कडे पमाएणं ।[1]

भगवन् ! प्राणी किससे डरते हैं ? उन्होंने कहा—"प्राणी दुःख से डरते हैं ।" फिर पूछा—'दुःख किसने उत्पन्न किया है ?' उत्तर दिया—"स्वयं जीव (आत्मा) ने अपनी ही भूल से दुःख उत्पन्न किया है ।"

अर्थात् सभी दुःख आत्मकृत हैं । दुःख के लिए प्रत्येक प्राणी स्वयं ही जिम्मेदार है ।

पाश्चात्य जगत् में उत्तरदायित्व को टालने की बात

वस्तु तत्व को नहीं जानने वाला व्यक्ति इस तथ्य-सत्य को स्वीकार करने को तैयार नहीं होता । अपने सुख या दुःख के लिए वह किसी और को जिम्मेदार ठहराना चाहता है । साम्यवाद-प्रणेता 'मार्क्स' कहता है—अर्थव्यवस्था ही मानव के सुख-दुःख, हित-अहित, भले-बुरे के लिए जिम्मेदार है । 'फ्रायड' गलत संस्कारों को इसके लिए जिम्मेदार बताता है । 'हीगल' कहता है—दुनिया में जो कुछ दुःख-दर्द हो रहा है, उसके लिए इतिहास जिम्मेवार है । ईसाई धर्म की बाइबिल में अंकित 'आदम' और ईव की कहानी भी पश्चिम के जन-मन में फैली हुई है—दूसरों को उत्तरदायी ठहराने में । 'आदम' कहता है—'ईव' ने मुझे बहकाया । 'ईव' कहती है—'शैतान ने सांप के आकार में आकर मुझे फुसलाया ।' परन्तु शैतान, जो सांप की आकृति में आया था, मौन है, इस विषय में । नहीं तो वह भी कहता कि मुझे अमुक ने फुसलाया । पश्चिम के मनोविज्ञान शास्त्र, इतिहास और कथा साहित्य को उठा कर देखिये, सर्वत्र अपने उत्तरदायित्व को टालने की बात मिलेगी । श्रमण भगवान् महावीर, गौतम बुद्ध आदि ने दृढ़तापूर्वक कहा—अपने सुख-दुःख, हित-अहित, कल्याण-अकल्याण, यहाँ तक कि सिद्ध-मुक्त या बद्ध आत्मा के लिए तुम स्वयं ही जिम्मेवार हो ।

भगवद्गीता में कर्मयोगी श्री कृष्ण ने भी इसी तथ्य का समर्थन किया है—

'उद्धरेदात्मनाऽत्मानमात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥[2]

---

१ स्थानांग सूत्र ३/२

२ भगवद्गीता अ. ६ श्लो. ५

"तुम अपनी आत्मा का उद्धार स्वयं (आत्मा से) ही कर सकते हो, और आत्मा का पतन (नाश) भी स्वयं कर सकते हो, क्योंकि आत्मा ही आत्मा का (अपना) बन्धु (मित्र) है, और आत्मा ही आत्मा का शत्रु है। यहाँ भी श्रीकृष्णजी ने आत्मा पर ही सारा दायित्व डाला है—अपने उत्थान-पतन का, उद्धार-संहार का। यही बात भगवान् महावीर ने कही—

अप्पा मित्तममित्तं च दुप्पट्ठिओ सुप्पट्ठिओ।"[1]

जब तुम्हारी आत्मा शान्त, आनन्दमग्न, आत्मभाव में रत एवं संतुलित हो, तब सत्प्रवृत्ति में स्थित, तुम्हारी आत्मा तुम्हारी मित्र है, और जब वही दुष्प्रवृत्तियों में प्रवृत्त हो, तब वह तुम्हारी शत्रु है। उन्होंने आत्मा को ही भगवान् या शैतान बनने के लिए जिम्मेवार बताया है। साथ ही उन्होंने आत्मा के उत्थान-पतन, विकास-ह्रास, या सुख-दुःख, हित-अहित के लिए, यहाँ तक कि बहिरात्मा या परमात्मा बनने के लिए किसी दूसरे (पर) के आश्रय-सहारे को ढूंढने तथा 'पर' को मित्र या सहायक बनाने की आवश्यकता को भी अनावश्यक बताते हुए स्पष्ट कहा—

पुरिसा ! तुममेव तुमं मित्तं, किं बहिया मित्तमिच्छसि?[2]

"पुरुषो (आत्माओ) ! तुम्हीं तुम्हारे मित्र हो, (आत्मा से) बाहर में मित्र (सहायक) की खोज क्यों कर रहे हो ?"

भ० महावीर का आध्यात्मिक विकास के लिए उड़ने का सारा गगन आत्मा ही था। आत्मा—शुद्ध आत्मा ही उनका आदर्श—उनका परमात्मा था। उन्होंने सिद्ध-परमात्मा को माना अवश्य, उनके आदर्श को दृष्टि-समक्ष रखा, परन्तु अपने लिए परमात्मा से या किसी शक्ति से सहायता की, सुख-सुविधाओं की या सहारे की याचना नहीं की।

क्या परमात्मा दूसरों के सुख-दुःख का स्रष्टा नहीं बनता ?

प्रश्न होता है, क्या सर्वशक्तिमान् परमात्मा जगत् के जीवों को सुखी नहीं कर सकता ? किसी को सुखी या दुखी करना तो उसके बाँये हाथ का खेल है ! वैदिक धर्म तो जगत् का स्रष्टा मानता है, परमात्मा को; फिर क्या कारण है कि वह जगत् के जीवों के सुख का स्रष्टा नहीं हो सकता ?

---

१ उत्तराध्ययन सूत्र अ० २० गा० ३७
२ आचारांग श्रु० १ अ० ३ सूत्र ३

बस, यही मतभेद है, वैदिक धर्म के परमात्मा और जैनधर्ममान्य परमात्मा के लक्षण में ! वैदिक धर्म कहता है—परमात्मा ने सृष्टि बनाई। जगत् के सब जड़-चेतन पदार्थ परमात्मा ने बनाए। परन्तु बनाने की बात ही युक्ति, अनुभूति और सिद्धान्त से विरुद्ध है। परमात्मा ने सृष्टि क्यों बनाई ? सृष्टि बनाई ही तो पक्षपात क्यों किया ? एक को सुखी, एक को दुःखी क्यों बना दिया ? परमात्मा तो निरंजन, निराकार है, उसने सृष्टि की रचना बिना शरीर एवं अंगोपांग के कैसे की ? परमात्मा ने सृष्टि बनाई तो परमात्मा को किसने बनाया ? इत्यादि अनेक प्रश्न उपस्थित होते हैं। यह चर्चा काफी लम्बी-चौड़ी है। जैनधर्म इसका रहस्य खोलता है कि सभी आत्माएँ परमात्मा हैं। प्रत्येक आत्मा परमात्मा है। प्रत्येक आत्मा अपना स्रष्टा है, वही अपने जगत् का स्रष्टा है। जैनधर्म के एक महान् आचार्य ने समन्वयात्मक दृष्टि से इसका रहस्य खोला है—

परमैश्वर्ययुक्तत्वात् आत्मैव मत ईश्वरः।
स च कर्तेति निर्दोषं, कर्तृवादो व्यवस्थितः॥[1]

आत्मा ही परम ऐश्वर्य से युक्त होने के कारण ईश्वर (परमात्मा) है और वही कर्ता है। इस प्रकार निर्दोष कर्तृत्ववाद सिद्ध हो गया। इसका आशय यह है कि आत्मा अपना, अपने सुख-दुःख का, अपने हिता-हित का कर्त्ता—स्रष्टा स्वयं है, इस कारण जो जिस प्रकार का आत्मा है, वह वैसा ही अपनी सृष्टि का स्वयं कर्त्ता होता है। इस युक्ति से ईश्वर-कर्तृत्ववाद भी सिद्ध हो गया। और निरंजन निराकार ईश्वर (परमात्मा) पर जो सृष्टिकर्तृत्ववाद का दोष था, वह भी दूर हो गया। निरंजन निराकार परमात्मा अपने आत्मभावों के कर्त्ता हैं, वे अपने ज्ञान, दर्शन, आनन्द और आत्मशक्ति के स्रष्टा हैं।

तीन कोटि के परमात्मा

जैनदर्शन कहता है कि एक सिद्ध-बुद्ध-मुक्त परमात्मा हैं, दूसरे हैं—जीवन्मुक्त परमात्मा और तीसरे हैं—बद्ध परमात्मा। ये तीन कोटि के परमात्मा हैं।

जो निरंजन-निराकार परमात्मा है, वह पूर्ण हो चुका। वह अपनी आत्मा के परिपूर्ण विकास का, आत्मा के परिपूर्ण ज्ञान, दर्शन, सुख और

---

१ शास्त्रवार्तासमुच्चय, स्तबक ३ श्लो० १४

वीर्य (शक्ति) का स्रष्टा बन गया। वह परम-अनन्त ऐश्वर्य को पा चुका। दूसरे जीवन्मुक्त परमात्मा हैं, वे अपनी आत्मा को सिद्ध परमात्मा के रूप में ढालने जा रहे हैं। आत्मगुणों के घातक चार घातिकर्मों को वे नष्ट कर चुके और चार अघाती कर्म शेष हैं, वे भवोपग्राही है, जब तक उनका आयुष्य कर्म बाकी हैं, तब तक वे शरीर से सम्बन्धित चार कर्म रहेंगे। इसलिए वे भी भासकसिद्ध—परमात्मा कहलाते हैं।

तीसरे बद्ध परमात्मा हैं। शेष सभी संसारी जीव इसी कोटि के परमात्मा हैं। वे आठ ही कर्मों से बंधे हुए हैं। अपने सुख-दुःख के, अपने शुभाशुभ कर्मों के वे ही कर्त्ता हैं।

इसीलिए जब भगवान् महावीर में पूछा गया कि क्या कोई निरंजन-निराकार परमात्मा जगत् के जीवों के सुख-दुःख का कर्त्ता है या जीव (आत्मा) स्वयं ही अपने सुख-दुःख का स्रष्टा है? तो उन्होंने स्पष्ट कहा—

अप्पा कत्ता विकत्ता य दुहाण य सुहाण य।[1]

आत्मा ही अपने सुखों और दुःखों का कर्ता है और वही विकर्ता है—भोक्ता है।

परमात्मा बनने का सारा दायित्व आत्मा पर

परमात्मा कोई संसार बनाने की या दूसरों को सुखी-दुःखी बनाने की लीला नहीं कर रहा है। यह सब खेल तुम्हारा है; सारी बाजी अपनी आत्मा के हाथ में है। तुम्हारी अपनी जिम्मेवारी है कि तुम्हें सुखी बनना है या दुःखी बनना है। तुम्हारे परमात्मा तुम स्वयं हो। तुम्हारी परमात्मत्व पाने की जैसी दृष्टि होगी, वैसी ही तुम्हारी सृष्टि होगी। परमात्मा असल में तुम्हारी ही छवि है। तुम जैसे बन रहे हो वैसा ही तुम्हारा परमात्मा बनेगा। तुम्हीं अपने शुभाशुभ कर्मों को बांधने, भोगने और काटने के लिए उत्तरदायी हो, तुम्हीं जिम्मेवार हो, अपने सुख-दुःखों के लिए। अगर तुम्हें सुखी—आत्मिक सुख से सम्पन्न बनना है तो उस सुख की नींवें रखनी होंगी, आत्मिक आनन्द के बाधक तत्त्वों से स्वयं को दूर रखना होगा, सांसारिक सुख-दुःख दोनों के पार जाना होगा। अपनी नैया तुम्हें ही पार करनी होगी। तभी तुम पूर्ण परमात्मा की कोटि में पहुँच

---

१ उत्तरा. अ० २०, गा. ३७

सकोगे। यह आत्मा का दायित्व है कि वह पूर्ण परमात्मा बनता है, बनने का प्रयत्न करता है या बद्ध-परमात्मा ही रहना चाहता है।

भगवान् महावीर कहते हैं, अगर तुम पूर्ण सिद्ध-परमात्मा बनना चाहते हो तो अपने हाथ में बागडोर संभालो। अपने सुख-दुःख का दायित्व दूसरों पर मत डालो। किसी शक्ति या पूर्ण परमात्मा के आगे गिडगिड़ाने से, परमात्मपद की भीख माँगने से, या आत्मिक सुखों के पाने के लिए खुशामद करने से या अपने दोषों—अपराधों को माफ करने की प्रार्थना करने से किसी की आत्मा पूर्ण परमात्मा नहीं बन पाएगी। अपनी आत्मा को स्वयं जगाने और स्वयं पुरुषार्थ करने से व अपने पर जिम्मेवारी लेने से ही पूर्ण परमात्मपद प्राप्त हो सकेगा।

पूर्ण परमात्मा (सिद्ध) बनना या बद्ध परमात्मा ही रहना तुम्हारे ही हाथ में है। सिद्ध परमात्मा तुम्हारे या जगत के स्रष्टा नहीं, तुम्हीं स्वयं अपने स्रष्टा हो। अतः कर्मों की निर्जरा करके, जन्म-मरण के चक्र को समाप्त करने का दायित्व तुम्हारा है। समस्त दुःखों से मुक्त होकर सिद्ध-बुद्ध-मुक्त परमात्मा बनना भी तुम्हारे हाथ में है।

इसीलिए एक महान् आचार्य ने आत्मा पर ही परमात्मा बनने का सारा दायित्व डालते हुए कहा—

यः परमात्मा स एवाऽहं, योऽहं सः परमस्तथा।
अहमेव मयाऽऽराध्यः, नान्यः कश्चिदिति स्थितिः॥

जो परमात्मा है, वही मैं हूँ तथा जो मैं हूँ, वही (मेरा) परमात्मा है। ऐसी स्थिति में मैं (आत्मा) ही मेरा (आत्मा का) आराध्य है, अन्य कोई नहीं।

इस श्लोक में भगवान् महावीर का आत्मा से परमात्मा बनने का सिद्धान्त, तथा आत्मा पर अपने अन्तर् में स्थित शुद्ध आत्मा=परमात्मा बनने का दायित्व स्पष्ट कर दिया है।

●●

८

परमात्मा बनने की योग्यता किसमें?

आत्मा बीज : परमात्मा विस्तार

चैतन्य के दो सिरे हैं। एक सिरा है आत्मा और दूसरा सिरा है—परमात्मा। इनमें से आत्मा बीज है, और परमात्मा उसका विस्तार। वट का बीज बहुत ही नन्हा सा होता है, किन्तु फैलते-फैलते एक दिन विशाल वट वृक्ष का रूप ग्रहण कर लेता है। हम यह कल्पना भी नहीं कर सकते कि यह उस वट के बीज का ही विकसित रूप है। इसी प्रकार आत्मा भी बीजरूप में अपने में परमात्मत्व को छिपाए रहता है। वह भी विकास करते-करते एक दिन चेतना का पूर्ण विकास पा लेता है। इसी को जैन-दर्शन परमात्मा कहता है।

आत्मा का लक्ष्य और उसकी यात्रा का प्रारम्भ

आत्मा का मूलभूत लक्ष्य परमात्मा होना है। उसका यह लक्ष्य स्वाभाविक है, काल्पनिक नहीं। किन्तु इस लक्ष्य को प्राप्त करने में बहुत ही अड़चनें हैं, विघ्न-बाधाएँ हैं। कई घाटियाँ पार करनी होती हैं, तब जाकर परमात्म-पद-प्राप्ति के लक्ष्य की ओर उसके मुस्तैदी कदम गिरते हैं। कहा जा सकता है कि परमात्मा होने के लिए आत्मा को बहुत लम्बी यात्रा करनी पड़ती है। परमात्म-पद-प्राप्ति के लक्ष्य की ओर जब आत्मा का मुख होता है, तब सर्व-प्रथम चरण में उसे अपने अस्तित्व का बोध—परिज्ञान होता है। जैसा कि श्रमण भगवान् महावीर ने आचारांग सूत्र में

कहा है—

"इस प्रकार जिसे ज्ञात हो जाता है कि मेरी आत्मा औपपातिक (कर्मानुसार पुनर्जन्म ग्रहणकर्ता) है। जो इन (पूर्वोक्त) दिशाओं तथा विदिशाओं में अनुसंचरण करती हुई, सभी दिशाओं एवं अनुदिशाओं से जो आई है और अनुसंचरण करती है, वही मैं हूँ।"[1]

श्रीमद् रायचन्द जी ने इसी सत्य तथ्य को अपनी भाषा में समझाते हुए कहा—

"हूँ कोण छुं ? क्यांथी थयो ? शुं स्वरूप छे मारूं खरुं ?
कोना सम्बन्धे वलगणा छे ? राखुं के ए परिहरुं ?"

अर्थात्—जिस प्राणी की चेतना का लक्ष्यमुखी विकास हो जाता है, उसे अपने अस्तित्व और व्यक्तित्व का बोध क्रमशः होता है कि "मैं (आत्मा) कौन हूँ ? मैं कहाँ से आया हूँ ? यहाँ किन कारणों से उत्पन्न हुआ हूँ ? मेरा वास्तविक स्वरूप क्या है ? वर्तमान में किसके साथ मेरा कैसा सम्बन्ध है ? उस सम्बन्ध को मुझे रखना है या छोड़ देना है ?"

ये सब जिज्ञासाएँ उसे सुदूर अतीत में ले जाती हैं और वह इन जिज्ञासाओं का समाधान प्राप्त करता है। उत्कृष्ट विवेक के द्वारा वह अपने लक्ष्य (परमात्मा) के प्रति उत्सुक होता है। जिस प्राणी की चेतना का इतना विकास हो जाता है, वही आत्मा परमात्मा बनने योग्य हो सकता है।

ये आत्माएँ परमात्म-पद से अतिदूर हैं

आत्मा और परमात्मा का मूल स्वरूप और शक्ति समान होने पर भी उनकी अभिव्यक्ति में अन्तर होने से दोनों में काफी अन्तर पड़ जाता है।

संसार में अनन्त-अनन्त आत्माएँ हैं। परमात्मा और उन आत्माओं की शक्ति और स्वरूप में कोई अन्तर न होते हुए भी चेतना के विकास में तारतम्य होने से वे आत्माएँ परमात्म-पद के साक्षात्कार से दूर रहती हैं।

---

१ "एवमेगेसिं जं णातं भवइ—अत्थि मे आया ओववाइए। जो इमाओ दिसाओ अणुदिसाओ वा अणुसंचरइ, सव्वाओ दिसाओ, सव्वाओ अणुदिसाओ वा जो आगओ, अणुसंचरइ सोहं।"

—आचारांग प्रथम श्रु. अ. १, उ. १ सू. ४

एक वनस्पतिकाय को ही लीजिए। निगोद वनस्पति का एक ऐसा प्रकार है, जिसमें एक ही शरीर में अनन्त आत्माएँ रहती हैं। जिनका कोई विकास नहीं होता। चूंकि वहाँ उनका कोई चिन्तन नहीं, स्मृति नहीं, कल्पना नहीं, अपने सुख-दुःख को व्यक्त करने के लिए कोई भाषा नहीं; अभिव्यक्ति का कोई भी माध्यम नहीं है, उन आत्माओं के पास। इन्हें जैन तार्किक मनीषियों ने 'अव्यवहारराशि' की श्रेणी में गिना है। ये आत्माएँ बिलकुल अविकसित होती हैं।

इनमें से कुछ आत्माएँ अवधि पूर्ण होने पर कर्म का शुभांश बढ़ने के कारण अथाह सागर के समान इस अव्यवहारराशि से निकलकर बूंद के समान व्यवहारराशि में आती हैं। यहाँ उनका चैतन्य विकास प्रारम्भ हो जाता है। निगोद से जब वे वनस्पतिकाय की अन्य जातियों में, तथा पृथ्वीकाय, अप्काय, अग्निकाय एवं वायुकाय में आती हैं, इनमें केवल चेतना की एक किरण प्रस्फुटित होती है—स्पर्शज्ञान। इन एकेन्द्रिय जीवों में चेतना की एक किरण तो प्रकट हुई, लेकिन चेतना को प्रकट करने की शक्ति प्राप्त नहीं हो सकी। चिरकाल तक वहाँ रहने के पश्चात् पुण्य प्रबल होने पर उसे वाणी प्राप्त होती है।

जगत् का सारा व्यवहार प्रायः वाणी से होता है। जब जीव (आत्मा) व्यवहारराशि में आता है, तब उसे स्पर्शेन्द्रिय और रसनेन्द्रिय ये दो इन्द्रियाँ प्राप्त होती हैं। दो इन्द्रियों वाले जीवों को भाषा की उपलब्धि हुई, जिससे वे अपनी चेतना को अभिव्यक्त करने की स्थिति में आ गए। वे यह भी जानने लगे कि हमारा भी अस्तित्व है। रसनेन्द्रिय मिलने के साथ ही उन आत्माओं में चेतना की द्वितीय किरण प्रस्फुटित हुई। रसना से उन्हें स्वाद की अनुभूति और वाणी के प्रयोग की उपलब्धि हुई। वाणी से अपने अस्तित्व को प्रकट करने का अवसर भी मिला। चेतना के विकास का द्वार उनके लिए खुल गया।

इसके पश्चात् किन्हीं शुभकर्मों के कारण वे आत्माएँ तीन इन्द्रियों वाले जीवों में आईं। यहाँ चेतना के विकास की तीन किरणें प्रस्फुटित हुईं। तीन इन्द्रियों वाले जीवों ने घ्राणेन्द्रिय प्राप्त कर ली, जिससे वे सूंघ-सूंघकर पदार्थों का अनुभव करने लगे। घ्राणेन्द्रिय के द्वारा पदार्थों की सुगन्ध-दुर्गन्ध का पता लगने के साथ-साथ वे अपने लिए हितकर-अहितकर, खाद्य-अखाद्य का भी अनुभव करने लगे। बाह्यजगत् से अब उनका

सम्पर्क स्थापित हो गया। किन्तु अभी तक वे बाह्य जगत् को अपनी आँखों से नहीं देख पाते थे।

क्रमशः विकास और आगे बढ़ा। वे चार इन्द्रियों वाले जीवों में उत्पन्न हुए। चेतना के विकास की चौथी रश्मि प्रस्फुटित हुई। उसके माध्यम से संसार को तथा संसार के सजीव-निर्जीव पदार्थों के रंग-रूप देखने की शक्ति प्राप्त हो गई। चार इन्द्रियों वाले जीवों की आत्माएँ संसार के विभिन्न पदार्थों के आकार, प्रकार और उनकी मोहकता निहार कर चकित हो गईं। परन्तु अभी तक उन्हें चिन्तनशक्ति उपलब्ध न हो सकी।

चार इन्द्रियों वाले जीवों की आत्माएँ विकास क्रम से आगे बढ़कर पाँच इन्द्रियों वाले पशु-पक्षी आदि जीवों में आईं। यहाँ आने पर चेतना की पाँचवीं किरण फूटी। श्रोत्रेन्द्रिय (कान) की उपलब्धि हुई। अब वे सुनने लगे। सुनने से शब्दों का आदान-प्रदान प्रारम्भ हो गया। बाह्य जगत् के साथ, अन्य जीवों के साथ पूर्ण सम्पर्क स्थापित हो गया, व्यवहार भी खुल गया। चेतना के विकास के पाँच वातायन तो खुले। उन्हें अपने अस्तित्व के साथ-साथ जगत के अन्य जीवों के अस्तित्व का बोध भी हुआ। लेकिन वैचारिक स्तर का विकास न हो सका, क्योंकि द्रव्य मन (संज्ञित्व) की उपलब्धि अभी तक नहीं हो पाई।

विकसित चेतना वाली आत्माएँ : किन्तु परमात्मा होने के अयोग्य

चैतन्य-सूर्य की असंख्य-असंख्य किरणें हैं। उनमें से असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीव को पाँच किरणें ही प्राप्त होती हैं। यद्यपि चतुरिन्द्रिय (स्पर्शन, रसना, घ्राण और नेत्र इन चार इन्द्रियों वाले) जीवों को परमात्मदर्शन के लिए आँख तो मिली, परन्तु अन्तर् की आँख न मिलने के कारण उस योनि में परमात्मा का साक्षात्कार न हो सका। नेत्र मिलने के बावजूद भी पानी पर लकीर खींचने की तरह चार इन्द्रियों वाले जीवों की आत्माओं को परमात्मपद का किंचित् भी भान न हो सका। उनका जन्म व्यर्थ गया। असंज्ञी तिर्यञ्च पंचेन्द्रिय जीवों को स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र, ये पाँचों इन्द्रियाँ मिलने पर भी द्रव्य मन न मिलने के कारण मुक्त वीतराग परमात्मा के रूप को जान-समझ न सके। मूल में शुद्ध चैतन्य परमात्मा के समान अनन्त चैतन्यकिरणों का केन्द्र होते हुए भी उस पर प्रगाढ़ आवरण के कारण वह परमात्मपद से काफी दूर रहा।

इसके पश्चात् कतिपय आत्माएँ विविध योनियों में भटकती-भटकती

संज्ञी तिर्यंचपंचेन्द्रिय की विविध योनियों में आई। वहाँ वे जीव जलचर, स्थलचर, खेचर, उरपरिसर्प और भुजपरिसर्प के रूप में विविध स्थानों में पैदा हुए। द्रव्यमन भी मिला। पाँचों इन्द्रियों के झरोखे तो उपलब्ध हुए ही। मन का विशाल दरवाजा भी खुला। मन चाहे तो भूत, भविष्य और वर्तमान, तीनों को जान सकता है। इन्द्रियाँ तो केवल वर्तमान को ही जानती हैं। इन्द्रियों से प्राप्त जानकारी का संकलन करना, स्मृति रूप में संजोकर रखना, कल्पना करना, अनुमान लगाना एवं समय आने पर उस संकलित ज्ञान को व्यक्त करना या अन्तःस्फुरित कर देना मन का काम है। भूतकाल की घटना से निष्कर्ष निकालना, वर्तमान को बदलना और भविष्य को अपने अनुकूल बनाने का प्रयत्न करना तथा बुद्धि द्वारा निर्णय करना मन का ही खेल है। मन चाहे तो क्षण भर में स्वर्ग, नरक और तिर्यञ्च तथा मनुष्य लोक की यात्रा कर सकता है, और चाहे तो मुक्तिलोक के गगन में उड़ सकता है। शुभ-अशुभ कर्मों को बांधना अथवा प्रचुर कर्मबन्ध से मुक्त होना मन के बाँये हाथ का खेल है। परन्तु इतना सशक्त मन मिलने पर भी संज्ञी तिर्यञ्च पंचेन्द्रिय जीवों की चेतना का विकास उतना नहीं हो सका। इस कारण अधिकांश तिर्यंचपंचेन्द्रिय तो विवेक-विकल रहे। उनका उपयोग पंचेन्द्रिय-विषयों की आसक्ति, कषायों की सघन रुचि में हो रहा। उन्हें परमात्म-दर्शन का विचार तक नहीं आया।

कुछेक संज्ञी तिर्यञ्चपंचेन्द्रिय जीवों में चेतना का विकास बढ़ा। वे पूर्वजन्मकृत कर्मों के क्षयोपशम के कारण सम्यग्दृष्टि बनते हैं। तथा कुछेक श्रावकव्रती भी बनते हैं। परन्तु उनकी संख्या बहुत ही नगण्य होती है। परमात्म-पद-प्राप्ति के योग्य बनने के लिए जिस प्रकार के सम्यग्ज्ञान-दर्शन-चारित्र की, या स्वरूपरमण की अथवा उच्च संयम-पालन की क्षमता चाहिए, वह उनमें नहीं आती, आ भी नहीं सकती, क्योंकि उनकी चेतना पर आया हुआ प्रगाढ़ आवरण अभी तक हटा नहीं है। निष्कर्ष यह है कि संज्ञी तिर्यञ्चपंचेन्द्रिय जीव भी परमात्म-पद-प्राप्ति के अनधिकारी रहते हैं।

कतिपय जीवों ने नरकलोक की यात्रा की। वहाँ भी पाँचों इन्द्रियाँ तथा द्रव्य मन आदि चिन्तनयोग्य सामग्री भी मिली। वैक्रियशरीर और विभंगज्ञान भी उन्हें जन्म से ही प्राप्त हुआ। फिर भी वहाँ दीर्घकाल तक अनेक दुःखों और विकट यातनाओं को सहते-सहते उनका मन इतना अधीर और बेचैन हो उठता है कि वे आत्मा और परमात्मा के सम्बन्ध में विचार

भी नहीं कर पाते। उनका विभंगज्ञान भी इस सम्बन्ध में विचार न करके, पूर्वबद्ध वैर-विरोध का स्मरण करने में, परस्पर लड़ने-भिड़ने का विचार करने में और क्रोधाग्नि प्रज्वलित करने में प्रयुक्त होता है। दृष्टि सम्यक् न होने से विभंगज्ञानी नारक आत्मा और परमात्मा के स्वरूप के सम्बन्ध में यथार्थ चिन्तन कर ही नहीं पाते। यद्यपि नरक में भी कई जीव सम्यग्-दृष्टि अवधिज्ञानी होते हैं, वे आत्मा और परमात्मा के शुद्ध स्वरूप का विचार तो कर पाते हैं, लेकिन परमात्म-पद की प्राप्ति के लिए जिस तप, त्याग और संयम की आराधना की जरूरत है, उसे वे पूर्ण नहीं कर पाते। फलतः नारकीय जीवों की आत्माएँ भी परमात्मा बनने के—परमात्म-पद-प्राप्ति के अयोग्य रहती हैं।

कदाचित् कुछ आत्माएँ, पर्वतीय नदी में इधर-उधर लुढकने तथा टकराने से चमकीले बने हुए गोलमटोल पाषाण की तरह विविध योनियों में परिभ्रमण करती-करती चार प्रकार के देवनिकायों[1] में से किसी देव-निकाय में, यहाँ तक कि वैमानिक देवनिकाय में भी पहुँच जाती हैं। वहाँ पाँचों इन्द्रियाँ, सशक्त मन, वैक्रियशरीर, विभंगज्ञान या अवधिज्ञान भी प्राप्त होते हैं। परन्तु अधिकांश देव भोगविलास एवं वैषयिक सुखों तथा राग-द्वेष, कषाय एवं मोह आदि विकारों में इतने अधिक मग्न रहते हैं कि उन्हें अपनी आत्मा को परमात्मा बनाने यानी चैतन्य के प्रकाश पर आए हुए गाढ़ आवरण को दूर कर परमात्मत्व प्रगट करने का अवकाश भी नहीं मिल पाता; चिन्तन भी नहीं हो पाता। देवों में जो सम्यग्दृष्टि अवधिज्ञानी देव हैं, अथवा नौ ग्रैवेयक तथा पाँच अनुत्तर विमानवासी देव हैं, उनके विषय-कषाय उपशान्त होते हैं, उनकी लेश्याएँ भी प्रशस्त होती हैं, फिर भी वे परमात्म-पद-प्राप्ति के योग्य त्याग, तप, संयम, नियम, व्रत का परिपालन नहीं कर सकते। उनकी चेतना परमात्मत्व को प्रकट करने में अक्षम रहती है। यही कारण है कि देव मनुष्यजन्म पाने के लिए तरसते हैं, छटपटाते हैं। ताकि मनुष्यजन्म प्राप्त करके वे आत्मा से परमात्म बन सकें; वैसी रत्नत्रय की साधना कर सकें। निष्कर्ष यह है कि परमात्म-पद-प्राप्ति के लिए आत्मा की ज्ञानचेतना पर आए हुए प्रगाढ़ कर्मो-

---

१ 'भवनपति, वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक, ये देवों के चार निकाय हैं। —सं०

'देवाश्चतुर्निकायाः'—तत्त्वार्थ सूत्र अ. ४ सू. १

वरण को दूर करना, तप-संयमादि द्वारा आत्मा को परिशुद्ध करना आवश्यक है, वह देवयोनि में नहीं हो सकता। इसलिए देव भी परमात्मा बनने के सीधे अधिकारी नहीं है।

अब आइए मनुष्यलोक में, जो इन सब घाटियों को पार करने के पश्चात् विशेष पुण्यराशि के कारण मिलता है। और संज्ञीपंचेन्द्रिय मनुष्य भव तो अत्यधिक पुण्यशाली जीव को मिलता है। मनुष्यजन्म में पाँचों इन्द्रियाँ, उन्नत मननशील मन, शुभ-अध्यवसायिका बुद्धि, श्रद्धाशील हृदय तथा पूर्वकृत प्रचुर पुण्यवश जीव को स्वस्थ तन, धन और प्रचुर साधन भी मिलते हैं लेकिन इतना सब कुछ मिलने पर भी यदि आर्यक्षेत्र, उत्तम कुल, श्रेष्ठ धर्म-संस्कार, आध्यात्मिक वातावरण नहीं मिलता है तो उस मनुष्य के अन्तर्मन में भी आत्मा-परमात्मा के, आत्मा के प्रचुर चैतन्य विकास से परमात्मपद प्राप्त करने के विचार नहीं पैदा होते। वह चिन्तन ही नहीं कर पाता कि मैं कौन हूँ ? कहाँ से आया हूँ ? किस कारण से मनुष्यजन्म मिला है ? मुझे कहाँ जाना है ? मेरा अन्तिम लक्ष्य क्या है ? अतः ऐसे मानव के लिए परमात्मप्राप्ति के योग्य तप, संयम या सच्चे देव-गुरु-धर्म पर श्रद्धा एवं उनकी आराधना करना तो दूर रहा, इनका विचार तक नहीं आता। बल्कि टण्ड्रा, दक्षिणी ध्रुव के निवासी या अंदमान-निकोबार द्वीप के आदिमानव तथा अफ्रीका के कतिपय नरभक्षी बर्बर मानव तो धर्म-कर्म या आत्म-परमात्मा के विषय में न तो सुनते-समझते हैं और न ही विचार कर पाते हैं। उनका मनुष्य जन्म पाना, न पाना एक समान है। वे आत्मा से परमात्मा बनने के मार्ग से कोसों दूर हैं।

इनके अतिरिक्त जो अभव्य मानव हैं, अथवा जो मिथ्यादृष्टिपरायण मनुष्य हैं, वे भी चाहे जितनी धर्मकरणी कर लें, चाहे जितना तप, कष्ट-सहन या नियम-पालन कर लें, फिर भी वे बन्धनों से मुक्त न होने के कारण परमात्मा नहीं बन सकते।

निष्कर्ष यह है कि जब तक चार घाती कर्मों से अथवा आठ ही कर्मों से मानवात्मा सर्वथा मुक्त नहीं हो पाते, तब तक परमात्मपद प्राप्त नहीं हो सकता।

यह तो सभी धर्मों और दर्शनों का मत है कि आत्मा से परमात्मा अगर कोई प्राणी बन सकता है, तो एकमात्र वह मनुष्य ही बन सकता है। मनुष्य ही परमात्मपद का या मोक्ष का अधिकारी है।

परन्तु मानव परमात्मपद का अधिकारी होते हुए भी अगर आत्म-तत्व से बहिर्भूत सजीव-निर्जीव वस्तुओं को ही सब कुछ मानता है, उन पर 'मैं' और 'मेरे' की छाप लगाता है तो वह परमात्मा नहीं बन सकता।

मानव-आत्मा की तीन श्रेणियाँ

यही कारण है कि भगवान् महावीर ने मानव-आत्माओं की तीन श्रेणियाँ बताई हैं—(१) बहिरात्मा, (२) अन्तरात्मा और (३) परमात्मा।[1]

मानवात्मा का प्रथम प्रकार : बहिरात्मा

ये तीन श्रेणियाँ उन संसारी मानवात्माओं की हैं, जो विकास के लिए उत्तरोत्तर आगे बढ़ती हैं। इनमें पहले विकास-यात्री बहिरात्मा हैं, जिनकी दृष्टि आत्मा से—आत्मगुणों से भिन्न—पर पदार्थों की ओर लगी हुई हैं। यह आत्मा की दरिद्रता अवस्था है। आत्मा से बाहर की वस्तुओं को ही वह अपनी मानता है। ऐसे व्यक्ति जितने-जितने अपने आत्मारूपी घर से बाहर जाते हैं, अपने तन-मन-वचन को बाहर भटकाते हैं। जितना वह बाहर झांकता है, उतना ही वह आत्मा के स्वर से दूर होता जाता है। भीतर का संगीत उसे बिलकुल नहीं सुनाई देता। वह जितना आत्मा से बाहर जाता है, उतना ही स्वभाव से आत्मिक गुणों से उसकी जड़ें उखड़ती जाती हैं। बहिरात्मा का जीवन दुःखमय, क्लेशयुक्त, प्रपंचपूर्ण, बोझिल हो जाता है। उसके जीवन में निराशा, ऊब, अज्ञानतमिस्रा, मोह-माया, रागद्वेष, वासना आदि बढ़ती जाती हैं। बहिरात्मा के पास मानव की आत्मा होते हुए भी वह सर्वाधिक निकृष्ट और विकारी होती है।

योगीश्वर आनन्दघन जी ने बहिरात्मा का लक्षण इस प्रकार बताया है—

"आतमबुद्धे कायादिक ग्रह्यो, बहिरातम अघरूप, सुज्ञानी!"

जो व्यक्ति शरीर और शरीर से सम्बन्धित मन, वचन, अंगोपांग, बुद्धि, तथा धन, मकान, दूकान, बाग, कारखाना आदि समस्त परपदार्थों को आत्मबुद्धि से ग्रहण करता है, अर्थात्—शरीरादि को ही आत्मा समझता है, वह बहिरात्मा है।

---

१ "तिप्पयारो सो अप्पा परमंतर-बाहिरो दु हेऊणं"—मोक्षपाहुड ४।

जो व्यक्ति शरीर को ही आत्मा मानता है, और यह कहता है कि पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश, इन पांच भूतों के संयोग से शरीर बनता है, और वही आत्मा है। आत्मा को शरीरादि से पृथक् न मान कर जो शरीर को ही सब कुछ मानता है जो यह कहता है कि शरीर को जला देने पर जब वह राख हो जाता है, तो आत्मा भी समाप्त हो जाती है, शरीर से पृथक् आत्मा नाम की कोई चीज नहीं है, न ही शरीर के राख होने पर आत्मा पुनः लौट कर आता है, वह भी बहिरात्मा है।

इसके अतिरिक्त वह व्यक्ति भी बहिरात्मा है, जो अनित्य शरीर को शाश्वत समझता है और यह मानता है कि शरीर मेरा है, मैं इसका हूँ। इसलिए शरीर और शरीर से सम्बद्ध वस्तुओं की रक्षा, वृद्धि और पुष्टि के लिए दुनिया भर के उखाड़-पछाड़ में लगा रहता है। शरीर के लिए जरा-सा भोजन चाहिए, किन्तु वह उत्तम से उत्तम स्वादिष्ट और पौष्टिक वस्तुओं को जुटायेगा। शरीर के लिए ही अपना जीवन समझेगा। जीवन टिकाने और धर्मपालन करने के लिए भोजन है, यह न समझकर वह भोजन के लिए ही जीवन है, इस प्रकार समझता है। शरीर को सुन्दर बनाने के लिए शृंगार-प्रसाधन जुटायेगा, पाउडर, क्रीम, तेल-फुलेल आदि पदार्थों को आसक्तिपूर्वक लगाएगा।

शरीर को लज्जा-निवारण एवं सर्दी-गर्मी से रक्षण के लिए वस्त्रों का उपयोग करना फिर भी क्षम्य है, परन्तु शरीरमोही बहिरात्मा मानव बारीक, कोमल, चमकीले, भड़कीले वस्त्रों को अपनाता है, इसलिए कि वह सुन्दर लगे, उसकी शोभा बढ़े। शरीर के रहने के लिए साधारण सादा-सीधा मकान चाहिए, परन्तु बहिरात्मा एक नहीं, अनेक आलीशान बंगले, अद्यतन फैशन के कई मंजिले मकान बनाएगा, उन्हें अद्यतन साधनों से सुसज्जित करके रखेगा। इस प्रकार शरीर और शरीर से सम्बन्धित समस्त पदार्थों पर वह 'मैं' और 'मेरेपन' की छाप लगाएगा। उसकी रक्षा के लिए प्रचुर धन और साधन जुटाएगा। अहर्निश संसार के राग-रंग, मोह-ममत्व और भोगविलासों में डूबा रहेगा। शरीर ही मैं हूँ। शरीर का नाश ही आत्मा का नाश है और शरीर का जन्म ही आत्मा का जन्म है, इस प्रकार आत्मा और शरीर को पृथक्-पृथक् नहीं मानता। पृथक् समझता हुआ भी बहिरात्मदशा का त्याग नहीं कर पाता। अपनी समस्त प्रवृत्तियां

में 'मैं' और 'मेरेपन' के कारण इतना तद्रूप हो जाता है कि उसे आत्मा के पृथक् अस्तित्व का भान ही नहीं रहता। मोहावृत्त होकर वह शरीर से सम्बन्धित सगे-सम्बन्धी, रिश्तेदार, मित्र आदि सजीव पदार्थों को तथा धन-सम्पत्ति, जमीन-जायदाद, मकान, दुकान आदि निर्जीव पदार्थों को अपने मानता है, गाढ़ ममत्वभाव रखता है। मेरी इज्जत बढ़े, मुझे ही यश और कीर्ति मिले, मेरा नाम प्रसिद्ध हो, मैं ही उच्च पद पर प्रतिष्ठित हो जाऊं, मेरी ही यह सब कमाई है, मेरे द्वारा ही ये सब सत्कार्य किये हुए हैं, मैं ही सर्वेसर्वा हो जाऊं, इस प्रकार रात-दिन इसी चिन्ताचक्र पर आरूढ़ रहता है; आर्त्तध्यान, रौद्रध्यान, ईर्ष्या, द्वेष, वैर-विरोध, कलह-क्लेश, आसक्ति, घृणा आदि के जाल में फंसा रहता है, आत्मा को, आत्महित और आत्मधर्म को बिल्कुल भूल जाता है। निष्कर्ष यह है कि बहिरात्मा को धर्म-अधर्म, सत्य-असत्य, हित-अहित का कुछ भी विवेक या भान नहीं रहता। वह शरीरादि पर-पदार्थों को आत्मबुद्धि से पकड़कर अनात्मभूत तत्त्वों को आत्मभूत मानता है। उन्हीं में तदाकार, तन्मय हो जाता है। जिसे नाशवान् शरीर और विनश्वर पर-पदार्थों के लिए निःशंक होकर दुनिया भर के बखेड़े, झगड़े, उखाड़-पछाड़ या पाप कर्म करने में कोई संकोच या विचार नहीं होता, वह कैसे आत्मा या परमात्मा के सम्बन्ध में सोच सकता है ?

यही कारण है कि बहिरात्मा की समग्र दृष्टि, गति, मति और चेतना आत्मा से बहिर्मुख या शरीरादि पर-पदार्थों में अटकी रहती है, इसलिए विपरीत और जड़ीभूत हो जाती है। क्योंकि वह अपनी आत्मा की ओर पीठ किये हुए है, उसकी चेतना पर मोह का लौहावरण पड़ा रहता है, बुद्धि पर पर-पदार्थों के प्रति ममत्व का पर्दा पड़ा रहता है, वह अहर्निश पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा में रचा-पचा रहता है। इसीलिए बहिरात्मा को पापरूप, अनेक दोषों से युक्त, एवं विविध आधि-व्याधि-उपाधियों से घिरा हुआ कहा गया है। आत्मा की यह दशा बहुत ही निकृष्ट है। यह आत्मा के स्वभाव में नहीं, विभावों और परभावों के प्रवाह में बहता रहता है। इसलिए बहिरात्मा मानवों का परमात्मा बनना अत्यन्त दुष्कर है।

मानवात्मा का दूसरा प्रकार : अन्तरात्मा

द्वितीय श्रेणी के विकसित आत्मा को अन्तरात्मा कहा जाता है

अन्तरात्मा का भावार्थ है—जिसकी आत्मा अन्तर्मुखी हो। जिसने सजीव-निर्जीव पर-पदार्थों की तरफ पीठ कर ली, जिसकी समग्र दृष्टि, गति, मति और चेतना आत्मा की ओर है। उसका ध्यान सिर्फ अपनी आत्मा में है, पर-पदार्थों के प्रति वह आसक्ति, ममत्व-बुद्धि और ध्यान नहीं रखता। योगीश्वर आनन्दघन जी के शब्दों में अन्तरात्मा का स्वरूप इस प्रकार है—

"कायादिकनो हो साखीधर रह्यो, अन्तर आतमरूप, सुज्ञानी।"

अन्तरात्मा वह है, जो शरीर और शरीर से सम्बन्धित पर-पदार्थों एवं प्रवृत्तियों का ज्ञाता-द्रष्टा तथा साक्षीरूप बनकर रहता है। तात्पर्य यह है कि अन्तरात्मा शरीर और शरीर से सम्बन्धित सजीव (परिवार, परिजन, मित्रादि स्वजन) तथा निर्जीव (धन, मकान, दुकान, जमीन-जायदाद तथा विषय सुख-सामग्री आदि) में 'मैं' और 'मेरेपन' की बुद्धि नहीं रखता, वह इन्हें आत्मा से भिन्न, विभाव या परभाव मानकर इनका सिर्फ ज्ञाता-द्रष्टा बना रहता है, इनसे आत्मा को पृथक् समझता है। वह शरीरादि बाह्य भावों में आत्मबुद्धि छोड़कर शुद्ध ज्ञानमय आत्म-स्वरूप का निश्चय करता है। विषय-कषायादि विभावों में भी आत्मबुद्धि नहीं रखता, इन्हें आत्मा से पृथक् मानता है। शरीर से जो भी प्रवृत्तियाँ या क्रियाएँ वह करता है, वह आत्महित के लिए करता है, तथापि अपनी आत्मा को शारीरिक क्रियाओं या मन-वचन-काया की प्रवृत्तियों का साक्षी मानता है। वह इन्हें परभाव मानकर इनके ममत्व में नहीं पड़ता। इस कारण अहंकार-वश स्वयं को उनका कर्त्ता नहीं मानता। पूर्वोपार्जित कर्मों को भोगता हुआ भी अपने-आपको तटस्थ साक्षी मानता है। जैसे रस्सी में साँप का भ्रम दूर हो जाने पर व्यक्ति भयमुक्त हो जाता है, वैसे ही अन्तरात्मा परभावों से सम्बन्धित समस्त भयों से मुक्त हो जाता है। वह समस्त देहधारियों या प्राणियों के ऊपरी चोलों, ढांचों तथा आकारों, या विभिन्न देशों, वेषों, धर्म-सम्प्रदायों, दर्शनों अथवा जातियों के जीवों के ऊपरी आवरणों को न देखकर उनमें विराजमान शुद्ध आत्मा को अपनी विवेक-मयी प्रज्ञा से देखता है। वह सभी प्राणियों को आत्मवत्दृष्टि से ही देखता है। अपने में विराजमान शुद्ध आत्मा को ही वह परमात्मा मानकर उसी पर आए हुए आवरणों को दूर करने का पुरुषार्थ करता है। बहिरात्मा और अन्तरात्मा में अन्तर 'नियमसार' में स्पष्ट बताया गया है, उसका भावार्थ यह है—जो पुण्यकर्म की कांक्षा से स्वाध्याय, प्रत्या-

ख्यान, स्तवन आदि बाह्य जल्प (वचनविकल्प) में तथा अशन, शयन, गमन आदि की मूर्च्छारूप अन्तरंग जल्प में प्रवृत्त रहता है[1] वह बहिरात्मा है। और जो सब प्रकार से जल्पों से निवृत्त होकर अपने ज्ञान-दर्शन-स्वभाव में स्थित है, वह अन्तरात्मा है।

अन्तरात्मा यों चिन्तन करता है कि मैं आत्मभावों से पृथक् होकर इन्द्रियों के विषयों में मग्न हुआ। अहंभाव के कारण आत्मस्वरूप को यथार्थरूप से जाना-समझा नहीं। मैं जगत् में जो-जो चित्र विचित्र रूप देख रहा हूँ, वह तो पराया है, आत्मा का असली रूप तो ज्ञानमय है, जो इन्द्रियों से अगोचर है, इन बाह्य रूपों से भिन्न है। संसार में सुनाई देने वाले विविध शब्द भी (चाहे वे निन्दा के हों या प्रशंसा के, अथवा मोहक व कर्णप्रिय हों, अथवा कर्कश तथा कर्णकटु हों) पराये हैं, आत्मा तो इन शब्दों से रहित है। इसी प्रकार रस, गन्ध और स्पर्श भी सब पराये हैं, इनके प्रति राग-द्वेष, मोह या घृणा करना आत्मा का स्वभाव नहीं है। ये सब आत्मा के नहीं हैं। शरीर आदि से पहले मैंने अनेक क्रियाएँ कीं, जिन्हें भ्रमवश मैंने आत्मा की क्रियाएँ मानली थीं। परन्तु ये मन-वचन-काया की क्रियाएँ पराई हैं, आत्मा की नहीं। आत्मा इनको अपनी मानता है तो कर्मबन्ध होता है। ज्ञान से मुझे आत्म-स्वरूपरमण की ही एकमात्र साधना करनी है। भेदविज्ञान होने से अब मुझे तलवार और म्यान की तरह आत्मा और शरीर की पृथक्ता साफ-साफ नजर आ रही है। आत्मतत्व की दृष्टि, मति-गति होने के कारण अब मैं शारीरिक दृष्टि से किसी के साथ भेदभाव नहीं करता, आत्मिक दृष्टि से ही सबका मूल्यांकन करता हूँ।

मैंने अभी तक आत्मा-अनात्मा का, स्वभाव-परभाव का भेद नहीं समझा था, इसी कारण दुःख पाता रहा। अज्ञानी पुरुष विषयों को अपने मानकर उनके प्रति प्रीति, आसक्ति करता है, किन्तु मेरे लिए विषय-प्रीति आपत्ति की जननी है। अज्ञानी व्यक्ति ही मोहान्ध होकर नश्वर काया पर मुग्ध-आसक्त होकर उसे सुन्दर, सुरूप, बलिष्ठ, दीर्घायु बनाने का प्रयत्न करते हैं; मुझे अपनी काया की आसक्ति छोड़कर काया और इससे सम्बद्ध मन, वचन, बुद्धि, इन्द्रिय, अंगोपांग आदि की शक्तियों और प्राणों

---

१ अंतर-बाहिर जप्पे जो वट्टइ, सो हवेइ बहिरप्पा।
जप्पेसु जो ण वट्टइ, सो उच्चइ अंतरंगप्पा॥—नियमसार १५०

को सच्चिदानन्द-आत्मा की सेवा में लगाना है। आत्मविज्ञान से रहित व्यक्ति लाभ-अलाभ, सुख-दुःख, जीवन-मरण, निन्दा-प्रशंसा आदि द्वन्द्वों में राग-द्वेष-मोह आदि करके संक्लेश पाता रहता है, किन्तु इन द्वन्द्वों के संयोगों में मैं समता, सहिष्णुता और सन्तोष का आनन्द प्राप्त करूँगा, जो अपने आत्मस्वरूप में रमण करने से प्राप्त होता है। श्रमणों में भी अन्तरात्मा और बहिरात्मा की कसौटी बताते हुए 'नियमसार' में कहा गया है—

जो धम्म सुक्क झाणम्मि परिणतो सो वि अन्तरंगप्पा।
(सु) झाणविहीणो समणो बहिरप्पा इदि विजाणाहि ॥१५१॥

जो श्रमण धर्मध्यान और शुक्लध्यान से परिणत है, वह अन्तरात्मा है, और जो श्रमण उक्त सुध्यानों से रहित है, उसे बहिरात्मा जानो।

अज्ञानी प्राणी की अन्तर्ज्योति अवरुद्ध हो जाने से वह आत्मा से भिन्न पदार्थों को मनोज्ञ-अमनोज्ञ मान कर तुष्ट-रुष्ट होता रहता है, परन्तु मुझे तो अपनी आत्मा में ही सन्तुष्ट रहना चाहिए। भगवद्गीता में भी स्पष्ट कहा है—

यस्त्वात्मरतिरेव आत्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥[1]

जिस मनुष्य की आत्मा में प्रीति है, और आत्मा में ही जो मनुष्य तृप्त रहता है, तथा जो आत्मा में ही सन्तुष्ट रहता है, ऐसे तत्त्वज्ञानी पुरुष को अन्य क्रियाएँ करनी नहीं होतीं।

ऐसे आत्मवान् पुरुष को अपने स्वरूप-रमण में ही सदैव तृप्ति, सन्तुष्टि और आनन्दानुभूति होती है।

जो आत्मा को जानता-मानता नहीं, वह पर्वत, ग्राम, नगर, उपाश्रय, आश्रम आदि को ही अपना निवास-स्थान मानता है, परन्तु अन्तरात्मा मानव सभी अवस्थाओं में अपनी आत्मा को ही अपना आवास-स्थान मानता है।

अन्तरात्मा शरीरादि को अपने न मानकर अपनी आत्मा को ही अपना आत्मीय बन्धु, मित्र या शत्रु मानता है। इस दृष्टि से अपनी आत्मा ही अपना संसार या मोक्ष रचती है। वह शरीर को आत्मा से पृथक समझने के कारण अन्तरात्मा मृत्यु आने पर बिना किसी हिचकिचाहट के

---

१ भगवद्गीता अ. ३, श्लो. १७

समाधिपूर्वक शरीर छोड़ देता है। निरन्तर भेदविज्ञान के अभ्यास से अन्तरात्मा मानव आत्मनिष्ठ बन जाता है, शरीर और आत्मा की पृथकता के दृढ़ अभ्यास से उसका देहाध्यास—शरीर पर ममत्व छूट जाता है। शरीर के सुख-दुःख, पीड़ा-व्यथा में वह व्याकुल नहीं होता, न ही आर्त्त-ध्यान करता है। देहाध्यास या देहासक्ति छूटने से पुनः-पुनः विविध योनियों में जन्म-मरण से वह छुटकारा पा लेता है। भेदविज्ञान के निरन्तर अभ्यास से वह अपने भवभ्रमण को अत्यन्त सीमित कर लेता है। ऐसे आत्मनिष्ठ को शरीर से सम्बन्धित घर, कुटुम्ब, जाति, लिंग, वेष, वर्ण, प्रान्त, देश आदि का कोई अभिमान पद या ममत्व नहीं होता। इस प्रकार की उच्च भूमिका पर आरूढ़ अन्तरात्मा सोते-जागते, एकान्त में या समूह में जो कुछ भी प्रवृत्ति या क्रिया करेगा, उससे उसे पापकर्म का बन्ध नहीं होगा। वह शुभ और अशुभ दोनों भावों को पुण्य-पापकर्म-बन्ध का कारण जान कर यथाशक्य शुद्ध भावों में ही रमण करेगा। जहाँ शक्य नहीं होगा, वहाँ अनासक्तभाव से शुभ भाव में प्रवृत्त होगा, किन्तु अशुभ भाव को तो कतई नहीं अपनाएगा। इस प्रकार का अन्तरात्मा शुद्ध आत्मभावों का अनुभव करके आत्माराधन द्वारा आत्मा में ही परमात्म भाव को जगा लेता है। ऐसा मानवात्मा ही परमात्मा बनता है। कहा भी है—आत्मा जब कर्म-फल से विमुक्त हो जाता है, तब वह परमात्मा बन जाता है।[1]

ऐसा व्यक्ति परमात्मपद को प्राप्त करने की दिशा में ही चल पड़ा है, अपने घर की ओर मुड़ा है, लेकिन वह परमधाम (घर) से अभी बहुत दूर है। वह अभी मंजिल तक पहुँचा नहीं है, रास्ते में ही है। यद्यपि इन आत्माओं को भौतिक सुख के प्रति अरुचि होती है। ये आत्मा के हित-अहित, उत्थान-पतन, धर्म-अधर्म एवं सत्य-असत्य को भली-भाँति समझते हैं, अहिंसा-सत्य आदि पर विश्वास भी रखते हैं, किन्तु चारित्रमोहनीय का जितना-जितना क्षयोपशम होता है, तदनुरूप वे आचरण भी करते हैं। मोक्षप्राप्ति या परमात्म-पदप्राप्ति की दिशा में उनके चरण आगे से आगे बढ़ते जाते हैं। अन्तरात्मा की दशा साधकदशा है। उसकी आध्यात्मिक जीवन की साधना अन्तरात्मपद से प्रारम्भ होती है और विकास पाती-पाती परमात्मपद में परिसमाप्त होती है। साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका एवं सम्यग्दृष्टि मानव अन्तरात्मा की कोटि में आते हैं।

---

१ अप्पो वि य परमप्पो, कम्मविमुक्को य होइ फुड।

—भावपाहुड १५१

मानवात्मा का तीसरा प्रकार : परमात्मा

अन्तरात्मा साधना करते-करते जब आध्यात्मिक विकास के सर्वोच्च शिखर पर पहुँच जाता है, जब उसके चार आत्मगुणघाती (घातिक) कर्म क्षय हो जाते हैं, अथवा वह आठों ही कर्मों से रहित हो जाता है, तब वह सर्वज्ञ-सर्वदर्शी परमात्मा हो जाता है। परमात्मा का अर्थ है—ज्ञान, दर्शन, शक्ति और आनन्द से परिपूर्ण आत्मा। यह आत्मा की सर्वोच्च विकास-प्राप्त अवस्था है, या आत्मा के विकास की चरम सीमा है। चेतना के सूर्य की अनन्तरश्मियाँ उसमें प्रादुर्भूत हो जाती हैं।

परमात्मा दो कोटि के होते हैं—(१) जीवन्मुक्त वीतराग अरिहन्त भगवान् और (२) सर्वथा शुद्ध-बुद्ध, अष्टकर्ममुक्त, देहादि-रहित सिद्ध परमात्मा।

इनमें से अरिहन्त कोटि के जीव-मुक्त परमात्मा तीर्थंकर भी हो सकते हैं, सामान्य केवलज्ञानी भी हो सकते हैं, तथा जिनके भी चार घाति-कर्म नष्ट हो चुके हैं, वे सब परमात्मा कहे जा सकते हैं। ऐसे परमात्मा का लक्षण देखिये योगीश्वर आनन्दघनजी के शब्दों में—

ज्ञानानन्दे हो पूरण पावनो, वर्जित सकल उपाध, सुज्ञानी।
अतीन्द्रिय गुण-गण-मणि आगरू, इम परमातम साध, सुज्ञानी॥

जो ज्ञान और आनन्द से परिपूर्ण हैं, परम पवित्र, शुद्ध आत्मा हैं, देहाध्यास के कारण होने वाली समस्त उपाधियों से रहित हैं, वे इन्द्रियातीत हैं, अर्थात्—वे इन्द्रियों से अगोचर हैं। तथा यथाख्यातचारित्री होने के कारण क्षमा, दया, सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य आदि अनन्त आध्यात्मिक गुणों के भण्डार हैं। वे ही परमात्मा हैं। किसी के वरदान से, अनुग्रह से या पर-पुरुषार्थ से वे परमात्मा नहीं बनते, अपितु अपनी ही रत्नत्रय साधना में पुरुषार्थ से बनते हैं। जैनदर्शन इतना उदार है कि वह किसी भी जाति, देश, वेश, वर्ण, संघ या लिंग आदि के साथ परमात्मपद को नहीं बाँधता। किसी भी जाति, देश, लिंग, वर्ण, वर्ग, वेष, संघ या कुल आदि का स्त्री या पुरुष, गृहस्थ या साधु, धर्मिष्ठ या पापिष्ठ, कुलीन या अकुलीन व्यक्ति अन्तरात्मा बनकर आत्मसाधना में पुरुषार्थ करके परमात्मा बन सकता है। हरिकेशबल मुनिवर चाण्डालकुल में जन्मे थे। उन्हें किसी भी प्रकार का धार्मिक वातावरण, उत्तम अवसर, विकास के साधन या आत्मा-परमात्मा का नाम-श्रवण भी उपलब्ध नहीं था, न ही उन्हें सुन्दर शरीर,

उन्नत मननशील मन, उत्तम वचनबल तथा ज्ञानबल प्राप्त था। किन्तु पूर्वजन्मकृत कर्मों के क्षयोपशम से, एक निर्ग्रन्थ मुनिवर के सदुपदेश से उनकी अन्तरात्मा जागी। वे संसार की मोहमाया से विरक्त हुए, विषय-कषायों से उपरत होने के लिए प्रतिबुद्ध हुए और आत्मा पर छाए हुए कर्म-कालुष्य को दूर करने के लिए वे बहिरात्मा से अन्तरात्मा बनकर संयम के आत्मेय पथ पर चल पड़े। उनके साधनामय जीवन की कसौटी हुई, प्रलोभन, विघ्न बाधा, जनाक्रोश आदि अनेक घाटियों से वे पार हुए और तपे हुए सोने की तरह परीक्षा में खरे उतरे और एक दिन वे अन्तरात्मा से परमात्मा बन गए। वे सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हो गए, अनन्तज्ञान, दर्शन, शक्ति और आनन्द से परिपूर्ण हो गये। उनके साधनाकाल की सर्वोत्कृष्ट उपलब्धि की प्रशंसा करते हुए स्वयं भगवान् महावीर ने कहा है—

सक्खं खु दीसइ तवो-विसेसो, न दीसइ जाइविसेस को वि।
सोवागपुत्तं हरिएससाहुं,.....जस्सेरिसा इड्ढी महाणुभावा॥[1]

देखो, इस श्वपाक (चाण्डाल) पुत्र हरिकेशबल साधु को, जिसकी ऐसी ऋद्धि, तपःतेज का महान प्रभाव है। इनमें साक्षात् तपविशेष दिख रहा है, कहीं जाति आदि की विशेषता नहीं दिखाई देती।

यह है, देह में रहते हुए भी देहाध्यास से सर्वथा मुक्त, जीवन्मुक्त-कोटि के परमात्मा का स्वरूप। देहविमुक्तकोटि के परमात्मा समस्त कर्म, काया, मोह-माया, जन्म-मरण आदि से सर्वथा मुक्त, निरंजन, निराकार, सिद्ध परमात्मा हैं। वे अशरीरी होने के कारण जन्म-मरण आदि से रहित होने से संसार से उनका नाता सर्वथा छूट जाता है। ऐसे विदेहमुक्त परमात्मा संसार में लौटकर नहीं आते। वे शरीर से सदा के लिए सर्वथा रहित होकर मोक्ष में पहुँच जाते हैं। अनन्तचतुष्टय से युक्त होकर वे सदा-सर्वदा अपने आत्मभावों में, आत्मानन्द में ही रहते हैं।

निष्कर्ष यह है कि बहिरात्मा सांसारिक जीवन का प्रतिनिधि है, अन्तरात्मा साधकजीवन का और परमात्मा है—साध्यजीवन का प्रतिनिधि। जो मानव बहिरात्मदशा का त्यागकर अन्तरात्मा बन जाता है, वह आत्म-साधना करते-करते स्वयं पुरुषार्थ द्वारा परमात्मा बन जाता है। इसीलिए जैनधर्म का मूल स्वर है—**अप्पा सो परमप्पा।**

●

---

१ उत्तराध्ययन सूत्र अ. १२, गा. ३७

९

आत्मार्थी ही परमात्मार्थी

आत्मार्थी—'अप्पा सो परमप्पा' सिद्धान्त को चरितार्थ करने वाला

'अप्पा सो परमप्पा'—आत्मा ही स्वभाव से परमात्मा है, इस सिद्धान्त को हृदयंगम करने से आत्मा स्वयमेव प्रकट रूप में परमात्मा बन सकता है। परन्तु प्रश्न यह है कि इस सिद्धान्त को कौन हृदयंगम कर पाता है? वह कैसे हृदयंगम करता है? वह क्या बोलता है? कैसे चलता है? किस प्रकार विचरण करता है? उसका मुख्य चिन्तन किस विषय का होता है? उसे किस प्राप्तव्य को प्राप्त करने की तमन्ना होती है? इन सबका संक्षेप में उत्तर है कि आत्मार्थीजन ही आत्मा से परमात्मा बनने के सिद्धान्त को हृदयंगम करता है। वह आत्मार्थ की भाषा में ही बोलता, चलता और विचरण करता है। उसका मुख्य चिन्तन आत्मार्थ से परमात्मार्थ प्राप्ति का होता है। सच्चिदानन्दमय सिद्ध-बुद्ध-मुक्त परमात्मा को प्राप्त करने का उसका अन्तिम लक्ष्य होता है। जिज्ञासा, मुमुक्षा, पात्रता एवं योग्यता से लेकर परमात्मपद-प्राप्ति की तमन्ना तक की अर्हताएँ आत्मार्थी में होती हैं। आत्मार्थी ही वास्तव में परमात्मार्थी है और वही एक दिन आत्मा से परमात्मा बन पाता है।

आत्मार्थीजन की पहचान

अनेकान्त दृष्टि से आत्महित की अपेक्षा से प्रत्येक वस्तु का यथा-योग्य उपयोग यत्नाचार और विवेक करना ही आत्मार्थी का मुख्य प्रयोजन है। श्रीमद्राजचन्द्र ने इस सम्बन्ध में आत्मार्थीजनों की पहचान कराते हुए कहा है—

ज्यां ज्यां जे जे योग्य छे, त्यां समजवुं तेह [1]
त्यां त्यां ते ते आचरे, आत्मार्थी जन एह ॥८॥

अभिप्राय यह है कि आत्मार्थ-प्राप्ति की तमन्ना रखने वाले आत्मार्थी मानव की जिम्मेवारी कितनी बढ़ जाती है ? इस सत्य-तथ्य को यहाँ उजागर किया गया है। जिसके अन्तर् में आत्मोत्थान का अटल निश्चय जाग उठा है और आत्मा के सर्वतोमुखी विकास एवं शोधन के लिए जो सर्वस्व समर्पण करने को तत्पर हो गया है। उसके अन्तर् में स्वतः विवेक का उदय होता है। वह समग्र जगत् के सर्व तत्त्वों की योग्यता-अयोग्यता, हानि-लाभ, साधकता-बाधकता आदि दृष्टिबिन्दुओं से आत्महित को लक्ष्य में रखकर यथायोग्य उपयोग करता है।

आत्मार्थी के अन्तर् में स्वतःप्रेरित विवेक होता है। उसकी आत्मा में अन्तःप्रज्ञा होती है, जिससे वह वस्तुतत्व का निर्णय अपनी आन्तरिक सूझ-बूझ से कर लेता है।

ऐसा आत्मार्थी साधक भले ही आत्मविकास की पूर्णता=परमात्म-प्राप्ति तक नहीं पहुँचा हो, परन्तु वह सतत् अभ्यास दशा में प्रवृत्त रहता है। इस कारण शुद्ध आलम्बनों द्वारा आत्मिक गुणों के विकास के साधक कारणों को ग्रहण कर लेता है और बाधक कारणों का त्याग कर देता है। इसी प्रकार हित-अहित, कल्याण-अकल्याण, श्रेय और प्रेय, हेय और उपादेय, आचरणीय और अनाचरणीय, स्व और पर, स्वभाव और परभाव को निष्पक्ष और मध्यस्थ दृष्टि से पृथक्-पृथक् कर लेने का नाम ही विवेक है, जिसके लिए आत्मार्थीरूपी राजहंस ही सुयोग्य पात्र होता है।

वह जगत् के तत्त्वों को जानकर अन्तर् की ओर मुड़ता है और अपनी आत्मा को जगत् से पृथक् शुद्ध चैतन्यस्वरूप निश्चित करता है। वह परभाव के कारण आत्मा पर आये विकारों से शुद्ध आत्मतत्त्व का

---

१ आत्मसिद्धि, दोहा ८।

निर्णय नहीं करता। निश्चय करने के अनन्तर वह विकार की ओर नहीं झुकता, शुद्ध चैतन्यस्वरूप स्वभाव की ओर ही झुकता है। छह द्रव्यों और नौ तत्त्वों का भगवत्कथित स्वरूप जानकर वह अपने ज्ञानस्वरूप शुद्ध आत्मा का[1] निश्चय करता है। निजतत्त्व के निर्णय के बिना परतत्त्व का यथार्थ ज्ञान कदापि नहीं होता। इसलिए आत्मार्थी स्व-पर का विवेक करके स्वभाव में एकाग्र हो जाता है।

आत्मार्थी का सही अर्थ और फलितार्थ

प्रवचनसार में बताया गया है कि जो सर्वज्ञ आप्त पुरुषों के प्रवचनों को अर्थतः जानता है, वह अर्थी है,[2] दूसरे शब्दों में कहें तो आत्मार्थी है।

इसका तात्पर्य यह है कि सर्वज्ञकथित शास्त्रों के अर्थ, रहस्य, उद्देश्य और प्रयोजन को जो भलीभाँति जानता है। उनमें बताये गये षट्द्रव्यों, नौ तत्त्वों, तथा उनमें भी आत्मद्रव्य (जीवतत्त्व) को प्रधान मान कर शेष तत्त्वों तथा द्रव्यों का यथायोग्य उपयोग करता है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र (वैदिक दृष्टि से भक्तिमार्ग, ज्ञानमार्ग और कर्ममार्ग) तीनों का यथायोग्य आचरण करता है। अपनी शक्तियों का व्यर्थ अपव्यय न करके आत्मा के विकास, उसकी शुद्धि तथा शुद्ध स्व-भाव रमण करने में लगता है; आत्मा का अर्थी बनकर प्रत्येक वृत्ति-प्रवृत्ति-निवृत्ति और निर्वृत्ति (निर्वाण एवं शान्ति) का उचित उपयोग करता है। वही आत्मार्थी है, वही परमात्मार्थी है।

आत्मार्थी की जिज्ञासा और तत्परता

उसका मुख आत्मा से परमात्मा की ओर होता है। वह आत्मा का हित, कल्याण, मंगल का ही अर्थी (कर्जमंद) होता है। आत्मा का हित, कल्याण एवं मंगल किस प्रकार से हो? ताकि वह परमात्मा बन सके, यही उसकी जिज्ञासा, तमन्ना, मंत्रणा, वाचना, विचारणा, भावना और साधना होती है। वह अन्तःकरण से, आत्मा के कण-कण से, आत्महित के लिए पुरुषार्थ करता है। आत्मा के परमहित, परमार्थ के लिए वह जीता है, उसी के लिए वह बोलता, चलता, खाता-पीता, सोता-जागता और सोचता-विचारता है।

---

१ शुद्धात्मद्रव्यमेवाहं शुद्धज्ञानं गुणो मम।
नान्योऽहं, न ममाऽन्ये, चेत्यदो मोहारिसूदनम्॥

२ देखिये-प्रवचनसार में आत्मार्थी का निर्वचन—अर्थतः अर्थी=आत्मार्थी।

जहाँ से भी, जिस किसी निर्ग्रन्थ, निष्पक्ष, निःस्पृह, त्यागी, आत्मज्ञानी, आत्मानुभवी गुरु या महापुरुष से शुद्ध आत्मा की जिज्ञासा शान्त एवं समाहित हो, वहीं वह विनयपूर्वक समर्पित हो जाता है, उन्हीं की चरण-शरण ग्रहण करता है, उन्हीं के सम्मुख आत्मार्थिता का याचक बन कर जाता है, उन्हीं की सेवा-शुश्रूषा में सेवक बनकर तत्पर रहता है।

आत्मार्थी : परमविवेकी परमहंस

हंस के लिए कहा जाता है कि वह क्षीर-नीर विवेक कर लेता है। राजहंस के सामने पानी मिला हुआ दूध रखा जाए तो उसकी चोंच में ऐसा गुण है कि वह दोनों को पृथक्-पृथक् कर देता है और दूध ग्रहण कर लेता है और पानी छोड़ देता है। इसी प्रकार आत्मार्थीजन हित-अहित, गुण-अवगुण, श्रेय-प्रेय आदि द्वन्द्वों में उपादेय और हेय का विवेक (पृथक्करण) करके उपादेय को अपना लेता है और हेय को छोड़ देता है।

भारत में कई महापुरुषों को 'परमहंस' कहा जाता है। बंगाल में हुए रामकृष्ण परमहंस के नाम से प्रसिद्ध हैं। हंस तो दूध और पानी को पृथक् करने वाला क्षीर-नीर-विवेकी होता है। परन्तु परमहंस तो कुछ विशिष्ट रूप से पृथक्करण करने वाला परम विवेकी होता है। आत्मार्थी परमहंस की तरह स्व और पर का परम विवेक करता है। कर्मरूपी अनिच्छनीय पुद्गल या राग-द्वेष, मोह आदि विभावरूप विकार पंचेन्द्रिय विषयों के प्रति आसक्ति, आत्मबाह्य सजीव-निर्जीव सभी पदार्थ परभाव हैं, ये आत्मा के साथ मिलकर संसार-परिभ्रमण कराते हैं, अतः आत्मार्थी परम हंस इन्हें जलरूप निस्सार समझकर तटस्थ भाव से छोड़ता है, अथवा इन्हें त्याज्य समझकर इनके प्रति उदासीन भाव रखता है और दूध रूप परम तेजस्वी ज्ञानानन्दमय शक्तिमान आत्मा को आदरभाव से ग्रहण करता है अर्थात् उसी में रमण करता है।[1] अनादिकाल से एक क्षेत्र का अवगाहन करके रहे हुए और एक रूप प्रतिभासित होने वाले आत्मा और शरीर को क्षीर नीर की तरह भिन्न-भिन्न कर लेता है। जिसने इन दोनों की अथवा स्व-पर की भिन्नता को जाना, दृढ़ प्रतीति की, अकेले आत्मा को अपनाकर

---

३. खीर नीर परे पुद्गल मिश्रित पण एहथी छे अलगो रे।
अनुभव हंस चंचु जो लागे, तो नवि दीसे वलगो रे॥
सम्यक्त्व के ६७ बोल गा० १२

उसका अनुभव किया। आत्मानुभव के पश्चात् आत्मा में स्थिरता आई, फिर उसमें निमग्न हो गया, वही परमविवेकी आत्मार्थी परमहंस कहलाता है। फिर वह चाहे जिस जाति, पंथ, धर्म-सम्प्रदाय, देश, वेश, भाषा आदि का अवलम्बन लेकर चलता हो, परन्तु शरीर और आत्मा की पृथकता का अनुभव करके आत्मा में ही रम जाता है, वही परमहंस है।

आत्मार्थी की क्रियाएँ भी विवेकमय

ऐसा आत्मार्थी प्रत्येक क्रिया को विवेकपूर्वक करता है। वहाँ भी वह **'ज्यां-ज्यां जे जे योग्य छे, त्यां समजवु तेह'** इस सूत्र को आत्मार्थीजन की परिभाषा के अनुसार, प्रत्येक क्रिया के साथ जोड़ता है। जैसे—चलना है, तो वह पहले विवेक करेगा—क्यों चलना है? कहाँ चलना है? कितना चलना है? किस प्रकार चलना है? क्या वहाँ चलना अनिवार्य है? चलते समय समिति-गुप्ति का ध्यान रखना है? जिससे चलने की क्रिया के साथ हिंसा, असत्य, अब्रह्मचर्य आदि पापास्रव न आजाएँ। जिस प्रकार 'चलना' क्रिया में वह इतना विवेक करता है। उसी प्रकार खड़े होने, बैठने, सोने-जागने, खाने-पीने, पहनने-ओढ़ने, बोलने-न बोलने इत्यादि प्रत्येक क्रिया साथ **'ज्यां-ज्यां जे जे योग्य छे'** इत्यादि सूत्र के अनुसार विवेक करता है। इसी विवेक को शास्त्रीय परिभाषा में जयणा (यत्ना), यत्नाचार या उपयोग कहा गया है। दशवैकालिक सूत्र में आत्मार्थी साधक अपने गुरु से प्रश्न करता है—

कहं चरे, कहं चिट्ठे, कहमासे कहं सए?
कहं भुंजंतो भासंतो पावकम्मं न बंधइ?[1]

इसका भावार्थ यह है कि शिष्य के मन में शंका होती है, चलना-बैठना आदि प्रत्येक क्रिया करते समय किसी न किसी जीव की विराधना हो सकती है, विराधना से तो पापकर्म का बन्ध होगा फिर कैसे चला, बैठा, खड़ा हुआ, सोया, खाया-पीया अथवा बोला जाए, जिससे पापकर्म का बन्धन हो।

इस प्रश्न के उत्तर में गुरुदेव कहते हैं—

जयं चरे जयं चिट्ठे जयमासे जयं सए।
जयं भु जंतो भासंतो पावकम्मं न बंधई॥[2]

---

१ दशवैकालिक सूत्र अ० ४ गा० ७
२ दशवैकालिक सूत्र अ. ४ गा. ८

जहाँ जीवन है, वहाँ जीवन-सम्बन्धी सभी क्रियाएँ रहेंगी। शरीर को सदा के लिए निश्चेष्ट बनाकर रखा नहीं जा सकता, न ही मन को गठड़ी बाँधकर, एकदम निर्विचार करके रखा जा सकता है, इन्द्रियों को भी अपने-अपने विषयों में प्रवृत्त होने से रोका नहीं जा सकता। परन्तु आत्मार्थी पुरुष शरीर, मन, वाणी आदि से होने वाली प्रत्येक प्रवृत्ति में शुभ-अशुभ का विवेक करेगा। आत्मा के हित-अहित, कर्तव्य-अकर्तव्य, करणीय-अकरणीय, आचरणीय-अनाचरणीय, श्रेय-प्रेय, अनिवार्य-अनिवार्य का विवेक करेगा। फिर अगर वह प्रवृत्ति अनिवार्य हो तो वह उसे भी यत्नापूर्वक सावधानी और अप्रमत्ततापूर्वक करेगा, जिससे किसी भी जीव को हानि, क्षति, अशान्ति, आशातना, पीड़ा न हो। इसी को एक शब्द में विराधना कहा गया है। संक्षेप में, आत्मार्थी जीव चलना, खड़ा होना, बैठना, सोना, खाना-पीना या बोलना प्रभृति प्रत्येक जीवनसम्बन्धी अनिवार्य क्रिया यत्ना से करता है तो पापकर्म का बंध नहीं होता।

आत्मार्थी : प्रवृत्ति-निवृत्ति का विवेककर्त्ता

इसके अतिरिक्त आत्मार्थी का जीवन प्रवृत्ति-निवृत्ति के विषय में भी विवेकमय होता है। वह प्रत्येक प्रवृत्ति या निवृत्ति को तटस्थ ज्ञाता-द्रष्टा बनकर करता है। कहाँ प्रवृत्ति की जाए, कहाँ निवृत्ति? इस विषय में आत्मार्थी पूरा सावधान व अप्रमत्त होता है। उत्तराध्ययन सूत्र में आत्मार्थी साधक के लिए प्रवृत्ति-निवृत्ति का विवेक इस प्रकार बताया है—

एगओ विरइं कुज्जा, एगओ य पवत्तणं।
असंजमे नियत्तिं च, संजमे य पवत्तणं॥[1]

आत्मार्थी निर्ग्रन्थ साधक एकान्त प्रवृत्ति या एकान्त निवृत्ति को न अपनाये। वह एक ओर विरति (निवृत्ति) करे, तो दूसरी ओर प्रवृत्ति करे। जहाँ असंयम होता हो, जिस आचरण या प्रवृत्ति से आत्मा का अहित होता हो, जो अशुभ और अनिष्टकारक हो, उस प्रवृत्ति से साधक विरत हो; निवृत्त हो और जो प्रवृत्ति संयमवर्द्धक हो, जिससे संयम में कोई बाधा या हानि न पहुँचती हो, जो आत्मा के लिए हितकर, शुभ,

---

१ उत्तराध्ययनसूत्र अ. ३१, गा. २

आचरणीय एवं निर्दोष हो, उसी में साधक प्रवृत्त हो। इसके विपरीत श्रमण-आवश्यक निर्दिष्ट[1]—उत्सूत्र उन्मार्गी, अकल्प्य, अकरणीय, दुर्ध्यान-युक्त, दुश्चिन्तायुक्त, अनाचरणीय, अनिच्छनीय प्रवृत्ति हो, उससे निवृत्त हो। इसे ही अशुभ से निवृत्ति और शुभ में प्रवृत्ति रूप व्यवहार चारित्र कहा गया है।[2] निश्चयदृष्टि से तो चारित्र आत्मा के निजगुणों में स्थिरता-रूप या स्वरूपरमणरूप है। इसीलिए आत्मार्थी जन संसारवर्द्धक प्रवृत्तियों से उदासीन, विरत एवं निवृत्त रहता है और संसार-क्षयकारी या संसार ह्रासकारी प्रवृत्तियों में प्रवृत्त होता है।

आत्मार्थी द्वारा साक्षीभाव की साधना

जब अपने शरीर, मन, बुद्धि आदि में कोई परिवर्तन होता है, तब आत्मार्थी साधक एक तटस्थ प्रेक्षक की तरह दूर से ही उसे साक्षीभाव-पूर्वक देखता रहता है। आत्मार्थीजन अपनी आत्मा का शरीर, मन, इन्द्रिय, बुद्धि आदि पर्यायों के साथ जितनी मात्रा में तादात्म्य का अनुभव नहीं करता है। उन्हें अपने ज्ञान के विषय=ज्ञेयरूप में ही देखता है, उतनी ही मात्रा में वह यहीं मुक्ति का—परमात्मभाव का आस्वाद पा जाता है। परन्तु सामान्य व्यक्ति केवल साक्षी नहीं रह सकता। अवचेतन मन में संचित जन्म-जन्मान्तर के संस्कारों के अनुसार बाह्य जगत् में घटित होने वाली घटनाओं के प्रति कम्प्युटर (गणक यन्त्र) की तरह वह अपनी प्रति-क्रिया दर्शाता रहता है। महान विचारक **श्री जे. कृष्णमूर्ति** सभी जागृत साधकों से अनुरोध करते थे—"अगर इसी जीवन में मुक्ति का आस्वाद प्राप्त करना हो तो अवचेतन मन में निहित भूतकालिक स्मृतियों के आधार से यांत्रिक रूप से उठती प्रतिक्रियाओं के वशवर्ती मत बनो। जीवन में

---

१ ....उस्सुत्तो उम्मग्गो अकप्पो अकरणिज्जो, दुज्झाओ, दुविचिंतिओ, अणायारो अणिच्छियव्वो....।

—आवश्यक सूत्र, श्रमणसूत्रपाठ

२ (क) असुहादो विणिवित्ति, सुहे पवित्ति य जाण चारित्तं।

—द्रव्य संग्रह ४५

(ख) निवृत्ति ने प्रवृत्तिभेदे चारित्र छे व्यवहारेजी।
निजगुण स्थिरता चरण ते प्रणमो निश्चय शुद्ध प्रकार॥

—पद्मविजयजी म. कृत सिद्धचक्रस्तवन ६

होने वाले संवेदनों के प्रति स्वीकार या अस्वीकार भाव लाये बिना सिर्फ वर्तमान क्षण के प्रति सजग रहो। अपनी दृष्टि—**एफर्टलेस, चोइसलेस, एवेयरनेस** अर्थात्—किसी भी प्रयास या पसन्दगी (रुचि) से रहित केवल जागृत (प्रबुद्ध) दृष्टि—बनाओ। कहने को तो, प्रथम दृष्टि में यह मार्ग अत्यन्त सरल, सुखद और प्रेरक लगता है, किन्तु इसका रहस्य परिपक्व आत्मार्थी साधक ही प्राप्त कर पाते हैं।

भूतकाल के समस्त संचित संस्कारों से तथा भावी आकांक्षाओं और लालसाओं से मुक्त हुए बिना वर्तमान क्षण में केवल द्रष्टा बनकर रहना सामान्य साधक के लिए आसान नहीं है। भूतकाल की स्मृतियाँ, संस्कार और भविष्य की संजोयी हुई कामनाएँ, आकांक्षाएँ, सामान्य मानव को वर्तमान क्षण के प्रति सजग रहने नहीं देती। अवचेतन मन में अनेक संस्कार अनजाने में प्रतिपल-प्रतिक्षण पड़ते रहते हैं तथा उन संस्कारों के अनुरूप उसके विचार और वर्तन किस प्रकार मोड़ ले रहे हैं, इसका जरा भी पता सामान्य साधक को नहीं होता। एतदर्थ केवल जागृत मन को ही नहीं, अवचेतन मन को भी विशुद्ध किए बिना वर्तमान क्षण के प्रति राग-द्वेष-रहित केवल ज्ञाता-द्रष्टाभाव आएगा कैसे ?

आत्मतृप्त, आत्मार्थी : तटस्थ प्रेक्षक

बाह्य जगत् में 'कुछ होना है', 'कुछ पाना है', ऐसी कामना-आकांक्षाओं से मुक्त रहकर वर्तमान क्षणों में किसी प्रकार की आतुरता, आकुलता या आसक्ति के बिना तटस्थ निरीक्षक-प्रेक्षक रहना—ज्ञाता-द्रष्टाभाव में रहना है। यही आत्मतृप्ति का राजमार्ग है।

सामान्य मानव क्रोध, लोभ, मोह आदि विकारों के वशवर्ती न होना चाहता हुआ भी किसी भी घटना, व्यक्ति, आकस्मिक परिस्थिति, या इष्टवियोग व अनिष्टसंयोग के प्रति पूर्वसंस्कारवश अवश होकर अपनी प्रतिक्रिया प्रदर्शित करता रहता है। परन्तु निष्ठावान् आत्मार्थी साधक अन्तर्मन में क्रोधादि विकार उत्पन्न होने के क्षण में ही शरीर में अनुभव होने वाले संवेदनों से सावधान—जागृत होकर उस विकार के आक्रमण को वहीं रोक देता है, वह उसके प्रवाह में नहीं बहता। मन में उठने वाला प्रत्येक विकार शरीर में कुछ न कुछ संवेदन जगाता ही है। किन्तु आत्मार्थी साधक के चित्त में उन संवेदनों को सूक्ष्म रूप से तटस्थ होकर देखने—अनुभव करने की क्षमता प्राप्त हो जाती है। साथ ही

उनके प्रति तटस्थ ज्ञाता-द्रष्टा रहने का अभ्यास भी हो जाता है। आत्मार्थी साधक पुष्ट अभ्यास हो जाने पर जीवन की छोटी-बड़ी प्रत्येक घटना को साक्षीभाव से निर्लेप होकर देखने की क्षमता भी प्राप्त कर लेता है। उसका देहाध्यास मन्द पड़ जाता है। फलतः संसार के बोजभूत कर्ता, भोक्ताभाव से दूर रहता है। देह से आत्मा के पृथक् अस्तित्व की प्रतीति बढ़ने से द्रष्टाभाव उत्तरोत्तर प्रगाढ़ बनता जाता है। श्रीमद्राजचन्द्र की इन पंक्तियों का मर्म आत्मार्थी स्वानुभव में रमा लेता है—

कर्ता भोक्ता कर्मनो, विभाव वर्ते ज्यांय।
वृत्ति वही निजभावमां, थयो अकर्त्ता त्यांय॥
छूटे देहाध्यास तो नहि कर्ता तुं कर्म।
नहि भोक्ता तुं तेहनो, एज धर्मनो मर्म॥[1]

आत्मार्थी जीव : उल्लसित वीर्यवान

आत्मार्थी जीव अपने आत्मस्वरूप को समझने के लिए अन्तर् में तीव्र उत्सुक होता है। इसलिए वह आत्महित की बात कहीं से, और किसी से भी मिले, उल्लासपूर्वक, उत्साह और श्रद्धापूर्वक श्रवण-मनन करता है। आत्मार्थी को उल्लसित वीर्यवान् इसलिए कहा गया है कि उसके परिणाम उल्लासरूप होते हैं। अपने स्व-भाव को साधने हेतु उसका वीर्य (आत्म-शक्ति) उत्साहित होता है। श्रीमद्राजचन्द्र के शब्दों में कहा जाय तो—'उल्लासयुक्त वीर्यवान् ही परमतत्त्व की उपासना करने का प्रमुख अधिकारी है।'

आत्मार्थी उल्लसित वीर्यवान् कैसे बनता है? मोक्षमार्ग-प्रकाशक में सम्यक्त्वप्राप्ति के लिए उद्यत आत्मार्थी जीव के उत्साहपूर्वक प्रयत्न का वर्णन करते हुए कहा है—वह जीवादि तत्त्वों को जानने के लिए किसी समय स्वयं विचार करता है, कभी शास्त्र पढ़ता है, कभी शास्त्र-प्रवचन सुनता है, कभी स्वयं शास्त्र का अध्ययन करता है, कभी प्रश्नोत्तर करता है, ये और इस प्रकार के अन्य माध्यमों से अपने कार्य को सिद्ध करने के लिए उत्साहपूर्वक प्रवृत्त होता है। अपना कार्य करने की अत्यन्त उमंग होने से आत्मा के विषय में उठती हुई शंकाओं का अन्तरंग-प्रीतिपूर्वक समाधान ढूंढ़ता है और आत्मार्थ-साधन के लिए वह तब तक उद्यम करता

---

१ आत्मसिद्धि गा० १२१, ११५

रहता है, जब तक उसे यथार्थ रूप से तत्त्वार्थ-श्रद्धान् नहीं हो जाता, 'यह इसी प्रकार है' ऐसी प्रतीतिपूर्वक जीवादि तत्त्वों के स्वरूप की स्वयं को प्रतीति न हो, तथा जैसी पर्याय (शरीरादि) में अहंबुद्धि है, वैसी केवल आत्मा में 'सोऽहं' बुद्धि न हो जाए, एवं अपने परिणाम शुद्ध स्वभावरूप हैं, इस तथ्य को ठीक-ठीक पहचान न ले। ऐसा आत्मार्थी जीव आत्मार्थ की प्रारम्भिक भूमिका के रूप में सम्यग्दर्शन को प्राप्त करके ही दम लेता है।

एक ही कार्य : आत्मार्थ का

आत्मार्थी के अन्तर् में एकमात्र आत्मार्थ साधने का ही लक्ष्य होता है। आत्मार्थी का वही एकमात्र कार्य होता है—इसीलिए आत्मसिद्धि में कहा है—

काम एक आत्मार्थीनुं, बीजो नहि मन-रोग[1]

मन के अनेक रोग हैं—काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या, द्वेष आदि। परन्तु आत्मार्थी जीव को मन के ये कोई भी रोग तीव्र रूप से स्पर्श नहीं कर पाते। और तन के रोग तो स्पष्ट रूप से समझ में आ जाते हैं। तन में क्या पीड़ा है, क्या दुःख है, अथवा क्या व्याधि है, इसको तो सामान्य व्यक्ति भी स्वयं जान लेता है। शरीर में ज्वर आया हो, वमन होता हो, पेट दर्द हो, कब्ज हो, मस्तक दुखता हो तो व्यक्ति स्वयं समझ जाता है, वैद्य आदि भी उन रोगों के लक्षण देखकर जान लेते हैं। उपचार भी शीघ्र ही हो जाते हैं। आत्मार्थी जीव समभाव से तथा शुद्ध आत्मभाव में रमण करके शारीरिक रोग के कारणभूत कर्मों का क्षय कर देता है। अब रहा मन का रोग, यह भी निम्नस्तर का कोई दुःसाध्य रोग आत्मार्थी के नहीं है। आत्मार्थी मन का साफ है, हठाग्रही नहीं है उसके विषय, कषाय उपशान्त होते हैं, इसलिए मन्दविकारी है। मन का कोई रोग कहो तो वह एक ही है—आत्मार्थ को प्राप्त करने की धुन। आत्मार्थी अपने मन में बहिरात्मभाव के प्रवेश को जरा भी सह नहीं सकता। उसे सांसारिक एवं बहिरात्मा के द्वारा वांछनीय कीर्ति, प्रतिष्ठा, प्रशंसा, वाहवाही, जी-हजूरी आदि मानसिक रोग वांछनीय नहीं। उसके मन में धन-सम्पत्ति, कुटुम्ब-

---

१ आत्मसिद्धि गाथा ३७।

वृद्धि अथवा भोग-सामग्री या अन्य सुख साधनों की प्रचुरता पुण्यवृद्धि आदि की कोई तमन्ना या लालसा नहीं है। इन्हें वह राजरोग एवं पुद्गल के खेल ही मानता है। वह एकमात्र आत्मा में ही रत रहता है। आत्मा में ही तल्लीन हो जाता है। आत्मा के सिवाय 'पर' की ओर वह झांकना नहीं चाहता। 'अप्पा अप्पम्मि रओ' यही उसका जीवनसूत्र बन जाता है। ऐसा आत्मार्थी आत्मा में ही तन्मय रहता है, आत्मा में ही क्रीड़ा करता है, आत्मा को ही अपना सर्वस्व मानता है। भगवद्गीता के शब्दों में आत्म-तृप्त आत्मार्थी का लक्षण देखिये—

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते॥

जो आत्मा में ही रमण करता है, आत्मा में तृप्त और सन्तुष्ट रहता है, उस आत्मार्थी मानव के 'पर' कोई कार्य नहीं रहता।

आत्मार्थी सोचता है कि मेरी आत्मा ने इस चौरासी लक्ष जीव-योनियों में चक्कर काटने में क्या नहीं पाया? देवलोक में देवों की ऋद्धि और भोग-सुख-सामग्री भी प्राप्त की। मानवलोक में राजा-महाराजा, सेठ बनकर पूजा-प्रतिष्ठा भी प्राप्त की। नरकगति और तिर्यञ्चगति में भी अपार दुःख सहे। कभी मानव बनकर भी नीच से नीच कार्य करके जगत् को ठगा, बाहर से धर्मिष्ठ बनकर अन्तर् से पापकार्यों को अपनाता रहा। कभी सामाजिक दृष्टि से प्रसिद्धि और प्रशंसा प्राप्त करने के लिए कई पुण्यकार्य भी किये, उनसे वाहवाही और यशकीर्ति भी मिली। समाज का नेता बन कर अपना रौब भी गांठा; अपना प्रभाव लोगों पर डालकर उन पर अन्याय, अत्याचार किये। दीन-हीन लोगों को पीड़ित भी किया। यह सब किया वैषयिक सुखों को प्राप्त करने के लिए। परन्तु अनादिकाल से संसार में परिभ्रमण करते हुए भी वास्तविक आत्मिक सुख न मिला। कभी यत्किंचित् वैषयिकसुख भी मिला तो वह भी अन्त में दुःखरूप या दुःख-बीज ही सिद्ध हुआ। आत्मार्थी इन सबको पुद्गल के खेल मानता है। क्योंकि पुण्य और पाप दोनों पुद्गल हैं, नाशवान है, असद्भूत हैं। "मेरी आत्मा अब उनमें नहीं फँसकर एकमात्र निज आत्मा के आनन्द में मग्न रहना चाहती है। आत्मिक आनन्द को खोजना ही मेरा एकमात्र कर्तव्य

है।" योगीश्वर आनन्दघनजी के शब्दों में देखिये आत्मार्थी के मनोरथ का शब्द चित्र—

कबहीक काजी, कबहीक पाजी, कबहीक हुआ अपभ्राजी।
कबहीक जग में कीर्ति गाजी सब पुद्गल की बाजी॥
आप स्वभाव में रे, अवधू सदा मगन तुं रहना···· ॥आप····॥

अभिप्राय यह है कि आत्मार्थी व्यक्ति की एकमात्र लगन, एक ही भूख है—आत्मार्थ पाने की; आत्मार्थ साधने की। वह भवभ्रमण का महा-दुःख मिटाकर एकमात्र आत्मिक सुख प्राप्त करना चाहता है।

आत्मार्थी : आत्मिक सुख का याचक

जिस प्रकार कोई क्षुधातुर मनुष्य जो अनेक दिनों का भूखा हो, वह अपनी क्षुधा मिटाने के लिए मान-अपमान की परवाह न करके तृप्त मनुष्य के समक्ष याचक बनकर अपने लिए भोजन माँगता है। वह दूसरों को देने, बाँटने और प्रशंसा प्राप्त करने के लिए भोजन नहीं माँगता, अपितु अपनी भूख का दुःख शान्त हो, ऐसा भोजन चाहता है। ऐसी स्थिति में उस क्षुधातुर को भोजन कितना मधुर लगता है? सूखी रोटी भी मिले तो वह भी उसे मीठी लगती है, और वह उससे सहर्ष अपनी क्षुधा शान्त करता है।

इसी प्रकार जिसे आत्मार्थ को, आत्मा के शुद्ध स्वभाव को जानने और पाने की भूख लगी है, वह अपनी आत्मिक क्षुधा को तृप्त करने के लिए वैसे निर्ग्रन्थ महामनीषी महापुरुषों के समक्ष याचक बनकर विनय-पूर्वक आत्मार्थ को तथा आत्मिक सुख के मार्ग को समझाने एवं प्राप्त कराने की माँग करता है। वह आत्मज्ञानी सत्पुरुषों के समक्ष विनयपूर्वक याचना करता है—"कृपालु धर्मदेवो! मुझे भव-भ्रमणदुःख से छूटने और आत्मिक सुख पाने का मार्ग बतइए। अनादिकाल से संसार में परिभ्रमण करते हुए मेरी आत्मा ने कहीं भी सच्चा सुख प्राप्त नहीं किया; एकान्त दुःख ही पाया। अब मैं ऐसा ही उपाय जानना-पाना चाहता हूँ, जिससे इन दुःखों से छूटकर मेरी आत्मा आत्मिक सुख प्राप्त कर सके।"

आत्मार्थी आत्मा को ही रिझाता है, जगत को नहीं

आत्मार्थी को जगत् की अपेक्षा, आत्मा ही प्रियतम लगता है। 'जगत् इष्ट नहिं आत्मथी', यही उसका स्वर्णसूत्र रहता है। शुद्ध आत्म-

स्वरूप को समझने की उसके अन्तर् में इतनी तड़फन होती है कि कोई उसका अपमान, अनादर भी करता है, हँसी उड़ाता है, मखौल करता है, या उसे झूठ-मूठ बदनाम करता है, तब भी वह उस ओर ध्यान नहीं देता, उसे मनाने-रिझाने का प्रयत्न नहीं करता। वह यही कहता-सोचता है कि मुझे तो अपनी आत्मा को रिझाना है—प्रसन्न करना है—मनाना है, जगत् को नहीं। आत्मा की सच्ची लगन के कारण वह जगत् से मिलने वाले सम्मान-अपमान की, प्रतिष्ठा-अप्रतिष्ठा की, निन्दा-प्रशंसा की परवाह नहीं करता। उसे तो आत्मा के शुद्ध स्वरूप एवं स्वभाव को समझकर अपनी आत्मा का ही हित साधना है, वही उसका लक्ष्य है। उसके मन में यह वृत्ति नहीं उठती कि "मैं आत्मा के विषय में समझकर दूसरों से बढ़कर ज्ञानी या विद्वान् कहलाऊँ, प्रशंसा या प्रसिद्धि प्राप्त करूँ, अथवा जो नहीं समझना चाहते हैं, उन्हें समझाऊँ।" यह है—आत्मार्थी की आत्मर्थिता !

आत्मार्थी : आत्मभ्रान्ति रोग को मिटाने के लिए तत्पर

जिस प्रकार किसी दुःसाध्य रोग से पीड़ित मनुष्य को अनुभवी वैद्य मिलते ही वह हर्षित और उत्साहित हो जाता है तथा अत्यन्त थके हुए मनुष्य को विश्राम मिलते ही वह प्रसन्न हो जाता है, इसी प्रकार आत्म-भ्रान्ति के रोग से पीड़ित आत्मार्थी जीव को भवव्याधि-निवारक वैद्य मिलते ही वह उत्साहित हो जाता है, भवभ्रमण करते-करते थके हुए आत्मार्थी जीव को आत्महितैषी सत्पुरुष की छाया में आत्मा को विश्राम मिलता है तो वह प्रफुल्लित हो उठता है। आत्मभ्रान्ति के रोग को मिटाने वाली आत्मस्वरूप की औषध कान में पड़ते ही उत्साहपूर्वक सेवन कर लेता है। हितैषी सद्गुरु वैद्य जिस प्रकार उसे आत्महितरूप भवभ्रमण-निवारक औषध सेवन करने को कहता है, उसी प्रकार वह सेवन करता है। अपना रोग शीघ्र ही मिटा लेता है। इसी प्रकार भवभ्रमण करके थके हुए जिज्ञासु आत्मार्थी को कोई सद्गुरु आत्मिक विश्राम का स्थान बता देता है, तो वह आत्मारूपी आराम (बाग) में विश्रान्ति लेकर आनन्द प्राप्त करता है।

और जब आत्मार्थी आत्म-सुख का अर्थी बनकर किसी आत्मज्ञानी सत्पुरुष के पास जाता है और आत्म-सुख का मार्ग उसे मिल जाता है, तो उसे कितना आनन्द मिलता है ? आत्मिक सुख की बात उसे कितनी मधुर लगती है ? उस समय आत्मा का शुद्ध स्वरूप तथा स्व-भाव समझकर अपना

दुःख मिटाने का ही आत्मार्थी का एकमात्र लक्ष्य रहता है। वह किसी अन्य सांसारिक लक्ष्य की ओर ध्यान नहीं देता।

आत्मार्थी आत्मार्थ की क्षुधा तृप्त करता है

उस समय आत्मार्थी आत्मा का वास्तविक अर्थी बनकर श्रवण-मनन करता है। श्रवण करते ही आत्मा को बात का उसके अन्तर् में परिणमन हो जाता है। जैसे—कड़ाके की भूख लगी हो, तब क्षुधातुर के पेट में भोजन पड़ते ही उसका परिणमन हो जाता है, वैसे ही जिसे चैतन्यमूर्ति शुद्ध आत्मा की वास्तविक भूख लगी है, उसके कान में आत्मलक्ष्यी वचनामृत पड़ते ही वे आत्मा में परिणत हो जाते हैं।

आत्मार्थी : आत्मशान्ति की प्यास मिटाता है

जैसे किसी तृषातुर को शीतल जल मिलते ही वह रुचिपूर्वक पीता है, वैसे ही आत्मा के अर्थी को चैतन्य के शुद्ध-शांत आत्मिक स्वरूप का रस मिलते ही वह अत्यन्त रुचिपूर्वक पीता है और अन्तर् में परिणत करता है। कोई व्यक्ति रेगिस्तान में भीष्म ग्रीष्म-ऋतु में तपतपाती दुपहरी में आ पहुँचा हो और प्यास के मारे उसके कण्ठ सूख रहे हों, प्राण कण्ठगत हो गए हों, एकमात्र पानी-पानी की पुकार करता हो, ऐसे समय में यदि उसे कहीं से भी शीतल-मधुर पानी मिल जाए तो वह कितनी चाह से पीता है? इसी प्रकार विषय-कषायादि विकार की आकुलतारूपी भयंकर धूप से भवारण्य में घूमता हुआ जीव भी तप्त हो रहा है। ऐसे में आत्मार्थी जीव को आत्मिक शान्ति की तृषा लगी है—आत्मार्थ पाने की लगनरूपी प्यास लगी है। वह आत्मशान्ति की रट लगा रहा है। ऐसे व्यक्ति को आत्मज्ञानी सन्तों के शान्तरसपूर्ण मधुर शीतल वचन-जल का पान मिलते ही अन्तर् में परिणत हो जाता है। कोरे घड़े पर ज्योंही पानी की बूंद पड़ती है त्योंही वह उसे चूस लेता है,वैसे ही आत्मार्थी जीव आत्मा के हित की एक बात कान में पड़ते ही उसे चूस लेता है—अन्तर् में परिणमन कर लेता है।

आत्मार्थी : संसार-समुद्र से पार होने का अभिलाषी

जिस समय कोई व्यक्ति समुद्र में डूब रहा हो, तब उसका एकमात्र यही लक्ष्य रहता है कि मैं समुद्र में डूबने से कैसे बचूं? इसी प्रकार संसार समुद्र में गोते खा-खाकर थके हुए या डूबते हुए आत्मार्थी व्यक्ति का एक

ही लक्ष्य रहता है कि मेरो आत्मा इस संसार-समुद्र में गोते खाने से या डूबने से कैसे बचे ? समुद्र में डूबते हुए जीव को कोई तैरने का उपाय बताए अथवा नौका आदि में बैठने को कहे तो वह जरा-सा भी प्रमाद—आलस्य नहीं करता, इसी प्रकार आत्मार्थी को कोई सत्पुरुष संसार-समुद्र तैरने या पार करने का उपाय बताए तो वह जरा-सा भी प्रमाद किये बिना झटपट उसे उल्लासपूर्वक स्वीकार कर लेता है। इसी प्रकार संसार-समुद्र से पार होने के अभिलाषी आत्मार्थी जीव को कोई आत्मज्ञानी संत भेद-ज्ञानरूपी नौका में बैठने को कहे तो भी वह उसके लिए बिल्कुल प्रमाद नहीं करता, न ही आना-कानी करता है। बल्कि अनन्त जन्म-मरणरूप संसार-सागर में डूबते हुए आत्मार्थी को जो तैरने या डूबने से बचने का उपाय बताता है, उस उपकारी सत्पुरुष का वह परम उपकार मानता है।

सहारा जैसे विशाल रन में किसी को पानी की प्यास लगी हो, उसे पानी पीकर झटपट प्यास बुझाने की धुन लगी हो, वह यदि कहीं पानी का जरा-सा स्रोत पा जाता है तो पानी-पीकर कितना तृप्त, शान्त, निराकुल हो जाता है ? इसी प्रकार संसाररूपी विशाल रन में जिसे शुद्ध आत्मा को पाने और समझने की प्यास लगी है, आत्मा को उस प्यास को शीघ्र शान्त करने की उत्कण्ठा लगी है, वह आत्मस्वरूप को सुनकर और पाकर कितना आनन्दित, तृप्त, शान्त और निराकुल हो जाता है। आत्मार्थी को ऐसी ही तीव्रता अन्तर् में लगती है और वह आत्मस्वरूप का मार्ग पा जाता है।

आत्मार्थी जीव की अन्तर्दशा

शुद्ध आत्मस्वरूप को जानने और पाने की ऐसी तीव्र उत्कण्ठा जिसमें होती है, उस आत्मार्थी की अन्तर्दशा कैसी होती है, इसके लिए श्रीमद् राजचन्द्र कहते हैं—

> कषायनी उपशान्तता, मात्र मोक्ष अभिलाष।
> भवे खेद, प्राणी-दया, त्यां आत्मार्थ-निवास ॥"[1]

आत्मार्थी की आन्तरिक दशा सम्यग्दर्शन के पाँच लक्षणों से परिपूर्ण होती है। वे पाँच लक्षण ये हैं—(१) शम अथवा सम, (२) संवेग,

---

१ आत्मसिद्धि दोहा ३८

(३) निर्वेद, (४) अनुकम्पा और (५) आस्था। आत्मार्थी की पहचान इन्हीं पाँच लक्षणों से हो जाती है।

प्रथम लक्षण : पूर्वोक्त दोहे में सर्वप्रथम है—**कषाय की उपशान्तता**। कषायों का सर्वथा नाश तो बारहवें गुणस्थान के अन्त में होता है। परन्तु उसका प्रारम्भ तो आत्मार्थी के शम (प्रशम) अथवा समगुण से होता है। आत्मार्थी साधक चारित्रमोहनीय के उदय के कारण कषायों का सर्वथा नाश तो नहीं कर पाता, परन्तु कषाय-नाश की पूर्व झलक कषाय को उपशान्त करने से हो जाती है। आत्मार्थी साधक आत्महित को लक्ष्य में रख कर, आत्मा की प्रमाता शक्ति और समताप्राप्ति का विचार करता है। आत्मा से परमात्मा बनने के लिए अपनी शुद्ध आत्मा और परमात्मा के अकषायीस्वरूप पर दृढ़श्रद्धा, अटूट विश्वास और अविचल प्रतीति करके तीव्रतर-तीव्र और मध्यम कषायों का त्याग करता है, केवल मन्द कषाय का सद्भाव रहता है, अर्थात्—कषायों को वह अत्यन्त मन्द, शान्त और कृश कर देता है।

ऐसे आत्मार्थी जीवों के कषाय उदय में न आएँ, ऐसा नहीं होता; किन्तु वे कषायों के उदय में आने पर सावधान हो जाते हैं, आये हुए कषायों के उदय में प्रायः हिलमिल नहीं जाता। कदाचित् असावधानीवश उदय में आए हुए कषाय उसे अपनी ओर खींच भी लें तो भी आत्मार्थी में ऐसी सामर्थ्य होती है कि वह तुरन्त जागृत होकर उन्हें अपने अन्तःकरण से बाहर निकालकर खदेड़ देता है। कदाचित् उदय में आये हुए कषायों में वह हिल-मिल भी जाए तो भी वह शीघ्र ही सावधान होकर विचारता है—कषाय मेरा स्वभाव नहीं है। मैं अकषायी निर्मल आत्मा हूँ। क्रोधादिरूप में परिणमन होना वैभाविक है, वह परभाव में रमण करना है। परभाव के आश्रय से आस्रव आता है और उसके परिणामस्वरूप बन्ध-परम्परा की शृंखला जुड़ती जाती है। अतः क्रोध आदि कषायों के प्रसंग या निमित्त आने पर मुझे अपने आत्मस्वरूप में रहना है क्योंकि अन्तर् में उदय पाते हुए क्रोधादि-स्वरूप मैं नहीं हूँ। इस प्रकार आया हुआ क्रोधादि का उदय समय (अवधि) के परिपाक के साथ समाप्त हो जायेगा और कर्मों की निर्जरा होकर वे झड़ जाएँगे।

यह आवश्यक नहीं है कि जितने कर्म उदय में आएँ, उन सबका वेदन (अनुभव) करे ही, कभी-कभी सबका वेदन नहीं भी होता। परन्तु जो कर्म झड़ने के स्वभाव वाले हैं, वे झड़ ही जाते हैं। उनकी निर्जरा

अवधि पूर्ण होते ही हो जाती है। कर्मों का उदय में आने का क्रम एक क्षण भी रुकता नहीं। वे निराबाध गति से आते ही रहते हैं परन्तु साक्षी भाव से ज्ञाता-द्रष्टा बना रहने में अभ्यस्त आत्मार्थी उन्हें सिर्फ जानता-देखता रहता है, उनमें मिलता नहीं है। वह क्रोधादि का प्रसंग आने पर उत्तेजित न होने का निश्चय कर लेता है। अतः उत्तेजित नहीं होता। तब उदय में आये हुए क्रोधादि स्वयं चले जाते हैं। उपशान्तकषायी होने के कारण क्रोधादि के निमित्त आत्मार्थी का स्पर्श नहीं कर पाते। आत्मार्थी 'शम' गुण को जीवन में रमा लेता है।

दूसरा लक्षण : सिर्फ मोक्ष की इच्छा—सामान्य मानव आज विविध आकांक्षाओं, अभिलाषाओं, एवं इच्छाओं की आग में अहर्निश सन्तप्त हो रहा है। समाजमान्य तथाकथित सांसारिक सुख में विश्वास करने वाला मनुष्य धन-सम्पत्ति, कार, कोठी, बंगला, बहुमूल्य पोशाक, प्रतिष्ठा, सम्मान, प्रसिद्धि आदि बाह्य (पर) पदार्थों में रचा-पचा रहता है, इन्हीं में उसका मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ और चित्त अहर्निश रुका रहता है। सांसारिक इच्छाओं की आग इतनी प्रचण्ड होती है कि इसमें जितना ईंधन (सुख-प्राप्ति के माने हुए साधन) डालो, सब भस्म हो जाता है। सुखसाधन रूपी ईंधन ज्यों-ज्यों डालते जाओगे, त्यों-त्यों इच्छाओं की माँग उत्तरोत्तर बढ़ती जायेगी, वह कभी तृप्त नहीं होगी। इच्छाएँ[1] तो आकाश के समान अनन्त हैं, उनका कभी अन्त आता ही नहीं। जब तक ये सांसारिक इच्छाएँ पड़ी हैं, तब तक आत्मार्थ—परमात्माप्राप्ति या मोक्ष-प्राप्तिरूप अर्थ से अत्यन्त दूर है, आत्मार्थ अन्तःकरण में तब तक अंकुरित नहीं होता।

अतः आत्मार्थी ऐसी सांसारिक और भौतिक इच्छाओं-आकांक्षाओं को अन्तर् में से उखाड़ फेंकता है। मन में भाव तो उठेंगे ही, जब तक वीतराग नहीं हो जाता है। परन्तु वह संसार-वृद्धिकारी भावों को जरा भी प्रश्रय नहीं देता, उसकी एकमात्र भावना=अभिलाषा मोक्षप्राप्ति-परमात्मप्राप्ति की होती है। उसके भावों का वेग अब सांसारिक उलटी दिशा में न बहकर एकमात्र मोक्ष-परमात्मभाव की दिशा में बहने लगता है। संवेग (एकमात्र मोक्ष की अभिलाषा) ही उसके जीवन का लक्ष्य बन जाता

---

१ 'इच्छा हु आगाससमा अणंतया।' —उत्तराध्ययन सूत्र

है। कई आत्मा की बातें बघारने वाले व्यक्ति वाणी से तो संवेग की बातें करते हैं, परन्तु व्यवहार में सांसारिक मान-प्रतिष्ठा, सुख-साधन-सामग्री बढ़ाने की आकांक्षाएँ उनके अन्दर-बाहर खेलती रहती हैं। उनका देहभाव छूटा नहीं, उनमें मोक्षभाव जगा नहीं है। वे सिर्फ बराये नाम आत्मार्थी हैं।

तीसरा लक्षण : भवभ्रमण का खेद—आत्मार्थी भवभ्रमण से सदैव विरक्त रहता है। वह भवभ्रमण के कारणों से दूर रहने का पुरुषार्थ करता है। भवभ्रमण के कारण शुभाशुभ कर्म हैं। प्रायः वह कर्मों के आगमन (आस्रव) और बन्धन (बंध) से सदा सावधान—अप्रमत्त रहने का प्रयत्न करता है।

वह सोचता है—मैं अब भवभ्रमण करते-करते थक गया हूँ। मेरे जीव ने सुगति में जाकर सुख तथा दुर्गति में जाकर दुःख भोगे, किन्तु आत्मा का कुछ भी हित नहीं हुआ। मैं अनन्त-अनन्त जन्म-मरण करने के बाद भी जहाँ का तहाँ हूँ। देवलोक के सुखों की इच्छा से देवगति में भी गया, परन्तु वहाँ भी सांसारिक वैषयिक सुख परिणामस्वरूप दुःखरूप ही सिद्ध हुआ। जन्म-मरण का दुःख कम नहीं है। अतः आत्मार्थी न तो भवभ्रमण के कार्यभूत स्वर्ग, नरक, मनुष्य या तिर्यञ्च किसी भी गति में जाने-आने से विरक्त हो जाता है। निर्वेद उसके जीवन का अंग बन जाता है। सुगति और दुर्गति दोनों को वह परघर मान कर वहाँ जाना-रहना नहीं चाहता, वह स्व-गृह=आत्मा में ही—परमात्मभाव में ही स्थायी निवास करना चाहता है। संसारभ्रमण से उसे उदासीनता हो जाती है। वह परमात्मधाम—मोक्षधाम में ही जाने का प्रयत्न करता है।

चौथा गुण—प्राणिदया : अनुकम्पा—आत्मार्थी जीव समस्त प्राणियों के प्रति दया, अनुकम्पा, करुणा एवं सहानुभूति के भाव रखता है। 'सर्व जीव छे सिद्ध-सम'—सभी जीव निश्चयदृष्टि से सिद्ध-परमात्मा के समान हैं, यह स्वर्णसूत्र उसके हृदय में अंकित हो जाता है। स्वरूप की दृष्टि से सभी आत्माओं के विशुद्ध स्वरूप की ओर ही वह झाँकता है, उसकी दृष्टि विविध पर्यायों—ऊपरी चोलों की ओर नहीं रहती। जीवों के समस्त ऊपरी अन्तर—भेद तो कर्मजन्य हैं। कोई जीव राग, द्वेष आदि करता है तो यह उसके अज्ञान का परिणाम है, उसका वास्तविक स्वरूप यह नहीं है फलतः जीवों के अज्ञान पर उसे भावदया-अनुकम्पा ही उत्पन्न होती है। अन्य जीवों के वाणी, व्यवहार और विचार आत्मार्थ के विरुद्ध होने पर भी

उन्हें अज्ञान, मोहादि रोग या कर्म-रोग से पीड़ित जानकर उन पर कभी क्षोभ, या राग (मोह)-द्वेष नहीं पैदा होता, भावदया ही उत्पन्न होती है। जीवों के आधि, व्याधि-उपाधिजनित दुःखों को देखकर आत्मार्थी के अन्तर् में अनुकम्पा उत्पन्न होती है।

निष्कर्ष यह है कि आत्मार्थी जीव पद-पद पर आत्मजागृति से युक्त होता है, इस कारण उसकी आत्मा कर्मबन्धन में प्रायः पड़ती नहीं, पाप से लिप्त नहीं होती। कषायों तथा राग-द्वेष आदि से प्रायः कलुषित नहीं होती। सदैव सतर्क एवं सावधान रहती है। इसी कारण सहज रूप से जागी हुई भावदया, अन्य प्राणियों के प्रति भी अनुकम्पा भाव से बरस जाती है। फलतः द्रव्यदया तो उसमें होती ही है।

आत्मार्थी में चार लक्षण तो होते ही हैं, पाँचवां आस्था का लक्षण उसमें सहज ही होता है। आत्मा के प्रति श्रद्धा उसके रग-रग में भरी होती है। शुद्ध आत्मस्वरूप को जानने, पाने और परमात्मभाव प्राप्त करने की तीव्र भावना, आस्था उसमें कूट-कूटकर भरी होती है।

आत्मा पर दृढ़ आस्था के फलस्वरूप आत्मार्थी के मन में अपनी परमात्म शक्ति पर पूर्ण विश्वास और आत्मवीर्य का उल्लास होता है। उसको यह आस्था भी परिपक्व होती है कि मेरी परमात्मदशा मेरी आत्मा में से ही प्रकट होगी, क्योंकि मेरी आत्मा में परमात्मशक्ति भरी है। अतः उसमें से मैं अपनी परमात्मशक्ति प्रकट करके स्वल्पकाल में मोक्ष प्राप्त कर पाऊँगा। यह है—आत्मार्थी का परमात्मार्थीपन। ऐसा आत्मार्थी ही सच्चे माने में परमात्मार्थी होता है।

□

१०

आत्मार्थी की दृष्टि : परमात्मभाव की सृष्टि

आत्मार्थी और मतार्थी की दृष्टि में अन्तर

'अप्पा सो परमप्पा' इस सिद्धान्त को पूर्णरूप से हृदयंगम करने के लिए सर्वप्रथम दृष्टि सम्यक्, स्पष्ट, शुद्ध, निष्पक्ष और सर्वांगीण होनी अनिवार्य है। अगर दृष्टि निर्मल न हुई तो आत्मा का परमात्मभाव पाना तो दूर, वह जडात्मा बहिरात्मा या परभावलीन आत्मा बन जाता है। दृष्टि शुद्ध और सम्यक् हो, तभी व्यक्ति आत्मार्थी कहला सकता है और वैसा आत्मार्थी ही परमात्मभाव को प्राप्त कर सकता है। किसी व्यक्ति की दृष्टि निर्दोष, निष्पक्ष, शुद्ध और सम्यक् न हो तो वह एकान्तरूप से किसी एक मत-पक्ष का आग्रही एवं पक्षपाती बन जाता है। वह आत्मार्थी नहीं, मतार्थी कहलाता है। मतार्थी की दृष्टि स्वत्वमोह और कालमोह से आवृत होती है। उसकी दृष्टि अनेकान्तवादी नहीं, एकान्तवादी; मध्यस्थ नहीं, मतपक्षपाती होती है। मतार्थी जीव साम्प्रदायिक कट्टरता से युक्त तथा एकान्त एकपक्ष के खूंटे से बँधा होता है। वह परमार्थ और परमात्मार्थ का अधिकारी नहीं होता, वह अहंकारार्थी, हठाग्रही और केवल

शब्दग्राही होता है। वह विचारक आत्मलक्ष्यी चिन्तक नहीं होता। इसके विपरीत आत्मार्थी सरल, मध्यस्थ, जिज्ञासु, अनाग्रही, नम्र, निरभिमानी, उपशान्त कषायी एवं अनेकान्त दृष्टि-सम्पन्न होता है। आत्मार्थी अपनी अनेकान्त दृष्टि से निश्चय-व्यवहार, ज्ञान-क्रिया, साधन-साध्य, आत्मा के लिए साधक-बाधक आदि का निर्णय करता है। वह इन सब समस्याओं को आत्मार्थ दृष्टि से हल करता है और परमात्मपद प्राप्त करने का अधिकारी बनता है।

आत्मार्थी का सूत्र : जैसी दृष्टि—वैसी सृष्टि

हम देखते हैं कि अधिकांश व्यक्ति किसी न किसी दुःख से पीड़ित होते हैं।[1] धनाढ्य हों चाहे निर्धन, विद्वान हों चाहे मूर्ख, सत्ताधीश हों, चाहे सामान्य जन, सम्यक्दृष्टिविहीन जन दुःख से संतप्त होकर आर्त्त-ध्यान करते हैं, चिन्तित-व्यथित होते रहते हैं। चारों ओर से जब अनेक दुःख-संकट आकर उन्हें घेर लेते हैं, तब अज्ञानी, मिथ्यादृष्टि या विवेकमूढ़ व्यक्ति प्रायः इस प्रकार के आह-भरे उद्गार निकालते हैं—मेरे जैसा दुःखी इस संसार में कोई नहीं होगा। मुझ पर जितने संकट, दुःख या कष्ट पड़े हैं, उतने जगत् में किसी पर भी नहीं पड़े होंगे। उस समय वह यह नहीं सोचता या कहता कि मैंने पूर्वजन्मों में या इस जन्म में पहले जैसे कर्म किये हैं, जितने पाप किए हैं, या दूसरों को दुःख दिये हैं, उतने दुष्कर्म किसी ने नहीं किये होंगे। मेरे ही पूर्वकृत कर्मों के ये दुःखरूप फल हैं। किसी ने ठीक कहा है—

"आत्मापराधवृक्षस्य फलान्येतानि देहिनाम्।"

'अपने ही लगाये हुए अपराधरूपी वृक्ष के ये फल हैं।'

यदि वह इस दृष्टि से विचार करे कि मेरे ही द्वारा लिया हुआ यह कर्मों का ऋण है। अतः मुझे ही इस ऋण को हँसते-हँसते खुशी से चुका देना चाहिए। अन्यथा ब्याज बढ़कर कर्मरूप कर्ज अधिकाधिक बढ़ता जाएगा। मुझे ही उसके दुःखरूप फल अधिक से अधिक भोगने पड़ेंगे।

---

१ देखिये—

ज्ञानी या अज्ञानीजन सुख-दुःखरहित न कोय।
ज्ञानी भोगे ज्ञानसुं, मूरख भोगे रोय॥

सम्यग्दृष्टि सदैव यही सोचता है कि ये मेरे द्वारा ही किये हुए दुःखरूप कर्मफल हैं। इन्हें ही मैं भोग रहा हूँ। मुझे किसी ने दुःख नहीं दिया है। ये उदयप्राप्त कर्म तो मेरे आमंत्रित अतिथि हैं।

किसी को आमंत्रण देकर बुलाया हो, और वह आ जाए तो व्यक्ति को कितना आनन्द होता है। उस समय वह आमंत्रित अतिथि का कितने प्रेम और सत्कार-सम्मानपूर्वक स्वागत और आतिथ्य करता है। उस समय वह न तो ऊबता है, न घबराता है, न ही मुँह बिगाड़ता है। इसी प्रकार पूर्वकृतकर्म आमन्त्रित हैं, वे जब उदय में आते हैं तो समझे कि मेरे द्वारा आमन्त्रित अतिथि आ गये हैं, उनका प्रसन्नचित्त से स्वागत करे, मन में जरा भी संताप, विषाद या दुःख न करे। उससे मनुष्य लोक के सामान्य दुःख तो क्या, उससे भी अनन्तगुने नरकादि के तीव्र दुःख भी समभावपूर्वक भोगने से दुःखरूप—संतापरूप नहीं लगते, तथा नये कर्मों का बन्ध भी अत्यन्त कम होता है, पुराने बहुत-से तथारूप कर्म भी झड़ जाते हैं। इस प्रकार वह दुःख को सुखरूप में परिणत कर लेता है।

आत्मार्थी की इसी प्रकार की सम्यग्दृष्टि होती है। कर्मों और दुःखों के विषय में उसकी दृष्टि अज्ञान और मोह से ग्रस्त नहीं होती। इसी प्रकार दुःख एवं संकट से ग्रस्त व्यक्ति की दृष्टि बदल जाए तो उसे दुःख दुःखरूप नहीं लगेगा और वह किसी भी निमित्त को दोष भी नहीं देगा।

आत्मार्थी यह भलीभांति हृदयंगम कर लेता है कि 'पर' का या निमित्तों का आत्मा पर कोई प्रभाव नहीं होता। फिर भी वह एकान्त आग्रही दृष्टि का नहीं होता है कि नीचे की भूमिका में 'स्व' के साथ 'पर'—निमित्तों का संयोग होने पर भी कुछ परिणाम नहीं आता। एकान्त निश्चयाग्रही बनकर व्यवहार में यम, नियम, संयम आदि उससे छूटते नहीं या शुभ निमित्तों की उससे उपेक्षा भी नहीं होती।

आत्मार्थी सम्यग्दृष्टिसम्पन्न होकर इससे भी आगे बढ़कर सोचता है, जितने भी अशुभ कर्म उदय में आएँ, आने दो, अच्छा ही है। इतने दुःखफलदाता कर्मों का क्षय हो जायेगा, तो भविष्य में मुझे नहीं भोगने पड़ेंगे।

आत्मार्थी इसी प्रकार अपनी दृष्टि बदलता है। क्षण-क्षण में होने वाली जीवन की प्रवृत्तियों, अनिष्ट संयोगों, इष्टवियोगों, अनुकूलताओं और प्रतिकूलताओं का अज्ञानी मिथ्यादृष्टि जन, जिस प्रकार मूल्यांकन

करता है, उस तरह सम्यग्ज्ञानी आत्मार्थी सम्यग्दृष्टि व्यक्ति नहीं करता, वह आत्महित की दृष्टि से उनका सम्यक् मूल्यांकन करता है। जिससे उसकी सृष्टि दुःखरूप नहीं, किन्तु आत्मिक सुखरूप हो जाती है। उसमें अनुकूल और प्रतिकूल दोनों परिस्थितियों को पचाने, सहने और सम्यक् पहलुओं से सोचने की क्षमता प्राप्त हो जाती है।

मगधराज श्रेणिक अपने कर्मों के कारण नरक में गए हैं, लेकिन क्षायिक सम्यक्दृष्टि लेकर गए हैं। इस कारण वे वहाँ नरकगति के भयंकर दुःख जरूर पाते हैं, परन्तु सम्यक्दृष्टि एवं सम्यक्भावों से भोगते हैं। इस कारण पूर्वबद्ध पापकर्मों को सम्यक् समझ-बूझपूर्वक भोगकर वहाँ क्षय कर देंगे, नये पापकर्म नहीं बाँधेंगे। फिर वे वहाँ का आयुष्य पूर्ण करके इस भरतक्षेत्र में प्रथम तीर्थंकर के रूप में जन्म लेंगे। आत्मा से परमात्मा बन जायेंगे।

यह है—दृष्टि बदलने से सृष्टि बदलने का रहस्य !

आत्मार्थी द्वारा अनेकान्त दृष्टि से वस्तु का मूल्यांकन

आत्मार्थी अनेकान्तदृष्टि से सभी वस्तुओं का मूल्यांकन करता है। सत्य को पाने के लिए वस्तु का अनेक पहलुओं से मूल्यांकन करना आवश्यक है। केवल वस्तु का अस्तित्व जान लेने से उसके वास्तविक स्वरूप का पता नहीं लगता। वस्तु के यथार्थ वस्तुस्वरूप सर्वांगीण यथार्थ ज्ञान के लिए उसके वस्तुत्व—व्यक्तित्व को जानना आवश्यक है। अनेकान्त दृष्टि वस्तु का अनेक अपेक्षाओं—पहलुओं—दृष्टिकोणों से मूल्यांकन करती है। इसे शब्दों में कथन करने का नाम स्याद्वाद है। एक ही वस्तु में अनन्त धर्म होते हैं। उन सबका एकान्त एक ही दृष्टि या अपेक्षा से कथन करने से वस्तु का यथार्थ सत्य पकड़ में नहीं आता। आत्मार्थी प्रत्येक वस्तु को विभिन्न पहलुओं, दृष्टिकोणों और अपेक्षाओं से सर्वांशतः समझ पाता है। इसीलिए अनेकान्तवाद को सापेक्षवाद भी कहते हैं।

आत्मार्थी की दृष्टि में एकान्त—एक ही पक्ष का आग्रह नहीं होता। अनेक अपेक्षाओं से वस्तु का स्वरूप समझकर उसे एक अपेक्षा से कहना-समझना और शेष अपेक्षाओं को गौण समझना, इसका नाम नयवाद है। शुद्ध नय एक अपेक्षा से कथन करता हुआ भी दूसरी अपेक्षाओं की उपेक्षा नहीं करता।

आत्मार्थी की दृष्टि में— निश्चय और व्यवहार

जैनदर्शन में मुख्यतया दो नय बताये गए हैं—व्यवहारनय और

निश्चयनय। जो दृष्टि वस्तु के मूलभूत स्वरूप का वर्णन करती है, उसका नाम निश्चयनय की दृष्टि है और इसी द्रव्यार्थिकनय (द्रव्यदृष्टि) से द्रव्य के मूलभूत स्वरूप को जो (पर्यायार्थिक) पर्यायदृष्टि से अर्थात् समय-समय पर व्यवहार में प्रकट होती हुई विभिन्न दशाओं (पर्यायों) का जो वर्णन करता है, वह व्यवहारनय है जैसे—निश्चयनय कहता है—आत्मा शुद्ध, बुद्ध, अखण्ड, अजन्मा, अमर, त्रिकाल स्थायी अविनाशी द्रव्य है। वह एकमात्र शुद्ध चिदानन्द रूप द्रव्य है, वह देव, मानव, पशु या नारक नहीं है। परन्तु व्यवहारनय कहेगा—तुम मनुष्य हो। आत्मा की विभाव दशा की परिणति के कारण तुमने मनुष्य अवस्थारूप पर्याय धारण की है। इसी प्रकार देव, नारक, तिर्यञ्च आदि पर्याय भी आत्मा की व्यवहारदशा है। जाति, इन्द्रिय, आदि के माध्यम से आत्मा (जीव) की जो पहचान करायी जाती है, वह भी व्यवहारनय की अपेक्षा से। ध्येय की दृष्टि से आत्मा के शुद्ध स्वरूप का वर्णन निश्चयनय करता है। इसी द्रव्यार्थिक-अभेद-निश्चयनय की दृष्टि से आत्मा परमात्मभाव को प्राप्त कर सकता है। किन्तु पर्यायार्थिक-भेद-व्यवहारनय की दृष्टि से आत्मा के वर्तमानकालीन भिन्न-भिन्न पर्यायों का चिन्तन आत्मार्थी मनुष्य करता है और वह व्यवहारनय को यथावसर छोड़ता हुआ निश्चयदृष्टि का अवलम्बन लेकर परम लक्ष्य की ओर गति-प्रगति करता है। वह न तो एकान्त निश्चयनय को पकड़ता है, और न ही एकान्त व्यवहारनय को पकड़कर बैठता है। आत्मार्थी दोनों का अनेकान्त—सापेक्ष दृष्टि से समन्वय करता है। जैसे—निश्चयनय की दृष्टि कहती है—आत्मा निर्लेप है, किन्तु व्यवहारनय कहता है—आत्मा कर्म से लिप्त होने के कारण संसारी दशा में है। इन दोनों परस्परविरोधी दृष्टियों का सापेक्ष दृष्टि से आत्मार्थी समन्वय करता है।

एकान्त निश्चयवादी की व्यवहार एवं साधन को आश्रव और त्याज्य समझने की भूल

आत्मा को निश्चयदृष्टि से निर्लेप कहा गया है। इसे कर्म का लेप नहीं लगता। इस एकान्त[1] निश्चयदृष्टि का अवलम्बन लेकर भ्रान्तिवश जो व्यक्ति यह समझता है कि मैं जो कुछ भी प्रवृत्ति करूँ, राग-द्वेष करूँ, पापाचरण करूँ, या अधमाधम आचरण करूँ, उससे आत्मा को तो कोई

---

१ निच्छयमवलंबंता, निच्छयतो निच्छयं अयाणंता।
नासंति चरण-करणं, बाहिरकरणाऽऽलसा केइ ॥ —ओघ नियुक्ति ७६१

लेप नहीं लगता, उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। इस प्रकार जो जीव विभाव में, उलटे मार्ग में प्रवृत्त होने लगे, वह निश्चयनयाभासी व्यक्ति है। शास्त्र में कर्मबन्ध को रोकने के लिए कथित कर्मबन्ध को रोकने के उपाय रूप संवर का स्वीकार न करे, तथा व्रत, प्रत्याख्यान, त्याग, तप-नियम एवं संयम की आवश्यकता न समझे, वह निश्चय और व्यवहार दोनों को छोड़ बैठता है। उसकी स्थिति त्रिशंकु जैसी 'इतो भ्रष्टस्ततो भ्रष्टः' सी हो जाती है। ऐसा एकान्तवादी जीव केवल शब्दों से निश्चयनय की बातें बघारता है, वह निश्चयनय का हार्द नहीं समझा। निश्चयनय की दृष्टि से आत्मा का जो शुद्ध स्वरूप बताया है, उसे प्रगट करने के साधनरूप व्रत, नियम, त्याग, प्रत्याख्यान आदि रूप व्यवहारचारित्र को वह त्याज्य समझता है। फलतः वह आत्मिक पुरुषार्थ से रहित होकर सर्वस्व खो देता है, और आत्मा को पतितदशा में ले जाता है। ऐसा व्यक्ति एकान्त पाप-व्यापार में प्रवृत्त हो जाता है।[1]

आत्मशुद्धि के लिए साधनों को अपनाना आवश्यक

वास्तव में, आत्मार्थी यह विचारता है कि निश्चयदृष्टि से आत्मा शुद्ध, बुद्ध होने पर भी जहाँ तक जीव संसारी है, सिद्ध (मुक्त) नहीं हो जाता, वहाँ तक उसकी वर्तमान पर्याय अशुद्ध है, निश्चयदृष्टि से असंग होते हुए भी कर्म के संग से वह मलिन है, अल्पज्ञानी है। अतः उसे शुद्ध-बुद्ध करने के लिए अर्थात्—आत्मा के साथ संयोग सम्बन्ध से सम्बद्ध कर्ममलिनता को दूर करने के लिए साधन करना आवश्यक है। साधन का व्यवहार नहीं होगा तो आत्मा कभी शुद्ध नहीं हो सकेगा। वह साधन क्या है? आत्मा के शुद्ध स्वरूप के लक्ष्य को दृष्टिगत रखकर किया जाने वाला बाह्य व्यवहार। यथा—संयम पालन, व्रतों या महाव्रतों का पालन, रत्नत्रय की आराधना, क्षमा, दया, समता, सन्तोष, विनय आदि चारित्रिक

---

१ निश्चय दृष्टि हृदये धरी जी पाले जे व्यवहार।
पुण्यवन्त ते पामशे जी, भवसमुद्रनो पार ॥५६॥
निश्चय नवि पामी शके जी, पाले नवि व्यवहार।
पुण्यरहित जे एहवा जी, तेहने कवण आधार ॥५८॥
—सवा सौ गाथानुं स्तवन ढाल ५ ....।
मुग्ध पड़े भव कूप मां जी....दिण किरिया घाट ॥६०॥
—उपाध्याय यशोविजय जी

सद्गुणों की साधना आदि साधन है । इन साधनों से साध्य प्राप्त किया जाता है। साध्य मुक्ति या परमात्मपदप्राप्ति है। इन साधनों से ज्यों-ज्यों विवेकपूर्वक साधना होती जाएगी, त्यों-त्यों उत्तरोत्तर आत्मा शुद्ध होता जाएगा। और पूर्ण शुद्ध आत्मा परमात्म स्वरूप हो जाएगा। इन साधनों को नहीं समझकर कई व्यक्ति एकान्त निश्चयनयाग्रही बन जाते है, वे साधनविहीन होकर भ्रमवश भटकते रहते हैं। आत्मार्थी के लिए आत्मसिद्धि में कहा है---

निश्चय वाणी सांभली, साधन तजवा नोय।
निश्चय राखी लक्ष्यमां, साधन करवां सोय ॥
नय निश्चय एकान्तथी, आमां नथी कहेल।
एकान्ते व्यवहार नहि, बन्ने साथे रहेल ॥[1]

निश्चयनय के रहस्य से अनभिज्ञ : पतन के गर्त में

कई लोग निश्चयनय के कथनों की अपेक्षा और रहस्य समझे बिना केवल उसके अक्षरों को हठाग्रहपूर्वक पकड़े रहते हैं। वे जीवन में संयम, नियम, तप, त्याग, व्रत-महाव्रत आदि साधनों की उपेक्षा करके इनमें पुरुषार्थ को अनावश्यक समझकर, सच्चे साधनामार्ग से दूर हट जाते हैं।

कई लोग तो तथाकथित निश्चयनय के अभ्यासी निश्चयनय को स्वयं उलटा समझते हैं, और दूसरों को भी उलटा समझाने लगते हैं कि व्रत, नियम, त्याग, तप, सामायिक आदि तो आश्रव के कारण हैं। जो लोग विधिपूर्वक एवं विवेकसहित सामायिक करते हैं, उन्हें भी ऐसे लोग असंस्कारी वाणी द्वारा कह देते हैं "धूल पड़ी तुम्हारी सामायिक में अथवा सामायिक तो शुभ आश्रव है, वह छोड़ने योग्य है।" उनसे पूछा जाए कि सामायिक या व्रत, नियम आदि आश्रव के कारण हैं तो अव्रत और स्वच्छन्द किसके कारण है ?[2] क्या वे संवर के कारण हैं ? व्रत,नियम, सामायिक आदि विधिवत् यथार्थ रूप से विवेकपूर्वक हों, तो वे संवर के कारण ही होते हैं। इनमें अव्रत का आश्रव रुकता है और व्रत रूप संवर

---

१ आत्मसिद्धि गा. १३१-१३२

२ अथवा निश्चयनय ग्रहे, मात्र शब्दनी मांय।
लोपे सद्व्यवहारने, साधनरहित थाय ॥ —आत्मसिद्धि गा० २९

होता है। कदाचित् कोई सामायिक, या व्रत, नियम आदि समझ-बूझ पूर्वक विधिवत् न करता हो तो ये संवररूप न हों, तो भी जितने समय तक व्यक्ति सामायिक में रहता है, उतने समय तक पाप (सावद्य) व्यापार से तो विरत हो गया न ? व्रत-नियमों का पालन यथार्थरूप से न हो तो भी पापाश्रव तो रुक गया न ? आश्रव को त्याज्य समझकर क्या पापाश्रव को भी न रोका जाए ?

किन्तु बहुधा ऐसे लोग निश्चयनय का अवलम्बन लेकर अपनी आत्मिक निर्मलता एवं आन्तरिक सूझ-बूझ से प्रगट होने वाले विवेक से रहित हो जाते हैं और अनुकूल-प्रतिकूल संयोगों में रागद्वेष से निवृत्त होने के बदले जाने-अनजाने अपनी सुख-शीलवृत्ति एवं प्रमाद का बचाव और पोषण करने लगते हैं। कई लोग एकान्त निश्चयवाद के चक्कर में पड़कर पहले के लिए हुए रात्रिभोजनत्याग, तथा कन्दमूलत्याग, अथवा अमुक वनस्पतियों के त्याग, नियम आदि को तिलांजलि देकर सद्व्यवहार-मार्ग से स्वयं भ्रष्ट हो जाते हैं और दूसरों को भी भ्रष्ट करने को उतारू हो जाते हैं।

निश्चय के लक्ष्यपूर्वक व्यवहार ही सद्व्यवहार है

हाँ, यह निश्चित है कि यदि कोई व्यक्ति सामायिक या व्रत, प्रत्याख्यान, तप, संयम, नियम आदि अनुष्ठान बिना समझे, अथवा सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग का स्वरूप निश्चय व्यवहार दोनों दृष्टियों से बिना समझे, अविवेकपूर्वक करता है, उसी में सन्तोष मान लेता है, अथवा निश्चय के लक्ष्य बिना अविवेकपूर्वक की जाने वाली क्रियाओं का अहंकार करता है, प्रतिष्ठा, प्रशंसा या इहलौकिक, पारलौकिक फलाकांक्षा से युक्त होकर करता है तो वह व्यवहार सद्व्यवहार नहीं होगा, उससे निर्जरारूप फल नहीं मिलेगा। आत्मा कर्मों के भार से हल्का नहीं होगा। सामायिक करने वाले में समताभाव आना चाहिए। उसके जीवन व्यवहार में कषायों की मन्दता, प्राणिदया, अहिंसा, प्रामाणिकता आदि गुण आने चाहिए। वीतराग प्रभु की भक्ति करने वाले के जीवन में वीतरागता या राग-द्वेषरहितता का अंश तो आना ही चाहिए।

निश्चय और व्यवहार दोनों का यथायोग्य उपयोग करो

अतः निश्चय को लक्ष्य में रखकर सद्व्यवहार के साधनों का विवेकपूर्वक आचरण करना है। जो सद्व्यवहारयुक्त साधन आत्मा की शुद्ध

दशा को प्रगट करने में सहायक हैं, उनके माध्यम से साधना करनी है। व्रत-नियम सामायिक आदि साधनों का अपलाप करके उन्हें छोड़ देने से तो संसार ही बढ़ेगा, मोक्ष या परमात्मपद तो उससे दूरातिदूर होता जाएगा। अतः निश्चय को यथार्थरूप से जानकर व्यवहार का आचरण जरूरी है। केवल निश्चय को जानकर सद्व्यवहार को छोड़ देना भी भूल है और निश्चय का लक्ष्य न रखकर केवल व्यवहार करते रहना भी भूल है।

लक्ष्य तक पहुँचे बिना व्यवहार को छोड़ना खतरनाक

हाँ, निश्चय के लक्ष्य तक पहुँचे हुए जीव के अमुक साधन सहज ही छूट जाएँ तो कोई हानि नहीं, क्योंकि उसने लक्ष्य को सिद्ध कर लिया है। उसका जीवन सहज तप-त्याग-संयममय हो जाता है। परन्तु जो निश्चय के लक्ष्य तक पहुँचा नहीं है, वह सद्व्यवहाररूप साधनों को छोड़ देता है, तो उभयभ्रष्ट होकर पतन के मार्ग पर चढ़ जाता है। एकान्त निश्चय-नयवादी यदि ट्रेन के साधन से बम्बई जा रहा हो, उसे बम्बई पहुँचना है, किन्तु बीच में उस साधन को त्याज्य समझकर छोड़ दे और जंगल में ही ट्रेन से कूद पड़े तो उसकी कैसी दशा होगी? यही बात आध्यात्मिक साधना के क्षेत्र मे समझनी चाहिए।

तीर्थंकर आदि कई महापुरुष भी अध्यात्मसाधना के क्षेत्र में जब तक निश्चय के लक्ष्य तक नहीं पहुँचे, तब तक उनका व्यवहार नहीं छूटा। चौबीस तीर्थंकरों में कई तीर्थंकरों को दो-तीन या चार महीने के पश्चात् केवलज्ञान हुआ है। वे जानते ही थे कि अमुक समय में हमें केवलज्ञान होगा। फिर भी उन्होंने घर-बार छोड़कर दीक्षा ली, महाव्रतों का पालन किया, पंचमुष्टि लोच किया, भिक्षाचरी, विहार आदि चर्याओं का पालन किया। उन्होंने एक भी व्यवहार का अपलाप नहीं किया। तब फिर छद्मस्थ अल्पज्ञानी जीव निश्चयनय की बातें सुनकर, मैं शुद्ध-बुद्ध हूँ, ऐसा एकान्त समझे और व्रत, नियम, संयम आदि कर्ममल-क्षयकारी साधनों को अनावश्यक समझकर छोड़ दे यह कहाँ तक उचित है?

आत्मार्थी द्वारा निश्चय-व्यवहार दोनों का यथार्थ उपयोग

आत्मार्थी यह जानता-मानता है कि परमात्मप्राप्ति या मोक्षप्राप्ति की दिशा में प्रगति करनी हो तो उसे निश्चय और व्यवहार दोनों का अपनी-अपनी भूमिका के अनुसार आदर करना चाहिए। दोनों में से

किसी एक को पकड़ने से गति होगी, प्रगति नहीं। तेली का बैल सारे दिन गति करता है, परन्तु पहुँचता कहीं नहीं, जहाँ का तहाँ ही रहता है, उसी घेरे में घूमता रहता है। किसी एक निश्चित दिशा में गति करने से ही मार्ग तय होता है, गति को निश्चित दिशा मिलती है, तब प्रगति होती है। निश्चय व्यवहार की गति को निश्चित दिशा दिखाता है। निश्चय का अँगुलि-निर्देश सदैव आत्मा के शुद्धस्वरूप की ओर रहता है। महासागर को पार करते हुए नाविक को अपनी गन्तव्य की दिशा निश्चित करने में दिशा दर्शकयन्त्र की सुई सहायक होती है, वैसे ही भवसागर को पार करने के लिए व्यवहार की नौका में बैठे हुए आत्मार्थी नाविक को निश्चय स्वरूप की दिशा प्रदर्शित करके उत्पथ की ओर मुड़ती नौका को बचा लेता है। चप्पू (डांड) मारने वाला चप्पू मारकर नौका को गति प्रदान करता है, परन्तु उसकी दिशा निश्चित करने का कार्य कर्णधार का है। निश्चय ऐसा ही कर्णधार है। निश्चय के द्वारा निर्दिष्ट दशा में स्वरूप की दिशा में व्यवहार की गति रहे तो आत्मार्थी साधक भवसागर को सही सलामत पार करके परमात्मपद-मुक्तिपद को प्राप्त कर सकता है।

आत्मार्थी साधक निश्चय द्वारा अपने शुद्ध ज्ञायकस्वरूप की पहचान करता है। निश्चयनय द्वारा कर्तृत्व-भोक्तृत्व की भ्रान्ति दूर करके वह अपने ज्ञायक निर्विकल्प शुद्धस्वरूप को निश्चयपूर्वक जानता है तथा उसमें स्थिर होने के लक्ष्यपूर्वक व्यवहारमार्ग में प्रवृत्त होता है।[1]

ऐसा निश्चय या ऐसा व्यवहार परमात्मप्राप्ति में साधक नहीं

निज के शुद्धज्ञायकस्वरूप के भान से रहित अथवा इस भान-ज्ञान को जागृत रखने के लक्ष्य से निरपेक्ष व्यवहार तथा ज्ञायकभाव की केवल बातें करते रहकर वहाँ तक पहुँचाने वाले व्यवहार की अवगणना करने वाला निश्चय शुष्कज्ञान, इन दोनों में से एक भी मुक्ति—परमात्मप्राप्ति में साधक नहीं बन सकता।

आत्मार्थी की समग्र साधना निश्चय-व्यवहार समन्वयी

आत्मार्थी की समग्र साधना देह और मन से पर होने के लिए होती

---

१ कोई कहे मुक्ति छे वीणतां चींधरा, कोई कहे सहज जमत्तां घर दहीधरा।
मूढ़ ए दोय तस भेद जाणे नहीं, ज्ञानयोगे क्रिया साधतां ते सही॥
—उपाध्याय यशोविजयजी म० साढ़ीत्रण सो गाथानुं स्तवन ढाल १६ गा० २४

है। और यह उद्देश्य तभी सफल हो सकता है, जब निश्चय और व्यवहार अर्थात्—ज्ञान और क्रिया दोनों का संयुक्त प्रयोग हो। ज्ञान को जीवन के ताने-बाने में बुन लेने की प्रक्रिया ही व्यवहार है। व्यवहार के साथ से रहित केवल शुष्कज्ञान प्रमाद और अभिमानादि कषाय को पैर पसारते देकर आत्मार्थी मुमुक्षु को साधनाशून्य बना देता है। ज्ञान केवल वाणी में ही नहीं, समग्र जीवन में अभिव्यक्त होना चाहिए। आत्मा के शुद्धस्वरूप के ज्ञान के साथ क्षमा, मृदुता, ऋजुता, नम्रता, निर्दम्भता, पवित्रता, सत्यता, संयम, अभय, अद्वेष, अदैन्य, तप, त्याग, अकिंचनता, निःस्पृहता, करुणा, मैत्री, अहिंसा आदि आत्मगुण क्रियाएँ परछाईं की तरह आनी चाहिए, यही निश्चय-व्यवहार समन्वयी आत्मार्थी की पहचान है।

मोक्षमार्ग का साधनरूप व्यवहार

परमात्मा के साथ आत्मा का सन्धान बढ़े, अभेदभक्ति हो, जगत् के प्राणि समूह के प्रति आत्मतुल्य व्यवहार हो, भौतिक जड़ जगत् के प्रति विरक्तिभाव का धारण-पोषण हो, क्षणिक् पर्यायों से पर अपने अविनाशी स्वरूप का जिससे अनुसन्धान हो, देहात्मबुद्धि मन्द हो, ऐसे क्रियाकाण्डों या वृत्ति-प्रवृत्तियों का आदर जिससे हो, तथा अपने शुद्धस्वरूप को प्रकट करने के लक्ष्य को सिद्ध करने के लिए निर्धारित या सुविचारित विविध उपायों को यथाशक्ति जीवन में उतारने का प्रयत्न जिससे दृढ़ हो, ऐसी वृत्ति-प्रवृत्ति, जीवन-व्यवहार, आचरण या क्रिया मोक्षमार्ग का व्यवहार है। इससे भिन्न केवल मत पंथनिर्दिष्ट क्रियाकलाप है।

गति और प्रगति के लिए दोनों अनिवार्य

मार्ग पर गति करने के लिए दाहिने और बांये दोनों पैरों का महत्व है, उसी प्रकार मोक्षमार्ग में गति-प्रगति करने के लिए निश्चय और व्यवहार दोनों का महत्व है। जिस प्रकार बांये और दांये दोनों पैरों में से किसी एक के प्रति पक्षपात रखे बिना एक बार दाहिने पैर को मार्ग पर भलीभांति टिका कर बांये पैर को ऊँचा करके आगे रखा जाता है, फिर पीछे का कदम रखने हेतु बांये पैर को जमीन पर टिका कर दाहिने पैर को आगे ले जाना पड़ता है, इसी प्रकार मोक्ष या परमात्म भाव के प्रति प्रयाण में व्यवहार की गति को प्रगति में बदलने के लिए निश्चय का सहारा लिया जाता है।

एकान्तनिश्चय या एकान्तव्यवहार की बात मोक्षप्राप्ति में बाधक

असत्प्रवृत्ति से निवृत्त होने के लक्ष्य से रहित एकमात्र निजशुद्ध-स्वरूप की कोरी बातें मुक्ति या परमात्मभाव को प्राप्त नहीं करा सकतीं। इसी प्रकार परमात्मस्वरूप या निजशुद्ध आत्मस्वरूप के लक्ष्य के बिना केवल प्रतिक्रमण, प्रतिलेखनादि शुभ क्रियाएँ भी मोक्ष या परमात्मभाव की साधना में निष्फल रहती हैं।

वस्तुतः समग्र व्यवहार का लक्ष्य निर्विकल्प शुद्ध उपयोग की ओर गति—प्रगति करना है। इस लक्ष्य के बिना केवल व्यवहार से प्रवृत्ति पर जोर देने से वह जोर अविवेकयुक्त प्रवृत्ति की बहुलता या इससे प्राप्त होने वाले भौतिक लाभ, इहलौकिक कीर्ति या पारलौकिक समृद्धि आदि पर केन्द्रित हो जाता है। फिर इस लक्ष्यहीन प्रवृत्ति की दृष्टि मुक्तिसाधनारूप गुणवत्ता की ओर तथा जड़-जगत् के प्रति विरक्ति, जीवजगत् के प्रति आत्मीयता एवं क्षणिक स्वपर्यायों के प्रति उदासीनता का विकास करने के मूल लक्ष्य के प्रति नहीं रहती। फलतः ऐसी प्रवृत्ति का बाह्य कलेवर धार्मिक होते हुए भी वस्तुतः वह लौकिक बन जाता है। अन्तःस्तल में भौतिक होती हुई भी वे प्रवृत्तियाँ आध्यात्मिक होने का आभास कराती हैं। मुग्ध आत्माएँ ऐसी प्रवृत्तियों से ठगा जाती हैं, वे धर्मसाधना की भ्रान्ति में रहती हैं। आत्मार्थी प्रवृत्ति और निवृत्ति के विषय में जागरूक रहता है।

देहादि से पर अपने शुद्ध ज्ञायकस्वरूप की भावना हृदयंगम न हुई हो तो शुद्धधर्म-प्रवृत्ति में भी अहंता-ममता की प्रबलता को अवकाश मिल जाता है और अति श्रम से साध्य व्यवहार की प्रचुर प्रवृत्ति को भी वह विफल कर डालता है।

निष्कर्ष यह है कि आत्मार्थी साधक अपने कर्मकृत व्यक्तित्व पर रही हुई नजर हटाकर आत्मा को शुद्धस्वरूप की ओर मोड़ता है, तभी वह आत्मा का आन्तरिक वैभव या परमात्मभाव का खजाना प्राप्त कर पाता है। अन्यथा, अपनी दृष्टि शुद्ध आत्मस्वरूप की ओर मोड़े बिना केवल क्रियाओं के गतानुगतिक प्रचलित घेरे में घूमने से जीवन में शान्ति, सन्तोष एवं आनन्द प्राप्त नहीं हो सकता, न ही वह आन्तरिक आत्मवैभव या परमात्मभाव निधि को प्राप्त कर सकता है। ऐसी प्रवृत्ति बाहर से धार्मिक

प्रतीत होने पर भी भीतर मे भौतिकता की प्यास और प्रीति जगाती रहती है।

आत्मार्थी की दृष्टि में व्यवहार-निश्चय-रत्नत्रयी

जिनेश्वर सर्वज्ञ वीतराग देव, गुरु और सद्धर्म का तथा सर्वज्ञ आप्त पुरुषों द्वारा कथित नौ तत्त्व, षड्द्रव्य आदि भावों को सम्यक् प्रकार से जानना, उनके प्रति दृढ़श्रद्धा रखना और तदनुसार संयम, नियम, व्रत आदि का यथाशक्ति आचरण करना, यह क्रमशः व्यवहारदृष्टि से रत्नत्रयी (सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र) है। 'पर' पदार्थों की चिन्ता छोड़कर अपनी आत्मा का ही श्रद्धान, उसी के स्वरूप का ज्ञान और चित्त का अन्य विकल्पों से रहित होकर स्व-स्वरूप में ही रमण करना, उसी मे लीन होना, यह है क्रमशः निश्चय—रत्नत्रयी। व्यवहाररत्नत्रयी को भेदरत्नत्रयी और निश्चयरत्नत्रयी को अभेदरत्नत्रयी भी कहा जा सकता है।[1]

निश्चयनय से इन तीनों को एकरूप जानना-मानना निश्चयरत्नत्रयी है। अर्थात्—आत्मा का शुद्ध-बुद्ध, अखण्ड, निरागी, सच्चिदानन्दमय स्वरूप ज्ञान से जानना ज्ञान है, जानकर आत्मा की एकरूपता, अभिन्नता, वीतरागता तथा अनन्त आनन्दमयता की आत्मा में ही अनुभूति, प्रतीति या दृढ़श्रद्धा करना दर्शन है और ऐसा अनुभव आत्मा का उपयोग सतत् अस्खलित रूप से प्रवाह रूप से स्वयं का रहे वह चारित्र है। मूलमार्ग रहस्य में श्रीमद् राजचन्द्र ने यही कहा है—

> ते त्रणे अभेद परिणाम थी रे, ज्यारे वर्तते आत्मारूप।
> तेह मारग जिननो पामियो रे, किंवा पाम्यो ते निजस्वरूप॥

व्यवहाररत्नत्रयी के साथ आत्मज्ञान-आत्मश्रद्धान और आत्मस्वरूपाचरण[1] का भान, भाव और लक्ष्य न हो तो वह भावहीन व्यवहार रत्नत्रय भव वृद्धि का कारण हो जाता है।[2] इसलिए वही सद्व्यवहाररत्न-

---

१ आत्माऽऽत्मन्येव यच्छुद्धं, जानात्यात्मानमात्मना।
सेवं रत्नत्रये ज्ञप्ति-रुच्याचारैक्यता मुनेः॥ —ज्ञानसार, मौनाष्टक २

२ व्यवहारोऽपि गुणवद् भावोपष्टम्भतो भवेत्।
सर्वथा भावहीनस्तु स ज्ञेयो भववृद्धिकृत्॥
—वैराग्यकल्पलता स्तवक ६/१०१८

त्रयी है जो निश्चयरत्नत्रयी की ओर ले जाने वाली हो। वस्तुतः निश्चय-रत्नत्रयी से ही परमात्मप्राप्ति या मोक्षप्राप्ति रूप कार्य की सिद्धि होती है। अभीष्ट कार्य न हो, उसको कारण के रूप में गणना नहीं होती।

आत्मार्थी द्वारा व्यवहार मार्ग की सम्यक् आराधना

बाह्य पदार्थों, इन्द्रिय-विषयों और औदयिक भावों के साथ जुड़े हुए या आकृष्ट चित्त को उधर से मोड़कर, संकल्प-विकल्प से मुक्त करके आत्मा के साथ जोड़ने का अभ्यास करना, अथवा आत्मा में लीन (एकाग्र) करना ही समग्र व्यवहारमार्ग की आराधना का ध्येय है। आत्मार्थी की दृष्टि के समक्ष यह ध्येय स्पष्ट होता है। इसलिए वह साधनामार्ग में श्रुत (शास्त्रज्ञान या तत्त्वज्ञान) का कितना स्थान है? कितने और कौन-से श्रुतज्ञान का अर्जन करना आवश्यक है? इस तथ्य को भलीभाँति जान लेता है। तथा वह यह भी जानता-मानता है कि जिस श्रुत के अभ्यास से आर्त्त-रौद्रध्यान दूर हो और धर्म-शुक्ल ध्यान में प्रवृत हुआ जा सके, वही श्रुत प्राथमिक भूमिका में आवश्यक है।

आत्मतृप्त आत्मार्थी का व्यवहार

जो आत्मार्थी आत्मतृप्त हो जाता है, उसके चित्त से स्वार्थवृत्ति हटती जाती है, मध्यस्थवृत्ति, परमतसहिष्णुता, स्व-मतपक्षाग्रहरहितता और समता विकसित हो जाती है। और उसका निश्चयदृष्टि से आत्म-ज्ञान, आत्मश्रद्धान और आत्मभावरमण ज्यों-ज्यों बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों उसके चित्त में आर्त्त-रौद्रध्यान की कारणभूत स्वार्थवृत्ति एवं विषयपिपासा मन्द होती जाती है। स्वार्थवृत्ति के स्थान में परार्थवृत्ति विकसित होती जाती है। आर्त्त-रौद्रध्यान के चंगुल से छूटते ही, उसके मन से ईर्ष्या, मात्सर्य, द्वेष आदि की वृत्तियाँ विदा हो जाती हैं। तिरस्कार घृणा आदि का स्थान उदारता, सहानुभूति, परमतसहिष्णुता, वत्सलता आदि ले लेते हैं। चिन्ता, भय, उद्वेग आदि भी दूर हो जाते हैं। इस प्रकार वह समत्वाचरण से आत्मरामता का स्पर्श करके निश्चयरत्नत्रय का आस्वाद पा लेता है, जो उसे परमात्मतत्त्व के निकट ले जाता है।[1]

---

१ चेष्टापरस्य वृत्तान्ते मूकान्धबधिरोपमा।
उत्साहः स्वगुणाभ्यासे, दुःस्थस्येव धनार्जने॥

—अध्यात्मसार अधि. ६, श्लो. ४१

आत्मार्थी की 'पर' के प्रति निश्चय-व्यवहार दृष्टि

आत्मार्थी यह भलीभाँति समझता है कि जड़ और चेतन, स्व और पर या उपादान और निमित्त, ये दोनों तत्त्व सर्वथा स्वतन्त्र हैं। आत्मा के साथ जड़ पुद्गलों कर्मों या पर का अथवा किसी भी निमित्त का संयोग होने पर भी किसी नये द्रव्य में दोनों का रूपान्तर नहीं हो जाता। न ही आत्मप्रदेश अपने ज्ञानादि गुणों से विहीन हो जाते हैं और न ही पुद्गल परमाणु अपने वर्णगन्धादि से रहित हो जाते हैं। फिर भी दोनों के संयोग से व्यवहार की भूमिका में कुछ न कुछ परिणाम होता है। किन्तु आत्मार्थी उस होने वाले परिणाम से बेखबर नहीं रहता। वह यथासम्भव निश्चय-नय को लक्ष्य में रखकर शुद्धस्वरूप की दिशा में आगे बढ़ता जाता है। और एक दिन शुद्ध-बुद्ध-मुक्त परमात्मा के समकक्ष हो जाता है। उसकी यह दृष्टि रहती है कि हर्ष, शोक, मान-अपमान, लाभ-अलाभ आदि प्रसंगों में 'पर' में होने वाले परिवर्तनों से आत्मा को कोई हानि नहीं है। जड़ से चेतन सर्वथा स्वतन्त्र है। इस प्रकार के स्पष्ट भानपूर्वक आत्मार्थी का चित्त संकल्प-विकल्प या प्रतिक्रिया के प्रवाह में नहीं बहता। वह अपने उपयोग को 'स्व' में मोड़ने का प्रयास करता है।[1]

शास्त्राध्ययन के पीछे आत्मार्थी की दृष्टि

जैनशास्त्रों का चार प्रकार के अनुयोगों में वर्गीकरण किया गया है—(१) द्रव्यानुयोग, (२) चरणकरणानुयोग, (३) धर्मकथानुयोग और (४) गणितानुयोग। द्रव्यानुयोग में जीवद्रव्य, उसके गुण, पर्याय तथा उसमें भी स्वाभाविक एवं वैभाविक पर्यायों का परिणमन, इत्यादि तात्त्विक एवं सैद्धान्तिक बातों का वर्णन है। चरणकरणानुयोग में साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका के जीवन के अनुरूप पाँच महाव्रत या बारह व्रत, पाँच समिति, तीन गुप्ति, द्वादशविध तप, नियम-उपनियम, त्याग, प्रत्याख्यान आदि चारित्रसम्बन्धी बातों का विस्तृत वर्णन है। धर्मकथानुयोग में उनका

---

१ जड़ ने चैतन्य बन्ने द्रव्यनो स्वभाव भिन्न,
सुप्रतीतपणे बन्ने जेहने समजाय छे ॥१॥
स्वरूप चेतन निज, जड़ छे सम्बन्धमात्र,
अथवा ते ज्ञेयपन परद्रव्य माय छे ॥२॥
एहवो अनुभवनो प्रकाश उल्लसित थयो,
जड़थी उदासी तेहने आत्मवृत्ति थाय छे ॥३॥ —श्रीमद् रायचन्द्र

वर्णन है, जो जीव रत्नत्रय की साधना-आराधना करके सिद्धि को प्राप्त हो चुके अथवा स्वर्गादि पहुँचे, तथा जो जीव विराधना करके संसार में परिभ्रमण कर रहे हैं या नरकादि कुगतियों में गये हैं। आत्मार्थी मानव इन चारों अनुयोगों का स्वाध्याय, उपयोग या प्रयोग आत्मा की विविध प्रकार की अशुद्धियों या कमियों को दूर करने के लिए तथा परमात्मतत्त्व तक पहुँचने के लिए करता है। मैं शुद्ध बुद्ध-ज्ञानानन्दमय, सहजानन्दी आत्मा हूँ, जड़ जगत् से 'पर' हूँ, ये और इस प्रकार के अतीन्द्रिय विषयों में आत्मा के शंकाशील होने पर आत्मार्थी द्रव्यानुयोग का स्वाध्याय करता है। द्रव्यानुयोग के स्वाध्याय से आत्मार्थी चैतन्यमय आत्मद्रव्य और जड़ पुद्गलमय अजीव द्रव्यों के पृथक्-पृथक् स्वतन्त्र अस्तित्व को जानता-मानता है, प्रतीति करता है, अनुभूति करता है और शुद्ध आत्मा के साथ संयोग-सम्बन्ध से रहे हुए शरीरादि की क्षणभंगुरता की प्रतीति कर लेता है। तत्पश्चात् वह अपनी आत्मा के विषय में दृढ़निश्चय करता है कि मैं आत्मा हूँ, अविनाशी और ज्ञानानन्दमय हूँ तथा आत्मशक्ति और आत्मगुणों से सम्पन्न हूँ एवं त्रिकाल शुद्ध स्वतन्त्र आत्मद्रव्य हूँ। मैं अपने अन्दर रहे हुए परमात्मतत्त्व को जागृत कर सकता हूँ। संशय-विपर्यय-अनध्यवसाय से रहित एवं अटूट विश्वास से युक्त दृढ़श्रद्धा इसके स्वाध्याय से हो जाती है।

आत्मा जब मद, विषय, कषाय, निद्रा (आलस्य, नींद, अनुत्साह) और विकथा आदि प्रमादों से ग्रस्त हो गई हो, आत्मविस्मृति हो गई हो? आत्मा का शुद्धस्वरूप भूला गया हो, ऐसी स्थिति में उक्त प्रमाद को दूर करने के लिए आत्मार्थी चरण-करणानुयोग का स्वाध्याय करता है। चरणकरणानुयोग का स्वाध्याय करने से व्रत, नियम, त्याग, प्रत्याख्यान, समिति, गुप्ति, बाह्य-आभ्यन्तर तप, अनुष्ठान आदि बाह्यचारित्र तथा स्वरूप-रमणरूप आन्तर-चारित्र को प्रकट करने की विधि-रीति आदि समझकर तथा चारित्र का महत्व, उद्देश्य एवं लाभ समझ-विचार कर आचरण में लाने से तथा परम उत्साह एवं उच्च अध्यवसायपूर्वक व्रत, समिति-गुप्ति, परीषह-विजय, कषाय-विजय विषयों के प्रति अनासक्ति के शुद्ध परिणाम लाने से अप्रमत्तदशा प्रकट होती है। व्रत प्रत्याख्यान तथा नित्यनियमों का समझपूर्वक आचरण करे तो विरतिभाव में आगे बढ़ता हुआ जीव सर्वांगतः अप्रमत्त दशा को प्राप्त कर सकता है। विरतिभाव के बिना व्यक्ति आत्मिक विकास की दिशा में आगे नहीं बढ़ सकता। अतः आत्मार्थी गृहस्थसाधक हो या महाव्रती

संयमी साधक हो, दोनों ही चरणकरणानुयोग के स्वाध्याय द्वारा प्रमाद को दूर करते हैं।

आत्मा जब क्रोध, मान, माया, लोभ, काम (वेदत्रय), मोह, राग-द्वेष, भय, शोक, जुगुप्सा (घृणा), रति-अरति, हास्य आदि कषाय-नोकषायों से घिर गई हो, तो आत्मार्थी धर्मकथानुयोग का स्वाध्याय करता है। आत्मार्थी व्यक्ति इसके स्वाध्याय द्वारा विचार करता है कि कषायभाव और नोकषायभाव में दीर्घकाल तक या सतत प्रवृत्त रहने से जीव चारित्रमोहनीय का तीव्र कर्मबन्ध करता है। इस मोहकर्म के तीव्र बन्धन में न पड़ना हो, तथा भवबन्धन से छूटना हो तो अतिशीघ्र कषाय-नोकषायभावों से मुक्त होना चाहिए। सामान्य संसारी जीव धर्मकथानुयोग द्वारा इस तत्त्व-तथ्य का निर्धारण न करके कषाय-नोकषायभावों में ही रचे-पचे रहने के कारण बार-बार जन्म-मरणरूप संसार बढ़ाते रहते हैं, जबकि आत्मार्थी व्यक्ति इस तथ्य को धर्मकथानुयोग के स्वाध्याय द्वारा हृदयंगम करके कषाय-नोकषायों की उत्पत्ति के कारणों से दूर रहता है, सदा जागृत रहकर इन्हें उपशान्त करने का प्रयत्न करता है, एवं क्षमा, दया, उपशम, मृदुता, (विनय-नम्रता), ऋजुता एवं सन्तोष आदि गुणों में वृद्धि करता है, इस प्रकार कषायों और नोकषायों पर विजय प्राप्त करने का सतत जागृत प्रयत्न करता है। धर्मकथाओं से ऐसी प्रेरणा अनायास ही मिल जाती है। धर्मकथाओं में सर्वज्ञ वीतराग प्रभु द्वारा पूर्व में हुए जीवों के जीवन की सच्ची घटनाओं के आधार पर यह बताया गया है कि कषाय-रहित या कषायविजयी स्वभावदशा में प्रवर्तमान जीवों का जीवन कितना उत्तम था और उसका परिणाम भी कितना श्रेष्ठ आया। साथ ही कषाय सहित या तीव्र कषायी दशा में परिणत जीव की अधमता ने उन्हें संसार में कितना भटकाए? धर्मकथानुयोग में एक ओर गौतम गणधर की कथा है तो दूसरी ओर गोशालक की भी कथा है। इस प्रकार धर्मकथानुयोग कषायों से विरत होने की और अकषायभाव में प्रवृत्त होने की प्रेरणा देता है।

आत्मार्थी का मन जब अत्यन्त चंचल, व्यग्र और अशान्त हो, आत्मा में व्याकुलता अरति, खिन्नता उत्पन्न हो, तब वह गणितानुयोग का स्वाध्याय करता है। भूगोल, खगोल, द्वीप, समुद्र, चार गतियां, देवलोक, तिर्यग्लोक, नरक आदि तीन लोक का तथा विभिन्न आत्माओं की कर्मों-

पधि जन्य स्थिति, क्षेत्र आदि का वर्णन गणितानुयोग का विषय है। इसका स्वाध्याय करने से चित्त एकाग्र हो जाता है आत्मा धर्म-शुक्लध्यान में संलग्न होती है। आत्मा के परभाव या विभाव में रमण की दशा और स्वभाव-रमण की दशा का परिणाम गणितानुयोग के स्वाध्याय द्वारा जानने से स्वभाव में रमण करने की प्रेरणा मिलती है। इस प्रकार आत्मार्थी जीव चारों अनुयोगों के स्वाध्याय द्वारा यथायोग्य प्रवृत्ति-निवृत्ति करता है, तथा हेय, ज्ञेय, उपादेय का निश्चय भी करता है।

आत्मार्थी का स्वाध्याय करने का उद्देश्य

ऐसे आत्मार्थी मानव का शास्त्रज्ञान-अर्जन करने का हेतु भी एक मात्र आत्मा का परम अर्थ, परमहित प्राप्त करना है, अन्य कुछ नहीं। शास्त्र पढ़कर, उन पर मनन-चिन्तन करके, उनमें से निश्चय-व्यवहार, स्व-पर, हेय-ज्ञेय-उपादेय, तथा अनेकान्तदृष्टि से प्रत्येक वस्तु के उपयोग का आत्महित की दृष्टि से विवेक करना ही आत्मार्थी का मुख्य प्रयोजन (अर्थ) है। शास्त्र पढ़कर मैं छह द्रव्यों एवं नौ तत्वों का वास्तविक स्वरूप समझूं, उसे समझकर मैं आत्मा का हित, कल्याण, श्रेय, एवं मंगल कैसे साधूं? अनादिकाल से चतुर्गतिक संसार में परिभ्रमण करती हुई मेरी आत्मा जन्म-मरणादि के दुःखों से कैसे मुक्त हो? संसार परिभ्रमण के कारणभूत कर्मों से कैसे छूटे? मेरी आत्मा सिद्ध-बुद्ध-मुक्त परमात्मा कैसे बने? यही प्रयोजन है, आत्मार्थी के पठन-पाठन का, मनन-चिन्तन का, स्वाध्याय का। शास्त्रों का पंचविधरूप स्वाध्याय करने का उसका उद्देश्य स्व (आत्मा) का ही अध्ययन करना है। मेरी आत्मा स्वभाव से हटकर, आत्मा के निजी गुणों से भटक कर परभाव में, विभाव में पर्याय भाव में कहाँ कहाँ और कैसे कैसे जाती है? उसे कैसे परभावों में जाने से रोकना चाहिए?

किन-किन विभावों (कषायों, राग-द्वेष, मोह आदि) में आत्मा स्वभाव को छोड़कर लिपट जाती है? रागादि कारणों से कर्मों से आत्मा कैसे-कैसे बंध जाती है, उस बन्ध को कैसे काटा जा सकता है? आत्मा कर्मों से सर्वथा मुक्त होकर परमात्मा कैसे बन सकती है? इसी सत्य तथ्य को जानने, समझने और हृदयंगम करने के लिए आत्मार्थी स्वाध्याय करता है। इस दृष्टि से आत्मार्थी शोधक भी है, साधक भी है, आत्महित-चिन्तक भी है, ज्ञाता-द्रष्टा भी है। उसके शास्त्राध्ययन का उद्देश्य यह नहीं है कि मैं शास्त्रज्ञाता बनकर दूसरों को वाद-विवाद में पराजित करूँ,

दूसरों को अपने से हीन, अल्पज्ञ, नीचे या क्षुद्र समझूं, अपने विनय, ऋजुता नम्रता, मृदुता आदि सद्गुणों को छोड़कर दूसरों का अपमान या तिरस्कार करूँ, गुणीजनों का अनादर करूँ, स्वयं को उच्च ज्ञानी, आत्मार्थी, आत्मज्ञ एवं महान् मानकर अहंकार करूँ या जाति, कुल, बल, रूप श्रुत, तप, लाभ और ऐश्वर्य का मद करूँ, अपने भक्तों, अनुयायियों, साम्प्रदायिकों और अन्धविश्वासियों की जमात बढ़ाऊँ तथा पद-प्रतिष्ठा प्राप्त करूँ। अथवा शास्त्रों को समझने की सभी कुंजियाँ मेरे पास हैं, मैं ही शास्त्रों का जानकार हूँ, इस प्रकार का गर्व करना आत्मार्थी के शास्त्रज्ञान का प्रयोजन नहीं होता।

वह आत्मार्थी स्वयं सत्यार्थी बनकर प्रत्येक द्रव्य को, प्रत्येक तत्त्व को तथा प्रत्येक वस्तु को सभी नयों की दृष्टि से वास्तविक रूप से जानने-समझने का प्रयत्न करता है। जहाँ भी सत्य मिलता है, उसे वह उपादेय समझकर ग्रहण करता है। 'मेरा सो सच्चा' यह उसका Moto=सिद्धान्त-वाक्य नहीं होता, 'सच्चा सो मेरा' यही उसका उपादेय Moto होता है। आत्मार्थी व्यक्ति शास्त्रों को केवल शब्दतः नहीं जानता, अपितु अर्थतः और भावार्थतः—परमार्थतः जानता-समझता है, जानने-समझने का पुरुषार्थ करता है। शास्त्रों में तीन प्रकार के आगम बताये हैं—सुत्तागमे (सूत्ररूप आगम), अत्थागमे (अर्थरूप आगम) और तदुभयागमे (सूत्र और अर्थ उभयरूप—तथा परमार्थरूप आगम)। आत्मार्थी व्यक्ति शास्त्रों को केवल शब्दशः घोंटकर नहीं रह जाता, वाणी से शास्त्रपाठों का शब्दशः उच्चारण करके नहीं रह जाता, अपितु शास्त्र के प्रत्येक शब्द को अभिधा, लक्षणा और व्यंजना तीनों शक्तियों से तौलकर उसके वाच्यार्थ, तात्पर्यार्थ, अभिधेयार्थ, लक्ष्यार्थ, व्यंजनार्थ एवं परमार्थ को जानने-समझने का पुरुषार्थ करता है। वह शास्त्र के प्रत्येक शब्द के वाच्यभूत पदार्थ को अनुलक्षित करके भावश्रुतपूर्वक जानने-समझने का प्रयत्न करता है। वह केवल शाब्दिक ज्ञान से सन्तुष्ट नहीं होता, किन्तु अन्तर में डुबकी लगाकर, शोधक बनकर वाच्यभूत पदार्थ को ढूंढता-खोजता है। परमात्मा के ज्ञान, दर्शन सुख (आनन्द) और वीर्य (आत्म-शक्ति) से अपनी आत्मा के शुद्ध स्वभाव की तुलना करके शास्त्राध्ययन के द्वारा परमात्मपद को प्राप्त करने की साधना करता है।

नौ तत्त्वों का आत्मार्थी द्वारा यथायोग्य विश्लेषण

जैनागमों में नौ तत्त्वों का वर्णन है। आत्मार्थी जीव इन नौ तत्त्वों

में से हेय, ज्ञेय और उपादेय को अलग-अलग छांट लेता है और तदनुसार आचरणीय का आचरण करता है, अनाचरणीय का त्याग करता है। नौ तत्त्वों के नाम इस प्रकार हैं—(१) जीव, (२) अजीव (३) पुण्य, (४) पाप, (५) आस्रव, (६) संवर, (७) निर्जरा, (८) बन्ध और (९) मोक्ष। जो जानता है, वह जीव है। शरीरादि अजीव हैं, उनमें ज्ञान नहीं है। पुण्य-पाप तथा मिथ्यात्वादि आस्रव हैं—कर्मों के आने के द्वार हैं। पुण्य-पाप आदि विकारों में अटक जाना बन्ध है। पुण्य-पाप-रहित चैतन्यमूर्ति आत्मा की पहचान करके उसमें (आत्मभावों में) स्थिर होना संवर-निर्जरा रूप धर्म है। आत्मा की शुद्ध दशा का पूर्णरूप से प्रकट होना मोक्ष है। इन सात या नौ तत्त्वों के अध्ययन से आत्मार्थी जीव-अजीव का स्पष्ट ज्ञान प्राप्त करता है। इन नौ तत्त्वों को जानकर आत्मार्थी यह निश्चय करता है कि ये जीव के सिवाय शेष आठों तत्त्व जीव (आत्मा) के विकास या ह्रास को बताने के लिए हैं। अतः वह शुद्ध आत्मतत्त्व (जीव) को प्रधान मान कर उस पर विश्वास करता है। साथ ही यह भी जान लेता है कि वर्तमान में दृश्यमान ये देह आदि पर्याय (शुभाशुभ) कर्म के कारण हैं। मेरा शुद्ध स्वरूप कर्मों से आवृत है।

आत्मा से परमात्मा बनने के लिए आत्मार्थी जीव (आत्मा) और अजीव (अनात्मा=जड़) का स्वरूप समझकर आत्मा (जीव) एवं आत्म-शुद्धि में साधक संवर, निर्जरा और मोक्ष तत्त्वों को 'स्व' तथा अजीव तथा आत्मबाह्य एवं आत्मशुद्धि में बाधक आस्रव, पुण्य, पाप एवं बन्ध तत्त्वों को 'पर' समझता है। इन दोनों प्रकार के साधक-बाधक तत्त्वों का पृथक्करण करता है। मोटे तौर पर वह जीव और अजीव इन दोनों तत्त्वों को ज्ञेय (जानने योग्य) समझता है। पाप, आस्रव और बन्ध ये तीनों तत्त्व आत्मा के लिए परभाव हैं तथा आत्मा के विकास और शुद्धि में बाधक हैं, इसलिए आत्मार्थी इन्हें हेय (त्याज्य) समझता है। कर्मों के आस्रव और बन्ध के मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग इन पांच कारणों से दूर रहने का प्रयत्न करता है। संवर, निर्जरा और मोक्ष, इन तीनों तत्त्वों को आत्मार्थी इसलिए उपादेय और आचरणीय मानता है कि ये तीनों आत्मा को कर्मों से लिपटने से बचाते हैं, आत्मा को स्वभाव में प्रवृत्त होने में, आत्मा की शुद्धि एवं विकास में तथा मोक्ष-प्राप्ति या परमात्मभाव की प्राप्ति में ये तीनों तत्त्व सहायक हैं। संवर से आते हुए कर्म रोके जाते हैं और निर्जरा से पहले के बांधे हुए कर्मों का एकदेश से क्षय किया जाता है

और मोक्ष से आत्मा के साथ लगे हुए सभी कर्मों से सदा के लिए छुटकारा हो जाता है। शरीर इन्द्रियाँ, मन, अंगोपांग तथा शरीर से सम्बन्धित मकान, दुकान, धन-सम्पत्ति, जमीन-जायदाद आदि समस्त पदार्थ अजीव हैं। आत्मार्थी इन्हें 'पर' समझकर इनके प्रति होने वाले राग, द्वेष, मोह, ममत्व आदि को छोड़ने का प्रयत्न करता है।

अब रहा पुण्य। वैसे तो निश्चयनय की दृष्टि से पुण्य आस्रव का अंग होने से हेय है, क्योंकि शुभकर्मों का आगमन (आस्रवण) ही पुण्य का दूसरा नाम है। परमात्मपद मोक्ष को पाने के लिए शुभ या अशुभ समस्त कर्मों का सर्वथा क्षय अपेक्षित है। वहाँ पापकर्मों के साथ-साथ पुण्यकर्मों का भी नाश होना अनिवार्य है, तभी आत्मा सर्वथा शुद्ध, परमात्मरूप हो सकती है। कर्मों से सर्वथा मुक्त होने वाली ऐसी आत्माओं के लिए पुण्य छोड़ने का प्रयत्न करना आवश्यक नहीं होता। आत्म-विकास के सोपान पर चढ़ता हुआ महान् आत्मार्थी साधक गुणस्थान क्रम से आठवें गुणस्थान से श्रेणी करके आगे बढ़ता है, तब निर्जरा की मात्रा अत्यन्त बढ़ जाती है, उसमें पुण्यकर्म की भी निर्जरा हो जाती है। फलतः पुण्यकर्म स्वतः ही छूट जाता है। फिर पुण्य का दीर्घ स्थिति वाला नया बन्ध भी नहीं होता। इस दृष्टि से पुण्य को त्याज्य बताया। परन्तु जब तक साधक उच्च भूमिका पर आरूढ़ नहीं हो जाता, तब तक पुण्य उसके साथ रहता है, पुण्य के फलस्वरूप उसे अनुकूल परिस्थिति, योग्य साधन आदि प्राप्त होते हैं। इसलिए पुण्य हेय होते हुए भी जब तक संसार-सागर के उस पार साधक नहीं पहुँच जाता है, तब तक पुण्य कथंचित हेयरूप उपादेय भी हो जाता है।

आत्मार्थी द्वारा पंचास्तिकाय के ज्ञान से शुद्ध आत्मा का निश्चय

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, जीवास्तिकाय और पुद्गलास्तिकाय ये पाँच अस्तिकाय हैं, जिनका भगवतीसूत्र आदि में यत्र-तत्र वर्णन मिलता है। आत्मार्थी पाँचों अस्तिकायों को पहले अर्थतः, अर्थापन से, फिर परमार्थतः (तत्त्वतः) जानता है। आत्मार्थी पंचास्तिकायों का स्वरूप जानकर उसी विचार में अटक नहीं जाता, अपितु वह पंचास्तिकाय के पाँच द्रव्यों में से जीवद्रव्य को पृथक करके एक में—स्व में अपने आपको केन्द्रित करता है। तत्पश्चात् अन्तर् में निश्चय करता है कि "मैं (स्व=आत्मा) सुविशुद्ध ज्ञानदर्शनमय हूँ।" इस प्रकार अन्तर्मुख होकर सुविशुद्ध ज्ञान स्वभावरूप से आत्मा का निश्चय करता है। यही आत्मार्थी के समक्ष पंचास्तिकाय को जानने तथा श्रवण करने का उद्देश्य है।

आत्मार्थी द्वारा पंचास्तिकाय का ज्ञान तथा निश्चय करने के बाद प्राप्तव्य क्या है ? इसका समाधान यह है कि उसके लिए अत्यन्त विशुद्ध चैतन्यस्वभावी ज्ञानरूपी आत्मा (जीवास्तिकाय) ही प्राप्तव्य है। पंचास्तिकाय में से विशुद्ध आत्म द्रव्य को कैसे प्राप्त करता है ? प्रथम तो वह चिन्तन करता है कि इस लोक में पंचास्तिकाय के समूह रूप अनन्त द्रव्य हैं। उनमें से अनन्त अचेतन द्रव्य तो मेरे (आत्मद्रव्य) से भिन्न = विजातीय हैं। वे अचेतन द्रव्य मैं नहीं हूँ तथा चैतन्य स्वभाव वाले अनन्त द्रव्य भी भिन्न-भिन्न हैं। वे सभी जीवास्तिकाय के अन्तर्गत आ जाते हैं। परन्तु वे सभी जीवास्तिकाय के अन्तर्गत होते हुए भी दूसरे अनन्त जीवों से पृथक् मैं एक स्वतन्त्र चैतन्यस्वभावी जीव (आत्मा) हूँ। इस प्रकार स्व सम्मुख होकर अनन्तकाल में न किये हुए, अपूर्वरूप से आत्मा के विषय में निर्णय निश्चय करता है। निर्णय की ऐसी ठोस भूमिका के बिना आत्मधर्म का—आत्मस्पर्शी स्वधर्म के आचरण का प्रारम्भ नहीं होता, आत्मा परमात्मभाव को प्राप्त करने की ओर अग्रसर नहीं होता। इस प्रकार के निर्णय में आत्मार्थी ज्ञान, रुचि और वीर्य के अन्तर्मुखी उत्साह बल पर अध्यात्म विकास में उत्तरोत्तर आगे बढ़ता जाता है। इस ठोस निर्णय से वह देह का नाम तो कदाचित भूल सकता है, परन्तु आत्मा को = आत्मस्वरूप को नहीं भूल सकता। वह देह-प्रेमी न रहकर आत्मप्रेमी हो जाता है। उसके ज्ञान की निर्मलता में आत्मा का ऐसा फोटो (चित्र) अंकित हो गया कि वह उसे कदापि विस्मृत नहीं हो सकता। ऐसा निर्णयकर्ता आत्मार्थी मिथ्यात्वादि या रागद्वेषादि विभावों का क्षय करके अल्पकाल में ही सिद्ध-बुद्ध-मुक्त वीतरागी परमात्मा हो जाता है, मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

षट् द्रव्यों के ज्ञान से जीव द्रव्य की पृथकता का निर्णय

षट् द्रव्यों में से पांच द्रव्य तो ये पंचास्तिकाय हैं, एक काल द्रव्य अधिक है। वीतराग प्रभु के प्रवचनों से आत्मार्थी इन छह द्रव्यों का स्वरूप जानकर अपनी आत्मा (जीवद्रव्य) को शुद्ध ज्ञानस्वरूप जानता-मानता तथा निश्चित करता है। इस प्रकार निज तत्व का निर्णय करके वह अन्तर्मुखी होकर एकाग्र हो जाता है, और शुद्ध आत्मा में निहित, ज्ञान, दर्शन, आनन्द और आत्मिक शक्ति का उत्तरोत्तर विकास करके एक दिन परमात्म रूप हो जाता है। इस प्रकार आत्मार्थी की दृष्टि से एक दिन पूर्ण शुद्ध-बुद्ध परमात्मभाव की सृष्टि हो जाती है।

□

११

परमात्मा कैसा है, कैसा नहीं ?

परमात्मा बनने से पूर्व, परमात्मा के यथार्थ स्वरूप को जानना आवश्यक

आत्मा परमात्मा बन जाता है, यह सिद्धान्त तभी व्यवहार के धरातल पर सही उतर सकता है, जब परमात्मा का यथार्थ स्वरूप जान लिया जाय। परमात्मा का स्वरूप जाने बिना कोई भी आत्मा (मानवात्मा) चाहे कि मैं किसी भी शक्ति, महान् आत्मा, तीर्थंकर; पैगम्बर या भगवान् के अनुग्रह, आशीर्वाद या कृपा से सामान्य-आत्मा से परमात्मा बन जाऊँ, यह असम्भव है।

परमात्मा के यथार्थ स्वरूप को जाने बिना····

परमात्मा के यथार्थस्वरूप को जाने बिना आत्मार्थी साधक 'कैसा परमात्मा बनना चाहता है ?' इस विषय में कोई स्पष्ट दर्शन न होने से वह परमात्मा बनने के बदले किसी घटिया किस्म का आत्मा भी बन सकता है। अथवा ईश्वर के तथाकथित ठेकेदार उन भोले-भाले धर्मभीरुओं से हजारों-लाखों रुपये ऐंठ कर मरने के बाद स्वर्ग में देवात्मा बना देने, तथा आलीशान भवन, रूपवती नारियाँ, स्वादिष्ट भोजन एवं मद्यादि पेय तथा समस्त स्वर्गीय सुखभोग की सुविधाएँ दिला देने का आश्वासन दे देंगे।

अथवा वह कोई चमत्कारी देव बन जाये और उसको भी तथाकथित धर्मसम्प्रदाय वाले लोग भगवान् या अवतार कहने लगेंगे या किसी प्रभावशाली मानव को परमात्मा का प्रतिनिधि, महापुरुष, पैगम्बर, अवतार भगवान् आदि कहने लगेंगे। इसे भी सच्चे माने में परमात्मा नहीं कहा जा सकता।

कई लोग ईश्वर को सातवें आसमान पर शाही ठाठ-बाठ से बैठे हुक्म चलाते हुए सामन्तराजा के रूप में देखते हैं। अथवा कई धर्म के ठेकेदार राजा या शासक को ईश्वर का अंश मानते हैं। यह भी शुद्ध आत्मस्वरूप बनने वाला परमात्मा नहीं है।

आत्मार्थी को ऐसा परमात्मा बनना भी अभीष्ट नहीं

भगवद्गीता में ईश्वर को सर्वत्र हाथ, पैर, आँख, मस्तक और मुख वाला कहा गया है। उसे चारों ओर श्रोत्र (कान) वाला कहा गया है। उसे विश्व के कण-कण में व्याप्त कहा गया है।[1] ऐसा भी निरंजन निराकार शुद्ध परमात्मा नहीं माना जा सकता, क्योंकि परमात्मा का जब कोई आकार ही नहीं है, तब वह हाथ-पैर, आँख, मस्तक या कान वाला कैसे हो सकता है ? अतः परमात्मा का यह स्वरूप भी ठीक नहीं। अगर साकार परमात्मा (वीतराग सदेह परमात्मा) भी है तो वह भी अनन्त मस्तक, नेत्र और चरण वाला नहीं हो सकता, अनन्तज्ञान-दर्शन-चारित्र वाला तो हो सकता है।

शुक्लयजुर्वेद में बताया गया है कि परमात्मा सब ओर आँखों वाला, सब ओर मुख वाला, सब ओर हाथ वाला और सब ओर पैर वाला है। वह सारी सृष्टि में व्याप्त है।[2]

परन्तु निरंजन, निराकार परमात्मा आँख, कान, पैर, मस्तक आदि वाला होगा तो वह परमात्मा कहाँ रहा ? वह तो एक जादूगर जैसा हो गया अथवा वह वैक्रिय शरीरधारी देव के समान हो गया, जो अनेक रूप या मनचाहे रूप बना सकता है। अतः यह भी परमात्मा का यथार्थ स्वरूप

---

१ सर्वतः पाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति॥ —भगवद्गीता अ० १३/१३

२ विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो, विश्वतः पाणिरुत विश्वतः पात्।
—शुक्ल यजुर्वेद माध्यंदिनसंहिता अ० १७ मंत्र १९।

नहीं, सर्वकर्ममुक्त सिद्ध-बुद्ध-मुक्त आत्मा का परिचायक नहीं, जिसकी प्राप्ति के लिए आत्मार्थी या मुमुक्षु लालायित हो।

अथर्व वेद में कहा गया है कि ईश्वर तो इस सृष्टि से कई गुणा व्यापक है, विराट् है। यह समग्र सृष्टि तो उसका एक चतुर्थांश भाग है। इसका अधिकांश भाग तो अमृत है। यह दृश्यमान भाग तो मर्त्यभाग है। यह तो उसकी विराट् सत्ता की साधारण अभिव्यक्ति मात्र है।

इतना विराट् ईश्वर भी मनुष्य नहीं हो सकता, अन्य प्राणियों का तो बनना भी असम्भव है। अतः ऐसा परमात्मा बनना भी मुमुक्षु को अभीष्ट नहीं।

इसी अथर्ववेद में एक स्थान पर कहा गया है—परमात्मा तीनों काल और तीनों लोकों से पर है। वहाँ की श्रुति कहती है—

'यो भूतं च भव्यं च सर्वं यश्चाधितिष्ठति।'

वह (परमात्मा) भूतकाल में भी था, भविष्यकाल में भी रहेगा, वर्तमान काल में भी है। इस प्रकार सब कालों में जो रहता है, जो देश-कालातीत है। वस्तुतः वह अजन्मा है।[1] सदा से ही उसका अस्तित्व है। वह किसी प्रकार के रत्नत्रय या स्वरूपरमणरूप पुरुषार्थ के बिना ही प्रारम्भ से ही परमात्मा है। उसे किसी ने ईश्वर बनाया भी नहीं और न ही वह (ईश्वर) सद्धर्माचरण के या स्वभावरमण के पुरुषार्थ से बना है।

ईश्वर (परमात्मा) के स्वरूप सम्बन्धी ये सब बातें न तो युक्ति-संगत हैं और न ही किसी माता-पिता के बिना ईश्वर या किसी भी मानव की उत्पत्ति हो सकती है और न कोई जीव सद्धर्माचरण ने पुरुषार्थ किये बिना परमात्मा (ईश्वर) बन सकता है। अतः परमात्मा का यह स्वरूप भी यथार्थ नहीं और आत्मार्थी मुमुक्षु के लिए ऐसा परमात्मा बनना शक्य भी नहीं है।

इससे भी आगे बढ़कर ईश्वर के विषय में कल्पना है कि ईश्वर से ये सब प्राणी उत्पन्न होते हैं, वही इन्हें मारता है, जलाता है, उसकी ही रची हुई यह जड़-चेतनमयी सारी सृष्टि है।

---

१ जन्माद्यस्य यतः —ब्रह्म सूत्र १.१।१

२ यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन!
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम्॥
—गीता १०/३९

यह सिद्धान्त भी परमात्मा के निरंजन, निराकार, निर्लेप, रागद्वेष-रहित, निर्विकार स्वरूप के साथ घटित या संगत नहीं होता। जब परमात्मा के कोई देह ही नहीं है, वह मुक्तपरमात्मा देहधारी ही नहीं है, शुभाशुभ कर्मों से सर्वथारहित है, जन्म-मरण से रहित हो चुका है, तब उस निराकार ईश्वर से सब प्राणी या जड़जगत् कैसे उत्पन्न हो जाएगा ? अगर ईश्वर ही सब प्राणियों को मारता-जिलाता है, तब तो किसी भी जीव को विशेषतः मनुष्य के आयुष्यकर्म का, विभिन्न गतियों और योनियों में भ्रमण करने का कोई प्रश्न ही नहीं है। न ही मनुष्य को अजर-अमर, अविनाशी परमात्मा बनने के लिए किसी भी साधना की आवश्यकता है अगर परमात्मा शुद्ध-बुद्ध, निरंजन-निराकार हो गया है अथवा है तो उसे, दूसरों को उत्पन्न करने की, बनाने-बिगाड़ने की, जड़-पदार्थों को रचने की या किसी जीव को मारने-जिलाने की जरूरत ही क्या है ? क्यों सर्वकर्म मुक्त वह परमात्मा पुनः=कर्मबन्धन में पड़ेगा ? क्योंकि अगर परमात्मा वीतराग है तो वह पुनः पक्षपातयुक्त होकर या राग-द्वेष से लिप्त होकर स्वयं के या दूसरे के जन्म-मरण के प्रपंच में पड़ेगा तो कर्मबन्धन होगा ही। जब कर्मबन्धन होगा तो उसे पुनः संसार में जन्म-मरण करना पड़ेगा, चार गतियों और विभिन्न योनियों में उस मुक्त आत्मा को परिभ्रमण करना पड़ेगा, अतः निरंजन निराकार परमविशुद्ध परमात्मा का यह स्वरूप भी आत्मार्थी मुमुक्षु के लिए कथमपि अभीष्ट नहीं है, क्योंकि जितने भी आत्मार्थी या मुमुक्षु निर्ग्रन्थ या गृहस्थ साधक हैं, उनके लिए रत्नत्रय की, सद्धर्म की या स्वरूप में स्थिर होने की जितनी भी साधना-आराधनाएँ हैं, वे सब जन्म-मरणरूप संसार से, कर्मों के बन्धन से या समस्त दुःखों से सर्वथा मुक्त-परमात्मा (सिद्ध) होने के लिए है। जैसा कि दशवैकालिकसूत्र में कहा है—

तं देहवासं असुइं असासयं, सया चए निच्चहिय-ट्ठियप्पा।
छिदित्तु जाइ-मरणस्स मूलं, उवेइ भिक्खू अपुणागमं गइं ॥[1]

अर्थात्—"सदैव आत्महितैषी एवं आत्मभावों में स्थिर वह भिक्षु जन्म-मरण के मूल कर्मों का, रागद्वेषादि का बन्धन तोड़कर उस अशुचिमय अशाश्वत (अनित्य) देहवास का सदा के लिए त्याग कर देता है और अपुनरागमनरूप सिद्ध-परमात्मा की गति (मोक्षगति) को प्राप्त कर लेता

---

१ दशवैकालिक अ० १०/गा० २१

है।" आत्मार्थी साधक संसार में पुनः आने, जन्म-मरण के, कर्मों के तथा रागद्वेषादि भावकर्मों के बन्धन में फंसने के लिए रत्नत्रय आदि की साधना या धर्माचरण में पुरुषार्थ नहीं करता। उस महर्षियों का पराक्रम[1] सव्व-दुक्ख पहीणट्ठा पक्कमंति महेसिणो' के सूत्र के अनुसार समस्त दुःखों को नष्ट करने के लिए होता है; संसार के जन्म-मरणादि दुःखों में पड़ने के लिए नहीं। यदि जन्म-मरण से मुक्त होने के बाद भी शुद्ध मुक्त सिद्ध परमात्मा को पुनः संसार में आना पड़े तथा सांसारिक प्रपंचों में पड़कर राग-द्वेषादि विकारों या कर्मों से मलिन-अशुद्ध होना पड़े तो वे ऐसी साधना करने का पुरुषार्थ या स्वरूपरमण करने का कष्ट उठाएँगे ही क्यों ?

ईश्वरकर्तृत्ववादियों की युक्तिहीन भ्रामक कल्पनाएँ

संसार के धर्म-सम्प्रदायों में वैदिक, इस्लाम तथा ईसाई आदि जो ईश्वर (परमात्मा) को जगत् का कर्ता-हर्ता और धर्ता मानते हैं, वे उपर्युक्त आक्षेपों का युक्तिविहीन, केवल अन्धश्रद्धा से प्रेरित ऐसा समाधान करते हैं कि यह तो ईश्वर की लीला है, उसकी इच्छा हुई कि सृष्टि रचें तो सृष्टि की रचना कर दी।[2] वह सभी प्रकार से—कर्तुमकर्तुमन्यथा कर्तुं—करने, न करने या अन्यथा करने में समर्थ है। वह चाहे तो जगत् को उत्पन्न कर सकता है और चाहे तो बिगाड़ या विनाश कर सकता है। सब कुछ उसके हाथों में है, उसकी इच्छा के बिना एक पत्ता भी हिल नहीं सकता। किसी ऋषि ने कहा—ईश्वर अकेला था। उसके मन में इच्छा हुई कि "मैं अकेला हूँ, बहुत हो जाऊँ।[3] इस प्रकार[4] ईश्वर की लीला को साक्षात् देख लो और उसकी महिमा एवं गरिमा का गुणगान करते रहो। उसके गुणगान में मस्त हो जाने से वह प्रसन्न होकर तुम्हारे मनोरथ को पूर्ण कर देगा।" उनके कहने का तात्पर्य यह है कि ईश्वर ही हमारे विचारों, भावों और कार्यों का नियंता है। उसकी इच्छा पर ही हमारे जीवन का सारा दारोमदार है। इस बात को मानकर जगन्नियता विश्वभर्ता, सृष्टिकर्त्ता ईश्वर पर ही सब

---

१ उत्तराध्ययन सूत्र

२ सोऽकामयत् असृजत् विश्वम्।' —उपनिषद्

३ एकोऽहं बहुस्याम्। —उपनिषद्

४ 'कोई कहे लीला रे, अलख अलख तणी, लख पूरे मन-आश।
—आनंदघन चौबीसी (ऋषभजिनस्तवन)

कुछ छोड़ दो, तुम्हें कुछ करने-धरने की जरूरत नहीं। तुम्हें न तप करना है, न कष्ट सहना है और न स्वाध्याय कायोत्सर्ग आदि करना है। वही प्रसन्न होकर सब कुछ कर देगा।

परमात्मा का यह स्वरूप कितना घातक है

परमात्मा का यह अन्धविश्वासप्रेरक स्वरूप कितना भ्रान्तियुक्त है! आत्मा की स्वतन्त्रता का विघातक है! आत्म-पुरुषार्थ-हन्ता है, स्वरूपरमणता में विघ्नकारक है तथा आत्मा को ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप रूप मोक्षमार्ग की आराधना-साधना से हटाने वाला है। इस मान्यता पर चलने से आत्मा कदापि सच्चे माने में परमात्मा नहीं बन सकेगा, अपितु लीला और कौतुक दिखाने वाले कथाकथित भगवान् या प्रभु का गुलाम एवं भिखारी बन जायेगा। वह निष्कस्वरूप वाले उक्त प्रभु के हाथों की सदैव कठपुतली बना रहेगा। अपनी स्वतन्त्र प्रज्ञा से परमात्म तत्त्व की आराधना नहीं कर सकेगा।

यह लीला भी ईश्वर को शोभा नहीं देती

फिर जो परमात्मा राग, द्वेष, काम, क्रोध, मोह, पक्षपात, खुशामदखोरी, अन्याय आदि दोषों से सर्वथारहित है, वीतराग है, अनन्तज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्यमय है, उसमें कामनाजनित इच्छा से लिप्त, दोषयुक्त या जैनशास्त्र की भाषा में कहूँ तो निदान (नियाणा) से युक्त संसार की रचना रूप लीला कैसे घटित हो सकती है? योगीश्वर आनन्दघनजी ने कितना युक्तिसंगत कहा है—

'दोष-रहितने लीला नवि घटे, लीला दोष-विलास।'[1]

संसार के विकारों, दोषों एवं कर्मों से सर्वथा मुक्त निराकार निरंजन होने पर भी परमात्मा द्वारा पुनः लीला करना तो राग, द्वेष, काम, कामना, पक्षपात आदि दोषों से युक्त विलासी है। परमात्मा ऐसा विलासी, कामनापरायण या किसी भी दोष से युक्त नहीं हो सकता। क्योंकि लीला तो कुतूहलवृत्ति से तथा ज्ञान एवं सुख की अपूर्णता से होती है, जो परमात्मा के लिए शोभनीय नहीं है।

---

१ आनन्दघन चौबीसी (ऋषभजिन स्तवन)

सृष्टिकर्तृत्व के विषय में इस्लाम धर्म की मान्यता

इस्लाम धर्म का कहना है कि खुदाताला ने 'कुन' कहा और यह दुनिया बनकर तैयार हो गई। खुदा अपने हुक्म से दुनिया को पैदा किया करता है। यहाँ प्रश्न होता है—खुदा तो निराकार है। उसके शरीर, मुँह, जुबान आदि कुछ भी तो नहीं है। फिर बिना जुबान के, बिना मुँह के खुदा ने 'कुन' कैसे कहा ? क्योंकि कोई भी शब्द बोलने के लिए मुँह और जीभ की जरूरत अवश्यम्भावी है। फिर यह भी सवाल होता है, दुनिया के रूप में तब्दील होने वाले परमाणु तो जड़ हैं, उनके कान भी नहीं होते, न ही उनमें चेतना होती है, फिर उन्होंने खुदाताला के हुक्म को कैसे सुना ? और आश्चर्य तो यह होता है कि जब खुदा बिना मुँह और जुबान के भी बोल सकता है और हुक्म कर सकता है तो अब क्यों नहीं बोलता ? अब क्यों चुप बैठा है ? जबकि आज सारे संसार में जगह-जगह हत्या, दंगा, आतंक, अन्याय, अत्याचार, डकैती, राहजनी, व्यभिचार, शराब, मांसाहार, ठगी, भ्रष्टाचार, तस्करी, रिश्वतखोरी आदि से सारी जनता त्रस्त है, पापियों के पापों के कारण दुनिया में नानाविध भयंकर दुःख, आफतें और संकट छाये हुए हैं। लोग उस खुदा, गॉड या ईश्वर को रक्षा के लिए पुकारते-पुकारते और प्रार्थना एवं मिन्नतें करते-करते थक गए, लेकिन वह सुनता क्यों नहीं ? अपनी दुनिया की सुरक्षा और सुव्यवस्था क्यों नहीं करता ? अब बोलता क्यों नहीं ? यदि वह बोल पड़े तो हजारों काफिर, पापी, अधर्मी, चोर, डकैत आदि बदल जाएँ। दुनिया में अमन चैन हो जाए। क्या यह सब धर्म, परोपकार और शान्ति का काम खुदा को अच्छा नहीं लगता ? परन्तु खुदा के भक्त ही खुदा से डरते नहीं, वे ही सिया और सुन्नी दो भागों में बँटकर आपस में लड़ते और मरते-मारते हैं। वे ही अपने भाई—इन्सान की हत्या करने, निर्दोष जानवरों को कत्ल करने तथा दुनिया की सुख-शान्ति को चौपट करने में लगे हुए हैं। उनका खुदा बिलकुल चुप है ! दूसरी ओर यह भी कहा जाता है कि खुदा की तारीफ करने से, उसकी डटकर इबादत कर देने और दुआ माँगने से वह उन पापियों के पाप को माफ कर देता है।

ईश्वर को किसने बनाया ?

ईश्वरकर्तृत्ववादियों का कहना है कि संसार में कोई भी वस्तु बिना बनाए बनती नहीं। सृष्टि भी एक पदार्थ है। उसको ईश्वर ने ही बनाया है। वही सर्वशक्तिमान है। उन्हें यह विश्वास ही नहीं होता कि

बिना बनाए भी कोई वस्तु अस्तित्व रख सकती है। इस पर जैनदर्शन का कहना है कि यदि कोई पदार्थ बिना बनाए अपना अस्तित्व नहीं रख सकता तो फिर प्रश्न होगा कि ईश्वर को किसने बनाया ? यदि ईश्वर को बनाने वाला कोई दूसरा ईश्वर हो तो फिर दूसरे ईश्वर को किस ईश्वर ने बनाया ? यह प्रश्न आगे से आगे चलता रहेगा, इसका अन्त ही नहीं आएगा। यदि कहें कि ईश्वर तो स्वयंभू है[1], अपने आप उत्पन्न हुआ है, वह अनादि-अनन्तकाल से अपना अस्तित्व टिकाये हुए है। तब फिर सृष्टि भी अपने आप बनती है, ऐसा मानने में क्या आपत्ति है ? वह भी ईश्वर के समान प्रवाह रूप से अनादि-अनन्त है। उसके अस्तित्व के लिए भी किसी उत्पादक की अपेक्षा नहीं रहती। वह भी ईश्वर की तरह किसी के द्वारा बनाए बिना स्वतः सिद्ध है।

समग्रदृष्टि से विचार करने पर ईश्वर द्वारा सृष्टिकर्तृत्व किसी भी प्रकार से सिद्ध नहीं होता।

वीतराग ईश्वर दुःखमय एवं विषम सृष्टि क्यों बनाएगा ?

निराकार ईश्वर हाथ, पैर, शरीरादि के बिना सृष्टि को कैसे बना सकता है ? इसका उत्तर वैदिक धर्म की शाखा वाले सनातनी और आर्य-समाजी यह देते हैं कि "निराकार ईश्वर ने इच्छामात्र से इस सृष्टि का निर्माण कर दिया। उसकी ज्योंही इच्छा हुई कि सृष्टि तैयार हो, त्योंही सूर्य चन्द्र, ग्रह-नक्षत्र, पृथ्वी और आकाश, नदी और समुद्र आदि सब बन कर तैयार हो गए।"

जैनदर्शन यह तर्क करता है कि ईश्वर (निरंजन, निराकार परमात्मा) तो इच्छा कर ही नहीं सकता, क्योंकि इच्छा मन से होती है। ईश्वर के द्रव्य मन तो है नहीं। फिर इच्छा किसी न किसी प्रयोजन के लिए होती है। ईश्वर तो कृतकृत्य हो गया। उसे क्या करना बाकी रह गया ? जगत् को बनाने-बिगाड़ने में ईश्वर का क्या मतलब है, क्या स्वार्थ है उसका ? यदि कहो कि स्वार्थ नहीं, परमार्थ है, तो यह कैसा परमार्थ

---

१ यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम्।
असम्मूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते॥

—गीता १०/३

है—सृष्टि को दुःख, रोग, भय, शोक, सन्ताप, आकस्मिक संकट आदि से परिपूर्ण बनने का ?

ऐसा ईश्वर दयालु एवं परोपकारी कहाँ रहा ?

ईश्वर दयालु और परमपिता कहलाता है तो वह सर्प, व्याघ्र, सिंह, भेड़िया आदि हिंसक पशुओं, पापी एवं अत्याचारी मनुष्यों एवं द्रोह, मोह, दुर्व्यसन, चोरी, डकैती, ठगी, लूटपाट, हत्या आदि पापों एवं अपराधों से परिपूर्ण, नाना दुःखों से व्याप्त सृष्टि के निर्माण की इच्छा वह कर ही कैसे सकता है ? यदि करता है तो वह दयालु, परोपकारी अथवा परमपिता कैसे कहला सकता है ? कोई भी दयालु पिता अपनी सन्तान को दुःखी नहीं देख सकता। जिस दुनिया को दुःखी और संतप्त देखकर हमारा भी हृदय भर आता है, वैसी दुनिया को बनाते समय यदि ईश्वर को दया नहीं आई तो उसे दयालु कैसे कहा जा सकता है ?

ईश्वर की यह लीला कैसी ?

यदि कहें कि यह तो ईश्वर की लीला है। यह लीला है या क्रूरता ? बेचारे संसारी प्राणी दुःख, सन्ताप, रोग, शोक, बाढ़, दुष्काल, भूकम्प आदि के भयंकर त्रास से पीड़ित होकर विलाप और रुदन करते रहें और ईश्वर ऐसी दुःखी दुनिया बनाने की लीला करे ? इस विनाशकारी लीला को कोई भी भला व्यक्ति इन्सानियत न कहकर शैतानियत एवं हैवानियत ही कहेगा।

सृष्टिकर्त्ता ईश्वर वीतराग एवं स्वभावनिष्ठ कहाँ रहा ?

ईश्वर को वीतराग (रागद्वेष, काम, क्रोध, लोभ, मोह, पक्षपात आदि से सर्वथा रहित) माना जाता है। जब ईश्वर रागद्वेष से सर्वथा शून्य है तो सृष्टि-रचना करने के प्रपंच में और सृष्टि को बनाने और बिगाड़ने के झंझट में क्यों पड़ता है ? जो सिद्ध-बुद्ध-मुक्त परमात्मा हो जाता है, वह स्वभाव में ही रमण करता है, परभावों में—विभावों में बिलकुल जाता ही नहीं। यदि ईश्वर सृष्टि को बनाने के प्रपंच में पड़ेगा तो सदैव सर्वत्र रागद्वेष आदि विभाव एवं परभाव में ही रत रहेगा, स्वभाव से हटकर सामान्य संसारी मानव जैसा बन जायगा। चूंकि सृष्टि-रचना के प्रपंच में पड़ने पर उसे किसी को सुखी, किसी को दुःखी, किसी को धनी, किसी को निर्धन, किसी को मूर्ख, किसी को बुद्धिमान, कहीं सर-

सब्ज उपजाऊ भूमि और कहीं गर्मी से झुलसता हुआ रेगिस्तान बनाना पड़ेगा। ऐसी भेदबुद्धि राग, द्वेष, पक्षपात आदि के बिना कैसे आएगी ? फिर कहाँ रहेगा ईश्वर वीतराग ? कहाँ और कब करेगा वह स्वभाव-रमण ?

क्या ईश्वर परतन्त्र एवं अल्पशक्तिमान है ?

आप इस प्रकार के सृष्टिकर्त्ता ईश्वर के लिए यह भी नहीं कह सकते कि कोई उससे जबरन सृष्टि रचने का कार्य करवाता है। अगर कहें कि यह सृष्टि रचना अपनी इच्छा से नहीं दूसरे की इच्छा से जबरदस्ती से करने में संलग्न होता है, तब तो वह स्वतन्त्र एवं सर्वशक्तिमान् कहाँ रहा ? वह परतन्त्र एवं निर्बल ही ठहरा।

परभावनिष्ठ ईश्वर को आत्मिक-ऐश्वर्यसम्पन्नता कहाँ रही ?

ईश्वर को सृष्टिकर्त्ता मानने वाले लोग उसे विश्व की सर्वोच्च, एक अद्वितीय ऐश्वर्यसम्पन्न शक्ति मानते हैं। ईश्वर वही है जो अद्वितीय ऐश्वर्यसम्पन्न हो। वह ऐश्वर्य भौतिक धन-सम्पत्ति, लौकिक सत्ता, प्रभुता, सांसारिक पद-प्रतिष्ठा, विषय सुख-सामग्री-सम्पन्नता नहीं, अपितु आत्मा की अपार अनन्त सत्-चित्-आनन्द से परिपूर्ण दशा को ही परम ऐश्वर्य कहते हैं। उसी परम आत्मिक ऐश्वर्य से सम्पन्न शुद्ध-बुद्ध-मुक्त आत्मा को ही परमात्मा या ईश्वर कहा जाता है। जो ऐसी परम ऐश्वर्य सम्पन्नता और शुद्ध स्वभाव दशा को प्राप्त हो गया, वह परभाव में एक क्षण के लिए भी नहीं जा सकता[1]। वह सतत् अनन्तज्ञान-दर्शन, असीम आत्मिक परमानन्द निमग्न आत्मा (परमात्मा) क्यों संसार में आने और संसार को बनाने-बिगाड़ने की उलझन में तथा राग-द्वेष भरी पर-भाव-रमणता की खटपट में पड़ेगा ? फिर जो ज्ञान और आनन्द की पूर्णता के शिखर पर पहुँच गया है, वह पुनः अपूर्णता के गड्ढे में गिरे, कृतकृत्य होकर पुनः संसार की रचना करने की इच्छा करे, उसको बनाने-बिगाड़ने

---

१ कहा भी है—

कर्त्ता ईश्वर कोई नहीं, ईश्वर शुद्ध स्वभाव।
अथवा प्रेरक ते गण्ये, ईश्वर दोष-प्रभाव॥

—आत्मसिद्धि गा० ७७

के प्रपंच में पड़े तो वह, ईश्वर निष्काम, कृतकृत्य एवं परिपूर्ण कहाँ रहेगा ? सृष्टिरचना से तो ईश्वर का ईश्वरत्व ही समाप्त हो जायेगा। उसकी आत्मिक ऐश्वर्य सम्पन्नता चौपट हो जाएगी।

शुद्ध-बुद्ध-मुक्त ईश्वर कर्म और कर्मफल संयोग नहीं कराता

यदि यह तर्क करें कि ईश्वर अपने लिए सृष्टिरचना कार्य नहीं करता, वह संसार के जीवों का जैसा-जैसा शुभाशुभकर्म होता है, तदनुसार फल देने, जीवों को अपने-अपने कर्मफल भुगवाने के लिए वैसा करता है। तो फिर सवाल यह होता है कि उनके मत से जब ईश्वर ही सब जीवों को अच्छे-बुरे कर्म करने की प्रेरणा देता है, तो फल उन्हें क्यों भुगवाता है ? उदाहरण के तौर पर—एक चोर ने किसी धनिक का धन चुराया। जब सभी जीवों को कर्म करने की प्रेरणा ईश्वर देता है तो चोर को भी चोरी करने की प्रेरणा ईश्वर से ही मिली न ? वह स्वयं तो कोई भी कर्म करने में स्वतन्त्र नहीं है। मान लो, उस चोर को धनिक या धन चुराने के अपराध में आजीवन कारागार की सजा मिली। यह तो निर्दोष चोर को दण्ड मिला, जो कि चौर्यकर्म की प्रेरणा करने वाले ईश्वर को मिलना चाहिए था ! चोर चौर्य-चौर्य कर्म करने में स्वतन्त्र नहीं था, वह ईश्वर की इच्छा या प्रेरणा से चोरी कर सका न ? क्या यही न्यायी ईश्वर का न्याय है कि पहले तो चोर से स्वयं चोरी करवाना, फिर स्वयं ही उसे दण्ड दिलाना ?

निष्कर्ष यह है कि यदि ईश्वर को संसार बनाने-बिगाड़ने की खटपट में पड़ने वाला, कर्मफल का देने वाला और जड़ पदार्थों को भी बनाने वाला मानेंगे तो संसार में जितने भी पाप, अपराध एवं भ्रष्टाचार-अनाचार आदि होते हैं, उन सबका करने-कराने का दोष ईश्वर के सिर पर ही आयेगा। इसके लिए वैदिक धर्म के मूर्धन्य ग्रन्थ भगवद्गीता में स्पष्ट कहा गया है—

"न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफलसंयोगं, स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥"[1]

परमात्मा (ईश्वर) न तो जगत् की रचना करता है, न ही कर्म और कर्मफल का संयोग करता है। यह जड़चेतनमय जगत् अपने-अपने स्वभाव के

---

१ भगवद्गीता अ० ५ श्लोक १४।

अनुसार प्रवृत्त हो रहा है, चल रहा है। ईश्वर का उसके बनाने-बिगाड़ने में बिलकुल हाथ नहीं है।

ईश्वर को कर्मफलदाता मानने पर ईश्वर का शुद्ध-बुद्ध-मुक्त अलिप्त-असंगस्वरूप खण्डित हो जाता है। मुक्त जीवों को छोड़कर संसारस्थ जितने भी प्राणी हैं, वे सभी कर्म-संयुक्त हैं। वे प्रतिसमय किसी न किसी कर्म को करते ही रहते हैं। साथ ही उन्हें पूर्वकृत किसी न किसी कर्म का फल भी भोगना पड़ता है। ईश्वर सर्वज्ञ है, इसलिए कर्मफलदाता ईश्वर को एक न्यायाधीश की तरह प्रतिक्षण-प्रतिसमय एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के जीवों के शुभाशुभकर्म को कर्म को पहले तो जानना और फिर प्रतिसमय उस-उस जीव को कर्मफल भुगवाना भी पड़ेगा। यों ईश्वर दिन और रात में एक सूक्ष्म समय भर भी निश्चिन्त एवं स्वस्थ नहीं रह सकेगा। उसे किसी न किसी जीव के कर्म को जानने और तत्काल उसे पूर्वकृत किसी कर्म के फल भुगवाने के कार्य में सतत लगा रहना पड़ेगा। इस प्रकार सतत स्वभाव=स्वरूप में निमग्न शुद्ध ईश्वर सिर्फ स्वभाव का कर्ता न रहकर परभावों का कर्ता ही बना रहेगा। क्योंकि इतने लम्बे चौड़े संसार के अनन्त-अनन्त जीवों के कर्मों को जानने और उन्हें कृतकर्मों का फल देने रूप कर्म करने में परभावों का कर्ता बनना पड़ेगा। अतः संसारस्थ अनन्त जीवों के कर्मों का हिसाब-किताब रखते-रखते वह स्वयं भावकर्म एवं द्रव्यकर्म से लिप्त हो जाएगा, ऐसी स्थिति में उसका ईश्वरत्व रह नहीं सकेगा।

ईश्वरत्व न रहने पर वह तथाकथित ईश्वर नाम का ईश्वर (द्रव्य-ईश्वर) होकर सामान्य प्राणी जैसा कर्म संयुक्त हो जाएगा। तब फिर यह प्रश्न लगातार उपस्थित होता रहेगा कि उस कर्मलिप्त ईश्वर को कौन कर्म का फल भुगवाएगा, फिर उस कर्मफल भुगवाने वाले कर्मलिप्त को दूसरा कौन कर्मफल भुगवाएगा ? इस प्रकार यहाँ अनवस्था दोष आएगा। अतः यही सिद्धान्त मानना उचित, निर्दोष एवं युक्तिसंगत है कि ईश्वर किसी को न तो कर्म करने की प्रेरणा देता है और न ही किसी जीव को कर्म का फल देता है, तथा भगवद्गीता के अनुसार न ही ईश्वर किसी जीव के पुण्य और पाप को ग्रहण करता है।[1] किसी के दण्डरूप कर्मफल

---

१ नादत्ते कस्यचित् पापं, न चैव सुकृतं विभुः।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं, तेन मुह्यन्ति जन्तवः॥ —भगवद्गीता अ. ५ श्लो. १५

को माफ करना अथवा किसी के पुण्य प्रबल न होते हुए भी पुण्यफल दे देना भी ईश्वर के बस की बात नहीं है। वह अपने आत्मिक ज्ञानादि चतुष्टय सम्पन्न स्वभावरमण-स्वगुण निमग्नरूप ईश्वरत्व में ही रहता है, उससे बाहर कर्मफलप्रदानरूप परभाव में नहीं आता।[1]

क्या सर्वशक्तिमान् ईश्वर, पापी से भी निर्बल है ?

वैदिक धर्म की एक शाखा—आर्यसमाज का मानना है कि 'ईश्वर दुष्टों और पापियों को दण्ड देने के लिए आता है।' इस सम्बन्ध में जैन-दर्शन कहता है कि उन दुष्टों पापियों को ईश्वर ने पैदा ही क्यों किया ? ईश्वर तो सर्वज्ञ है। उससे कोई बात छिपी नहीं है। वह जानता है कि यह दुष्ट और पापी बनकर संसार में कहर बरसाएगा, अन्याय, अत्याचार एवं पाप करेगा, तब जान-बूझकर ऐसे दुष्ट एवं पापी लोगों को पैदा ही क्यों करता है ? **'विषवृक्षं संवर्ध्य स्वयं छेत्तुमसाम्प्रतम्'**—पहले विषैला वृक्ष लगाकर, बढ़ाकर फिर स्वयं उसे काटना अनुचित है, मूर्खता है। क्या वे पापी, दुष्ट और दुराचारी लोग सर्वशक्तिमान् ईश्वर से भी अधिक शक्ति-शाली हैं कि वह उन्हें दुष्टता, पाप और दुराचार करने से रोक नहीं सकता ? जो तथाकथित ईश्वर इच्छामात्र से इतना विराट् जगत् बना सकता है, क्या वह परमपिता अपनी सन्तान को दुराचारी से सदाचारी, पापी से धर्मी, दुर्जन से सज्जन नहीं बना सकता ? यदि ईश्वर सर्वशक्ति-मान और दयालु है तो अपनी शक्ति का उपयोग दुष्ट-दुर्जनों को शिष्ट व सज्जन बनाने में क्यों नहीं करता ? उसने जीवों में पाप एवं दुराचार करने की बुद्धि ही क्यों उत्पन्न होने दी ?

यदि यह कहें कि ईश्वर ने जीवों को कर्म करने की स्वतन्त्रता दे रखी है, अतः वह उन दुष्टों-पापियों को रोक नहीं सकता। यह तो वैसा ही हुआ, जैसे कोई प्रजापालक राजा पहले तो अपनी प्रजा को अपनी मनमानी करने दे, स्वेच्छानुसार चोरी, ठगी, छीनाझपटी और बेईमानी करने दे, फिर उन्हें दण्ड दे कि तुमने चोरी, ठगी, छीना-झपटी और बेईमानी क्यों की ? क्या ईश्वर इतने घटिया स्तर का है, जो पहले पापियों को खुली छूट देकर फिर उन्हें उन पापकर्मों के फलस्वरूप दण्ड दे ? वस्तुतः

---

१ 'फलदाता ईश्वर गण्ये, भोक्तापणुं सधाय।
एम कह्ये ईश्वरतणुं, ईश्वरपणुं ज जाय ॥' —आत्मसिद्धि गा. ८०

ये सब बातें ईश्वर के यथार्थ स्वरूप को न समझने के कारण कही/मानी जाती हैं।

ईश्वर के प्रतिनिधि अवतार क्या और कैसे ?

ब्राह्मण संस्कृति में पौराणिक सनातनधर्मी यह भी कहा करते हैं कि ईश्वर स्वयं किसी दुर्जन या सज्जन, पापात्मा और पुण्यात्मा, दुष्ट और शिष्ट को उसके कृतकर्म का शुभ या अशुभफल भुगवाने नहीं आता। वैदिक धर्मानुसार वह किसी अवतार (भगवान), इसाई धर्म के अनुसार मसीहा (Prophet), इस्लाम के अनुसार पैगम्बर या नबी को इस संसार में भेजता है। कुछ का कहना है—ईश्वर स्वय भगवान अवतार आदि के रूप में संसार में अवतरित होता है—जन्म ग्रहण करता है जैसा कि भगवद्-गीता में कहा गया है—

"यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत !
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदाऽऽत्मानं सृजाम्यहम् ।।
परित्राणाय साधूनां, विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय, सम्भवामि युगे-युगे ।।"[1]

"हे अर्जुन ! जब-जब धर्म की हानि और अधर्म की उन्नति होने लगती है, तब-तब ही मैं अपने रूप (प्रतिनिधि=अवतार के रूप) को रचता हूँ, अर्थात् प्रकट करता हूँ। वस्तुतः मैं सज्जन पुरुषों की रक्षा और दुष्टकर्मियों के विनाश के लिए तथा धर्म की स्थापना के लिए युग-युग में प्रकट (सगुणरूप में उत्पन्न) होता हूँ।"

यह है अवतारवाद की मूल भावना। ब्राह्मण संस्कृति तथा इसी के सदृश ईश्वर को सृष्टिकर्ता मानने वाले कुछ धर्म-सम्प्रदाय अवतारवाद को मानते हैं। उनकी मान्यता है कि पृथ्वी से पापों का भार उतारने के लिए समय-समय पर ईश्वर विभिन्न रूपों में जन्म ग्रहण करता है। संसार में राम, कृष्ण आदि जो भी महान् पुरुष हुए हैं, उन्हें ब्राह्मण संस्कृति में ईश्वर का अवतार या भगवान् माना गया है।

वे मूल में ही भगवान् थे

अवतारवाद की यह भी मान्यता है कि विश्व में जितने भी परोपकारी, कर्मठ, वीर, बलिदानी एवं महान् व्यक्ति हुए हैं, वे सब मनुष्य में

---

१ भगवद्गीता अ. ४, श्लो. ७-८

से ईश्वर नहीं बने अर्थात् परमात्मभाव की साधना करके मानवात्मा से परमात्मा नहीं बने, अपितु वे मूल में ही ईश्वर के प्रतिनिधि थे, भगवान् थे, अवतार थे, मनुष्य नहीं। ईश्वर ही अवतार लेकर धरती पर आए थे। मनुष्य में इतना सामर्थ्य कहाँ कि वह भगवान् बन सके।

मनुष्य ईश्वर नहीं बन सकता

अवतारवाद मनुष्य की उच्चता एवं पवित्रता से ईश्वर को प्राप्त करने की शक्ति में विश्वास नहीं रखता। मनुष्य चाहे जितनी उच्च साधना कर ले, चाहे वह सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह के सर्वोच्च शिखर पर पहुँच जाए, वह ईश्वर तो कदापि नहीं बन सकता। अवतारवाद की दृष्टि में ईश्वर एक ही है, वही सृष्टि का सर्जनहार, तारणहार एवं विनाश करने वाला है। ईश्वर सर्वतन्त्र, स्वतन्त्र और विश्व का सर्वाधिकारी सम्राट है। मनुष्य तो उसके हाथ की कठपुतली है। ईश्वर या ईश्वर का प्रतिनिधि अवतार (भगवान्) ही सारे जगत् को अपनी माया से इस प्रकार घुमा रहा है, जिस प्रकार कुम्हार चाक पर रखे मिट्टी के पिण्ड को घुमाता है।[1]

अवतारवाद में 'सोऽहं' के बदले 'दासोऽहं' की भावना

अवतारवाद मनुष्य में दास-भावना भरता है। वह कहता है—"तुम मनुष्य हो। ईश्वर की बराबरी करने की धृष्टता मत करना। तुम पामर हो, अल्पज्ञ हो, अल्पशक्तिमान् हो। भला ईश्वर का कार्य तुम दो हाथ वाले, हाड़-मांस के पुतले मानव कैसे कर सकते हो? ईश्वर की समानता करना नास्तिकता है। तुम नीचे बनकर रहो, अपने आपको दीन-हीन और भगवान् के दास मानकर रहो। 'सोऽहं' के बदले 'दासोऽहं' भावना रखो। तभी तुम पर ईश्वर की कृपा बरसेगी। अपने को पंगु, लाचार और बेबस समझोगे, और संकट, आफत, अत्याचार, प्राकृतिक प्रकोप आदि के अवसर पर दीन-हीन मनोवृत्ति से ईश्वर से प्रार्थना करोगे, तभी वह संकट-मोचन करेगा। तुम अपने आप में कुछ महान् कार्य करते जाओगे तो तुम पर ईश्वर का प्रकोप होगा। मनुष्य का अपना भविष्य उसके अपने हाथ में नहीं है, वह एकमात्र जगन्नियन्ता ईश्वर से हाथ में है। इस प्रकार की दास-भावना

---

१ भ्रामयन् सर्वभूतानि यंत्रारूढानि मायया। —भगवद्गीता १८/६१

अर्थात् हीनता की भावना से मनुष्य की आत्मा परमात्मा नहीं बन सकती, वह तथाकथित ईश्वर की जी-हजूरी, प्रशंसा, चापलूसी, गुलामी और याचना करने के सिवाय आत्मिक विकास की उत्कृष्ट साधना करने का साहस, उत्साह और संवेग नहीं कर सकता। फलतः आत्मा की शक्तियों को भुलाकर या छिपाकर मनुष्य अपनी आत्मरक्षा एवं उद्धार स्वयं करने के बदले अवतारवाद के चक्कर में पड़कर भगवान् से या ईश्वर से रक्षा करने, उद्धार करने, संकट से उबारने, कष्टों और परीषहों से दूर रखने, रोग, शोक एवं दुःख मिटाने की प्रार्थना यहाँ तक कि रोटी, कपड़ा, मकान, गाय आदि पशु एवं भौतिक सुख-साधनों की प्रार्थना याचना करता है। इस प्रकार की हीनता की भावना से ग्रस्त मानवात्मा मानव से परमात्मा बनने को उत्साहित नहीं होता, वह एक दीन-हीन, शक्ति से क्षीण, मानव पशुसम बनकर रह जाता है। अधिक से अधिक वह नैतिक धर्मात्मा, योगी, या महात्मा (साधु-संन्यासी) बन सकता है, परमात्मा का ज्ञानवान्, भक्त विद्वान् ज्योतिर्विद् एवं कुछ अतीन्द्रिय ज्ञान की शक्ति वाला बन सकता है; वह भी ईश्वर की कृपा से ही, ईश्वर की शरण में जाने से ही, उसके समक्ष दीन-हीन बनकर पुकार करने से ही। वह ईश्वर के जितना सर्वज्ञानी, सर्वदर्शी, परमपवित्र, पूर्ण निर्विकार, पूर्ण आनन्दमय, पूर्ण शक्तिमान् नहीं बन सकता।

मनुष्य के विकास की कुछ सीमा है, और वह सीमा भी ईश्वर-इच्छा के अधीन है। मनुष्य ईश्वर की कृपा एवं दया का भिखारी बनकर रहे, अपनी शक्तियों, क्षमताओं एवं योग्यताओं का सदुपयोग भी न करे, तभी उसकी कृपा, दया एवं प्रसन्नता प्राप्त होती है। यही अवतारवाद की दासत्व भावना एवं गुलामी वृत्ति है, जो मानव के नैतिक बल, साहस एवं सामर्थ्य को घटाती है। जब ईश्वर या भगवान् ही सब कुछ कर या बना सकता है, तब मनुष्य भला क्यों अहिंसादि की साधना करेगा, क्यों त्याग, तप, कष्ट सहन, नियम, संयम, व्रत आदि का आचरण करेगा? भगवान् या ईश्वर के पास ही उसकी शक्ति, बुद्धि, भाग्य, भविष्य, क्षमता आदि सब रिजर्व या गिरवी रखी हुई जो है! वह जब चाहेगा, तब भगवान् या ईश्वर की मिन्नत, प्रशंसा, प्रार्थना और दीनतापूर्वक याचना करने से वह खुश होकर दे ही देगा न!

अवतारवाद में पाप-माफी तथा कटु-फल-मुक्ति का दौर

ब्राह्मण संस्कृति के समर्थक धर्मग्रन्थों में पापी, अनैतिक अथवा

अनाचारी मनुष्य को शरण में आने और भयमुक्त हो जाने की प्रेरणा मिलती है। भगवद्गीता में सस्ती भक्ति के प्रवाह में ईश्वर या भगवान् के मुख से कहलाया गया है—हे मानव ! तू मेरी शरण में आ जा, मुझे स्मरण[1] करके डटकर युद्ध कर, तू डरता क्यों है ? मैं तुझे सब पापों से मुक्त कर दूंगा, तू शोक मत कर ![2]

बस, तुझे इतनी-सी बात करनी होगी कि तू मुझे अपना स्वामी और स्वयं को दास, अथवा मुझे गुरु और स्वयं को शिष्य या मुझे शरण्य (शरणागत रक्षक) और स्वयं को शरणागत मान। तुझे और कुछ त्याग, तप, कष्ट सहन या व्रताचरण नहीं करना है।

इस पाप-माफी या सस्ती भक्ति का परिणाम यह आया कि संसार के सभी देशों में जनता का नैतिक स्तर गिरता जा रहा है, धर्माचरण एवं सत्कार्यों के करने की भावना घटती जा रही है, पापाचरण, भ्रष्टाचार एवं अनाचार की मात्रा अहर्निश बढ़ती जा रही है। और भगवान् या तथाकथित ईश्वर आँख मूंदे, सोया पड़ा है, चुपचाप यह सब देख रहा है। जब इतने भयंकर पाप हो रहे हैं, सद्धर्माचरण का ह्रास हो रहा है, तब वह ईश्वर या भगवान् क्यों नहीं आता ?

शरणागति और सस्तीभक्ति के कारण लोग पापकार्यों में बेखटके प्रवृत्त हो रहे हैं। फलतः वे पाप से नहीं बचकर पाप के फल से बचना चाहते हैं। वे त्याग, व्रत, नियम, तप, संयम आदि किसी भी कठोर साधना की आवश्यकता महसूस नहीं करते। ईश्वर या ईश्वर के किसी अवतार की शरण में जाने मात्र से ही जब बेड़ा पार हो जाता है, पापों के फल भोगने से छुट्टी हो जाती है तब क्यों कोई कठोर साधना करेगा ? भगवान् या ईश्वर जब चाहेगा, तब स्वर्ग या मोक्ष में भेज देगा, फिर क्या जरूरत है, मोक्ष या परमात्मपद की प्राप्ति करने की साधना करने की ? अवतारवाद की दृष्टि में ईश्वर या ईश्वर के किसी अवतार की शरण में चले जाना और उन्हें नाच-गा-बजाकर रिझा लेना—खुश कर देना ही सबसे बड़ी साधना है।

---

१ मामनुस्मर युद्धय ।

२ अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ।—भगवद्गीता १८/६६

जैसे कि भगवद्गीता (अ० ९/३२) में कहा है—

मां हि पार्थ ! व्यपाश्रित्य, येऽपि स्युः पापयोनयः ।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ।।

हे अर्जुन ! स्त्री हो, वैश्य हों तथा शूद्र हों अथवा कोई भी पाप-योनि वाले हों, मेरी शरण में आकर परमगति को प्राप्त हो जाते हैं।

यही कारण है कि ऐसी सस्ती भक्ति एवं अल्पश्रमसाध्य शरणागति से बड़े से बड़ा पापी, चोर, डाकू, वेश्या आदि बिना किसी नैतिक, धार्मिक आचरण या अध्यात्म-साधना के सिर्फ राम, कृष्ण आदि के नाम की रट लगाने से तिर जाता है, पापों के फल से बच जाता है, पापमाफी करा सकता है।[1] जहाँ स्तोत्र या स्तुतिपाठ करने से, नाम-स्मरण आदि करने से आजीवन पापकर्मरत अजामिल को नारायणदूत स्वर्ग में ले जाते हों, तोते को राम-नाम रटाती हुई वेश्या तार दी जाती हो, अपने पुत्र नारायण को पुकारने मात्र से नारायण के दूत दौड़कर उसे लेने आते हों, वहाँ नैतिकता आध्यात्मिकता एवं धार्मिकता का आचरण कोई करेगा ही क्यों ? जीवन में नीति, सद्धर्म और अध्यात्म की भला वहाँ क्या जरूरत है ? फिर तो अवतारवाद को बेखटके पाप करने और उसके फल से बचने के लिए ईश्वर या भगवान् (अवतार) की शरण में चले जाने की ही प्रेरणा मिलेगी।

ऊँचे आदर्शों की बातें केवल सुनने के लिए

ऐसी सस्ती भक्ति के कारण लोगों में पुरुषार्थहीनता, कायरता, आलस्य, निर्बलता एवं दिखावा आदि अनिष्ट ही पनपे। जब कभी किसी अवतारी (भगवान्) या ईश्वर के द्वारा आचरित उच्च आदर्श की, आचरण की या उच्च साधना की बात चलती है अथवा उन महापुरुषों की कठोर जीवनचर्या की बात सुनने में आती है तो लोग तपाक से कह उठते हैं—वे तो भगवान थे। उनका क्या कहना ? वे तो असम्भव को सम्भव कर दिखा सकते थे या कर दिखाते हैं। उनकी होड़ हम थोड़े ही कर सकते हैं। हम ठहरे अल्पज्ञ, अल्पशक्ति वाले ! हम क्षमा, दया, दान, ब्रह्मचर्य, अहिंसा, सत्य आदि सद्गुणों को पूर्णरूपेण साधना नहीं कर सकते, वे ही कर सकते हैं। परमात्म-प्राप्ति करना हमारे बस की बात

---

१ मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि ।
अथचेत्त्वमहंकारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि ।। —गीता १८/५८

२ मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् । —गीता १८/५६

नहीं है। इस प्रकार अवतारवाद के संस्कारों में पले लोग समस्त साधनाओं, सद्गुणों को प्रभु की लीला मात्र समझते हैं। उनके लिए ईश्वर की आत्मभावनिष्ठा, या रत्नत्रय-साधना, अथवा सच्चिदानन्दादि सद्गुण केवल सुनने भर के लिए हैं, आचरण के लिए नहीं।

अवतारों के चरित्र की छानबीन न करो

अवतारवाद की यह मान्यता भी मानव पर बौद्धिक, वाचिक एवं कायिक या वैचारिक प्रतिबन्ध लगा देती है, उसकी जबान एवं मन पर ताला लगा देती है। ईश्वर या अवतार के चरित्र के विषय में कोई शंका-कुशंका, या आलोचना करने या उनकी भूल बताने या भला-बुरा कहने की कोई गुन्जाइश ही नहीं है। अगर कोई आलोचना करता है तो अवतारवादी प्रायः कहा करते हैं—भगवान् या महापुरुष की जीवन-लीला के रहस्यों को तुम अल्पज्ञ क्या जानो ? वह जो कुछ भी करता है, अच्छा ही करता है। उन पर श्रद्धा-भक्ति रखो, उनकी निन्दा-आलोचना मत करो। बहुधा कहते हैं—महापुरुषों का जीवन श्रद्धापूर्वक सुनने के लिए है,[1] उनका अनुकरण या तदनुसार आचरण करने के लिए नहीं। जो ईश्वर या भगवान् अपने द्वारा आचरित मार्ग पर चलने वाले साधकों को अपने समान भगवत्त्व या ईश्वरत्व प्राप्त करने – या अपने समान बन जाने से इन्कार करता है, जिसका आदर्श जीवन केवल सुनने के लिए है, आचरण करने या उन आदर्शों को अपनाने के लिए नहीं, उक्त अवतारवाद को मानने और अपनाने से कोई भी लाभ व्यक्ति, समाज या समष्टि को नहीं है।

श्रमणसंस्कृति का आदर्श : अवतार नहीं, उत्तार

श्रमणसंस्कृति (जैन-बौद्ध-संस्कृति) शरीर, जन्म-मरण और कर्म-बन्धन से सर्वथा मुक्त-सिद्ध-बुद्ध परमात्मा (ईश्वर) का पुनः संसार में किसी भी रूप में अवतरण (अवतार) नहीं मानती, अपितु मानव का ईश्वररूप में उत्तरण मानती है। वह मानव को आत्मा से मानवरूप में तीर्थंकर, केवलज्ञानी या अरिहन्त (जिन) के रूप में सदेह जीवन्मुक्त परमात्मा अथवा निरंजन निराकार विदेह सिद्ध-बुद्ध परमात्मा बनने के उत्तरण के सिद्धान्त को स्वीकार करती है। श्रमणसंस्कृतिमान्य तीर्थंकर, जिन, केवली या अरिहन्त, अथवा सिद्ध-बुद्ध-मुक्त दोनों कोटि के परमात्मा

---

१ श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः।
सोऽपिमुक्तः शुभाँल्लोकान्प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम् ॥ —भगवद्गीता १८/७१

प्रारम्भ से ही (जन्म से ही या अनादिकाल से ही) ईश्वर नहीं थे, न ही ईश्वर के अंश या प्रतिनिधिरूप अवतार (भगवान्) थे, और न अलौकिक देवता थे।

अवतरण का अर्थ है—ऊपर से नीचे की ओर आना और उत्तरण का अर्थ है—नीचे से ऊपर की ओर जाना। श्रमणसंस्कृति अवतारवाद एकेश्वरवाद (सारे विश्व का एक ही ईश्वर) एवं सृष्टिकर्तृत्ववाद को नहीं मानती। उसका कहना है—अनन्त-अनन्त सिद्ध परमात्मा हुए हैं, होंगे और हैं या तीर्थंकर, केवली आदि भी अनन्त-अनन्त वीतराग परमात्मा हुए हैं, होंगे और हैं। वे सभी एक दिन हमारी ही तरह संसार के सामान्य जीव थे—कर्ममल से लिप्त, दुःख, शोक, जन्म, जरा, आधि, व्याधि आदि से सन्तप्त। इन्द्रियों के वैषयिक सुखों एवं मनःकल्पित वासनाजन्य सुखों के पीछे नाना क्लेश उठाते हुए वे जन्म-मरणादिरूप संसार में परिभ्रमण कर रहे थे। परन्तु जब उन्होंने सम्यग्दृष्टि प्राप्त की, उनकी अन्तर् की आँखें खुलीं, उन्होंने आत्मा, परमात्मा, कर्मों के आस्रव, बन्ध और संवर तथा मोक्ष के तत्त्वों को जाना, जीव-अजीव का भेद समझा, तब उन्होंने भौतिक सुखों से विरक्त होकर आध्यात्मिक सुखों के पथ पर प्रस्थान किया। आत्म-संयम एवं स्वरूपाचरण की साधना की और लगातार अनेक जन्म व्यतीत कर एक दिन देवदुर्लभ परमात्मपदप्राप्ति के योग्य मनुष्यजन्म प्राप्त किया। उन्होंने भलीभाँति जान लिया कि मनुष्यजन्म अत्यन्त दुर्लभ है। प्राणियों में सर्वश्रेष्ठ प्राणी मनुष्य है। देव भौतिक वैभव मे चाहे मनुष्य से बढ़कर हों, आध्यात्मिक वैभव में मनुष्य से बहुत पीछे रहते हैं। हाड़-मांस का पिंजर होते हुए भी मनुष्य में अनन्त ज्ञान, दर्शन, आनन्द और शक्तियाँ सोई हुई हैं, वह चाहे और साधना करे तो उन ज्ञानादि शक्तियों को अभिव्यक्त कर सकता है; तब वह देवों का भी देव, वीतराग परमात्मा या मुक्त परमात्मा बन सकता है। जब तक मानव कर्ममल से लिप्त है, तब तक अन्धकार से आच्छादित सूर्य के समान है। परन्तु जब वह होश में आता है, अपनी आत्म-शक्तियों को पहचान कर आत्मभावों या आत्मगुणों में रमण करने का तीव्र पुरुषार्थ करता है, परभावों को छोड़ कर स्वभाव को अपनाता है, तब उन अनन्त-अनन्त ज्ञानादि शक्तियों को अभिव्यक्त करके या तो आत्मगुणघाती चार कर्मों को नष्ट कर वीतराग-सदेह परमात्मा बन जाता है या सर्वकर्मों को क्षय कर सिद्ध-बुद्ध-मुक्त परमात्मा बन जाता है।

श्रमण संस्कृति में आत्मा की चरम शुद्ध दशा को ही ईश्वर-मुक्त सिद्ध परमात्मा माना गया है और वे अनन्त हो सकते हैं। कोई एक ही अनादिसिद्ध सृष्टिकर्ता ईश्वर को श्रमणसंस्कृति नहीं मानती। यहाँ जन से जिन बनने का, स्वपुरुषार्थ से परमात्मपद प्राप्त करने का, अपने सुख-दुःखों का अपनी सृष्टि का या अपने स्वभाव का स्वयं कर्त्ता-भोक्ता बनने का सिद्धान्त ही स्वीकृत किया गया है। श्रमणसंस्कृति के प्राचीन धर्मग्रन्थों एवं शास्त्रों में अपने पुरुषार्थ से चार घाती कर्मों का क्षय करके जन से जिन, केवली, अरिहन्त या तीर्थंकर बनने के तथा सर्वकर्मों का क्षय करके सिद्ध-बुद्ध-मुक्त परमात्मा बनने के अनेकों उदाहरण मिलते हैं। ये सभी सर्वज्ञ, सर्वदर्शी तो बनते ही हैं। जो सिद्धपरमात्मा होते हैं, वे अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख (आनन्द) और अनन्त आत्मिक शक्ति (वीर्य) से सम्पन्न हो जाते हैं। जो सर्वथा मुक्त परमात्मा हो चुके हैं, वे जन्म-मरणादिरूप या कर्म-कर्मफलयुक्त संसार में पुनः लौटकर नहीं आते।

जीवन्मुक्त सदेह परमात्मा के तथा सर्वकर्ममुक्त सिद्ध परमात्मा के जीवन्मुक्त या विदेहमुक्त परमात्मा बनने से पूर्व एक या अनेक जन्मों की जीवन-यात्रा में उत्थान पतनसम्बन्धी एवं धर्म-साधनासम्बन्धी क्रमबद्ध रेखाचित्र शास्त्रों एवं धर्मग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं। जिससे सामान्य मानवात्मा को भी उन्हीं की तरह रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग की साधना करने की, आत्मा से परमात्मा बनने की तथा उन्हीं के पदचिह्नों पर चलने की प्रेरणा मिलती है और एक दिन वे कर्ममलिन आत्माएँ भी शुद्ध आत्मा परमात्मा बन जाती हैं। श्रमणसंस्कृति का उत्तारवाद उन परमात्म-संज्ञक महापुरुषों की कोरी स्तुति या स्तोत्र पाठ करने या गुणगान करने के लिए अथवा उनकी प्रशंसा करके पापों के फल से मुक्त हो जाने या पापमाफी कराने के लिए नहीं है या उनका चरित्र केवल सुनने भर के लिए नहीं है, अपितु उनके जीवन से प्रेरणा लेकर उनके गुण जीवन के कण-कण में गहरे उतारने के लिए है। उत्तारवाद से मानवसमूह को पाप के फल से बचने की अथवा निःशंक पापकर्म करने की प्रेरणा नहीं मिलती, अपितु पापकर्मों से बचने की, कर्मों के बीजरूप राग-द्वेष, मोह, कषाय आदि विकारों से बचने की स्वयं साधना द्वारा शुभाशुभ सभी कर्मों को क्षय करने की एवं आत्मस्वरूप में स्थित होने की प्रेरणा मिलती है। श्रमणसंस्कृति-मान्य वीतराग परमात्मा (ईश्वर) का परमानन्द पंचविंशति में यही लक्षण दिया गया है—

"अनन्तसुख-सम्पन्नं, ज्ञानामृतपयोधरम् ॥।
अनन्तवीर्यसम्पन्नं, दर्शनं परमात्मनः ॥
निर्विकारं निराधारं सर्वसंग-विवर्जितम् ।
परमानन्द सम्पन्नं शुद्धचैतन्यलक्षणम् ॥"

अर्थात्—परमात्मा अनन्तसुख (आनन्द) से सम्पन्न हैं, ज्ञानामृत से परिपूर्ण हैं, अनन्त आत्मशक्ति सम्पन्न हैं, अनन्तदर्शन से युक्त हैं, वे निर्विकार, आधार से रहित (स्वयं अपने गुणों में ही प्रतिष्ठित), सर्वसंगरहित तथा शुद्ध चैतन्य रूप हैं। यही परमात्मा का यथार्थ स्वरूप है, जो आत्मार्थी साधक को अभीष्ट है।

१२

परमात्मा को कहाँ और कैसे देखें ?

परमात्मा को कौन देख सकता है, कौन नहीं ?

आत्मा परमात्मा बन सकता है, यह बात सामान्य व्यक्ति के गले तभी उतर सकती है, जब वह परमात्मा को प्रत्यक्ष देखे। परन्तु वर्तमान में जैनदर्शनमान्य जीवन्मुक्त वीतराग सर्वज्ञ सदेह परमात्मा तथा सिद्ध-बुद्ध-मुक्त निराकार परमात्मा, ये दोनों प्रकार के परमात्मा हमारे सामने प्रत्यक्ष नहीं हैं। वर्तमान चौबीसी में जो चौबीस जीवन्मुक्त सदेह वीतराग तीर्थंकर परमात्मा थे, वे सभी सिद्ध-बुद्ध-मुक्त परमात्मा बन गए। अभी भरतक्षेत्र में कोई तीर्थंकर परमात्मा नहीं हैं। तब सवाल उठता है कि परमात्मा को कहाँ ढूंढें, कहाँ देखें ? कदाचित् यह कहें कि महाविदेह क्षेत्र में तो इस काल में सदेह वीतराग परमात्मा (तीर्थंकर) विहरमाण-विद्यमान हैं, उन्हें तो प्रत्यक्ष देखने वाले देख सकते हैं ? महाविदेह क्षेत्र के उन तीर्थंकरों की बात जाने दीजिए, भरतक्षेत्र में जिस समय सदेह वीतराग सर्वज्ञ परमात्मा तीर्थंकर महावीर जीवित थे, साक्षात् विराजमान थे, और उनके पट्टधर अन्तेवासी शिष्य गणधर गौतम भी उनके पास ही रहते थे। गणधर गौतमस्वामी चतुर्दश पूर्वों (शास्त्रों) के ज्ञाता, सर्वाक्षरसन्निपाती एवं तप-संयम में संल्लीन थे। फिर भी वीतराग परमात्मा भगवान् महावीर ने गौतम गणधर से कहा था—

'न हु जिणे अज्ज दिस्सइ'[1]

'गौतम ! आज तुझे जिन (वीतराग परमात्मा) नहीं दीखते ।' प्रश्न होता है, जब तीर्थंकर (जिनेन्द्र) परमात्मा स्वयं साक्षात् विद्यमान थे, तब उन्होंने गौतमस्वामी से क्यों कहा कि "तुझे जिन (वीतराग) परमात्मा नहीं दिखाई देते ?" इस कथन का क्या रहस्य है ?

इसका रहस्य यह है कि भगवान् महावीर वीतराग जिनेन्द्र-केवलज्ञानी परमात्मा थे और गौतमस्वामी अभी छद्मस्थ (अपूर्णज्ञानी) साधक थे। केवलज्ञानी वीतराग परमात्मा को केवलज्ञानी वीतराग (पूर्णज्ञानी) ही देख सकता है, छद्मस्थ अपूर्णज्ञानी नहीं। अगर गौतमस्वामी, जो उस समय छद्मस्थ थे, केवलज्ञानी महावीर परमात्मा को देख लेते, तब तो वे स्वयं उसी समय केवलज्ञानी कहलाते।

अगर गौतम स्वामी केवलज्ञानी होते तो वीतराग तीर्थंकर महावीर परमात्मा उन्हें ऐसा उपदेश नहीं देते। आचारांग सूत्र में कहा गया है—

'उद्देसो पासगस्स णत्थि'[2]

"सर्वज्ञ (केवलज्ञानी) के लिए उपदेश नहीं होता।"

इस सूत्र से स्पष्ट है कि गौतमस्वामी उस समय केवलज्ञानी नहीं थे, छद्मस्थ (अपूर्णज्ञानी) थे। इसी कारण उन्हें पूर्णता प्राप्त करने का उपदेश ही पूर्वोक्त वाक्य (न हु जिणे अज्ज दिस्सइ) से फलित होता है। वीतराग परमात्मा महावीर के कथन का आशय यह है कि "गौतम ! तेरी छद्मस्थ अवस्था के कारण मैं जिन केवलज्ञानी तुझे नहीं दीखता। मेरा जिनत्व=वीतराग-परमात्मत्व तुझे दृष्टिगोचर नहीं होता, क्योंकि तू इस शरीर को, इस बाह्य भौतिक ऋद्धि-समृद्धि, आदि को जिन समझ रहा है, किन्तु ये शरीरादि जिन नहीं हैं। कहा भी है—

'जिनपद नहीं शरीर को, जिनपद चेतन मांय।
जिन-वर्णन कछु और है, यह जिनवर्णन नांय॥'[3]

पूर्वोक्त भगवद्-वाक्य का यह अर्थ नहीं है कि जिन (वीतराग)

---

१ उत्तराध्ययन सूत्र अ. १० गा. ३१
२ आचारांग सूत्र, १ श्रु. अ. २ उ. ३ सू. २५
३ श्री जवाहराचार्य : जवाहरकिरणावली, भा. ४

परमात्मा के शरीरादि भी नहीं दीखते। इसका तात्पर्य यह है कि जिन-(वीतरागपरमात्म-) दशा वास्तव में शरीरादि से सम्बन्धित नहीं है। वह है—आत्मा के पूर्ण विकास (तेरहवें गुणस्थान) की दशा। जिसे केवलज्ञानी के सिवाय दूसरा नहीं देख सकता।

वीतराग की भौतिक ऋद्धि के दर्शन उनके वास्तविक दर्शन नहीं

सामान्य जनता नेत्रों से दिखाई देने वाले अष्टमहाप्रातिहार्य[1] को वीतराग (जिन) परमात्मा समझ लेती है। अष्टमहाप्रातिहार्य ये हैं—

(१) अशोकवृक्ष, (२) देवों द्वारा अचित्त पुष्पवृष्टि, (३) दिव्य ध्वनि, (४) चामर ढुलाना, (५) स्फटिक सिंहासन, (६) प्रभु के मस्तिष्क के चारों ओर भामण्डल (प्रभावलय), (७) देवों द्वारा दुन्दुभिवाद्य बजाना, और (८) एक के ऊपर एक तीन छत्र-धारण। इसके अतिरिक्त देवों का आगमन इत्यादि तथा चौंतीस अतिशय (चमत्कार) और पैंतीस वचनातिशय भी तीर्थंकर परमात्मा के होते हैं। किन्तु ये सब तीर्थंकर नामकर्म की अतिशय पुण्यराशि के कारण प्राप्त होती हैं। ये कोई आत्मिक गुण नहीं हैं। ये भौतिक उपलब्धियाँ वीतराग सदेह परमात्मा के शरीर के दर्शन हैं, वीतराग आत्मा के दर्शन नहीं। ऐसे कई चमत्कार तो एक ऐन्द्रजालिक या मायावी जादूगर भी बता सकता है। इसीलिए आचार्य समन्तभद्र ने 'देवागमस्तोत्र' में कहा है—

देवागम - नभोयान - चामरादि - विभूतयः ।
मायाविष्वपि दृश्यन्ते, नातस्त्वमसि नो महान् ॥[2]

अर्थात्—भगवन्! आपके पास देवता, देवेन्द्र आदि आते हैं, आप आकाश में उड़ सकते हैं, या आपके चारों ओर चामर, छत्र, स्फटिक सिंहासन, प्रभामण्डल, अशोकवृक्ष, आदि भौतिक विभूतियाँ अठखेलियाँ कर रही हैं, इससे आप हमारे लिए महान् (वीतराग परमात्मा) या महनीय पूजनीय नहीं हैं, क्योंकि ये विभूतियाँ तो एक मायावी (जादूगर या ऐन्द्रजालिक) में भी विद्या के बल से या वैक्रिय शक्ति से पाई जा सकती हैं।

---

१ अशोकवृक्षः सुरपुष्पवृष्टिः दिव्यध्वनिश्चामरमासनं च।
भामण्डलं दुन्दुभिरातपत्रं, अष्टौ महाप्रातिहार्याणि जिनेश्वराणाम्॥

२ आप्तमीमांसा, श्लोक-१।

वस्तुतः वीतराग-परमात्मा को देखना उनके शरीर को ही देखना नहीं है, वीतराग परमात्मा का वास्तविक दर्शन तो अनन्तज्ञानादि से युक्त उनकी आत्मा को देखना है। उसे सामान्य छद्मस्थ आत्मा इन चर्मचक्षुओं से नहीं देख सकता। और यह भी सत्य है कि जो परमात्मा को नहीं देख पाता, वह परमात्मा नहीं बन सकता।

छद्मस्थ आत्मा परमात्मा को कैसे जाने, कैसे देखे ?

तब प्रश्न होता है कि सामान्य छद्मस्थ आत्मा वीतराग (जिन) परमात्मा को कैसे देखे, कैसे जाने ? यदि वीतराग परमात्मा को छद्मस्थ (अपूर्णज्ञानी) नहीं जान-देख सकता, तब तो कोई भी अम्बड परिव्राजक की तरह वैक्रियलब्धि से तीर्थंकर महावीर या अन्य (वीतराग परमात्मा) का बाह्य रूप बनाकर कह सकता है और छल सकता है कि मैं जिनेन्द्र (वीतराग परमात्मा) हूँ। और भोले-भाले अन्धविश्वासी लोग उस जिन-रूपधारी को वीतराग परमात्मा बताकर उसका वन्दन-कीर्तन-अर्चन करने को कहकर भुलावे में डाल सकता है।

इसका समाधान यह है कि बिना प्रमाण के किसी व्यक्ति को जिन (वीतराग) परमात्मा मानना ठीक नहीं। यदि जिन परमात्मा को देखने-जानने के लिए किसी के पास अभी प्रत्यक्ष प्रमाण का साधन नहीं है तो अनुमान, आगम आदि परोक्ष प्रमाणों के द्वारा उन्हें जाना-देखा जा सकता है। जिस प्रकार पंखे, मशीन, हीटर, कूलर, बल्ब आदि में बिजली प्रत्यक्ष नहीं दिखाई देती, फिर भी उसके द्वारा होने वाले कार्यों को देखकर आप अनुमान लगा लेते हैं, तथा भौतिक विज्ञान के द्वारा जान लेते हैं कि बिजली अवश्य है, तभी तो पंखा चलता है, मशीन चल रही है, बल्ब प्रकाश देता है, हीटर गर्मी और कूलर ठण्डक देता है।

चुम्बक एक ऐसी अदृश्य शक्ति है, जिसे इन आँखों से देखा नहीं जा सकता, किन्तु उसे लोहे की सूई में पिरो दिया जाता है तो वह कुतुबनुमा (दिशादर्शकयन्त्र) बनकर दिशाबोध करा देता है। इसी प्रकार वीतराग-परमात्मा का भी सच्चे माने में दर्शन, उनके अदृश्य तत्त्व होने से सामान्य छद्मस्थ आत्मा को नहीं हो पाते। किन्तु जब साधक की अन्तरात्मा की श्रद्धा और अन्तःकरण का दृढ़ विश्वास एकाकार होते हैं तो अपने अन्तः-करण में विराजमान शुद्ध आत्मतत्त्व को जगा लेता है और उसमें वह पर-मात्मतत्त्व के दर्शन कर लेता है।

चर्मचक्षुओं से परमात्मा नहीं दिखाई देता

वस्तुतः वीतराग परमात्मा या निरंजन निराकार सिद्ध-बुद्ध-मुक्त परमात्मा इन चर्मचक्षुओं से नहीं दिखाई दे सकता। वीतराग सदेह परमात्मा का शरीर या शरीर की प्रतिकृति भले ही इन चर्मचक्षुओं से दिखाई दे, किन्तु उसमें विराजमान परमात्म तत्त्व उसी को दिखाई देगा, जो अपने परम पुरुषार्थ से आत्मा के वास्तविक शुद्धस्वरूप को जान ले और परमात्मस्वभाव के तुल्य शुद्ध आत्मस्वभाव में स्थिर हो जाये, आत्मा के निजी गुणों में रमण करके उन्हें प्रकट कर ले।

परमात्मा को देखने के लिए दिव्यदृष्टि चाहिए

किन्तु जो अभी अपूर्णज्ञानी है, किन्तु जो आत्मार्थी है, परमात्मपद को प्राप्त करने की जिसमें तीव्र उत्कण्ठा है, उसे अपनी आत्मा में निहित अनन्तज्ञानादि शक्ति को भूलना नहीं चाहिए। उसे सदा यह ध्यान रखना चाहिए कि आत्मा में अनन्तशक्ति (वीर्य), अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन और अनन्त अव्याबाध आनन्द (आत्मसुख) का भण्डार विद्यमान है, किन्तु आज वह कई प्रकार के आवरणों से आवृत है, अप्रकट है। उसे देखने के लिए भी जिस प्रकार दिव्यदृष्टि का होना आवश्यक है, उसी प्रकार परमात्मा को यानी परमात्मा के वास्तविक रूप को देखने के लिए भी उसी दिव्यदृष्टि को प्राप्त करना आवश्यक है।

दिव्यदृष्टिहीन को परमात्मा नहीं दिखाई दे सकते

जो व्यक्ति आत्मा और परमात्मा के अस्तित्व और आगम तथा अनुमान आदि प्रमाणों के आधार पर ज्ञात परमात्मा के स्वरूप (व्यक्तित्व पर श्रद्धा और विश्वास रखकर चलना नहीं चाहते तथा दिव्यदृष्टि प्राप्त करने के लिए योग्य पुरुषार्थ भी नहीं करना चाहते, फिर भी परमात्मा को देखना चाहते हैं उन्हें परमात्मा कैसे और कहाँ दिखाई देगा? यह उनका हठाग्रह ही है। बहुत-सी वस्तुएँ क्षेत्र और काल से अतिदूर होने, अति समीप होने, दीवार आदि से व्यवहित होने या सामने अदृश्य व अप्रत्यक्ष होने पर भी नास्तिक से नास्तिक व्यक्ति को माननी पड़ती हैं। उनके अस्तित्व को स्वीकार किए बिना कोई चारा नहीं। इसी प्रकार आत्मा-परमात्मा आदि अमूर्त तत्त्व प्रत्यक्ष न होते हुए भी उन्हें अनुमान, आगम आदि प्रमाणों से मानने में हिचक क्यों?

कुछ लोग कह देते हैं—अगर परमात्मा होता तो कहीं न कहीं दिखाई देता। मगर वह कहीं है ही नहीं। कुछ लोग परमात्मा को देखने के लिए चन्द्रमा पर पहुँच गए। जब प्रथम रूसी अन्तरिक्ष यात्री धरती पर वापस लौटा तो रूस के तत्कालीन प्रधानमंत्री ख्रुश्चोव ने उससे पूछा—'ईश्वर मिला ?' उसने कहा—'मुझे तो कोई ईश्वर नहीं मिला। चन्द्रमा बिल्कुल खाली है।'

यह बात सुनकर ख्रुश्चोव ने रूस में लेनिनग्राड में बनी हुई अन्तरिक्ष अनुसन्धानशाला के द्वार पर यह वाक्य अंकित करवा दिया—"हमारे अन्तरिक्ष यात्री चन्द्रमा पर पहुँचे, लेकिन वहाँ भी उन्हें ईश्वर मिला नहीं।"

कई लोग कहते हैं कि "ईश्वर सातवें आसमान पर है। वहाँ वह शाही ठाठ-बाट से बैठा हुआ हुक्म चलाता है।"[1]

जिनको जमीन पर परमात्मा नहीं मिलता, उन्हें चन्द्रमा पर या सातवें आसमान पर भी वह कैसे मिलेगा ? परमात्मा को देखने के लिए दिव्यदृष्टि चाहिए, वह हर एक व्यक्ति के पास थोड़े ही होती है।

परमात्मा तीर्थों और देवालयों में नहीं, अपनी अन्तरात्मा में है

परमात्मा को खोजने के लिए अथवा उनको देखने (दर्शन करने) के लिए कई लोग विविध तीर्थों में तथा देवालयों में जाते हैं। किन्तु जिनकी दिव्यदृष्टि खुली हुई नहीं है, उन्हें तीर्थों और देवालयों में परमात्मा कहाँ मिल सकते हैं ? इसीलिए 'योगसार' ग्रन्थ में कहा गया है—

"तित्थहि देवलि देव णवि, इम सुईकेवलि वुत्तु।"[1]

तीर्थों और देवालयों में वस्तुतः देवाधिदेव परमात्मा नहीं है, ऐसा श्रुतकेवली भगवान् ने कहा है।

वस्तुतः परमात्मा कहीं बाहर नहीं है, वह तो अपनी अन्तरात्मा में ही स्थित है, किन्तु स्थूलबुद्धि वाले भोले-भाले लोग परमात्मा को ढूंढने-देखने और पाने के लिए अपने मनोनीत पर्वत, नदी, गुफा, तीर्थ या मनोनीत देवालय में जाते हैं। मुग्ध लोग अमुक-अमुक तीर्थ में परमात्मा मिलेंगे या उनके दर्शन होंगे, यह सोचकर वहाँ चक्कर लगा आते हैं। जो इस

---

१ योगसार गा. ४२

प्रकार से यत्र-तत्र भ्रमण करते हैं। जब तक अपनी आत्मा पवित्र, निश्छल, निर्द्वन्द्व निर्भय एवं परभावों की स्पृहा से रहित होकर अन्तर्मुखी नहीं बन जाती है, अपने अन्तर् में विराजमान शुद्ध आत्मतीर्थ को नहीं जान लेते, तब तक परमात्मतत्त्व को कैसे जान-देख सकते हैं? किसी अनुभवी ने ठीक ही कहा है—

इदं तीर्थमिदं तीर्थं भ्रमन्ति तामसा जनाः।
आत्मतीर्थं न जानन्ति, सर्वमेव निरर्थकम्॥

'यह तीर्थ है, यह भी तीर्थ है, यहाँ परमात्मा मिलेंगे, इस प्रकार सोचकर तामस (अज्ञानी) जन भटकते हैं, परन्तु जब तक वे अपने अत्यन्त निकटवर्ती आत्मतीर्थ को नहीं जान लेते, तब तक परमात्मदर्शन के लिए तीर्थ-भ्रमण का उनका सारा श्रम निरर्थक है, सार्थक नहीं।

प्रत्येक प्राणी के अन्तर् में परमात्मा है, पर प्रकट नहीं

परमात्मा को खोजने की यह अन्तर्यात्रा अपने आप में वास्तविक तीर्थयात्रा है। अनन्तज्ञानादि चतुष्टय से सम्पन्न होने के कारण परमात्मा अनन्त है। इसलिए परमात्मतीर्थ तक पहुँचने की यात्रा भी अनन्त है, साधारणजन के लिए वह अभी अगम्य है। परन्तु जो आत्मार्थी परमात्म-प्राप्ति की तीव्र उत्कण्ठा लेकर आत्मस्वभाव, आत्मगुण और आत्मस्वरूप में रमण करने की आत्म-साधना यात्रा करते हैं, उनके लिए परमात्मा गम्य है, वे ही देख-जान सकते हैं, उनके ही आत्मघट में परमात्मा प्रकट होता है। उपाध्याय यशोविजयजी ने कहा है—

"देखीए मार्ग शिवनगर के, जेह उदासीन परिणाम रे।
तेह अणछोड़ता चालीए, पामीए निज परमधाम रे॥"[1]

कबीर से जब पूछा गया कि परमात्मा कहाँ है? तो उसने अपनी लाक्षणिक भाषा में कहा—

'घट-घट मेरा साइया, सूनी सेज न कोय।
बा घट की बलहारियां, जा घट परगट होय॥'[2]

प्रत्येक प्राणी के हृदयघट में शुद्ध आत्मारूप परमात्मा विराजमान है। किन्तु परमात्मभाव की अभिव्यक्ति उसी घट में होती है, जिस घट में

---

१ अमृतवेलनी सज्झाय गा. २८

२ कबीर का रहस्यवाद

विराजमान आत्मा परमात्मभाव को पाने की शुद्ध दिव्यदृष्टि पाए हुए हैं, उसी को परमात्मा दिखाई देता है।[1]

परमात्मा को बाहर ढूंढ़ने की अपेक्षा अन्तरात्मा में ढूंढ़ो

अतः परमात्मा को बाहर ढूंढ़ने की अपेक्षा अपनी आत्मा में ढूंढ़ने-देखने और पाने की सलाह सभी ज्ञानी पुरुषों ने दी है। जो लोग परमात्मा को बाहर ढूंढते हैं, उनके लिए कबीर जी कहते हैं—

'पानी में मीन पियासी, मोहे देखत आवे हांसी।'[2]

'मुझे यह देखकर हँसी आती है कि मछली सागर में प्यासी है।'

परमात्मा की तीर्थों आदि में खोज ऐसी ही है, मानो, मछली सागर को खोजती हो। मछली सागर में ही पैदा होती है, सागर में ही जीती है; सागर में ही बढ़ती है, सागर का पानी ही मछली के भीतर लहरें लेता है। अन्त में, वह सागर में ही लीन हो जाती—खो जाती है। अगर वह सागर-मयी मछली यह कहे कि मैं प्यासी हूँ, तो किसी को भी सुनकर आश्चर्य होगा। इसी प्रकार प्राणियों में सर्वश्रेष्ठ तन-मन-बुद्धि का धारक मानव अपनी आत्मा में परमात्मतत्व छिपा हुआ रहने पर भी यह कहे कि 'मुझे परमात्मा खोजने पर भी नहीं मिला, परमात्मा मुझे दिखाई नहीं दिया,' क्या यह आश्चर्यजनक बात नहीं होगी ?

परमात्मा तो हमारे सामने ही है, हमारे अत्यन्त निकट है, उसके चेहरे (रूप) पर कोई घूँघट नहीं है। हमारी ही आँखों पर पर्दा है। वह पर्दा भी हमने स्वयं ही डाला है, जिसके कारण हम उससे अपरिचित होकर उसे बाहर ही बाहर ढूंढ़ा है। आँखों पर पर्दा डाले आप कहीं भी घूमते फिरें—काशी या काबा, मक्का या मदीना, जेरुसलम या प्रयाग कोई फर्क न पड़ेगा। आँखों पर से जब तक वह पर्दा नहीं हटेगा, तब तक आप भले ही जन्म-जन्मान्तर तक विभिन्न तीर्थों में घूमते फिरें, परमात्मा नहीं मिलेगा उसके दर्शन दुर्लभ ही होंगे। प्रभुभक्ति का अमर गायक संत कबीर परमात्मा का प्रतिनिधि बनकर साफ-साफ कहता है—

---

१ समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।
विनश्यत्स्व विनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ॥
—भगवद्गीता अ. १३, श्लो. २७

२ कबीर का रहस्यवाद

मोको कहाँ तू ढूंढ़े, बन्दे ! मैं तो हरदम तेरे पास में ॥ध्रुव॥
ना मैं मन्दिर, ना मैं मस्जिद, ना काशी कैलाश में।
ना मैं बहिश्त अज्ज द्वारिका, मेरी भेंट विश्वास में ॥मोको॥१॥
ना मैं तीरथ, ना मैं मूरत, ना एकान्त निवास में।
ना मैं जप में, ना मैं तप में, ना व्रत में उपवास में ॥मोको०॥२॥
ना मैं क्रियाकाण्ड में रहता, ना हठयोग-संन्यास में।
नहीं प्राण में, नहीं पिण्ड में, ना ब्रह्माण्ड-आकाश में ॥मोको०॥३॥
ना मैं भ्रकुटि भँवर गुफा में, मैं हूँ श्वासन की श्वास में।
खोजी हो तो तुरंत मिल जाऊं, इक पल की ही तलाश में ॥मोको०॥४॥
कहत 'कबीर' सुनो भाई साधो ! मैं तो हूँ विश्वास में ॥५॥[1]

परमात्मा : श्रद्धा और विश्वास में

वस्तुतः भगवद्गीता के अनुसार प्रत्येक प्राणी के हृदय में परमात्मा विद्यमान है।[2] परन्तु वह उसी हृदय में अभिव्यक्त होता है, जो निर्मल, निश्छल एवं पवित्र हो और जिसमें श्रद्धा तथा विश्वास कूट-कूट कर भरा हो।

वैदिक धर्म के मूर्धन्यग्रन्थ भगवद्गीता में भी यही कहा है—

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे ॥[3]

कई लोग परमपुरुष परमात्मा (शुद्ध आत्मा) को अपनी शुद्ध बुद्धि (आत्मा) से ध्यान के द्वारा, कई ज्ञानयोग (शास्त्रज्ञान) द्वारा और कितने ही व्यक्ति निष्काम कर्मयोग (निष्काम चारित्रपालन या स्वरूपाचरण चारित्र) द्वारा देखते हैं।

वास्तव में जिस व्यक्ति की दिव्यदृष्टि खुल गई है, जिसके हृदय में श्रद्धा और विश्वास ये दो फेफड़े स्वस्थ और कार्यरत हैं, उसे अपनी शुद्ध आत्मा में अनन्त-ज्ञानादि चतुष्टय से सम्पन्न परमात्मा के दर्शन होते हैं।

'कुरान शरीफ' में भी हजरत मुहम्मद साहब ने बताया है—

---

१ कबीर भजनावली।
२ 'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन ! तिष्ठति।' —भगवद्गीता अ० १८,श्लो० ६१
३ भगवद्गीता अ० १३ श्लो० २४

"अल्लाह कहता है कि मैं ऊपर-नीचे, जमीन या आसमान में अथवा फर्श में कहीं नहीं समा सकता, परन्तु मैं विश्वासी भक्तों के हृदय में प्रसन्नतापूर्वक निवास करता हूँ। जो मुझे ढूंढ़ना चाहे, वहीं ढूंढ़ ले।"

और परमात्मा पर अनन्यश्रद्धा और विश्वास के लिए स्वस्थ, शान्त, एकाग्र एवं निश्चल हृदय में स्थित शुद्ध आत्मा में अडिग आस्था एवं श्रद्धा होनी चाहिए। जो अपने हृदय में केवल परमात्मा के निवास एवं आराधना के लिए स्थान सुरक्षित रखता है, उसमें काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह आदि दुर्विकारों एवं राग-द्वेषादि से युक्त कुविचारों को स्थान नहीं देता, उसी आत्मा को दिव्यदृष्टि प्राप्त होती है, और वह परमात्मा को वहीं जान-देख लेता है, पा लेता है।

परमात्मा को बाहर खोजने वाला : कस्तूरीमृग के समान

उस व्यक्ति की मनोदशा कस्तूरीमृग के समान है, जो आत्मा मूढ़ बनकर परमात्मा की खोज के लिए संसार में इधर-उधर मारा-मारा फिरता है। कस्तूरीमृग को नाभि में कस्तूरी होती है, लेकिन वह यह नहीं जानता और कस्तूरी की सुगन्ध की खोज में इधर-उधर दौड़ता-फिरता है। उसे मालूम नहीं कि यह सुगन्ध मेरे शरीर से आ रही है। इसी प्रकार अज्ञानीजन को भी यह विश्वास नहीं कि परमात्मभाव की सुगन्ध मेरी ही आत्मा में है। परमात्मा जब मिलेगा, तब अपने-आप में ही मिलेगा। परमात्मभाव के दर्शन विश्वास से ही होंगे। जैन सिद्धान्त, भगवद्गीता, उपनिषद्, वेदान्त आदि सब एक स्वर से यही बात कहते हैं।

यह तो हुआ परमात्मा को कहाँ देखे, कहाँ खोजें ? इसका समाधान !

परमात्मा को परमात्मा द्वारा उपदिष्ट मार्ग से जानो-देखो

अब प्रश्न यह है कि परमात्मा को कैसे जानें-देखें ? वर्तमान में जो अभी अपूर्ण ज्ञानी हैं, छद्मस्थ हैं, जिनके अनन्तज्ञानादि चतुष्टय अभी तक अभिव्यक्त नहीं हुए हैं। वे वीतराग-परमात्मा (जिन भगवान्) को कैसे जानें-देखें ? गणधर गौतम स्वामी के समक्ष भी यही प्रश्न था, जब श्रमण महावीर परमात्मा ने कहा कि 'गौतम ! तुम्हें आज जिन (वीतराग परमात्मा) दिखते।" जिन (वीतराग) परमात्मा को तुम कैसे जान-देख सकोगे ? इसके लिए उन्होंने कहा—

"न हु जिणे अज्जा दिस्सइ, बहुमए दिस्सइ मग्गदेसिए।
संपइ नेयाउए पहे, समयं गोयम ! मा पमायए॥"[1]

इसका भावार्थ यह है कि 'गौतम ! अभी तुम श्रुतज्ञानी हो, छद्मस्थ हो, अपूर्ण ज्ञानी हो, इस कारण तुम वास्तविक रूप से अभी जिन (केवली वीतराग) को नहीं देख पाते, क्योंकि केवलज्ञानी ही केवलज्ञानी (सर्वज्ञ वीतराग) को देख-जान सकता है। मैं जो उपदेश दे रहा हूँ, वह केवलज्ञान का होने पर भी तुम्हारे लिए श्रुतज्ञान का ही है, क्योंकि तुम उससे अधिक नहीं जान-देख सकते। इसलिए मेरे कहने से तुम मुझे जिन (वीतराग परमात्मा) मत मानो। अनुमान, आगम आदि प्रमाणों से जिन (वीतराग प्रभु) का मार्ग, जो कि श्रुतज्ञानी को भी दिव्यदृष्टि से दिखाई दे सकता है, देखो और दिव्य दृष्टि से यदि परिपूर्ण, बहुजन सफल, नय-प्रमाण से अबाधित, पूर्वापर-अविरुद्ध सर्वज्ञ वीतराग परमात्मा के द्वारा उपदिष्ट मार्ग दिखाई दे, तब तो उस मार्ग के उपदेष्टा को भी वीतराग सर्वज्ञ परमात्मा जान लेना चाहिए। इस प्रकार परमात्मा के द्वारा उपदिष्ट मार्ग को जानने-देखने से अनुमानतः परमात्मा को अपनी अन्तरात्मा में ही जानना-देखना हो जाएगा।

परमात्म-पथ का अर्थ और तात्पर्य

परमात्मपथ को जानने और देखने से पहले यह जानना आवश्यक है कि परमात्म-पथ क्या है ? वह कौन-सा पथ है, जिसे परमात्मा वीतराग प्रभु ने मुमुक्षु एवं आत्मार्थी जीवों के लिए बताया है ? परमात्म-पथ से तात्पर्य है—जिस पथ पर चलकर वीतराग परमात्मा ने मोक्षपद या परमात्मपद प्राप्त किया है तथा परमात्म-प्राप्ति के जिस अनुभूत पथ (मोक्षपथ या स्वभावरमणरूप पथ) का उन्होंने उपदेश-निर्देश किया है, वह पथ।

परमात्ममार्ग को समझने में भ्रान्तियाँ

विश्व में जितने भी धर्म, सम्प्रदाय, मत, पंथ हैं, उनके धर्मग्रन्थों या शास्त्रों ने तथा माननीय पुरुषों ने परमात्म-प्राप्ति के अलग-अलग मार्ग बताए हैं। कई बार जिज्ञासु साधक यथार्थ मार्ग को छोड़कर आडम्बर

---

१ उत्तराध्ययन सूत्र अ० १०, गा० ३१

और प्रसिद्धि के लुभावने मार्ग को ही परमात्मा का मार्ग समझकर चल पड़ते हैं और वीतराग परमात्मा की प्राप्ति के बदले राग-द्वेष, मोह, स्वार्थ और प्रतिष्ठा की भूलभुलैया में पड़कर गुमराह हो जाते हैं। जब असलियत सामने आती है तब पश्चात्ताप और आर्त्तध्यान के सिवाय कोई चारा नहीं रहता। इस भूल का मूल कारण बताते हुए योगीश्वर आनन्दघनजी कहते हैं—

चरमनयणे करी मारग जोवतां रे, भूल्यो सयल संसार।
जेणे नयणे करी मारग जोइए रे, नयण ते दिव्य विचार ॥[1]

इसका भावार्थ यह है कि चमड़े की इन स्थूल नेत्रों से वीतराग परमात्मा का मार्ग देखने वाले लोग प्रायः भ्रान्ति में पड़ जाते हैं। वे जैसे वीतराग परमात्मा की देह को वीतराग परमात्मा समझकर गौतम स्वामी जैसे उच्चकोटि के साधक प्रशस्तरागवश भ्रान्ति में पड़े थे, उसी प्रकार वे भी वीतराग परमात्मा की छवि या प्रतिकृति को ही वीतराग परमात्मा समझकर उस छवि या प्रतिकृति के आगे नाचने, गाने, बजाने, रागरंग करने, तालियाँ पीटने; उनकी छवि या प्रतिकृति के आगे पुष्प, फल, मेवा-मिठाइयाँ आदि का चढ़ावा-चढ़ाने तथा उनकी मूर्ति के समक्ष भोग धराने, रुपयों-गहनों आदि की भेंट चढ़ाने या उनकी प्रतिकृति को सुन्दर-सुन्दर वस्त्राभूषण पहनाकर उसके आगे स्तवन, स्तोत्र, भक्तिगीत या प्रार्थना बोलने या गाने मात्र को परमात्मा की प्राप्ति का या उनका साक्षात्कार करने का मार्ग समझ लेते हैं। अथवा इन्द्र-इन्द्राणी या देव-देवी का स्वरूप बनाकर बाह्य भक्ति करने को या सिर्फ जयकार का नारा लगाकर अथवा रात-रात-भर जागकर उनका सिर्फ कीर्तन करके या कोरे गुणगान करके ही समझ लेते हैं कि परमात्मा की प्राप्ति का यही मार्ग है। स्थूलदृष्टिवाला जनसमूह विविध प्रकार की इस बाह्यभक्ति को ही परमात्म-प्राप्ति का मार्ग समझकर भूलभुलैया में पड़ा रहता है।

कई स्थूलदृष्टि वाले लोग विविध धर्म-सम्प्रदाय, मत, पंथ या दर्शन के विद्वान धर्मशास्त्रियों द्वारा बताए हुए स्थूल भक्तिमार्ग या स्थूल क्रियाकाण्डों या बाह्य प्रवृत्तियों को परमात्मा के मार्ग को ही वास्तविक प्रभुपथ समझकर अनुसरण करने लगते हैं।

---

१ आनन्दघन चौबीसी, अजितजिनस्तवन गा. २

वे अपनी स्थूल आँखों से प्रायः यही देखा करते हैं कि हमारे पूज्य आराध्य महापुरुष कहाँ और कैसे बैठते थे ? वे सोने के सिंहासन पर बैठते थे या पाषाणशिला पट्ट पर ? उनके पास इन्द्र या देव-देवी आते थे या नहीं ? वे छत्र, चामर, पुष्पवृष्टि, अशोकवृक्ष,देवदुन्दुभि, भामण्डल, स्फटिक सिंहासन आदि विविध अतिशयों या विभूतियों से युक्त थे या नहीं ? वे कैसी ऋद्धि-सिद्धि-लब्धि आदि से सम्पन्न थे ? वे वस्त्र पहनते थे या नहीं ? उनकी दिनचर्या क्या थी ? वे प्रवचन देते थे या नहीं ? वे कैसे ठाठ-बाट से रहते और विहार करते थे ? उनका शिष्य-शिष्या या भक्त-भक्ता परिवार कितना था ? वे दिन-रात में क्या-क्या क्रियाएँ करते थे ? वे आहार-विहार नीहार आदि किस विधि से और कैसे करते थे ? उन्होंने बाह्य तपस्याएँ कितनी कीं ! ये और ऐसी ही अन्य बातें चर्मचक्षुओं से देखकर चर्मकर्णों से सुनकर स्थूलदृष्टि वाले लोग उन्हीं को या उन्हीं बातों का अनुसरण करने को परमात्मा का मार्ग समझ लेते हैं। इसीलिए श्री आनन्दघनजी को कहना पड़ा कि चर्मचक्षुओं से इस बाह्य दर्शन को ही परमात्मा का मार्ग देखना समझकर प्रायः सारा भौतिक दृष्टि प्रधान संसार भूला हुआ है। परमात्मा के मार्ग को तो दिव्य विचाररूपी नेत्र से ही जाना-देखा जा सकता है। परमात्मा के मार्ग का वास्तविक तत्त्व, हार्द या रहस्य दिव्य ज्ञानचक्षु से ही जाना-देखा जा सकता है।

परमात्मपथ का यथार्थ निर्णय करने में चर्मचक्षु सफल नहीं हो सकते। वीतराग परमात्मा के स्थूल दर्शन से उनके आध्यात्मिकमार्ग का —शुद्ध आत्म-स्वभाव का यथार्थ निर्णय कैसे हो सकता है ? स्थूल नेत्रों से आत्मा के स्वभाव-विभाव का आत्मधर्म और परभावों के धर्म का या प्रमाण-नय के भंगजाल का अथवा अंशसत्य—पूर्णसत्य का दर्शन नहीं किया जा सकता। इसके अतिरिक्त संसारमार्ग और मोक्षमार्ग (परमात्म-मार्ग) दोनों का सम्यक् विश्लेषण करना भी चर्मनेत्रों के बूते से बाहर है। अतः वीतराग परमात्मा के मार्ग को यथार्थ रूप से जानने-समझने, निरखने-परखने में नय-प्रमाण रहस्यमयी दीर्घदर्शी अनेकांत संपुष्ट होनी चाहिए। शुद्ध आत्मस्वरूप का ज्ञान, आत्मस्वभाव का सम्यक् ज्ञान ही उस दिव्य नेत्र को खोलने में समर्थ है।

दिव्यदृष्टिविहीन के लिए परमात्म पथ को जानने के लिए खतरे

यहाँ यह प्रश्न उठता है कि जिसके दिव्य विचार रूपी अलौकिक

नेत्र अभी खुले नहीं हैं, प्रभु के यथार्थ मार्ग का निर्णय करने की बुद्धि, क्षमता और शक्ति अभी तक प्राप्त नही हुई है, वह क्या करे ? क्या वह यथार्थ वीतरागमार्ग से अनभिज्ञ किसी प्रसिद्ध, प्रभुत्वसम्पन्न पुरुष द्वारा वीतरागप्रभु के पथ के नाम से बताए हुए पथ का अनुसरण करे ? अथवा शास्त्रों में नहीं लिखी हुई कई बातों को सम्प्रदाय-परम्परा या गुरुपरम्परा से चली आती हुई पद्धति, क्रिया या विधि को परमात्मा का मार्ग मान ले ? अथवा तार्किक, तीव्र बुद्धि वाले, लच्छेदार भाषण देने वाले, त्याग-तप-संयम से रहित, किन्तु प्रभावशाली व्यक्तित्व वाले किसी व्यक्ति के जोशीले वक्तव्य तथा युक्तियों से प्रभावित होकर उसी के बताए हुए मार्ग को परमात्मपथ समझ ले ? अथवा बहुत-से लोग जिस मार्ग पर चल रहे हैं, उस मार्ग को परमात्मा का मार्ग समझकर चलने लगे ?

अध्यात्मपथ के पारदर्शक योगीश्वर आनन्दघनजी इसका समाधान करते हुए कहते हैं—

'पुरुष-परम्पर-अनुभव जोवतां रे, अंधो अंध पलाय ।'[1]

इसका भावार्थ यह है कि वीतराग परमात्मा के यथार्थ मार्ग को न जानने वाले किसी ख्यातिप्राप्त, प्रभावशाली, तार्किक या प्रसिद्ध वक्ता के बताये बोध से अथवा पन्थ, सम्प्रदाय या गुरुओं की परम्परा से चले आते हुए मार्गविषयक रूढ़िग्रस्तज्ञान को, अथवा पंचेन्द्रिय-विषयासक्त किसी या बहुसंख्यक प्रभावशाली व्यक्तियों के पराश्रित अनुभव से परमात्म-पथ को देखना, जान लेना भी खतरे से खाली नहीं है। इसमें गतानुगतिकता है, अन्धानुसरण है। जैसा कि सूत्रकृतांग सूत्र में कहा है—

"अंधो अंधं पहं नितो, दूरमद्धाण गच्छति ।
आवज्जे उप्पहं जंतू, अदुवा पंथाणुगामिए ।।"[2]

एक अन्धा आदमी अगर दूसरे अन्धे को प्रेरित करके ले जाये तो वह अभीष्ट मार्ग से दूर हटकर पृथक् मार्ग पर ले जाता है, अथवा वह अन्धा प्राणी उक्त अन्धे मार्गदर्शक का अनुसरण करके उत्पथ (विपरीत मार्ग) पर जा चढ़ता है, या फिर वह अन्य मार्ग का अनुगामी बन जाता है।

---

१ आनन्दघन चौबीसी अजितजिनस्तवन गा. ३
२ सूत्रकृतांग सूत्र श्रु० १, अ० १, उ० २।

इसलिए प्रसिद्धपुरुष-परम्परानुसरण, सम्प्रदायपरम्परानुसरण एवं पराश्रित बहुजन-अनुभवपरम्परानुगमन, ये तीनों ही अन्धानुकरण हैं। इनसे परमात्मा के यथार्थ मार्ग का बोध या निर्णय नहीं हो सकता। प्रेरणा देने वाला अल्पज्ञ साधक भी अपने मत, पन्थ, सम्प्रदाय-परम्परा, गुरुधारणा या अपने पूर्वाग्रहग्रस्त अभिप्राय का एकान्त आग्रही—हठाग्रही होकर जब प्रेरणा लेने वाले को प्रेरणा देता है, तब निष्पक्ष एवं सत्य दृष्टि को प्रायः छोड़ देता है। परमात्मा के यथार्थ मार्ग के विषय में उसकी मत-पन्थ-परम्परा भी प्रायः पूर्णतया सत्य नहीं मानी जा सकती। वह अपनी मान्य परम्परा एवं धारणा के वजनी पत्थर प्रायः सत्य के पलड़े में रख देता है, जिससे सत्य के बदले परम्परा, धारणा आदि का पलड़ा भारी हो जाता है।

यद्यपि परमात्मा के मार्ग का निर्णय करने में आगमों या धर्मशास्त्रों का निर्णय भी काफी वजनदार माना जाता है, किन्तु आगमों, शास्त्रों या धर्मग्रन्थों से भी परमात्मा के यथार्थ पथ का निर्णय करना कठिन है। पहले तो धर्मग्रन्थ और शास्त्र सभी धर्म-सम्प्रदायों के अलग-अलग हैं। कदाचित् एक धर्म का तत्वज्ञान या शास्त्र एक हों, फिर भी अगमोक्त बातों का या तत्वज्ञान का अर्थ एवं भावार्थ करने वाले बहुधा अपने-अपने मत, पन्थ, गच्छ, सम्प्रदाय की परम्परा एवं धारणा के अनुसार करते हैं। सभी अपने-अपने द्वारा किये हुए अर्थ, यथार्थ न होने पर भी पूर्वाग्रहवश यथार्थ ठहराते हैं। उसे ही परमात्म-प्राप्ति का शुद्ध और यथार्थ मार्ग कहते हैं। श्रद्धालु एवं जिज्ञासु अल्पमति व्यक्ति की बुद्धि चकरा जाती है, परस्पर-विरोधी बातें देख-सुनकर। इसीलिए श्री आनन्दघन जी को कहना पड़ा—

"वस्तु विचारे रे जो आगमे करी रे, चरण धरण नहीं ठाय।"[1]

आगमों से परमात्मा के वास्तविक मार्ग को खोजना अत्यन्त दुष्कर कार्य है।

आगमों से परमात्मपथ का निर्णय इसलिए भी दुष्कर लगता है कि बहुधा आगमों के द्वारा परमात्मपथ का अन्वेषण करने वाले साधक आगमों में वीतराग परमात्मा द्वारा साधनाकाल में उन पर आए हुए उपसर्गों और परीषहों का, उनकी निर्दोष कठोरचर्या का, उनके बाह्यतप, त्याग एवं

---

१ आनन्दघन चौबीसी अजितजिनस्तुति गा० १३

कठिन भिक्षाचरी का, उनके द्वारा महाव्रतादि के निरतिचार पालन का वर्णन पढ़ते हैं, या साधु-साध्वियों के लिए विधि-निषेधरूप में शास्त्रों में बताए हुए कठोर नियमोपनियमों को पढ़ते-सुनते हैं तो उनके रोंगटे खड़े हो जाते हैं। उक्त कठोर क्रियाकाण्ड या व्यवहार-चारित्र के मार्ग को ही वे परमात्मा का मार्ग समझते हैं। केवल क्रियाकाण्ड को ही ऐसे साधक परमात्म-पथ मानकर स्वयं को परमात्म-मार्ग पर चलने वाले पथिक मानते हैं। इस कारण प्रभु के द्वारा (निश्चयचारित्र) अन्तरंग-रूप से आचरित स्वरूपरमणरूप चारित्र तथा स्वरूप के ज्ञान-दर्शन उनकी समझ में नहीं आते। इसलिए आगम से भी प्रभुपथ का निर्णय कठिन प्रतीत होता है।

फिर सच्चे माने में आगम या शास्त्र भी वही माना जाता है जो व्युत्पत्ति की कसौटी में खरा उतरता हो। आचार्य जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने शास्त्र का निर्वचन किया है[1]—

जिसके द्वारा ज्ञेय या आत्मा के यथार्थ स्वरूप का परिबोध हो, तथा जिससे आत्मा अनुशासित एवं शिक्षित किया जा सके। आचार्य समन्तभद्र शास्त्र की यह कसौटी बताते हैं[2]—जो वीतराग आप्तपुरुषों द्वारा जाना-परखा गया हो, जो किसी अन्य वचनों द्वारा उल्लंघित—हीन न किया जा सके, जो प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाणों से खण्डित न हो सके, जो प्राणिमात्र के कल्याण के निमित्त सार्वजनिक हितोपदेशरूप हो, एवं अध्यात्म-साधना के विरोधी कुमार्गों का निराकरण करने में सक्षम हो। इस कसौटी पर खरे उतरने वाले शास्त्र भी अत्यल्प होंगे। बहुविध शास्त्रों को इस कसौटी पर कसकर छाँटना भी सामान्य साधक के लिए कठिन है। फिर सत्-शास्त्रों के अवलोकन मात्र से ही प्रभु का मार्ग नहीं मिल जाता, वह तभी मिल सकता है, जब शास्त्रों में बताए हुए व्यवहार और निश्चय मोक्षमार्ग या परमात्ममार्ग पर चलकर उसका अनुभव किया जाए। कोई यात्री मार्ग को पूछकर ही बैठ जाए उसे उस मार्ग का अनुभव नहीं होता, मार्ग पर चलने से ही अनुभव हो पाता है। इसी प्रकार परमात्मभाव (मोक्ष) को मंजिल तक पहुँचने का इच्छुक यात्री अगर परमात्ममार्ग को शास्त्र से जानकर या शास्त्रज्ञ से पूछकर ही बैठ जाए तो उसे मार्ग का

---

१ सासिज्जए तेण तहिं वा नेयमायावतो सत्थं। शासु—अनुशिष्टौ, शास्यते ज्ञेयमा-त्माबाऽनेनास्यादस्मिन्निति वा शास्त्रम्। —विशेषावश्यकभाष्य टीका

२ आप्तोपज्ञमनुल्लंघ्यमदृष्टेष्टविरोधकम्।
तत्वोपदेशकृत् सार्वं शास्त्रं कापथ घट्टनम्। —रत्नकरण्डक श्रावकाचार

अनुभव नहीं होगा, वह मंजिल के निकट नहीं पहुँच सकेगा। वीतराग परमात्मा ने परमात्म—प्राप्ति का मार्ग शास्त्र (उत्तराध्ययन सूत्र) में इस प्रकार बताया है

"नाणं च दंसणं चेव चरित्तं च तवो तहा।
एस मग्गुत्ति पण्णत्तो, जिणेहिं वरदंसिहिं॥"[1]

श्रेष्ठ सर्वज्ञ सर्वदर्शी जिनेश्वरों ने सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यक् चारित्र और सम्यक्तप इन चारों को संयुक्त रूप से (मोक्ष का या परमात्म-प्राप्ति का) मार्ग बताया है।[2]

कोई भी अध्यात्म-साधक जब तक इस परमात्ममार्ग (मोक्षमार्ग) पर चलेगा नहीं, केवल तर्कों, वाद-विवादों, शास्त्रों की व्याख्याओं, दर्शन-शास्त्रों की अटपटी बातों में ही उलझा रहेगा, तब तक उसे परमात्म-मार्ग का यथार्थ दर्शन नहीं हो सकेगा। परन्तु परमात्ममार्ग के इन (पूर्वोक्त) चारों चरणों पर व्यवहार और निश्चय दोनों दृष्टियों से चलना—प्रभुपथ पर कदम रखना टेढी खीर है, असिधारा व्रत है। बड़े-बड़े साधकों के कदम इस मार्ग पर चलने में लड़खड़ाने लगते हैं।

व्यवहारदृष्टि से साधक जब ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप के आचरण (पालन) के लिए चरण रखने लगता है, तब उसके जीवन में आचरण के साथ कांक्षामोहनीयवश वर्जनीय बातें[3] भी सहसा आ जाती हैं। वह या तो इहलौकिक या पारलौकिक किसी भौतिक पदार्थ की, सुख की या सुख-साधनों की कामना, लोभ, स्वार्थ या प्रलोभन से प्रेरित होकर आचरण करने लगता है, या फिर कीर्ति, प्रशंसा, प्रसिद्धि, वाहवाही तथा पद या प्रतिष्ठा की कामना से प्रेरित होकर उक्त चारों का आचरण करने लगता है, एकमात्र वीतराग आर्हत् परमात्मपद-प्राप्ति के हेतु से परमात्म-मार्गचतुष्टय पर चलना, उसके लिए अत्यन्त कठिन हो जाता है। फिर कांक्षामोहनीय इतना प्रबल होता है, कि बड़े-बड़े साधकों की दृष्टि पर राग, मोह, (स्वत्वमोह-कालमोह) अज्ञान एवं पूर्वाग्रह का पर्दा पड़ जाता

१ उत्तराध्ययन सूत्र, अ. २८, गा. २

२ चउकारणसजुत्तं····मोक्खमग्गगइं तच्चं।—उत्तराध्ययन सूत्र अ. २८ गा. १

३ न इहलोगट्ठयाए आयारमहिट्ठिज्जा, न परलोगट्ठाए आयारमहिट्ठिज्जा, न कित्ति-वन्न-सिलोगट्ठयाए आयारमहिट्ठिज्जा, नन्नत्थ आरहतेहिं हेउहिं आयारमहिट्ठिज्जा। —दशवैकालिक अ. ९, उ. ४

है।[1] उन्हें वीतराग परमात्मा का यथार्थ मार्ग सूझता ही नहीं, प्रभु के उस सत्यपथ पर चलना तो और भी दुर्गम है।[2] साथ ही जब ज्ञानादित्रितुष्टय रूप परमात्मपथ का आचरण व्यवहारदृष्टि से केवल शास्त्रों को पढ़ने व कण्ठस्थ करने से, स्थूल क्रियाकाण्डों के अविवेकपूर्वक आचरण करने, तथा स्थूलदृष्टि से व्यवहारसम्यक्त्व का ग्रहण करने एवं अज्ञानपूर्वक कष्टसहनरूप बाह्य तप करने तक ही सीमित रहता है; निश्चयदृष्टि से आत्मभावों में रमणरूप या आत्मगुणों में स्थिरतारूप ज्ञान-दर्शन-चारित्र तप के आचरण को ओझल कर दिया जाता है, तब वीतराग परमात्मा के यथार्थ पथ के दर्शन और उस पर गमन साधक के लिए दुर्लभ हो जाता है। इसीलिए व्यासजी को कहना पड़ा—

तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्नाः, नैको मुनिर्यस्य वचः प्रमाणम्।
धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां, महाजनो येन गतः स पन्थाः॥[3]

तर्क बिना पेंदे का लोटा है, श्रुतियाँ (शास्त्र) भिन्न-भिन्न हैं, कोई मुनि ऐसा सर्वज्ञ वीतराग नहीं, जिसका वचन प्रमाणभूत माना जा सके। अतः आत्म धर्म (परमात्म स्वभाव) का तत्व बुद्धि की गुफा में निहित है क्योंकि स्वयं वीतराग महापुरुष जिस मार्ग से गये हैं, वही परमात्मपथ है।

परमात्म-पथ की प्राप्ति का सुगम और अनुभूत मार्ग

निष्कर्ष यह है कि कोरे तर्कों, शास्त्रों, वाद-विवादों एकान्त व्यवहार एवं एकान्त निश्चयदृष्टि से परमात्मपथ का निर्णय करना एवं उस पर चलकर अनुभव करना कठिन है। ऐसा कोई प्रत्यक्षज्ञानी भी इस समय भरतक्षेत्र में नहीं है, जो प्रभु के यथार्थ मार्ग (मोक्षमार्ग) को सम्यक्रूप से दिखा सके या मार्गदर्शन कर सके। अतः व्यवहार और निश्चय दोनों दृष्टियों से आत्मभावों में स्थिर रहकर सम्यक्ज्ञानपूर्वक ज्ञान-दर्शन-चारित्र-तप का आचरण करने का स्वयं पुरुषार्थ किया जाये, जिससे परमात्मा के शुद्ध मार्ग का दर्शन और अनुभव हो। जैनागमों में ऐसे श्रुतज्ञानियों का उल्लेख है कि वे स्थितात्म (स्थितप्रज्ञ) होकर अपने मति-श्रुतज्ञानियों से किसी वस्तु के यथार्थ स्वरूप को जानने के लिए उप-

---

१ दृष्टिरागो हि पापीयान्, दुरुच्छेद्यः सतामपि॥ —आचार्य हेमचंद्र

२ क्षुरस्यधारा निशिता दुरत्यया, दुर्गं पथस्तत् कवयो वदन्ति।' —उपनिषद्

३ महाभारत।

योग लगाएँ तो उन्हें उस वस्तु के वस्तु-स्वरूप का बोध केवलज्ञानियों के बराबर हो सकता है और केवलज्ञानियों के बराबर उस विषय में निर्णय दे सकते हैं। इसलिए आत्मप्रत्यक्षज्ञानियों के इस युग में अभाव होने से स्वयमेव व्यवहार एवं निश्चयदृष्टि से परमात्ममार्ग पर चलने का पुरुषार्थ करे और अनुभव करे।

परमात्मपथ के दर्शन होते ही परमात्म-प्राप्ति सुलभ

निश्चय से आत्मस्वभाव या आत्मगुणों में स्थिरतारूप तथा व्यवहार से रत्नत्रय में पुरुषार्थ करते-करते काल परिपक्व हो जाने पर आत्मलब्धि (आत्म-शक्ति) प्रबल हो जाने से साधक वीतराग परमात्मा को स्वयं जान-देख सकेगा। परमात्म-पथ के दर्शन होने पर परमात्मा को या परमात्म-भाव को देखने या ढूँढने के लिए कहीं अन्यत्र जाने या दूसरे का सहारा लेने की जरूरत ही नहीं पड़ेगी। साधक स्वयं अपनी आत्मा में ही परमात्मा को या परमात्म-भाव को पा सकेगा। यही परमात्मा को जानने, देखने और अनुभव करने का सर्वोत्तम उपाय है।

□

१३

आत्मा और परमात्मा के बीच की दूरी कैसे मिटे ?

व्यवहारदृष्टि से आत्मा और परमात्मा के बीच अन्तर है

निश्चयनय की दृष्टि से 'अप्पा सो परमप्पा'—'(शुद्ध) आत्मा ही परमात्मा है', यह बात स्पष्ट है। और यह बात भी यथार्थ है कि जिस जीवात्मा के परिणाम बहिरात्मभाव से हटकर अन्तरात्मारूप बन जाते हैं, जिसकी परिणति और स्थिरता अन्तरात्मा में हो जाती है, वह अन्तरात्मभावरत आत्मा ही परमात्मा बन सकता है। परमात्मा और उस अन्तरात्मा में विशेष दूरी नहीं रहती। परन्तु निश्चयदृष्टि से आत्मा और परमात्मा में कोई अन्तर न होते हुए भी वर्तमान में व्यवहारदृष्टि से द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा के बहुत ही दूरी है। इस तथ्य को हम पहले भलीभाँति स्पष्ट कर चुके हैं।

दोनों के बीच अन्तर किस कारण से ?

आत्मा और परमात्मा की जाति, स्वभाव और गुण में एकत्व होते हुए भी व्यवहारदृष्टि से आत्मा और परमात्मा के बीच में जो अन्तर दिखाई देता है, वह किस कारण से है ? वह कारण स्वाभाविक है या वैभाविक ? अर्थात्—वह कारण वास्तविक है या औपाधिक या औपचारिक ? वह अन्तर मिट सकता है या नहीं ?

इसका समाधान करते हुए योगीश्वर आनन्दघनजी ने पद्मप्रभु भगवान् की स्तुति करते हुए कहा—

"युंजनकरणे हो अन्तर तुज्ञ पड्यो रे,
गुणकरणे करी भंग।
ग्रन्थ-उक्तेकरी पण्डितजन कह्यो रे,
अन्तर—भंग सुअंग ॥५॥"[1]

अर्थात्—युंजनकरण (आत्मबाह्य पदार्थों या कर्मों के साथ राग-द्वेष-युक्त संयोग) के कारण तेरा परमात्मा से अन्तर (फासला) पड़ा है, जो गुणकरण (स्व में या आत्मगुण में रमण करने की क्रिया) के द्वारा भंग हो (मिट) सकता है। आगमादि धर्मग्रन्थों के कथन से शास्त्रज्ञ एवं सिद्धान्तविद् पण्डितों ने परमात्मा से आत्मा की दूरी (अन्तर) मिटाने का यही सर्वश्रेष्ठ उपाय बताया है।

संयोग ही आत्मा को परमात्मा से दूर रखता है

इससे यह स्पष्ट हो गया कि आत्म-बाह्य पदार्थों के साथ संयोग आत्मा को परमात्मा से दूर ठेल देता है। किन्तु जब तक आत्मा संसारी या छद्मस्थ रहता है, तब वह एक या दूसरे प्रकार से बाह्य पदार्थों से उसका संयोग होता ही रहता है। अपने शरीर से, मन से, इन्द्रियों से, इन्द्रियों के विषयों से, काम, क्रोध, मद, लोभ, मत्सर, राग, द्वेष, अहंकार छल-छद्म, प्रभृति मन के विषयों से संयोग होता ही रहता है। इसी प्रकार गृहस्थ को अपने माता-पिता, भाई-बहन, जाति, कुटुम्ब, समाज, राष्ट्र, संघ आदि से भी सम्पर्क रहता है। साधु-साध्वियों को अपने गुरु, शिष्य, संघ, पंथ, सम्प्रदाय, गण, गच्छ, आदि से अथवा विचरण क्षेत्र आदि से भी लगाव रहता है, अथवा अपने वस्त्र, पात्र, रजोहरण आदि धर्मोपकरणों से भी उसका संयोग-सम्बन्ध होता रहता है। इस प्रकार संसार की नाना घटनाओं, पदार्थों, भोज्य वस्तुओं, आहार, विहार आदि से भी तथा देखने, जानने, सुनने, चखने, सूंघने, स्पर्श करने आदि से भी उसका एक या दूसरे प्रकार से वास्ता पड़ता है।

ऐसी स्थिति में कोई भी आत्मार्थी गृहस्थ या साधु-साध्वीगण, इन संयोगों से कैसे छूट सकते हैं? इन संयोगों को शरीरधारी मानव कैसे

---

१ आनन्दघन चौबीसी, पद्मप्रभु परमात्मा का स्तवन ५।

तिलांजलि दे सकता है ? कैसे वह इन संयोगों से दूर रह सकता है ? जब तक वह इन और ऐसे ही विविध संयोगों से जुड़ा रहेगा, तब तक वह मुक्त-परमात्मा कैसे हो सकेगा ? ऐसी स्थिति में तो तीर्थंकर या आत्मार्थी मुनि भी शरीर के रहते हुए आहारादि के संयोग से कैसे बचा रह सकेगा और निर्ग्रन्थ श्रमणों के लिए 'संजोगा विप्पमुक्कस्स अणगारस्स भिक्खुणो[1] कहा है, अर्थात्—'भिक्षाजीवी निर्ग्रन्थ अनगार भिक्षु संयोग से विशेष प्रकार से मुक्त हो····' ऐसा जो श्रमण भगवान् महावीर ने कहा है, उक्त सिद्धान्त को जीवन में कैसे क्रियान्वित कर सकेगा ?

इसके अतिरिक्त आचार्यश्री अमितगति ने सामायिक पाठ में आत्मा को मोक्ष—परमात्मभाव (निर्वाण) प्राप्त करने में संयोग को बाधक और नानादुःखकारक बताते हुए कहा है—

'संयोगतो दुःखमनेकभेदं यतोऽश्नुते जन्मवने शरीरी।
ततस्त्रिधाऽसौ परिवर्जनीयो, यियासुना निर्वृतिमात्मनीनाम् ॥"[2]

संसाररूपी अरण्य में (बाह्यपदार्थों के साथ) संयोग के कारण प्राणी अनेक प्रकार के दुःख भोगता रहता है। आचारांग सूत्र में संयोग को पुनः पुनः हिंसाजनक शस्त्र और उससे फलस्वरूप दुर्गति गमन बताते हुए कहा है—

अहो य राओ य परितप्पमाणे कालाकालसमुट्ठाइ संजोगट्ठी
अट्ठालोभी आलुंपे सहसाकारे विणिविट्ठचित्ते एत्थ सत्थे पुणो पुणो।

रात-दिन अपनी चिन्ता से सन्तप्त संयोगार्थी—नाना सुख-संयोग की कामना करने वाला अर्थलोभी मानव काल-अकाल की परवाह न कर व्यर्थ दौड़-धूप करता है तथा साहसपूर्वक सहसा किसी को लूट लेता है, प्राणियों पर बार-बार शस्त्र चलाता है।[3]

अतः आत्मार्थी साधक परमात्मभाव या परम आत्मशान्ति (निर्वृति) प्राप्त करना चाहता है, उसे मन-वचन-काया, इन तीनों ही प्रकार से संयोग का त्याग कर देना चाहिए।

---

१ उत्तराध्ययन सूत्र अ. १, गा. १
२ अमितगतिसूरिरचित सामायिक पाठ, श्लोक २८
३ आचारांग १/२/२/२१७

एक अन्य आचार्य ने भी बताया है—

संजोगमूला जीवेण पत्ता दुक्ख-परम्परा ।[1]

जीव को जो दुःख-परम्परा प्राप्त होती है, उसका मूल कारण संयोग है।

संयोग जब इतनी दुःख-परम्पराओं का मूल कारण है, तब पद-पद पर संयोग से जुड़ी हुई आत्मा अनन्तआत्मसुखनिधान सिद्ध-बुद्ध-मुक्त या जीवन्मुक्त परमात्मा कैसे बन सकती है ?

समत्वयोगी आचार्यश्री हरिभद्रसूरि ने 'योगबिन्दु' ग्रन्थ में इसी तथ्य का समर्थन इस प्रकार किया है—

आत्मा तदन्य-संयोगात्, संसारी तद्वियोगतः ।
स एव मुक्त एतौ च, तत् स्वाभाव्यात् तयोस्तथा ।।[2]

आत्मा अपने से भिन्न (अन्य) पदार्थों के साथ संयोग से संसारी बन जाती है, अतः संसारयोग्यता नामक स्वभाव का प्रकट होना युंजनकरण है और आत्मा अपने से बाह्य पदार्थों से पृथक् (वियोग) होने से मुक्त हो जाता है। अतः मुक्तियोग्य स्वभाव का प्रकट होना गुणकरण है।

निष्कर्ष यह है कि आत्मा का अन्य (आत्मभिन्न) पदार्थों के साथ जब तक संयोग सर्वथा दूर नहीं हो जाता, तब तक वह मुक्ति-प्राप्ति या सिद्ध-बुद्ध-मुक्त परमात्म-प्राप्ति से दूर रहता है। आत्मा से बाह्य पदार्थों का संयोग ही आत्मा को परमात्मा से दूर रखता है।

संयोग कौन-सा और कैसा वर्जित है ?

अगर संयोग का अर्थ किसी पदार्थ का स्पर्श या सम्पर्क करना अथवा किसी पदार्थ से जुड़ना, इतना ही किया जाए तो बहुत ही दोषापत्तियाँ आएँगी। ऐसा संयोग तो वीतराग सदेहधारी जीवन्मुक्त परमात्मा भी नहीं छोड़ सकते। वे भी जब एक स्थान से दूसरे स्थान को विहार करते हैं, तब क्षेत्र का स्पर्श होता है, कई मनुष्यों, जीवों और पदार्थों से सम्पर्क और संयोग-सम्बन्ध होता है। अपने द्वारा स्थापित संघ के साधु-साध्वियों एवं श्रावक-श्राविकाओं से भी वास्ता पड़ता है।

---

१ संस्तारक सूत्र
२ योगबिन्दु

अन्यतीर्थिक लोगों से भी सम्पर्क होता है। जब वे प्रवचन देते हैं, या शिष्यों तथा साधु-साध्वियों का प्रबोध देते हैं, तब उनसे सम्पर्क-संयोग होता है। जब वे उठते-बैठते, चलते-फिरते हैं, या अन्य शारीरिक क्रियाएँ करते हैं, तब उनकी पाँचों इन्द्रियों से उनके विषयों का सन्निकर्ष भी होता है, तथा सर्दी, गर्मी, वर्षा, मकान एवं शरीर के अवयवों आदि का स्पर्श भी होता है। मिट्टी, पानी, हवा, धूप आदि का भी स्पर्श होता है। ये और ऐसे अनेक आत्मा से भिन्न बाह्य पदार्थ हैं। यदि इन सबको आत्मा से भिन्न बाह्य पदार्थों का संयोग कहा जाये, तब तो वीतराग जीवन्मुक्त सदेह परमात्मा (तीर्थंकर एवं केवलज्ञानी जैसे) महापुरुषों को भी संयोग से अनेकविध दुःख प्राप्त होने चाहिए; और तीर्थंकरों के अनुगामी साधु-साध्वियों को तो इन और ऐसे (उपर्युक्त) आत्म-बाह्य पदार्थों के संयोग से अनेक जन्मों तक अनेक प्रकार के दुःख प्राप्त होने चाहिए। परन्तु ऐसा नहीं दिखाई देता, न ही ऐसा अनुभव है। बल्कि तीर्थंकर आदि महान् आत्माओं को इन तथाकथित संयोगों के होते हुए भी सातावेदनीय पुण्य-कर्मोदयवश सुख ही प्राप्त होता है। अन्य आत्मार्थी मुमुक्षुओं को भी इन तथाकथित संयोगों से दुःख की प्राप्ति नहीं होती।

संयोग का गलत और सही अर्थ

ऐसी स्थिति में संयोग से अनेकविध दुःख होते हैं अथवा 'जीव की दुःखों की परम्परा प्राप्त होने का मूल कारण संयोग है' इन सिद्धान्त वाक्यों के साथ संगति नहीं बैठती। इसलिए संयोग का अर्थ—किसी भी आत्म-बाह्य पदार्थ के साथ मात्र स्पर्श करना, सिर्फ सम्पर्क करना, अड़ना, जुड़ना, अथवा किसी भी इन्द्रियविषय से केवल सन्निकर्ष, सम्पर्क या स्पर्श हो जाना नहीं है। अगर संयोग का यही अर्थ होता, तब तो केवलज्ञानी, वीतराग तीर्थंकर या निर्ग्रन्थ साधु-साध्वी भी संयोग से बच नहीं सकते। फिर तो कई जन्मों तक ऐसे संयोग से छुटकारा नहीं हो सकता, न ही रत्नत्रय साधना से उन्हें कभी मुक्ति या परमात्मपदप्राप्ति हो सकती है, क्योंकि प्रत्येक साधक को, यहाँ तक कि केवली के भी आहार का ग्रहण होता है, तब मुख, जीभ, दाँत, उदर, नेत्र आदि से संयोग होता है। विहार करते समय भी पैर, आँख आदि से संयोग होता है। वस्त्र, पात्र, रजोहरणादि धर्मोपकरणों से हाथ और शरीर का संयोग होता है। कोई भी चर्या करते समय प्रायः पाँचों इन्द्रियों के विषयों का संयोग होता रहता है। अतः यहाँ जैनागमामान्य संयोग का अर्थ या तात्पर्य कुछ

और होना चाहिए, जिसके होने पर जीव को दुःखों के अनुभव करने का सिलसिला प्राप्त होता है।

जैनदर्शन की दृष्टि से संयोग का अर्थ या अभिप्राय यही है कि विद्यमान या अविद्यमान, इष्ट या अनिष्ट, स्वाधीन या पराधीन, सजीव या निर्जीव पर पदार्थों के प्रति मोह, ममत्व, आसक्ति, लोभ, लालसा, तृष्णा, राग, अहंकार, हठाग्रह, कपट (माया) आदि अथवा द्वेष, घृणा, अरुचि, भय, क्रोध, आक्रोश आदि से प्रेरित होकर सम्पर्क करना, संघर्ष करना, स्पर्श करना, लगाव रखना, बार-बार उक्त विकारों से प्रेरित होकर ग्रहण करना, इष्ट वस्तुओं की प्राप्ति के लिए ललचाना, लालसा एवं तृष्णा करना, उनके वियोग में आर्त्तध्यान करना, निमित्तों से संघर्ष करना या रौद्रध्यानवश उनका अनिष्ट करने का दुर्विचार-दुश्चिन्तन करना, ममत्ववश किसी भी सजीव (परिवार पत्नी, पुत्र, भाई-बहन, संघ, समाज, राष्ट्र आदि) पदार्थों से तथा निर्जीव (मकान, शरीर, इन्द्रियाँ, दूकान, वस्त्र, बर्तन—पात्र) या दुर्विचार या झूठी मान्यता, मिथ्यात्व आदि पदार्थों से सम्बन्ध जोड़ना, सम्पर्क करना या उन पर आसक्ति या मूर्च्छा करना संयोग है।

इस प्रकार का संयोग ही सच्चे माने में पर-पदार्थ-संयोग है, जो जीव को जन्म-मरणादि के या अन्य शारीरिक-मानसिक दुःखों में डालता है। आर्थिक संकट, विपत्ति, व्याधि, पीड़ा, चिन्ता, उपाधि, तनाव, प्राकृतिक प्रकोप, विविध समस्याएँ, उलझनें, अड़चनें, विघ्न-बाधाएँ, भय, अशान्ति, व्याकुलता आदि सभी दुःख इसी प्रकार के संयोग से जनित हैं। बाह्य विभूति, धन-सम्पत्ति, ऋद्धि-सिद्धि, प्रसिद्धि, प्रशंसा, कीर्ति, कुटुम्ब-परिवार, संघ, समाज, सम्प्रदाय आदि वस्तुओं के प्रति मोह, ममत्व, तृष्णा, लालसा, मूर्च्छा, लोलुपता, आसक्ति आदि विकारों से युक्त जितने भी संयोग हैं, वे सब दुःख, अशान्ति, व्याकुलता, चिन्ता आदि बढ़ाने वाले हैं। ये संयोग जहाँ भी, जिस व्यक्ति में भी, जिस किसी भी प्रकार से होते हैं, वे सुख बढ़ाने के बजाय, दुःख ही बढ़ाते हैं। आत्मा के अतिरिक्त जितने भी सांसारिक पदार्थ हैं, वे पर हैं। उनके साथ आसक्ति युक्त आत्मीयता या मोहजन्य तादात्म्य सम्बन्ध जोड़ना ही संयोग है और ऐसे संयोग सम्बन्ध जोड़ने से दुःख और अशान्ति का अनुभव होता है। ऐसा पर-पदार्थ-सम्बन्ध दुःख का कारण होने से अनन्त-आत्मिकसुख-

निधान परमात्मा से उक्त आत्मा को दूर करता है। आत्मा की परमात्मा से अभिन्नता तभी हो सकती है, जब वह परपदार्थों के साथ ऐसा संयोग न करे।

मिथ्यादृष्टि परपदार्थों के संयोग को सुखकर समझता है

मिथ्यादृष्टि या अज्ञानी मानव पदार्थनिष्ठ या परपदार्थ संयोगजन्य सांसारिक या वैषयिक सुखों को सुख समझते हैं। वे आत्मा से भिन्न बाह्य परपदार्थों में सुख की कल्पना करते हैं। परन्तु वे नहीं जानते कि इन परपदार्थों के संयोग से जो क्षणिक सुख हैं, वे चिन्ता, व्याकुलता, अशान्ति, व्यग्रता, आधि-व्याधि-उपाधि आदि अनेक दुःखों से घिर जाते हैं। वे सभी दुःखमूलक सुखाभास हैं, वे सभी प्रतीत होने वाले सुख स्वाधीनतानाशक हैं, पराधीन हैं। गोस्वामी तुलसीदासजी के कथनानुसार—

'पराधीन सपनेहु सुख नाहीं।'[1]

पराधीनताजन्य सुख में दुःख का बीज छिपा हुआ है। परपदार्थों के अधीन सुख वास्तविक सुख है ही नहीं। गगन में उन्मुक्तविहारी किसी तोते को कोई सोने के पिंजरे में बन्द कर दे और उसे सूखे मेवे, मिष्ठान्न आदि भरपेट खिलाए तो भी वह सोने के पिंजरे में बन्द तोता स्वयं को कदापि सुखी नहीं मानता। इसी प्रकार आत्मिक सुखों में रममाण शुद्ध बुद्ध आत्मा को यदि कोई ऋद्धि-सिद्धि-प्रसिद्धि, सम्पत्ति, मणि-माणिक्य आदि रत्नों या आलीशन बंगलों, कार, कोठी आदि का प्रलोभन दे तो क्या वह इन परपदार्थों में या सुख-सुविधाओं में अपनी आत्मा को फँसा सकता है? मिथ्यादृष्टि या अज्ञानी ही परपदार्थों को आसक्ति में फंसकर अपनी आत्मा को दुःख में डालता है। आत्मिकसुखनिधान परमात्मा से दूर कर लेता है। मनुष्य का यह भयंकर भ्रम है कि अमुक पदार्थ या अमुक व्यक्ति से मुझे सुख होगा। वस्तुतः कोई भी व्यक्ति या कोई भी पदार्थ किसी को सुख या दुःख देने में समर्थ नहीं है। अतः अमुक व्यक्ति या पदार्थ का ममत्वयुक्त संयोग कभी सुखकारक नहीं हो सकता। ममत्व के कारण राग-द्वेष उत्पन्न होते हैं। फलतः दुःख ही होता है।

किन्तु अज्ञानी मानव मोह-ममत्व आदि विकारवश इन्द्रियों के मनोज्ञ विषयों से सम्पर्क करता है। वह पाँचों इन्द्रियों के उपभोगरूप सम्पर्क से

---

१ रामचरितमानस

सुख की कल्पना करता है। जिह्वा से स्वादिष्ट मनोज्ञ वस्तु का स्वाद लेने में तृप्ति-सुख की कल्पना करता है। कानों से मधुर संगीत, गायन, सुरीला स्वर या अपनी स्तुति, प्रशंसा या प्रसिद्धि के शब्द सुनकर मन में तृप्ति का आनन्द मानता है। नाक से भीनी-भीनी मधुर सुगन्ध का स्पर्श होते ही उसे सुखकर समझता है, मन में ललक उठती है कि बार-बार ऐसी सुखद सौरभ मिला करे। आँखों से मनोज्ञ एवं रुचिकर रूप या दृश्य देखकर सुख की कल्पना करता है। स्पर्शेन्द्रिय से कोमल, गुदगुदा एवं मनोज्ञ स्पर्श पाकर वह सुख की कल्पना में डूब जाता है।

विषयों के संयोग से सुख की कल्पना करने वाले अज्ञानीजन उन विषयसुखों के लिए अपने मनोऽनुकूल सुखसामग्री का चयन और संचय करते हैं। वे विषयसुख-साधन बार-बार मिलते रहने, उनका कभी वियोग न होने, अपने कब्जे में होने अथवा उन पर मेरेपन की छाप लगाने तथा उन विषयों का उपभोग करने के लिए धन, मकान, वस्त्र, आभूषण तथा विभिन्न साधन जुटाने में सुख की मधुर कल्पना करते हैं।

परन्तु धर्मशास्त्रों की हितशिक्षा को वह भूल जाता है कि इन पर-पदार्थों या विषयों के संयोग दुःखोत्पत्ति के कारण हैं। भगवद्गीता में स्पष्ट कहा है—

"ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय! न तेषु रमते बुधः॥"[1]

ये जो इन्द्रियों और विषयों के संयोग से उत्पन्न होने वाले भोग हैं, वे दुःखों के जनक=उत्पत्तिस्थान हैं, आदि-अन्तवाले=नाशवान हैं। हे अर्जुन! दूरदर्शी ज्ञानीजन इनमें आसक्त नहीं होते।

ऐसे क्षणिक सुख की आकांक्षा में भटकते हुए अज्ञ लोग अपने रंगीन सपने संजोते रहते हैं; जो उन्हें अपनी कामनापूर्ति के लिए ठाठ-बाट, आडम्बर, तड़क-भड़क और खर्चीली अमीरी सामग्री की विडम्बनाएँ रचने के लिए बाध्य करते रहते हैं। उच्चस्तरीय, सुसम्पन्न, धनाढ्य और बड़ा आदमी कहलाने में वे ऐसा ही सुख महसूस करते हैं। इसी कारण वे अनाप-सनाप सुखसामग्री, भोग के विविध साधन और धन जुटाने में अहर्निश लगे रहते हैं। सत्ता, प्रतिष्ठा, पद और अधिकार पाने में सुख समझकर वे इन्हें

---

१ भगवद्गीता अ. ५ श्लो, २२

पाने के लिए एड़ी से चोटी तक पसीना बहाते रहते हैं। अपने अहंकार को चारा-दाना देने में वे सुख मानकर वे इसी उधेड़बुन में लगे रहते हैं।

ऐसे अदूरदर्शी आत्मविमुखजन मनःकल्पित सुख की भागदौड़ में अपने स्वार्थ को या अपनी इच्छाओं और कामनाओं की पूर्ति हो सके, अपने अहंकार-ममकार की तुष्टि हो सके, ऐसे प्राणियों या मनुष्यों से आसक्ति, ममता एवं मूर्च्छा से युक्त स्नेह सम्बन्ध जोड़ते हैं, मोहजनित सम्पर्क बढ़ाते हैं। ऐसे ही स्त्री-पुरुषों, पुत्र-पुत्रियों या भाई-बहिनों के साथ मोह-सम्बन्ध रखते हैं, संतान के लिए लालायित रहते हैं। परन्तु जब वे उनके मन के विपरीत हो जाते हैं, अनिष्टकारक एवं दुःखदायक प्रतीत होने लगते है, तब उनका मनःकल्पित सुख का महल सहसा धराशायी हो जाता है। तब उनकी आँखें खुलती हैं कि परपदार्थों या विषयों के प्रति मोह-ममत्वजनित संयोग से सुख की कल्पना कितनी निःसार, थोथी, पराधीन, क्षणिक और धोखादेह है। जिन वस्तुओं या व्यक्तियों में अज्ञजन सुख की कल्पना करके उनसे संयोग या सम्पर्क करते हैं, मोहवश उन्हें अपनाते हैं, वे ही वस्तुएँ या व्यक्ति आज-चलकर प्रायः दुःखरूप सिद्ध होते हैं; तथा शोक, चिन्ता, विलाप, आर्त्त-ध्यान, सन्ताप, क्लेश, दैन्य और पराधीनता के दुःख से व्यक्ति को खिन्न कर देते हैं। इस प्रकार अज्ञजन आत्मा से भिन्न परपदार्थों में सुख की कल्पना करके उन्हें अपनाते हैं, उनमें आसक्ति करके अपने लिए विविध दुःखों की सृष्टि कर लेते हैं।

और इन्द्रियों के जिन विषयों को वे एक समय मोहवश सुख की कल्पना करके अपनाते हैं, दूसरे समय वे ही विषय या पदार्थ उसके लिए दुःखकारक, अनाकर्षक, अरुचिजनक एवं उबाने वाले बन जाते हैं। फलतः उन-उन पदार्थों के न मिलने से पूर्व आतुरता तथा मिलने के पश्चात् घृणा, अरुचि, असन्तोष या व्याकुलता आदि होने से संयोगजनित सुख की भ्रान्ति दुःखरूप में परिणत होती जाती है।

अमरीका आदि सर्वाधिक धन और सुख-साधनों से सम्पन्न देशों के मनुष्य प्रचुर सुख-साधनों से संयोग होने के बावजूद भी शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य की दृष्टि से बहुत पिछड़े, बेचैन, खोखले और दुःखी हैं। इन प्रचुर आत्म-बाह्य पदार्थों के साथ संयोग के कारण बढ़ती हुई व्यस्तता, चिन्ता, ईर्ष्या, सद्भावना एवं सामाजिक सहयोग के ह्रास के कारण न किसी को किसी पर विश्वास है और न ही कठिन समय में किसी का सह-

योग मिलता है। फलतः नशैली मादक चीजें खा-पीकर या यौन-उत्तेजना के शिकार होकर अथवा इन्द्रिय-तृप्ति के विविध साधन अपनाकर वे अपने गम को दूर करने का प्रयत्न करते हैं। भीतर से अकेलापन और आत्मचिन्तन के अभाव में खोखलापन उन्हें मृतकवत् किसी तरह जीने को बाध्य करता है।

पर-पदार्थ-संयोग से मनुष्य उन-उन पदार्थों और विषयों का गुलाम एवं पराधीन बन जाता है। वह सर्वशक्तिमान आत्मा अपना स्वामी बनने के बदले पर-पदार्थों का गुलाम बन जाता है। अपनी इस मानसिक दुर्बलता के कारण विविध पदार्थों और विषयों के संयोग से सुख शान्ति पाने के बदले दुःख-दर्द, बेचैनी और अशान्ति ही पाता है।

संयोगयुक्त और संयोगमुक्त का उदाहरण

उत्तराध्ययन सूत्र में प्रतिपादित[1] चित्त सम्भूतीय अध्ययन में इसी तथ्य को उजागर किया गया है। ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती का जीव इससे पूर्व संभूति के भव में उत्कृष्ट तपस्वी मुनि था, किन्तु आत्मा की सिद्धि और शक्ति को भूल कर पर-पदार्थरूप लब्धि के चक्कर में पड़ा और अपनी आत्म-शक्तिरूप तपस्या के प्रभावरूप चक्रवर्तीपद की ऋद्धि-समृद्धि को पाने का कामना-युक्त-संकल्प (निदान) कर लिया। वह अगले जन्म में ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती बना, और परपदार्थों के मोह-ममत्व में ऐसा फँसा कि आत्मा-परमात्मा का भान ही नहीं रहा। इतना ही नहीं, चित्तमुनि के जीव, जो इस भव में भी आत्मनिष्ठ निर्ग्रन्थ मुनि बन गये थे। संयोगवश उनका मिलन उक्त चक्रवर्ती के साथ हुआ, तब ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती ने उन्हें परपदार्थों के संयोग में फँसाने के लिए सुन्दर रमणियों, राजमहल, पाँचों इन्द्रियों के मनोज्ञ विषयों के उपभोग, गीत, नृत्य, आभूषण, वस्त्र एवं स्वादिष्ट भोजन-पान आदि का प्रलोभन दिया[2] और साधुजीवन को त्यागकर विलासी राजसी गृहीजीवन अंगीकार करने का अत्यन्त आग्रह किया। लेकिन वे निर्ग्रन्थ

---

१ उत्तराध्ययन सूत्र अ० १३ गाथा १३-१४।

२ उच्चोदए महु कक्के य बम्भे, पवेइया, आवसहा य रम्मा।
इमं गिहं चित्तधणप्पभूयं, पसाहि पंचालगुणोववेयं ॥१३॥
नट्टेहिं गीएहिं य वाइएहिं नारीजणाइं परिवारयंतो।
भुंजाहि भोगाइं इमाइं भिक्खू! मम रोयइ पव्वज्जा हु दुक्खं ॥१४॥

मुनि आत्मजागृति से युक्त थे, और आत्मनिष्ठा के प्रति अप्रमत्त थे। अतः वे आत्मा को भूलकर परपदार्थों के मोह-ममत्व-जनित संयोग में नहीं फँसे। उनकी आत्मा बोल उठी—

सव्वं विलवियं गीयं, सव्वं नट्टं विडंबियं।
सव्वे आभरणा भारा, सव्वे कामा दुहावहा ॥[1]

भावार्थ यह है—ये सारे गीत आत्मसंगीत नहीं, किन्तु आत्मार्थी के लिए विलाप रूप हैं। सारे नृत्य आत्मभावों में रमणता रूप नहीं, किंतु विडम्बना रूप हैं, जो कर्मों के इशारे पर नचाने वाले हैं। सभी आभूषण आत्मा को सजाने एवं शोभायमान करने वाले गुणरूप आभूषण नहीं, किन्तु भाररूप हैं तथा सभी काम-भोग दुःखावह हैं, वे आत्मिक सुख से मनुष्य को वंचित कर देते हैं।

संक्षिप्त में सार है कि वे आत्मनिष्ठमुनि परपदार्थों के संयोग के जाल में नहीं फँसे। फलतः वे अपने समस्त कर्मों को काट कर सिद्ध-बुद्ध-मुक्त बन गए। इसके विपरीत उक्त चक्रवर्ती को मुनि द्वारा समझाये जाने पर भी कम से कम शुभभावों में रत रहने की प्रेरणा करने पर भी वह नहीं संभला, नहीं समझा। वह मोहक परपदार्थों के जाल में फँसा रहा। फलतः आत्मभाव एवं परमात्मभाव से तथा शुभभावों से भी सर्वथा विमुख होने से दुष्कर्मों के कारण परमात्मप्राप्ति से दूरातिदूर रहा, नरक गति का मेहमान बना। ये परपदार्थों के संयोग से दुःख और आत्मस्वरूप में लीनता से आत्मिक सुख के जीते-जागते ज्वलन्त उदाहरण हैं।

संयोग से ही कर्मों का आस्रव और बन्ध

ये सब बाह्य पदार्थ मनुष्य की संयोगलिप्सा के कारण उस पर हावी हो जाते हैं। वे मनुष्य को अपने इशारे पर नचाते रहते हैं। उसे एक क्षण भी चैन से नहीं बैठने देते। इन बाह्य पदार्थों व्यक्तियों या विषयों से संयोग के कारण कभी मोह, कभी राग, कभी शोक, कभी द्वेष, कभी घृणा, कभी काम, क्रोध, क्षोभ या मद, मत्सर या ईर्ष्याभाव आदि उस

---

१ (क) उत्तराध्ययन सूत्र अ. १३ गा. १६
(ख) बालाभिरामेसु दुहावहेसु न तं सुहं कामगुणेसु रायं।
विरत्तकामाण तवोधणाणं, जं भिक्खुणं सीलगुणे रयाणं।।
—उत्तरा. अ. १३ गा. १७

मानवात्मा को दबाते रहते हैं, ये सब भावकर्म के बीज हैं, जो द्रव्यकर्मों को निमंत्रित करते रहते हैं। इस प्रकार आत्मा के कर्मों के साथ जुड़ने की प्रक्रिया को युंजनकरण कहते हैं। योगीश्वर आनन्दघनजी के कथनानुसार इस युंजनकरण से ही आत्मा की परमात्मा से दूरी होती है, परमात्मा से आत्मा का अन्तर बढ़ता जाता है।

आत्मा को परमात्मा से दूरी कैसे दूर हो ?

संयोग से—भावकर्म-द्रव्यकर्मों के आस्रव और बन्ध होता है और उससे यानी युंजनकरण से वह आत्मा परमात्मभाव से दूरातिदूर होता जाता है, वह जन्म-मरणादिरूप संसार में परिभ्रमण का दुःख भोगता रहता है। अभिप्रायः यह है कि सिद्ध-बुद्ध-मुक्त परमात्मा के साथ ऐसे संसारी जीव के मिलने में अन्तराय का प्रमुख कारण पूर्वोक्त युंजनकरण की क्रिया है। इस तथ्य को जो भलीभाँति समझ लेता है, वह आत्मार्थी मानव गुणकरण की प्रक्रिया को अपना लेता है, तब संयोग से— युंजनकरण से छुटकारा हो जाता है, और तब आत्मार्थी साधक आत्मा की परमात्मा से दूरी को मिटा सकता है।

जैन आगमों के अनुसार आत्मा की यह सहज प्रक्रिया तीन करणों में विभक्त है—युंजनकरण, गुणकरण और ज्ञानकरण। आत्मा जब अपने स्वभावों—ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य में अथवा वास्तविक गुणों—ज्ञान-दर्शन-चारित्र में रत या स्थिर होकर क्रिया करता है, उस क्रिया को 'गुणकरण' कहते हैं। तीसरी जो ज्ञानकरण की क्रिया है, वह वस्तु को वस्तु-स्वरूप से जानने-पहचानने की क्रिया है। इसका समावेश, गुणकरण में ही हो जाता है। योगी आनन्दघनजी ने स्पष्ट कहा—**गुणकरणे करो भंग**।[1] अर्थात् आत्मा को परपदार्थों, विशेषतः कर्मों के साथ संयोग-युंजनकरण से मुक्त करने का सर्वश्रेष्ठ उपाय **गुणकरण** है। गुणकरण में प्रवृत्त होना ही आत्मा और परमात्मा के बीच में पड़े हुए अन्तर (दूरी) को मिटाने का अचूक उपाय है। दूसरे शब्दों में कहें तो आत्मा के साथ कर्मों के संयोग (बन्ध) के कारण संसारयोग्यता नामक स्वभाव का प्रगट होना युंजनकरण है, भाव-आश्रव है, और आत्मा को मोक्ष की ओर ले जाने वाले मुक्ति (परमात्मपाद-प्राप्ति) योग्य स्वभाव का प्रकट होना गुणकरण है। इसे ही

---

१ आनन्दघन चौबीसी पद्मप्रभस्तवन

शास्त्रीय भाषा में संवर निर्जरा और अन्त में मोक्ष कहते हैं। संसारस्थ भव्य जीवों में संसारयोग्यता और मुक्तियोग्यता दोनों प्रकार के स्वभाव आविर्भाव-तिरोभाव के रूप में या मुख्य-गौण रूप से पाये जाते हैं। जब एक स्वभाव प्रकट होता है तो दूसरा स्वभाव छिप जाता है। अभव्यजीवों में सिर्फ एक संसारयोग्यता स्वभाव ही होता है।

गुणकरण की प्रक्रिया आत्मा के स्व-पुरुषार्थ से होती है। कर्मों को आते हुए रोकना और पुराने बंधे हुए कर्मों का तपस्यादि द्वारा क्षय करना अथवा आश्रव का त्याग और संवर का ग्रहण करना भी साधक की अपनी आत्मा के हाथ में है। आत्मा जब यह कतई नहीं चाहेगी कि वह कर्मबन्धन करे या कर्मबन्ध में पड़े, तब वह प्रतिक्षण सावधान और जागृत रहकर कर्मबन्ध के कारणों से दूर रहेगी, नये कर्मों को आने से रोकेगी, उदय में आये हुए पुराने कर्मों का फल समभाव से भोगेगी अथवा उदयाभिमुख न हुए हों, उनकी उदीरणा करके उनको क्षीण करने का पुरुषार्थ करेगी। इस प्रकार गुणकरण में प्रवृत्त होगी। इस प्रक्रिया में प्रवृत्त होने पर गुरुकृपा या वीतराग परमात्मा या तीर्थंकर व ज्ञानी पुरुषों का अनुग्रह स्वतः निमित्त के रूप में[1] प्राप्त हो जाता है। युंजनकरण (आश्रव) को रोकने से ही ऐसा गुणकरण होता है। और युंजनकरण रुकेगा, प्रतिक्षण आत्मा के ज्ञानादि निजगुणों में स्थिर होने से। जो पूर्वोक्त अन्तर को मिटाने का सुगम उपाय है।

निश्चयदृष्टि से तो आत्मा जब स्वरूप में—स्वभाव में—स्वगुणों में स्थिर हो जाती है, तब गुणकरण होता है, किन्तु व्यवहारदृष्टि से व्यक्ति जब पंचमहाव्रत या पंचअणुव्रत, नियम, त्याग, प्रत्याख्यान आदि का सम्यक् पालन कर रहा हो, पांच समिति एवं तीन गुप्ति के पालन में उपयोगसहित उद्यम करता हो, द्वादशविध अनुप्रेक्षा, क्षमा आदि दशविध श्रमणधर्म, एवं बाह्य-आभ्यन्तर तप, परीषहविजय, कषाय-उपशमन तथा राग-द्वेष के उपशान्त करने में पुरुषार्थ कर रहा हो, तब आश्रवों का निरोध एवं कर्मों का क्षय कर देता है। तात्पर्य यह है कि आश्रव का निरोध करके आत्मा जब संवर एवं निर्जरा में प्रवृत्त होती है, तब गुणकरण होता है। इस प्रकार के गुणकरण को अपनाकर अपनी आत्मा और परमात्मा के बीच बढ़ते जाने वाले अन्तर को मिटाया जा सकता है।

---

१ अन्यतोऽनुग्रहोऽप्यत्र तत्स्वाभाव्य निबन्धनः। —योगबिन्दु (हरिभद्रसूरिकृत)

संयोग से मुक्ति के लिए अनुभूत उपाय

संयोग और दुःख, अथवा परपदार्थों का संयोग और आत्मगुणों से वियोग दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। फिर चाहे वह संयोग प्रिय वस्तु के साथ हुआ हो, चाहे अप्रिय वस्तु के साथ, दोनों ही स्थिति में प्रायः रागद्वेष पैदा होता है और वह कर्मबन्ध या कर्माश्रव का कारण है। अतः प्रश्न यह है कि संयोग अथवा युंजनकरण से मुक्त होने के लिए आत्मार्थी या परमात्मपदार्थी साधक को क्या करना चाहिए ?

इसका समाधान आचार्य श्री अमितगति ने स्पष्टतः किया है—

"ततस्त्रिधाऽसौ परिवर्जनीयो, क्रियासु निर्वृत्तिमात्मनीनाम्।"[1]

"अतः अपनी मुक्ति=परमात्मप्राप्ति या आत्मशान्ति चाहने वाले साधक को सयोग का मन, वचन और काया तीनों से त्याग कर देना चाहिए।

संयोग का वीतराग सदेह केवली परमात्मा तो सर्वथा त्याग कर सकते हैं, परन्तु छद्मस्थ साधक द्वारा संयोग का पूर्णतया त्याग कर पाना कठिन है। उसके लिए सर्वोत्तम उपाय यह है कि इन्द्रियों से विषयों या पदार्थों अथवा व्यक्तियों का संयोग तो होगा ही, उसे तेरहवें गुणस्थान तक सर्वथा छोड़ा जाना असम्भव है, किन्तु जिस वस्तु या व्यक्ति को देखो, सुनो, सूंघो, चखो या स्पर्श करो उससे मन को अलग रखो। मन से उस पर राग-द्वेष, मोह, ममत्व-अहंत्व, आसक्ति या घृणा, ईर्ष्या या मात्सर्य का रंग मत चढ़ाओ। किसी भी इन्द्रिय या मन के विषय पर जब रागद्वेष आदि विभावों-विकारों का रंग चढ़ता है, तभी वह संयोग कहलाता है और वही संयोग कर्मों और अन्त में दुःखों को निमन्त्रित करता है। अतः इन्द्रिय-विषयों के साथ मन को न जोड़ो, उन पर राग व द्वेष का रंग न लगाओ, उनके वश में न आओ। यही संयोग से मुक्त होने का सर्वसुलभ उपाय है। किसी भी विषय या सजीव-निर्जीव पदार्थ को देख-सुनकर शुद्ध आत्मा की दृष्टि से ही उनसे होने वाली उपलब्धि या वस्तु तत्त्व का निर्णय करो।

संयोग से छुटकारा पाने का दूसरा उपाय यह है कि जब भी बाह्य पदार्थों (पंचेन्द्रिय विषयों, सुखसाधनों, शरीरादि या परिजनों-स्वजनों) के

---

१ सामायिकपाठ श्लोक २८

साथ वास्ता पड़े, तब मन में कतई राग-द्वेष, मोह, कषायादि विभावों को न आने दो, वचन का प्रयोग भी पूरी सावधानी से करो और काया से भी किसी प्रकार की आसक्तिजनित चेष्टा न करो। पूर्वोक्त संयोग को मन में कतई स्थान न दो, उसे दूर से ही खदेड़ दो, आने लगे तब उपेक्षाभाव रखो, उसे फौरन अस्वीकृत कर दो। जैसे—रेडियो स्टेशन में ब्राडकास्ट की हुई ध्वनि तरंगें आकाश में यत्र-तत्र-सर्वत्र घूमती रहती हैं, परंतु रेडियो यंत्र का जो स्टेशन खुला हो, वहीं वे प्रगट होती हैं। ठीक इसी प्रकार पंचेन्द्रिय विषय, विविध सुखोपभोग के साधन, विभिन्न मत-मतान्तर, विचार अथवा विविध प्राणियों से सारा विश्व भरा पड़ा है, किन्तु साधक पर उसी का अवतरण होता है, जिसे राग भाव से अपनाया जाता है। अगर उसे उपेक्षित या अस्वीकृत कर दिया जाए, अथवा शास्त्रीय भाषा में मन से उस वस्तु की अभिलाषा न की जाए[1] तो वह वस्तु वापस लौट जाएगी, उस वस्तु के संयोग से साधक की आत्मा बच जाएगी। जैसे कि दशवैकालिक सूत्र में संयोग (काय) त्यागी का स्वरूप बताया गया है—

जे य कंते पिए भोए, लद्धे विपिट्ठी कुव्वइ।
साहीणे चयइ भोए, से हु चाईत्ति वुच्चइ ॥[2]

जो साधक कमनीय प्रिय मनोज्ञ पदार्थों के भोग का अवसर उपस्थित (प्राप्त) होने पर भी उनकी ओर पीठ = उपेक्षाभाव कर लेता है, सुखसामग्री स्वाधीन हो पर भी उसके उपभोग का स्वेच्छा से त्याग कर देता है, वही वास्तव में (संयोग) त्यागी कहलाता है।

यदि आत्मार्थी साधक का मन या अन्तःकरण ढिलमिल होगा, तो चारों ओर से उस पर आत्मबाह्य पदार्थों (परभावों) का आक्रमण होगा। जहाँ भी मानसिक, वाचिक या कायिक दुर्बलता होगी, वहीं अवांछनीय तत्त्व चढ़ बैठेंगे। पानी निचाई की ओर ही ढलता है, ऊँचाई पर वह बिना यंत्र के सहारे के नहीं चढ़ पाता। इसी प्रकार मन और इन्द्रियों को विषयों के प्रति रागद्वेष के निम्न प्रवाह में बहने न देकर, यदि मन और इन्द्रियों से ऊपर उठकर आत्मिक या आत्मलक्षी दृष्टि से चिन्तन, मनन, वचन या आचरण किया जाएगा तो अवांछनीय तत्त्वों का प्रवेश या उनके प्रति राग द्वेषादि के कारण भाव कर्म-द्रव्यकर्म का संयोग (युंजनकरण) नहीं हो

---

१ मणसा वि न पत्थए
२ दशवैकालिक सूत्र अ. २ गा. ३

सकेगा, वातावरण के द्वारा पहुँचने वाली हानि या चिन्ता, उद्विग्नता, आसक्ति आदि दुःखों से भी बचा जा सकेगा। घर की खिड़की खोल देने पर ही बाहर की हवा या सूर्य की रोशनी को अन्दर प्रवेश करने का मौका मिलता है, इसी प्रकार मन, वचन, काया का दरवाजा बंद रहे, मनोगुप्ति वचनगुप्ति और कायगुप्ति का प्रयोग किया जाए तो अवांछनीय तत्त्वों की घुसपैठ रोकी जा सकती है।

अतः साधक अवांछनीय पदार्थों के संयोग के लिए आलस्य, प्रमाद, लोलुपता या भीरुता के वश मन, वचन, काया से स्वागत का थाल न सजाए किन्तु आत्मबाह्य विषय, पदार्थ या व्यक्ति के साथ मोहजनित संयोगों को अवांछनीय समझकर उनके प्रति दृढ़ता से असहमति, उपेक्षा, असहयोग या अस्वीकृति व्यक्त कर दे। मन और इन्द्रियों को प्रिय लगने वाले पदार्थों या व्यक्तियों के प्रति अपनी आस्था, मान्यता या मेरेपन को प्रत्यारोपित न करे, अपनी मनःस्थिति को उनसे न जकड़े। वचन या काया से भी उस अवांछनीय परपदार्थ को अपने कब्जे (अधिकार) में करने, संग्रह करने या आसक्तिपूर्वक उसे देखने, रखने, उठाने आदि की चेष्टा या प्रयत्न न करे। जैसे कि आचारांग सूत्र में कहा है[1]—**अइअच्च सव्वसो संगं ण महं अत्थित्ति इति एगो अहमंसि**—चारों ओर से संग (संयोग) से ऊपर उठकर सोचे कि वह मेरा नहीं है, मैं तो एक-अकेला ही हूँ।

मानवीय इन्द्रियसंरचना की खूबी यह है कि बाहर के (विषयों या पदार्थों के) प्रभावों को अपनी मनःस्थिति को संतुलित रखकर घटाया जा सकता है। कानों में कोलाहल या कर्णप्रिय आवाज का असर न हो, इसके लिए उस ओर से ध्यान बिलकुल हटाकर या उसे अस्वीकृत करके दूसरे किसी प्रिय (आत्मध्यान या आत्मभावरमण आदि) प्रसंग में अपने आपको तन्मय किया जा सकता है। दैनिक अखबारों के दफ्तरों के आसपास प्रेस की मशीनें, टाइप राइटर या अन्य हलचलें चलती रहती हैं, और वहीं पास के कमरे में बैठे हुए सम्पादक बिलकुल एकाग्रता से अपना लेखन कार्य करते रहते हैं, इसी प्रकार संयोगत्यागी साधक भी अवांछनीय पदार्थों से अपना ध्यान हटाकर आत्मा-परमात्मा के चिन्तन में एकाग्र हो जाए। तभी वह आत्मा अपने और परमात्मा के बीच के अन्तर को दूर कर सकेगी। □

---

१ आचारांग १/६/२/६२८

१४

आत्मा को परमात्मा से जोड़ती है—उपासना

उपासना का मौलिक लक्ष्य एक : पद्धतियाँ अनेक

विश्व में प्रत्येक धर्म-सम्प्रदाय की उपासना-पद्धतियाँ पृथक्-पृथक् हैं, परन्तु सबका मूल स्वर अथवा मौलिक लक्ष्य तो एक ही है। उपासना पद्धति ऐसी होनी चाहिए, जो उपासक को उपास्य के निकट ले जाएं अथवा आत्मा में सच्चिदानन्दस्वरूप या अनन्त-ज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्यरूपी शुद्ध परमात्मगुण या परमात्मभाव प्रगटाए। परन्तु जो व्यक्ति परमात्मा के अस्तित्व को ही मानता-जानता ही नहीं हैं, नास्तिक है, स्वच्छन्दता-परायण है, वह परमात्मा की उपासना ही नहीं करेगा। अतः सर्वप्रथम उपासना की यथार्थ उपयोगिता और सार्थकता को समझ लेना चाहिए।

उपासना की उपयोगिता

परमात्मा की उपासना मानवजीवन को परमात्म-भाव के निकट पहुँचाने वाली सरस पद्धति है। परमात्मा के निकट पहुँचाने का अर्थ है पूर्णता या आत्मविकास के चरम शिखर पर पहुँचना। उपासना मानव को इस सर्वोच्च शिखर पर पहुँचाने हेतु एक सरल, सरस और सुरुचिपूर्ण

माध्यम है। उपासना से व्यक्ति परमात्मा के सान्निध्य में पहुँचकर परमात्मा के गुणों और शक्तियों को अपने जीवन में आसानी से खींचा जा सकता है। जैसे लोहा पारसमणि का संस्पर्श पाकर सोना बन जाता है, वैसे ही आत्मा परमात्मा का सान्निध्य या स्पर्श अथवा सम्पर्क पाकर सद्गुणों का धनी बन सकता है। शीत के कष्ट से थरथर काँपते हुए व्यक्ति के लिए अग्नि की समीपता उपयोगी होती है, वैसे ही जन्म-जरा-मृत्यु-व्याधि आदि संसार के अपार दुःखों से थरथर काँपते एवं भयभीत होते हुए व्यक्ति के लिए वीतराग परमात्मा की समीपता अत्यन्त उपयोगी होती है। उपासना उपासक को उपास्य (वीतराग देव) से जोड़ने वाली है, वह परमात्मा के साथ घनिष्ठ आत्मीयता सम्बन्ध जोड़ती है। परमात्मा के सान्निध्य में प्रतिदिन भावात्मक रूप से बैठने पर सामान्य आत्मा की परमात्मा के साथ मैत्री पक्की होती है, जिससे वह परमात्मा की शक्तियों और निजी गुणों से लाभान्वित हो जाता है। अतएव आत्मार्थी उपासना के माध्यम से परमात्मतत्व के साथ जुड़ा रहना चाहता है। मछली जब तक पानी से जुड़ी रहती है, तब तक वह आनन्द मनाती है, किन्तु जब वह जल से अलग हो जाती है, तब कष्ट पाती है, तड़फती है, वैसे ही आत्मार्थी साधक जब परमात्मतत्व से अलग हो जाता है, या विस्मृत कर देता है, तब उसे भी कष्ट होता है, विपत्तियाँ उसे आ घेरती हैं। एतदर्थ ही एक आचार्य ने कहा है—

सम्पद्स्मरणं प्रभोः, विपद्विस्मरणं प्रभोः।

प्रभु को स्मरण रखने से आत्मसम्पदा प्राप्त होती है और परमात्मा को विस्मृत कर देने से आधि-व्याधि, उपाधि आदि विविध विपदाएँ घेर लेती हैं।

'याद से आबाद, भूल से बर्बाद'—कहावत भी इसी तथ्य का समर्थन करती है। पंखा, मशीन, हीटर, कूलर, बल्ब आदि विविध विद्युत प्रकाशीय उपकरण तभी तक आश्चर्यजनक और उपयोगी कार्य कर सकते हैं, जब तक बिजली से उनका सम्बन्ध (कनेक्शन) कटे नहीं। बिजली से इनका सम्बन्ध कट जाए तो ये केवल प्रदर्शन की वस्तु रह जाते हैं। इन सबकी उपयोगिता इसी में है कि ये बिजली के प्रवाह से जुड़े रहें। ठीक इसी प्रकार आत्मार्थी साधक जब तक उपासना के माध्यम से परमात्म तत्व के साथ भावात्मक एकतापूर्वक जुड़ा रहता है, तब तक वह स्वयं आत्मा के

ज्ञान-दर्शन-चारित्ररूप या स्वभाव=ज्ञानादि स्वगुण रूप प्रकाश से प्रकाशित रहता है और दूसरों को भी प्रकाशित करता रहता है।

उपासना से परमात्मा की समीपता प्राप्त होती है

परमात्मा अनन्तज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्यशक्ति के केन्द्र हैं, उनकी समीपता उपासक आत्मार्थी के लिए उतनी ही उपयोगी है, जितनी अत्यन्त ठण्ड से ठिठुरता हुआ व्यक्ति अग्नि की समीपता प्राप्त करना आवश्यक समझता है। रसोई बनाने वाली महिला यदि चावल, दाल आदि खाद्य पदार्थों को चूल्हे की आँच से दूर रखती है, अथवा स्वयं रसोईघर में चूल्हे से दूर बैठती है, तो उसका रसोई बनाने का उद्देश्य पूर्ण नहीं होता, भोजन अच्छा बन नहीं सकता, इसी प्रकार स्वयं को परमात्मतत्व से परिपूर्ण या परिपक्व करना चाहने वाला आत्मार्थी साधक अनन्तज्ञानादिगुणनिधान परमात्मा से दूर रहे, उनके समीप न बैठे, परमात्मतत्वों पर ध्यान न दे, उन्हें आँखों से ओझल कर दे तो वे अनन्तज्ञानादि गुण या तत्व उसे प्राप्त नहीं हो सकते। अतः बुद्धिमान आत्मार्थी उपासक अन्य क्रियाकाण्डों को महत्व न देकर परमात्मा के साथ हार्दिक समीपता को तथा उपासना की भावात्मक प्रक्रिया को अपनाता है।

उपासना से परमात्मा की सत्संगति और हृदयपरिवर्तन

सत्संगति और सान्निध्य से गुणों के आदान-प्रदान की संभावना से इन्कार नहीं किया जा सकता। परमात्मा का भावात्मक सान्निध्य या सत्संग पाकर पापी से पापी व्यक्ति पुण्यात्मा, धर्मात्मा और परमात्मा तक बन जाता है। गंगा के स्वच्छ जल की संगति पाकर गन्दी नाली का पानी भी स्वच्छ और शुद्ध हो जाता है। चन्दन के वृक्ष के समीप उगे हुए अन्य जंगली पेड़ भी चन्दन की सी सौरभ पा जाते हैं। यह कहावत भी प्रसिद्ध है—

"एक घड़ी आधी घड़ी, आधी में पुनि आध।
'तुलसी' संगति साधु की कटै कोटि अपराध॥"

साधुपुरुषों एवं महापुरुषों की संगति से अपराधी व्यक्ति भी अपनी अपराधीवृत्ति को भूलकर सबके साथ प्रेम, वात्सल्य, मैत्री, सहानुभूति, क्षमा, दया आदि आत्मिक सद्गुणों को अपना लेता है। दुरात्मा से महात्मा बन जाता है। गो, ब्राह्मण, नारी और बालक की हत्या करने

वाला भयंकर हत्यारा—दृढ़प्रहारी क्या एक परम पवित्र साधु की संगति पाकर पवित्र महात्मा नहीं बन गया था ? इसी प्रकार राजगृही नगरी के १,१४१ व्यक्तियों की हत्या करने वाला यक्षाविष्ट अर्जुन मालाकार भी एक दिन वीतराग परमात्मा भगवान् महावीर का सत्संग पाकर, उनकी हार्दिक उपासना का सान्निध्य पाकर परम पवित्र महात्मा और अन्त में परमात्मा बन गया था। इसमें कोई सन्देह नहीं कि उपासना में उपास्य परमात्मा की संगति से भी व्यक्ति का जीवन वीतरागता के गुणों से युक्त बन जाता है। तब फिर उपासना की उपयोगिता और महत्ता को जानते हुए भी लोग क्यों परमात्मा की भावात्मक समीपता एवं सान्निध्य से दूर रहते हैं, और अपराधियों, दुर्गुणियों एवं दुराचारियों के सान्निध्य में रहकर जान-बूझकर अपने आपको अनेक प्रकार के कठोर कष्टदायक परिस्थितियों में, तथा आफतों में डालते हैं ?

उपासना से समग्र जीवन-परिवर्तन

श्वेताम्बिका नगरी के राजा प्रदेशी का जीवन एक दिन परदेशी अर्थात्—हिंसा, क्रूरता, नास्तिकता, वैभव-विलास की प्रचुरता आदि विभावों-परभावों में विचरण करने वाला बना हुआ था, वह आत्मदेशीय यानी स्वभाव-स्वगुणनिष्ठ नहीं था। किन्तु केशीश्रमण मुनिवर की पर्युपासना—बार-बार की, तन-मन-वचन द्वारा की गई उपासना=सत्संगति से प्रदेशी राजा के जीवन ने प्रकदम पलटा खाया। वह अरमणीक से रमणीक बन गया, परभावनिष्ठ से स्वभावनिष्ठ बन गया, परदेशी से आत्मदेशी बन गया। राग-द्वेष, काम, मोह, क्रोधादि कषाय मद मत्सर आदि विभावों और हिंसादि विकारों में तथा वैषयिक सुखों में अहर्निश रमण करने वाली उसकी कषायात्मा केशीश्रमण गुरु की पर्युपासना से अपने ज्ञान, दर्शन, चारित्र, वीर्य (शक्ति) और आत्मिक सुख से परिपूर्ण शुद्ध आत्मा में रमण करने लगी। यही कारण है कि उन्होंने अपने शरीर तथा शरीर से सम्बद्ध धन-सम्पत्ति, राज्य, सुख-सामग्री, वैभवविलास, रागरंग, महल, रानी-राजकुमार आदि पर भी ममत्व का त्याग कर दिया। एकमात्र आत्मचिन्तन, आत्मध्यान, एवं स्वभाव में ही रत रहने लगे, आत्मा से परमात्मा बनने की दिशा में उनकी दौड़ प्रारम्भ हो गई। वे अपनी पौषधशाला में पौषधव्रत धारण करके आत्मगुणों के विकास में पुरुषार्थ करने लगे। सूरीकान्ता रानी द्वारा विष मिश्रित भोजन खिलाने

पर भी वे शरीरादि पर ममत्व छोड़ कर स्वभाव में लीन हो गये और शान्ति से प्रसन्नतापूर्वक नश्वर शरीर को छोड़ा। यह सब प्रभाव उस वीतराग प्रभु के प्रतिनिधि श्रमण निर्ग्रन्थ की पर्युपासना का सुपरिणाम था। वीतराग प्रभु की हार्दिक उपासना का परिणाम तो इससे भी सुष्ठुतर आता।

उपासना से आत्मविश्वास में वृद्धि

उपासना से हृदय में परमात्मा का निवास और सान्निध्य प्राप्त होता है, जिससे उपासक को अत्यन्त विश्वास प्राप्त हो जाता है कि परमात्मा मेरे हृदय में विराजमान हैं, इसलिए मेरा कोई अहित, या नुकसान नहीं कर सकता, चिन्ता और हृदय में दुर्बलता, झिझक, निरुत्साहता, भीति, सुरक्षा की शंका आदि सब पलायित हो जाती हैं। वह सदैव यही सोचता है कि अनन्तशक्तिमान परमात्मा मेरे हृदय में स्थित है, तो फिर मुझे किससे और क्या भय है ?, क्या संकट या आतंक है ?

उपासना से अलभ्य लाभ

परमात्मा की उपासना से उपासक को सबसे बड़ा लाभ यह है कि वह अगर एकाग्रचित्त होकर उपास्य को अपने हृदय में भावात्मक रूप से बिठा लेता है तो उपास्य परमात्मा के अनन्तज्ञानादि गुण भी उसमें संक्रान्त हो जाते हैं, वह उपासक एक दिन स्वयं परमात्मा बन जाता है। भक्तामर स्तोत्र में इसी तथ्य का प्रतिपादन किया गया है—

नात्यद्भुतं भुवनभूषण ! भूतनाथः।
भूतैर्गुणैर्भुवि भवन्तमभिष्टुवन्तः।
तुल्या भवन्ति भवतो ननु तेन किं वा,
भूत्याश्रितं य इह नात्म-समं करोति ?[1]

अर्थात्—"हे भुवन-भूषण ! प्राणियों के नाथ ! इसमें कोई आश्चर्य नहीं है कि इस पृथ्वी पर आपकी अनेक गुणों से स्तुतिमूलक उपासना करने वाले आपके तुल्य—वीतराग परमात्मा बन जाते हैं। उस व्यक्ति की उपासना करने से क्या लाभ, जो विभूति का आश्रय लेने वाले उपासक को अपने समान नहीं बना देता ?"

---

१ आदिनाथ भक्तामर स्तोत्र, श्लोक १०

यह निश्चित है कि यदि कोई उपासक सच्चे हृदय से उपास्य के गुणों में स्वयं को जितना अधिक तन्मय एवं तल्लीन कर लेता है, वह उपास्य परमात्मा से उतना ही अधिक भावात्मक सामीप्य बढ़ा लेता है, और गुणों में उतना ही अधिक उनके समान बन जाता है, उपास्य के शक्ति तथा आनन्द, ज्ञान-दर्शन आदि गुणों का सामर्थ्य उसी अनुपात में उपासक में आ जाता है।

प्रख्यात प्राकृतिक चिकित्सा विशेषज्ञ 'डा० लिण्डलहर' ने अपनी पुस्तक प्रेक्टिस ऑफ नेचुरल थेरोप्युटिक्स में लिखा है कि "साधक अपने मानवीय हृदय में सर्वव्यापी परमात्म (ब्रह्म) सत्ता, किसी देवसत्ता, अदृश्य देवदूत, सिद्धपुरुष या महान सद्गुरु (जो भले ही दूरस्थ हों) को प्रतिष्ठित करके उनसे अपने मनोभावों को जोड़कर उनकी विचारणाओं, भावनाओं, और अनुभूतियों को समझ लेता है, आत्मसात् कर लेता है, इतना ही नहीं, अपने इष्ट के भौतिक आध्यात्मिक परमाणुओं या शारीरिक-मानसिक क्रिया-प्रक्रियाओं की अनुभूतियाँ भी उसमें विलक्षण रूप से अवतरित, परिणत एवं आकर्षित हो जाती हैं।"

उपासना से परमात्मा की असीमता की उपलब्धि

परमात्मा की उपासना से सबसे बड़ा लाभ यह होता है कि उपासक भावात्मक दृष्टि से, अर्थात्-निश्चयनय की अपेक्षा से जैसे-जैसे परमात्मा की ओर बढ़ता जाता है और उसी दिशा में उपासक का प्रयाण और पुरुषार्थ होता है, वैसे-वैसे सीमाएँ समाप्त होती चली जाती हैं, कर्मों के आवरण भी उसी प्रकार हटते जाते हैं, जिस प्रकार सूर्य पर आया हुआ आवरण हट जाता है। और एक दिन केवलज्ञान रूपी सूर्य पूर्णरूप से प्रकट हो जाता है। यही है आत्मा से परमात्मा होने की स्थिति, जो सच्ची उपासना से प्राप्त होती है।

जिस प्रकार चन्द्रमा अमावस्या की रात्रि में पूर्णतया ढक जाता है और फिर शुक्ल पक्ष में द्वितीया से उसका प्रकाश क्रमशः अनावृत होता जाता है, तथा पूर्णिमा के दिन वह चन्द्रमा अपनी सोलह कलाओं से पूर्ण रूप से खिल उठता है, प्रकाशित हो जाता है, उसी प्रकार जिस उपासक की दृष्टि (दर्शन) एक दिन अज्ञान-अदर्शन आदि से पूर्णतः आवृत थी, वह परमात्मा की उपासना से क्रमशः आगे बढ़ता जाता है, उसे परमात्मा के

अनन्तदर्शन का प्रकाश क्रमशः मिलता जाता है और एक दिन परमात्मा के परिपूर्ण दर्शन के प्रकाश से उसकी दृष्टि पूर्णतया खुल जाती है, पूर्ण निर्मल हो जाती है। फिर उसकी दृष्टि इतनी सुदृढ़ और परिपक्व हो जाती है कि परमात्मभावों या शुद्ध आत्मगुणों को छोड़कर संसार की निकृष्ट वासनाओं, राग-द्वेष, कषाय, काम, मोह की ओर नहीं जाती। जिस प्रकार मिठाई पर बैठी हुई सामान्य मक्खी को आप उड़ाएँगे तो वह समीप ही पड़ी हुई विष्ठा पर जाकर बैठ जाएगी, परन्तु मधुमक्खी और भौंरों को आप फूल से हटाएँगे तो वे पुनः आकर फूल पर ही बैठेंगे, विष्ठा पर कदापि नहीं।

इसी प्रकार वीतराग परमात्मा के अनन्य उपासक को भी आप उपासना से हटाना चाहेंगे, या परमात्मभाव प्राप्ति के आत्मिक गुणों से हटाना चाहेंगे तो भी वे पुनः उसी में तन्मय हो जाएँगे, परन्तु हिंसा, असत्य आदि पर तथा परपदार्थों या विषयों में आसक्ति की गन्दगी पर उसका मनोभाव नहीं जाएगा।

इसी प्रकार उपासना के माध्यम से उपासक जैसे-जैसे परमात्मा की ओर गति-प्रगति करता जाता है, वैसे-वैसे उसका उत्साह, साहस, पराक्रम और आत्मशक्ति बढ़ती जाती है, उसकी क्षमता, सामर्थ्य और योग्यता में ज्वार आता जाता है, आत्मशक्ति के अवरोध समाप्त होते जाते हैं। उसमें वीतरागता, आत्मभावों में रमणता, समता, क्षमा, सहिष्णुता, तपस्या आदि की शक्ति के सारे स्रोत प्रवाहित हो जाते हैं। और परमात्मा की अनन्तशक्ति एक दिन उसमें अवतरित हो जाती है। यह है उपासना का चमत्कार!

इसी प्रकार उपासना के माध्यम से साधक ज्यों-ज्यों परमात्मभावों की ओर अपने चरण बढ़ाता जाता है, त्यों-त्यों परमात्मा के अचल, स्थिर, अबाधित एवं असीम आनन्द का गहन सिन्धु उसमें उमड़ता चला जाता है। तब विषयसुखों की लालसा, परपदार्थों में सुखान्वेषण की वृत्ति, तथा राग-द्वेष, कषाय, मोह, काम, ममत्व, कामना, प्रसिद्धि आदि में सुख ढूंढने की लिप्सा से दूर होता जाता है। और एक दिन पारमात्मिक आनन्द का अथाह सागर उसकी आत्मा में लहरा उठता है। आत्मिक-आनन्द के सागर की ऊर्मियाँ उसके चरण पखारने लगती हैं। यह उपासना

का ही प्रतिफल है।

निष्कर्ष यह है कि आत्मा के अनुजीवी गुणों पर चार आवरण हैं—उसके ज्ञान पर आवरण, दर्शन पर आवरण, शक्ति (वीर्य) पर आवरण और आनन्द (आत्मसुख) पर आवरण। ये चारों आवरण आत्मा को ससीम बना देते हैं। जिसके कारण ज्ञान और दर्शन आवृत हो जाते हैं, आत्म-शक्ति परभावों की विविध दिशाओं में स्खलित होने लगती है, आत्मिक आनन्द में विकृतियों का ज्वार-भाटा आता रहता है। किन्तु सच्ची उपासना की तीव्रता से वह 'चंदेसु निम्मलयरा, आइच्चेसु अहियं पयासयरा, तथा सागरवरगंभीरा[1]—हो जाता है। अभिप्राय यह है कि उसका दर्शन चन्द्रों से भी निर्मलतर (विशुद्ध) हो जाता है, उसका ज्ञान सूर्यों से भी अधिक प्रकाशतर बन जाता है तथा उसके आनन्द एवं शक्ति का समुद्र क्षीरसागर से भी अधिक उज्ज्वल और गहन हो जाता है। वह चारों ही आत्मगुणों में ससीम से असीम बन जाता है।

उपासना से परमात्मा के प्रति तन्मयता, तल्लीनता और एकाग्रता प्राप्त होती है, जो आत्मा में छिपे हुए परमात्मा के बीज को अंकुरित करती है, और एक दिन वे अंकुर वृद्धिगत होते-होते स्वयं विशाल, परमात्म वृक्ष का रूप ले लेते हैं।

उपासना का अर्थ और फलितार्थ

प्रभु-उपासना के माहात्म्य और लाभ को समझ लेने पर सहसा यह जिज्ञासा होती है कि उस 'उपासना' का क्या अर्थ और फलितार्थ है, जो आत्मा को परमात्मा के निकट पहुँचा देती है, परमात्मा से जोड़ने वाली है? उपासना में 'उप' और 'आसना' ये दो शब्द हैं। 'उप' का अर्थ है—समीप, 'आसना' का अर्थ है—स्थिति=बैठना। अर्थात्—उपासक का उपास्य वीतराग-परमात्मा के समीप (सान्निध्य में) बैठना ही उपासना है।

किन्तु केवल वीतराग प्रभु के निकट बैठने, सान्निध्य में रहने मात्र से सच्चे मायने में परमात्मा की उपासना नहीं होती। मंखलीपुत्र गोशालक श्रमण भगवान् महावीर का छह वर्ष तक अन्तेवासी शिष्य बनकर रहा। वह भगवान् महावीर के पास ही बैठता-उठता रहता था, तथा समीप ही रहता था; किन्तु भगवान् महावीर के प्रति उसकी हार्दिक निकटता, भावा-

---

१ चतुर्विंशतिस्तव (लोगस्स) का पाठ

त्मक समीपता और तन-मन-वचन से प्रभु के प्रति आस्था नहीं थी, इसलिए आन्तरिक समीपता या निश्चयनय से आत्मिकगुणों की निकटता न होने से वह प्रभु की पर्युपासना न कर सका। फलतः वह हृदय से वीतराग परमात्मा के निकट न पहुँच सका, उसकी आत्मा परमात्मभाव से न जुड़ सकी, जबकि नवदीक्षित गजसुकुमालमुनि शरीर से तो वीतराग अरिष्टनेमि प्रभु के निकट थोड़ी ही देर रहा था, और बारहवीं भिक्षुप्रतिमा अंगीकार करके महाकाल श्मशान में कायोत्सर्गमुद्रा में ध्यानस्थ रहा तब भी स्थान और शरीर की दृष्टि से प्रभु से काफी दूर था, किन्तु उनकी आत्मा प्रभु के परमात्मभाव से निकट स्थित हो गई थी। वह भावात्मक दृष्टि के परमात्मा के अत्यन्त समीप होने से परमात्मभाव से जुड़ गये। उनकी वीतराग-परमात्मा की पर्युपासना सफल एवं सार्थक हो गई।

मेले-ठेलों में हजारों आदमी एक-दूसरे से अत्यन्त सटकर चलते और बैठते हैं, लेकिन उनमें कोई भावात्मक एकता, हार्दिक निकटता न होने से एक-दूसरे के गुणों से लाभान्वित नहीं होते; जबकि आकाश में स्थित चन्द्रमा की शुभ्र चन्द्रिका को देखकर पृथ्वी पर स्थित कमलिनी खिल उठती है, क्योंकि दोनों में भावात्मक एकता का तार जुड़ा हुआ है। जैसे कि कहा है—

"जल में बसे कुमुदिनी, चन्द्र बसे आकाश।
जो जाहू के मन बसे, सो ताहू के पास॥"

अतः उपासना की सार्थकता और सफलता तभी है, जब वीतराग-परमात्मा के प्रति उपासक की हृदयतंत्री का तार भावात्मक एकता एवं समीपता से जुड़ा हुआ हो। परमात्मा ऐसे उपासक से क्षेत्र की दृष्टि से दूर होते हुए भी भावात्मक दृष्टि से उपासना के माध्यम से समीप हो जाते हैं। अतः उपासना का फलितार्थ यह हुआ कि क्षेत्र एवं शरीर की दृष्टि से भले ही उपासक से उपास्य परमात्मा दूर हो, किन्तु भावात्मकदृष्टि से उपासक का उपास्य परमात्मा के साथ सामीप्य हो, परमात्मभाव के साथ उपासक की आत्मा जुड़ी हुई हो।

मान लीजिए आप जहाँ बैठे हैं, उसके नीचे की पृथ्वी के गर्भ में लाखों टन सोना-चाँदी आदि बहुमूल्य धातुएँ हों, भले ही आप उस जमीन पर बैठे हों, उस जमीन के मालिक भी हों, फिर भी आप उससे लाभान्वित या आनन्दित नहीं हो पाते, क्योंकि उसके साथ आपकी भावात्मक समीपता

नहीं है। एक बैंक का कैशियर बैंक के खजाने में प्रतिदिन लाखों रुपये अपने हाथ से लेता-देता है किन्तु वह उनसे लाभान्वित या आनन्दित नहीं होता, क्योंकि उन रुपयों के साथ उसका भावात्मक सामीप्य नहीं होता। जिस धन से व्यक्ति का भावात्मक समीप्य जुड़ जाता है, उसे वह अपना समझने लगता है। उसमें उसे दिलचस्पी और प्रसन्नता होने लगती है। यह तो हुई लौकिकदृष्टि से बात। लोकोत्तर दृष्टि से उपासक परमात्मा के अनन्त ज्ञान-दर्शन-आनन्द-शक्तिरूप सम्पदा को जब अपनी समझने लगता है, अपने उपास्य परमात्मा के साथ भावात्मक सामीप्य जोड़ लेता हैं, तब वह भी एक दिन परमात्म-सम्पदा का स्वामी बन जाता है।

परमात्मा की उपासना की पूर्वभूमिका

वीतराग-परमात्मा की उपासना के चार क्रम प्रतीत होते हैं—सर्वप्रथम परमात्मा के अस्तित्व और स्वरूप का भान, तदनन्तर उनके प्रति आस्था, फिर उन्हें हृदय में आसन देना और अन्त में उनकी उपासना करना।

वर्तमान युग में भौतिकवाद, सुख-सुविधावाद एवं भोगवाद का काला पर्दा अधिकांशः मनुष्यों की बुद्धि पर पड़ने के कारण, लोग नास्तिक बन गये हैं। आसुरी सम्पत्ति का प्रभाव पड़ जाने से भी अधिकांश मानव परमात्मा को मानने से इन्कार कर देते हैं।

परमात्मा आत्मा की तरह कोई चर्मचक्षुओं से दिखाई देने वाला पदार्थ नहीं है। इसलिए परमात्मा के असीम ज्ञान, दर्शन, आनन्द और शक्ति को देखकर ही परमात्मा के अस्तित्व को माना जाता है। इन्हें देखने के लिए अपनी आत्मा में ही उपासक परमात्मभाव को तथा परमात्मगुणों को स्वपुरुषार्थ द्वारा जगाता है। इसीलिए जैनदर्शन कहता है—प्रत्येक प्राणी के हृदय में शुद्ध आत्मा का निवास है, और शुद्ध आत्मा ही मूलरूप में परमात्मा है। इस दृष्टि से परमात्मा अत्यन्त निकट है। परन्तु उसकी अभिव्यक्ति उसी हृदय में होती है, जो हृदय निर्मल, पवित्र, निश्छल और निर्विकार हो। जैसा कि सन्त कबीर ने कहा—

'घट-घट मेरा सांइया, सूनी सेज न कोय।
बा घट की बलहारियां, जा घट परगट होय॥"[1]

भगवद्गीता में भी यही बात प्रकारान्तर से कही गई है—

---

१ कबीर की साखियाँ

"ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन ! तिष्ठति ।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यंत्रारूढ़ानि मायया ॥"[1]

इसका अर्थ है—हे अर्जुन ! ईश्वर माया (कर्मप्रकृति) से (कर्मचक्र-रूपी) यंत्र पर आरूढ़ सर्वप्राणियों को (जन्ममरणादिरूप संसार में) परिभ्रमण कराता हुआ, समस्त प्राणियों के हृदय में रहता है। वैदिक दृष्टि से इसका अर्थ चाहे जो हो, जैनदृष्टि से इसका युक्तिसंगत अर्थ है—अपनी शुद्ध आत्मा ही सिद्ध-बुद्ध-मुक्त परमात्मा (ईश्वर) के रूप में प्रत्येक प्राणी के हृदय-देश में स्थित है और अपने-अपने कृतकर्मों की प्रकृति उस अशुद्ध आत्मा को विविध गतियों और योनियों में परिभ्रमण कराती रहती है।

निष्कर्ष यह है कि परमात्मा शुद्ध आत्मा के रूप में प्रत्येक प्राणी के हृदय में विराजमान है। वह अत्यन्त ही निकट है इसलिए उसे पवित्र हृदय वाला व्यक्ति ही दिव्यदृष्टि से देख सकता है। इस प्रकार परमात्मा के अस्तित्व का निश्चय हो जाने पर उनके अनन्तज्ञानादि गुणों पर उपासक आस्था व्यक्त करता है। उनकी स्तुति, गुणोत्कीर्तन तथा स्तवन, स्तोत्र द्वारा तथा वन्दन-नमन, सत्कार-सम्मान एवं बहुमान द्वारा उनके प्रति श्रद्धा व्यक्त करता है. हृदय में दृढ़ विश्वास जमाता है। तदनन्तर परमात्मा को स्वच्छ निर्मल, पवित्र हृदयासन पर विराजमान करके उनका सामीप्य प्राप्त करता है। इस प्रकार परमात्मा की उपासना की सर्वांगीण प्रक्रिया पूर्ण करता है। यदि कोई चाहे कि मैं केवल परमात्मा के गुणगानों, स्तोत्रों, स्तवनों, कीर्तनों, नामजप या स्मरण से अथवा केवल वन्दन-नमन तथा सत्कार-सम्मान करके उन्हें रिझा लूं, प्रसन्न कर लूं और वरदान प्राप्त कर लूं, तो यह उपासना सच्ची व सर्वांगी उपासना न होकर उपासना का प्रदर्शन या नाटक-सा होगा। सर्वांगीण उपासना तो पूर्ण आस्था और दृढ़श्रद्धा के साथ उन्हें हृदयमन्दिर में विराजमान करके हृदय के तारों को उनके साथ जोड़कर भावात्मक समीपता लाने से ही हो सकेगी। यथार्थ उपासना हुए बिना उसका वास्तविक लाभ नहीं मिल सकेगा।

परमात्मा निकट होते हुए भी दूरतर क्यों ?

यही कारण है कि तत्त्व की दृष्टि से परमात्मा अति निकट होते हुए भी तथ्य की दृष्टि से दूर-दूरतर बना रहता है।

---

१ भगवद्गीता अ. १८ श्लो. ६१

पिता और पुत्र दोनों एक ही जेल की अलग-अलग कोठरियों में बन्द हैं। दोनों की कोठरियाँ अलग-अलग हैं, किन्तु हैं पास-पास ही। किन्तु इतना फासला भी दोनों के लिए हजारों कोस दूर जैसा मानसिक कष्टप्रद हो जाता है। इसी प्रकार परमात्मा और आत्मा के बीच चाहे थोड़ा-सा ही अन्तर हो, लेकिन जब तक कोई यथार्थ उपासक बनकर हृदयस्थ परमात्मा का आस्था और अर्पणतापूर्वक तथा श्रद्धा-निष्ठापूर्वक सामीप्य नहीं प्राप्त कर लेता, तब तक थोड़ा-सा अन्तर ही बहुत अन्तर हो जाता है, और भावात्मक सामीप्य हुए बिना उपासना का यथेष्ट लाभ उसे नहीं मिल सकता।

पर्युपासना का पूर्णरूप और उसकी उपलब्धि

परमात्मा से भावात्मक सामीप्य भी तभी हो सकता है, जब उपासक का हृदय निर्मल, निश्छल, निःस्वार्थ और निष्काम होगा, वह शुद्ध आत्मरूप परमात्मा को हृदयसिंहासन पर विराजमान करके उसके प्रति पूर्ण आस्था, श्रद्धा और विश्वास प्रकट करेगा। कितना भी कैसा भी भय, प्रलोभन या संकट आये, तब भी वह उसके प्रवाह में न बहकर एकमात्र परमात्मभाव में ही रमण करने का प्रयत्न करेगा। परमात्वतत्त्व को अपने समीप समझकर वह किसी भी बाह्य संकट या विचार से विचलित नहीं होगा। परमात्मभाव से अपनी आत्मा जरा भी पृथक् या विचलित न हो, इसका प्रयत्न करता है। सामायिक के पाठों में परमात्मा की पर्युपासना के पाठ (तिक्खुत्तो) में सबसे अन्त में 'पज्जुवासामि' पद दिया गया है, उससे पूर्व 'वंदामि' (करबद्ध होकर झुकना तथा उनका गुणोत्कीर्तन करना), 'नमंसामि' (नमस्कार करना, बहुमान करना), 'सक्कारेमि-सम्माणेमि' (सत्कार-सम्मान करना) तत्पश्चात् 'कल्लाणं मंगलं देवयं चेइयं' (कल्याण-मंगल-देवरूप तथा ज्ञानस्वरूप मानना) का पाठ है। जो तन, मन, वचन से परमात्मा की पूर्ण उपासना का सूचक है।

ऐसी पूर्ण-उपासना ही उपासक को परमात्मा के अत्यन्त निकट पहुँचाती है। फिर वह परमात्मा के आदेश, संदेश, आज्ञा एवं आराधना तथा उनकी आवाज को अपनी शुद्ध आत्मा के माध्यम से सुन सकता है, जान सकता है। अतः परमात्मा की सच्ची उपासना उपासक की आत्मा को परमात्मा से—परमात्मभाव से जोड़ देती है।

□□

१५

आत्म-समर्पण से परमात्म-सम्पत्ति की उपलब्धि

ये विविध स्वच्छन्दताएँ ही आत्मा से परमात्मा बनने में बाधक

'आत्मा परमात्मा बन जाता है,' यह तथ्य कहने-सुनने में जितना सरल है, करने में उतना ही कठिन है। आत्मा तभी परमात्मा बन सकता है, जब वह परभावों-विभावों के प्रति अहंता-ममता से दूर हो, अपनी स्वच्छन्दता और मदमत्तता को रोके, अपनी दीनता-हीनता और पराधीनता पर अंकुश लगाए। अपनी इन्द्रियों, मन, बुद्धि एवं वृत्तियों की उच्छृंखलता और आत्मा के प्रति विमुखता या उदासीनता पर नियन्त्रण करे, अपने-आप पर संयम रखे, अपने तन, मन, वचन का स्वेच्छा से दमन (नियमन) करे। परमात्म-प्राप्ति की साधना में मिलने वाली अदृश्य सफलता, आत्मशक्तियों के विकसित होने पर प्राप्त होने वाली प्रशंसा, प्रसिद्धि, वाहवाही, प्रतिष्ठा पदवी आदि से जागने वाले अहंकार के सर्प से दूर रहे। इसीलिए अध्यात्मसाधना के पारदर्शी महापुरुषों का कहना है—

'छंदं निरोहेण उवेइ मोक्खं'[1]

'साधक स्वच्छन्दता को रोकने पर ही मोक्ष (परमात्मभाव) को प्राप्त कर पाता है।'

---

१ (क) उत्तराध्ययन सूत्र अ. ४ गा. ८
(ख) आचारांग सूत्र श्रु. १/अ. २/उ. ४

आसं च छंदं च विगिंच धीरे– धीर साधक को आशा और स्वच्छन्दता का परित्याग करना चाहिए।

आत्मा से परमात्मा बनने में उपर्युक्त सभी स्वच्छन्दताएँ बाधक हैं। आत्मा से परमात्मा होने में लम्बा समय नहीं लगता किन्तु परमात्मा बनने की साधना में, तथा परमात्मा बनने में बाधक तत्त्वों से दूर रहने में काफी लंबा समय लगता है। इसका मूल कारण है—स्वच्छन्दता। श्रीमद्रायचन्द ने इसी तथ्य का समर्थन करते हुए कहा है—

"रोके जीव स्वच्छन्द तो, पामे अवश्य मोक्ष।
पाम्या एम अनन्त छे, भाख्युं जिन निर्दोष॥"[1]

शीघ्र परमात्म-प्राप्ति या मोक्षप्राप्ति के लिए स्वच्छन्दता का त्याग करना अनिवार्य है। जीव को अनादिकाल से स्वच्छन्दतापूर्वक चलने का अभ्यास है। अपनी राग-द्वेष-मोहलिप्त बुद्धि से, अपनी आदतों और कुटेवों से, अपनी स्वच्छन्द वृत्ति-प्रवृत्तियों से, अपनी मनःकल्पित विषय-सुख-लिप्सा से, अपने मनोनीत दुर्विचारों, दुष्कार्यों और दुर्वचनों से वह अभ्यस्त है। वह अपनी दुर्मति-कल्पित या अध्यवसायात्मिकाबुद्धि द्वारा अभिमत वृत्ति-प्रवृत्ति में किसी का हस्तक्षेप या किसी के द्वारा रोकटोक पसन्द नहीं करता। वह यही सोचता है कि मैं अपनी बुद्धि से सोच-विचार कर ही सब कुछ करता हूँ, वही ठीक है। दूसरों के द्वारा दी गई प्रेरणा, सन्देश, निर्देश, आज्ञा, के अनुसार मैं क्यों चलूँ? चाहे दूसरे कितने ही उच्च ज्ञानी हों, वीतराग हों, हितैषी हों, सूझबूझ वाले हों, निष्पक्ष मार्ग-दर्शक हों, वह उनके आदेश-निर्देश के अनुसार नहीं चलना चाहता। आप्त वीतराग महापुरुषों के आदेश-निर्देश के अनुसार चलने में, अपनी उद्दाम एवं चंचल वृत्तियों को तथा अपनी नामना-कामना, वासना, लालसा, इच्छा एवं अहंता-ममता को रोकने में उसके अहं पर चोट पड़ती है। उसका अहं उसकी भूलों, दोषों और अपराधों को समझने ही नहीं देता। ऐसा मिथ्याभिमान, हठाग्रह, मिथ्या-अभिनिवेश एवं अहंकार अथवा अष्ट विध मद ही वस्तुतः स्वच्छन्दता है, जो उसे परमात्मभाव की साधना में आगे बढ़ने नहीं देता। यही कारण है आत्मा से परमात्मा बनने की साधना में इस प्रकार की स्वच्छन्दताओं से ग्रस्त साधक को काफी लम्बा समय लगता है।

---

१ आत्मसिद्धि गा. १५

स्वच्छन्दता का अर्थ-भावार्थ

स्वच्छन्दता का अर्थ है—स्व=अपना, छन्द=आदत, व्यसन, कुटेव या अपना मत। अहंता-ममता से उत्पन्न पूर्वोक्त सभी वृत्ति-प्रवृत्तियाँ स्वच्छन्दता है। तात्पर्य यह है कि व्यावहारिक, सामाजिक या आध्यात्मिक प्रत्येक क्षेत्र में अन्तर में निहित निरर्थक अभिमान, मद, अहं या गर्व अथवा अपनी मान्यता के इशारे पर चलना स्वच्छन्दता है, जो वीतराग परमात्मा के समक्ष आत्मार्पणता और परम्परा से परमात्मभाव की प्राप्ति में बाधक है।

अहंता-ममता का प्रवेश भी परमात्मप्राप्ति में बाधक

साधक को बहुधा अपनी साधना में सफलता प्राप्त होने का, साधना में प्रगति का, या किसी प्रकार की सिद्धि या उपलब्धि का जब भान होने लगता है, तब वह प्रायः अहंता-ममता के आक्रमण का शिकार हो जाता है। उक्त सफलता या प्रगति के भान के साथ-साथ साधक प्रायः यह सोचने लगता है कि यह सफलता और प्रगति, अथवा यह उपलब्धि या सिद्धि मेरे अपने ही परिश्रम और कार्यकुशलता या क्षमता का परिणाम है। इस निरपेक्ष एवं अपूर्ण समझ के कारण सूक्ष्मरूप से अहं उसके चित्त में प्रविष्ट होता है। वह उत्तम साधना की सफलता और उपलब्धि पर अपने 'अहं' की मुहर छाप लगा देता है। इस प्रकार वह प्रारम्भिक साधक स्वत्वमोह का शिकार होकर अपनी साधना में सफलता और उपलब्धि का ढिंढोरा पीटता है, अपनी प्रसिद्धि, प्रशंसा, प्रतिष्ठा और प्रदर्शन के चक्कर में पड़ जाता है। वह अपने पुरुषार्थ का बखान करके उसे ही मुख्यता देता है। परमात्मकृपा, परमात्मा के अनुग्रह या परमात्मतत्व के द्वारा अव्यक्त-अप्रत्यक्ष रूप से प्राप्त सहायता का बिलकुल विस्मृत कर देता है। कई बार तो वह उद्धत होकर परमात्म तत्त्व का अवर्णवाद, निन्दा या अप्रतिष्ठा करने लगता है। वह उच्छृंखल और अतिवादी बन जाता है।

मंखलीपुत्र गोशालक छह वर्ष तक श्रमण भगवान् महावीर का शिष्य रहा। उसने परम आराध्य गुरुदेव जीवन्मुक्त तीर्थंकर महावीर परमात्मा के पास रहकर रत्नत्रय की साधना की, अन्य कई प्रकार की भौतिक सिद्धियाँ प्राप्त कीं। इससे उसके मन में अहंत्व जाग उठा, उनके प्रति समर्पण की भावना अस्त हो गई। अपने पुरुषार्थ का अहंकार इतना बढ़ गया कि वह भगवान् महावीर का विद्रोही बन बैठा। अपनी अहंता

का प्रदर्शन करने लगा। अपने अनुयायी बढ़ा लिये। अहंकारवश अपने-आपको तीर्थंकर, भविष्यवक्ता तथा साधना में पारंगत कहने लगा। उच्छृंखलता और स्वच्छन्दता का वह इतना अधिक शिकार हो गया कि वीतरागी भगवान् महावीर की निन्दा करने लगा, उनके संघ के साधु-श्रावकों को उनके विरुद्ध भड़काने लगा, यहाँ तक कि उसका प्रतिवाद करने वाले, भगवान् महावीर के साधुओं को अपनी तेजोलेश्या से भस्म करने को तत्पर हो गया। भगवान् महावीर को भी भस्म करने के लिए उसने अपनी लब्धि का दुष्प्रयोग किया, किन्तु प्रयोग उनकी आत्मिक शक्ति के समक्ष निष्फल हो गया।[1] यह था—साधक जीवन में आई हुई अहंता और स्वच्छन्दता का दुष्परिणाम !

परमात्म-भाव की साधना के पथ में तीखे काँटे

जब सफलता प्राप्त या उपलब्धि प्राप्त साधक अहंकार, मद, मत्सर, उच्छृंखलता और स्वच्छन्दता का शिकार हो जाता है, तब उसकी साधना की प्रगति वहीं ठप्प हो जाती है। उसकी परमात्मभाव-प्राप्ति या मोक्ष-प्राप्ति की साधना के पथ में काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर, अहंकार-ममकार आदि के तीखे काँटे बिछ जाते हैं, जिनके कारण वह आगे गति-प्रगति नहीं कर सकता। जरा-सी भौतिक उपलब्धि के दायरे में वह बंद हो जाता है। फलतः परमात्मभाव की प्राप्ति एवं परमात्मकृपा से उपलब्ध होने वाली अनन्त ज्ञानादि गुणों की सम्पत्ति या शुद्ध आत्म भाव जागृति से वह वंचित हो जाता है। वह कठोर से कठोर क्रियाकाण्ड भी करता है, भयंकर से भयंकर विपत्तियों में भी अडिग रह पाता है, कठिनाइयों और कठोर कष्टों को भी सहता है, परन्तु उसका लक्ष्य अन्तरंग में परमात्मभाव-प्राप्ति का न होकर प्रसिद्धि, प्रदर्शन, प्रतिष्ठा या प्रशंसा की प्राप्ति का हो जाता है, बाहर से तो वह परमात्म-प्राप्ति या परमात्मभाव की उपलब्धि करने और करा देने का ही उद्घोष करता है। इसका मूल कारण है नम्रता, समर्पणता और विनय का अभाव एवं अहंता तथा स्वच्छन्दता का संवर्द्धन। फिर उसकी साधना साध्यलक्षी न होकर अहंकार पोषणलक्षी हो जाती है। वह जिन वीतराग महापुरुषों से उक्त साधना की प्रेरणा पाता है, उनके जीवन एवं गुण-स्मरण से उक्त साधना के लिए उत्साहित होता है, अपनी साधना के दौरान उसे जो अदृश्य सहायता

---

१ देखिये—भगवती सूत्र शतक १५ गोशालक-अधिकार।

प्राप्त होती है, अथवा साधना के मार्ग में आने वाली विघ्न-बाधाओं, भय स्थानों खतरों और प्रलोभनकारी मोहक वस्तुओं से सहीसलामत पार होने में जो अव्यक्त सहायता प्राप्त होती है, उन वीतराग परमात्मा के प्रति उसमें कृतज्ञता, नम्रता, समर्पण भावना या भक्ति को वह भूल जाता है, अपने अहंत्व एवं मद के नशे में। उसकी परमात्मभाव की साधना की प्रगति में अनेक रुकावटें आ जाती हैं। वह अपनी अहंता एवं स्वच्छन्दता के आवेश में सोच ही नहीं पाता कि मेरी प्रगति ठप्प होने का मूल कारण क्या है ?

परमात्ममार्ग पर चलने की प्रेरणा कहाँ से मिलती है ?

अपने पुरुषार्थ को ही सर्वस्व मानने वाले साधक को तटस्थ होकर आत्मनिरीक्षण करना चाहिए कि मूल में स्वयं को इस परमात्म प्राप्ति के मार्ग पर चलने की इच्छा कैसे और कहाँ से जागी ? सांसारिक विषयों और सजीव-निर्जीव पदार्थों अर्थात् परभावों के मोह-ममत्व या राग-द्वेष में पड़ी हुई मेरी आत्मा को आत्म चिन्तन, आत्म निरीक्षण, आत्मविश्वास आत्मगुणों में रमण, आत्मभाव में स्थिरता तथा आत्मशुद्ध करने की मूल प्रेरणा कहाँ से, किससे मिली ? परमात्मा के स्वभाव, गुण और स्वरूप का जानने की उत्सुकता कैसे जगी ? यद्यपि उनके नाम, स्वरूप, गुण और स्वभाव का स्मरण करने की प्रेरणा को ग्रहण करने में निश्चयदृष्टि से तो अपनी आत्मा ही उपादान कारण है, किन्तु व्यवहारदृष्टि से वीतराग-परमात्मा अथवा वीतराग-परमात्मा की वाणी, उनके द्वारा स्थापित साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका रूप चतुर्विध संघ आदि निमित्त कारणों की उपेक्षा कैसे की जा सकती है ? प्रारम्भिक भूमिका में साधक की दृष्टि आध्यात्मिकमार्ग की ओर जाती है, अन्तर् में मुमुक्षा या परमात्म भाव-प्राप्ति की अभीप्सा, शुद्ध आत्मदर्शन की तमन्ना और इस मार्ग पर गति-प्रगति होती है, इसमें मूल निमित्त कारण तो परमात्मभाव की कृपा ही समझी जानी चाहिए।

अहंता से प्रगति में अवरोध : समर्पणता से प्रगति

लौकिक विद्या प्राप्त करने में यद्यपि व्यक्ति स्वयं ही, उसकी आत्मा (उपादान) ही कारण है, क्योंकि ज्ञान तो आत्मा में अव्यक्त रूप से पड़ा ही है, अध्यापक शिक्षक ज्ञान को बाहर से नहीं उड़ेल देता। फिर भी विद्यार्थी की आत्मा में सुषुप्त अव्यक्त ज्ञान को प्रकट करने में निमित्त

कारण तो अध्यापक ही है। अध्यापक को आदर दिया जाता है, उसका विनय और बहुमान किया जाता है,, वह भी इसी दृष्टि से। जब भी विद्यार्थी अध्यापक से मिलता है, तब वह उन्हें प्रणाम करता है। वार्तालाप के सिलसिले में भी वह कृतज्ञता प्रगट करता है—"आपकी कृपा से मुझे विद्या प्राप्त हुई हैं, आपकी इस कृपा के लिए आभारी हूँ। आपने मुझे ज्ञान दिया और इस योग्य बनाया!" अगर विद्यार्थी अध्यापक के प्रति विनय-भक्ति न करे उनसे विमुख, उच्छृंखल, स्वच्छन्द होकर चले और यह कहे? कि मैंने अपने पुरुषार्थ से विद्या प्राप्त की है, इसमें गुरुजी ने क्या किया? उस कृतघ्नता और उद्दण्डता के फलस्वरूप उसकी विद्याध्ययन में प्रगति ठप्प हो जाती है। वह प्रायः जीवनव्यवहार के क्षेत्र में अयोग्य और असफल हो जाता है, साथ ही उसे अपने जीवन क्षेत्र में आने वाली विघ्न-बाधाओं, अड़चनों, संकटों आदि से जूझने और निर्विघ्नतापूर्वक सफलता प्राप्त करने की सूझबूझ नहीं प्राप्त होती। लौकिक और लोकोत्तर दोनों क्षेत्रों में स्वच्छन्दता श्रेयस्कर नहीं है।[1]

यही बात आध्यात्मिक साधना के अलौकिक क्षेत्र के विषय में समझ लेनी चाहिए। यदि कोई साधक परमात्मभाव के प्रेरक, मार्गदर्शक एवं निर्देशक से परमात्मभाव की प्रेरणा, मार्गदर्शन, एवं आदेश-निर्देश-संदेश प्रत्यक्ष या परोक्षरूप से प्राप्त करता है, और अपनी अन्तरात्मा में सोई हुई गुप्त आध्यात्मिक शक्तियों को वह जानने-पहचानने लगता है, उन्हें प्रकट करने का मार्ग, मार्ग में आने वाली रुकावटों और अवरोधों को समझ लेता है, फिर मार्ग पर चलकर कुछ सफलता प्राप्त करते ही वह अहंकार में डूब जाता है, पूर्वोक्त प्रत्यक्ष-परोक्ष मार्गदर्शक के प्रति अविनय प्रकट करता है, उनकी कृपा की अवगणना करता है, अथवा उनके प्रति समर्पित न होकर स्वयं यद्वा-तद्वा उक्त साधना के मार्ग पर चल पड़ता है, तब उसकी प्रगति वहीं ठप्प हो जाती है, उसे परमात्मा की कृपा नहीं प्राप्त होती, फलतः वह अपने अन्तिम लक्ष्य मोक्ष या परमात्मभाव को प्राप्त नहीं कर पाता। सर्मपणता से ही वह परमात्मप्राप्ति के मार्ग में प्रगति करके एक दिन अन्तिम लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है।

---

१ "न हु सच्छंदता सेया लोए किमुत उत्तरे।"

—व्यवहारभाष्य पीठिका गा. ८९

आत्मसमर्पण से कतराने वाले व्यक्ति

जो व्यक्ति संकीर्ण स्वार्थपरता में निमग्न हैं, आत्मकेन्द्रित हैं, तथा उद्धत, अहंकारी एवं कुतर्कप्रवीण हैं, ऐसे असीम महत्त्वाकांक्षी सांसारिक सुखलिप्सु पुद्गलानन्दी व्यक्ति वीतराग-परमात्मा के चरणों में आत्मसमर्पण करने से कतराते हैं। वे समझते हैं कि 'आत्मसमर्पण' (Surrender) कर देने से तो बहुत-सी सुख-सुविधाएँ, तमन्नाएँ, महत्त्वाकांक्षाएँ, स्वतन्त्रताएँ छोड़नी पड़ेंगी। ऐसी स्थिति में न तो हम ऐशआराम से जी सकेंगे और न ही पूरी तरह से खा-पी सकेंगे और न ही स्वतन्त्रतापूर्वक कहीं आ-जा सकेंगे। ऐसे वक्रजड़ एवं निपटस्वार्थी लोग प्रभुचरणों में अहं के सर्वथा त्याग करने एवं सर्वस्व समर्पण करने में कोई न कोई बहाना बना लेते हैं। ऐसे संकीर्ण स्वार्थी आत्मकेन्द्रित व्यक्ति कदाचित् भौतिक उपलब्धियों से सम्पन्न भी हो जाएँ, किन्तु आत्मिक उपलब्धियों से वे वंचित हो रहते हैं, परमात्मभाव को पाने का मार्ग उन्हें नहीं मिल पाता। ऐसे व्यक्ति प्रायः संसार के लिए अभिशाप सिद्ध होते हैं। जिस प्रकार दियासलाई स्वयं तो जलती ही है, साथ ही वह अपने सम्पर्क के क्षेत्र में भी अग्निकाण्ड खड़ा कर देती है। इसी प्रकार आत्मसमर्पण न करने वाला अतिस्वार्थी व्यक्ति स्वयं तो स्वार्थ, द्वेष, ईर्ष्या, घृणा, प्रतिशोध, वैरविरोध आदि की आग से जलता रहता है, अपने सम्पर्क में आने वाले परिवार, संघ, समाज, राष्ट्र आदि में भी वह ईर्ष्या, द्वेष, घृणा, स्वार्थ आदि की चिनगारियाँ फैलाता रहता है।

आत्मसमर्पण की भ्रान्ति

यथार्थरूप में आत्मसमर्पण न करने वाला व्यक्ति अपने अहं के नशे में इतना गर्क हो जाता है कि वह उस समय आत्मा, परमात्मा, धर्मगुरु, मार्गदर्शक एवं प्रेरक पवित्र साधु-साध्वीवर्ग को भी कुछ नहीं समझता। वह शरीर और शरीर से सम्बन्धित वस्तुओं को ही सब कुछ समझता है। वह विषयसुखों में निमग्न होकर अपने धन, धाम, जमीन-जायदाद, परिवार, आदि को ही अपने समझकर उन पर अहंत्व-ममत्व करता रहता है। फलतः वह बहिरात्मा ही बना रहता है। भौतिक और सांसारिक उपलब्धियों के लिए वह परमात्मा की छवि या मूर्ति के आगे नाच-गाकर उनकी जय बोलकर केवल उनका गुणगान, स्तवन, स्तुतिपाठ या स्तोत्रपठन करके या उनकी मिन्नतें करके, उनके समक्ष कृत्रिम दीनता-हीनता प्रदर्शित

करता है। बिना कुछ तप, त्याग, संयम किये, अपनी महत्त्वाकांक्षाओं, फलाकांक्षाओं एवं भौतिक इच्छाओं का दमन-नियन्त्रण किये बिना ही परमात्मा को रिझाना चाहते हैं। इसी को वह आत्मसमर्पण समझता है, परन्तु यह आत्मसमर्पण नहीं, एक प्रकार से आत्मवंचन है जो व्यक्ति अन्तर् में भौतिक लालसा रखकर बाहर से औपचारिक रूप से परमात्मा के प्रति कृत्रिम अर्पण करते हुए कहता है—'इदं न मम'—प्रभो! यह सब मेरा नहीं है। यह सब आपका है। उसके अन्तर में सभी सजीव-निर्जीव पर पदार्थों तथा अपनी निकृष्टवृत्तियों—कषायों या विभावों पर उसका अहंत्व-ममत्व का सर्प कुण्डली मारे बैठा रहता है। वीतराग प्रभु की आज्ञा की ओट में वह सभी कार्य मनमाने ढंग से करता है, अपनी स्वच्छन्दता एवं स्वछन्द प्रवृत्तियों पर कोई अंकुश नहीं लगाता। यह आत्मसमर्पणता नहीं स्वछन्दता है। जब तक ऐसी स्वछन्दता को जीव स्वयं रोक नहीं पाता, तब तक वह परमात्मभाव या मोक्ष के मार्ग से दूर रहता है। श्रीमद्रायचन्दजी ने भी इस तथ्य का समर्थन किया है—

मानादिक शत्रु महा निज छंदे न मराय।
जातां सद्गुरु-शरणमां, अल्पप्रयासे जाय ॥[1]

आत्मसमर्पण के बिना····

वस्तुतः निर्दोष, निःस्पृह, निष्पक्ष, वीतराग परमात्मा के चरणों में आत्मसमर्पण किये बिना अव्यक्त रूप से उनकी कृपा, अनुग्रह या प्रेरणा नहीं हो सकती। और उनकी कृपा के बिना साधक की स्वच्छन्द वृत्ति-प्रवृत्ति या संकल्प-विकल्प मिट नहीं सकते। अभिमानादि शत्रु के मिटे बिना उसके तन-मन को शान्ति प्राप्त नहीं हो सकती। उसकी अहंता-ममता भी उछल-कूद मचाती रुक नहीं सकती, उसकी नामना-कामना, तुच्छ स्वार्थवृत्ति एवं उद्दाम वासनाएँ भी पलायित नहीं हो सकतीं। और जब तक अहंवृत्ति से प्रेरित ये बातें दूर नहीं होती और हृदय से आत्मसमर्पण नहीं हो जाता, तब तक साधक की शुद्ध आत्मभाव या परमात्मभाव में गति-प्रगति नहीं हो सकती।

---

१ आत्मसिद्धि गा. १८

आत्मसमर्पण का अर्थ और तात्पर्य

आत्म-समर्पण का अर्थ है –सर्वतोभावेन अन्तःकरण से इष्ट (परमात्मा) या उत्कृष्ट के प्रति अपने आपको समर्पण करना, तन, मन इन्द्रियाँ, बुद्धि आदि सर्वस्व उनको सौंप देना, जीवन में सर्वत्र वीतराग परमात्मा को प्रतिष्ठित करना। अपनी समस्त बागडोर प्रभु के हाथों में सौंपकर उनके आदेश-निर्देशों के अनुसार परमात्मभाव-प्राप्ति के मार्ग पर सतत् चलना, उनकी आज्ञा-पालन करना अपना धर्म समझना[1] साधना-समर में पीछे मुड़कर अपने माने हुए परभावों-विभावों को न देखना और परमात्म भाव या स्वभाव के प्रवाह हमें आगे से आगे बहते जाना है। वास्तव में परमात्म-समर्पण में सामान्य आत्मा अपने अहंकार को सर्वथा विदा कर देता है। आत्म-समर्पण और 'अप्पाणं वोसिरामि' का फलितार्थ एक ही है। जैनशास्त्रों में जगह-जगह प्रत्येक धार्मिक क्रिया या त्याग, संयम, तप, व्रत-प्रत्याख्यान स्वीकार करने के साथ-साथ 'अप्पाणं वोसिरामि[2]' [मैं अपने आपका (आत्म) व्युत्सर्ग करता हूँ] यह वाक्य आता है। इस छोटे से सूत्र में आत्म-समर्पण का सारा फलितार्थ समाविष्ट है। इसका तात्पर्य है—अपनी वैयक्तिक स्वार्थ से सनी इच्छाओं, पद, प्रतिष्ठा, प्रशंसा, प्रसिद्धि एवं यशकीर्ति की प्राप्ति से प्रेरित महत्वाकांक्षाओं, अपनी लोभ, लोलुपता एवं मिथ्याभिमान से भरी वासनाओं, कामनाओं, अपनी अहंता-ममता, अपनी लालसा-तृष्णा, अपनी उद्दाम चंचलवृत्तियाँ, अपनी सुख-सुविधाजन्य वासना, किसी भी सजीव-निर्जीव पदार्थ या अपने तन, मन, वचन तथा अहंत्व या स्वत्वमोह से प्रेरित अपने माने हुए धर्म-सम्प्रदाय, पंथ, देश, वेष, भाषा प्रान्त, राष्ट्र आदि परभाव तथा कषाय, राग, द्वेष, मोह, काम आदि से प्रेरित अपने समस्त विभावरूप मनोभावों दुर्विचारों, दुष्कार्यों तथा अपनी समस्त सावद्य प्रवृत्तियों को सर्वतोभावेन प्रभु-चरणों में उत्सर्ग कर देना, सच्चे माने में आत्म-समर्पण है; क्योंकि अप्पाणं वोसिरामि कहने के बाद अपने मन-वचन, आदत को सावद्य (पाप दोषयुक्त) कार्यों से हटाना ही होगा। यही परमात्मा के चरणों में भाव नवेद्य चढ़ाना है, यही देवाधिदेव वीतराग प्रभु के चरणों में शुद्ध भावों का चढ़ावा चढ़ाना है। सन्त कबीर की भाषा में यही प्रभु-भक्ति सिद्ध करने

---

१ आणाए मामगं धम्मं—आचारांग।

२ 'करेमि भंते'—आदि आवश्यक सूत्रीय पाठों में।

के लिए[1] शीर्ष-समर्पण है। इसमें आत्म समर्पण में अपने तन, मन, बुद्धि, शक्ति, इन्द्रियाँ, वाणी आदि सबको हृदय से वीतराग प्रभु के चरणों में अर्पित कर देना होता है। 'आज्ञा में ही धर्म है, आज्ञा में ही तप है।[2]' इन शास्त्र वाक्यों का आशय भी आत्म समर्पण करना है। यह तो हुआ व्यवहारनय से आत्म समर्पण का अर्थ और तात्पर्य। निश्चयनय की दृष्टि से अर्थ होगा—आत्मा का दर्पण की तरह निर्विकारी निर्मल आत्मा (परमात्मा) में समर्पण करना। चरण का अर्थ चारित्र भी है। इस अपेक्षा से अर्थ होगा—वीतराग-उपदिष्ट कमलवत् निर्लेप विशुद्ध चारित्र में अपनी आत्मा को तल्लीन कर देना। अथवा आत्मा के परमशुद्ध स्वरूप में अपने आपको लीन कर देना।

मेघकुमार मुनि द्वारा प्रभुचरणों में आत्मसमर्पण

मगध-सम्राट् श्रेणिक बिम्बसार का पुत्र मेघकुमार श्रमण भगवान् महावीर के चरणों में परम वैराग्यभाव से दीक्षित हुआ। मुनि बनने की पहली ही रात में अन्धकार में अनेक श्रमणों के पैरों की ठोकर लग जाने से नवदीक्षित मेघकुमार मुनि का मन मुनिजीवन से उद्विग्न हो गया और वह इसे छोड़ने को मन में विचार करके प्रभु महावीर के पास आया और भगवान् महावीर ने उसे पूर्व जीवन की और इस जीवन की घटनाओं तथा विविध युक्तियों से समझाकर उसे संयम में स्थिर किया। मेघमुनि ने अपनी भूल स्वीकार की। प्रायश्चित्त स्वीकार कर आत्मशुद्धि की, और उसी समय अन्तःकरण से वीतराग परमात्मा महावीर के समक्ष आत्मसमर्पण मूलक प्रतिज्ञा की—प्रभो! आज से जीवनपर्यन्त आँख के सिवाय मेरे सभी अंगोपांग, तथा मन-बुद्धि-इन्द्रियादि सब आपको समर्पित हैं। ये सब आपकी आज्ञा से बाहर नहीं चलेंगे।"[3]

यह है—वीतराग परमात्मा के समक्ष आत्मसमर्पण का ज्वलन्त उदाहरण।

सन्त कबीर को आत्म समर्पण से ही सन्तोष हुआ

सन्त कबीर ने जिन्दगी के अनेक वसन्त आत्मसाधना, प्रभुभक्ति,

---

१ "भक्ति भगवन्त की बहुत बारीक है।
शीश सौंप्यां बिना भक्ति नहीं॥" —सन्त कबीर

२ 'आणाए मामगं धम्मं, आणाए धम्मो, आणाए तवो' —आचारांग सूत्र

३ देखिये—ज्ञाता धर्म कथा सूत्र में मेघ मुनि का वर्णन।

सत्संगति, उपासना एवं ज्ञानार्जन में बिताये, फिर भी वे अपने-आप में सन्तुष्ट नहीं हुए। अन्त में उन्हें यह कहते हुए अपने समग्र जीवन को प्रभु-चरणों में समर्पित करने पर ही आत्मसन्तोष मिला—

"मेरा मुझमें कुछ नहीं, जो कुछ है सो तोर।
तेरा तुझको सौंपते, क्या लागत है मोर॥"[1]

परमात्म-समर्पित व्यक्ति का जीवन

वास्तव में, जिस साधक की आत्मा सम्यग्ज्ञान, दर्शन, आनन्द (आत्मिक सुख) और आत्मशक्ति की परिपूर्णता प्राप्त करके परमात्मभाव में लीन होना या परमात्मा में प्रतिष्ठित होना चाहती है, उसके लिए सबसे आसान और सर्वसुलभ, स्वाधीन मार्ग—प्रभु चरणों में सर्वतोभावेन आत्मसमर्पण का है।

परमात्मा के समक्ष पूर्वोक्तरूप से आत्मसमर्पण करने के पश्चात् व्यक्ति अपने अहंत्व-ममत्व का सर्वथा विसर्जन कर देता है। अर्थात् वह अपनी अहंता, ममता और स्वच्छन्दता से पूर्णतया छुट्टी पा लेता है। फिर उसे अपनी आकांक्षाओं, आशाओं, इच्छाओं, लालसाओं और वासनाओं के लिए कोई स्थान नहीं रहता। न ही परमात्म-समर्पित व्यक्ति अपने हृदय में कोई गुप्त विचार, स्वतन्त्र मत, पूर्वाग्रह या पूर्व-संस्कार अथवा भूतपूर्व मान्यताओं अथवा बौद्धिक उछलकूद, छल-छद्म स्वार्थ, लोभ आदि को स्थान दे सकता है।

आत्मसमर्पण करने वाले साधक के जीवन से जब अहंता-ममता विदा हो जाती है, तब उसके अपने विचार, मत, मान्यता, पूर्वाग्रह, बौद्धिक उछलकूद, शारीरिक कुचेष्टा, वाचिक दुष्प्रवृत्ति तथा अहंकर्तृत्व या मम-कर्तृत्व को कोई अवकाश नहीं रहता। संक्षेप में जब वह अपने शरीर और शरीर से सम्बन्धित परभावों और विभावों का—अर्थात्, स्वकीय माने हुए पदार्थों का राग-द्वेषमूलक चिन्तन नहीं करता, अपने तन, मन, बुद्धि, हृदय, इन्द्रियाँ आदि सबको शुद्ध आत्मा के चिन्तन में या परमात्मभाव के चिन्तन-मनन में लगाता है, तब उसका परमात्मा के प्रति पूर्ण आत्मसमर्पण हो जाता है। आचारांग सूत्र में इसी समर्पणयोग के मूलमंत्र मिलते हैं—

---

१ कबीर दोहावली

"एयं कुसलस्स दंसणं"—
"तद्दिट्ठीए तम्मुत्तीए तप्पुरक्कारं तस्सण्णी तन्निसेवणे"
"अणाणाए एगे सोवट्ठाणा,आणाए एगे निरुवट्ठाणा,एतंते मा होऊ"
"जे महं अबहिमणे।"....."णिद्देसं णातिवट्टेज्जा मेहावी।"

(आत्मसमर्पण में) कुशल (वीतराग-परमात्मा समर्पित साधक) का यह दर्शन है, परमात्मा के प्रति ही उसकी (अनन्य) दृष्टि रहती है, उन्हीं के चरणों में उसकी (आकांक्षा, कामना, वासना, कषाय, काम, मोह राग-द्वेषादि विकारों की) मुक्ति (त्यागवृत्ति) होती है, उन्हीं को वह आगे रखता (लक्ष्य बनाता या केन्द्र में रखता) है। उन्हीं (परमात्मा) में (उसके मन) की संज्ञा (चिन्तन-मनन-संज्ञान) होती है, उन्हीं की निरन्तर सेवना (उपासना) में रत रहता है।

"कई साधक वीतराग-परमात्मा की अनाज्ञा (आज्ञा-बाह्य बातों) में उपस्थित (उद्यत) रहते हैं, कई उनकी आज्ञा में समुपस्थित (समुद्यत) ही नहीं होते। (ये दोनों चेष्टाएँ समर्पणवृत्ति से रहित हैं) ये तुम्हारे (समर्पित) जीवन में नहीं होनी चाहिए।"

"जिसका मन मेरे (परमात्मा) से अबाह्य है, (वही समर्पणकारी है)।"

"मेधावी साधक वीतराग-परमात्मा के आदेश-निर्देश का अतिक्रमण (उल्लंघन) न करे।"

निष्कर्ष यह है कि वीतराग-परमात्मा के प्रति जिस साधक ने आत्म-समर्पण कर दिया है, वह जब अपने स्वकीय का अस्वीकार कर देता है। तब उसके मन, बुद्धि, चित्त, हृदय, प्राण आदि में अन्य किसी परभाव या विभाव का निवास न होकर वीतराग-परमात्मा का निवास रहता है, उसके दशविध प्रायः तन, मन, वचन वही प्रवृत्ति करते हैं, जो प्रभु की आज्ञा में हो, जो प्रभु के द्वारा आदिष्ट, स्वीकृत या मान्य हो। उसकी गति, मति, दृष्टि, बुद्धि में एकमात्र प्रभु ही रहता है। परमात्मा को ही केन्द्र में रखकर या वीतराग-परमात्मभाव को लक्ष्य में रखकर वह प्रवृत्ति या आचरण करता है।

भक्तशिरोमणि मीरा द्वारा अनन्य आत्मसमर्पण

भक्तशिरोमणि मीरा ने श्रीकृष्ण के प्रति अपने-आपको समर्पित कर

---

१ आचारांग सूत्र श्रु. १, अ. ५ उ. ६ सू. ५७८, ५७९, ५७७, ५८१, ५८४

दिया था। वह उनमें इतनी तन्मय हो गई थी कि अपने खाने-पीने, सोने-जागने, सुख-सामग्री का उपभोग करने, यहाँ तक अपने शरीर की तथा अपनी बदनामी-सुनामी, प्रतिष्ठा-अप्रतिष्ठा की कोई परवाह नहीं की, वह बाह्य व्यवहार में अपने माने जाने वाले सभी पदार्थों से निःस्पृह, निर्द्वन्द्व निरपेक्ष एवं निरालम्ब रही। उसने जीवन का अर्थ ही भगवान् को समर्पित जीवन समझ लिया था। भगवद्गीता में सर्वस्व-समर्पण की भावना को बहुत ही विशदरूप से व्यक्त किया गया है—

"मय्येव मन आधत्स्व, मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव, अतः ऊर्ध्वं न संशयः॥"[1]

'हे अर्जुन! तू अपना मन मेरे (परमात्मभाव) में लगा, मेरे (परमात्मपद) में ही अपनी बुद्धि को प्रविष्ट करा। इसके पश्चात् तो तू मेरे (परमात्मभाव) में ही निवास करेगा, अर्थात् मुझे ही प्राप्त करेगा। इसमें कोई संशय नहीं है।'

बहिरात्म भाव छोड़कर शुद्ध आत्मा में स्थित होना ही आत्मसमर्पण

सर्वतोभावेन आत्मसमर्पण ही वास्तव में परमात्म-प्राप्ति का या परमात्मा बनने का सरल उपाय है। इसमें हठयोग, जपयोग या आसन-प्राणायामादि यौगिक क्रियाओं की जटिलतम प्रक्रियाओं की अपेक्षा नहीं है। किसी भी जाति, कुल, धर्म-सम्प्रदाय, देश, वेश, भाषा या प्रान्त का कोई भी जिज्ञासु आत्मार्थी व्यक्ति बहिरात्मभाव को छोड़कर अन्तरात्मा बनकर परमात्म-चरणों में अपनी आत्मा को समर्पित करके परमात्मपद प्राप्त कर सकता है। इसमें किसी बाह्य अध्ययन की यंत्र-मंत्र-तंत्रादि विद्या में पारंगत होने की अथवा बाह्य भौतिक साधनों की, या लोक पूजा की, अनुयायियों की भीड़ इकट्ठी करने की, अथवा आडम्बर आदि की भी कोई आवश्यकता नहीं है। सबसे बड़ी शर्त है—बहिरात्मभाव छोड़कर शुद्ध आत्मा (परमात्मभाव) में स्थित होने की जो आत्मा के अपने हाथ में है। अर्थात्—शरीर और शरीर से सम्बन्धित-आश्रित वस्तुओं में जो आत्मबुद्धि है, उसे छोड़कर शुद्ध आत्मा (परमात्मा) में अपने मन बुद्धि और हृदय को एकाग्र कर देना, परमात्मभाव में अन्तरात्मा को विलीन कर देना तथा तद्रूप, तन्मय, एवं तदात्मभावों से भावित कर देना ही

---

१ भगवद्गीता अ. १२ श्लो, ८

सच्चे माने में सर्वांगीण आत्मसमर्पण है। इसमें निखालिस आत्मभाव ही रहता है। निश्चयनय से शुद्ध आत्मा के प्रति समर्पण ही वास्तविक समर्पण है।

परमात्मसमर्पित व्यक्ति का पंचाचार—आचरण

परमात्मा के समक्ष आत्मसमर्पित व्यक्ति के द्वारा जो सम्यग्ज्ञान-दर्शन-चारित्र, तप और वीर्य (आत्मशक्ति का आचरण (आचार) होता है, वह भी आर्हत्पद (वीतराग-परमात्मभाव) की प्राप्ति के हेतु से होता है, जैसा कि दशवैकालिक सूत्र में कहा है—

"न इहलोगट्ठयाए आयारमहिट्ठिज्जा।
न परलोगट्ठयाए आयारमहिट्ठिज्जा॥
न कित्ति-वन्न-सिलोगट्ठयाए आयारमहिट्ठिज्जा।
नन्नत्थ आरहंतेहिं हेउहिं आयारमहिट्ठिज्जा॥"[1]

(वीतराग परमात्मपद-प्राप्ति का इच्छुक साधक) ज्ञानादि पाँच आचार का पालन न तो इस लोक की किसी आकांक्षा से प्रेरित होकर करे, न परलोक की किसी कामना-वासना से प्रेरित होकर करे, न ही कीर्ति, प्रशंसा, प्रतिष्ठा या प्रशस्ति की लालसा से प्रेरित होकर करे, किन्तु एकमात्र आर्हत् (वीतराग) पद प्राप्ति के हेतु (उद्देश्य) से पंचाचार का पालन करे। इसी में परमात्म-समर्पित जीवन की सार्थकता है।

अथवा परभावों एवं विभावों से रहित आत्मा के विशुद्ध स्वरूप में वीतरागता प्राप्त करने के उद्देश्य से रमण करना ही निश्चयदृष्टि से आत्म-समर्पण है।

स्वेच्छा से आत्मदमन करने से ही यथार्थ आत्म-समर्पण

आत्मसमर्पण नहीं करने वाला व्यक्ति निरंकुश एवं स्वच्छन्द हो जाता है, क्योंकि वह स्वेच्छा से आत्म दमन नहीं कर पाता। फलतः निरंकुश व्यक्ति चोरी, जारी, हत्या, अत्याचार आदि भयंकर अपराध करने में प्रवृत होता है। फिर उसे परिवार, जाति एवं समाज के अगुआ दण्ड देते हैं। धर्म-सम्प्रदाय में भी नीति-नियमों एवं धर्म-मर्यादा के विरुद्ध आचरण करने वाले को दण्ड-प्रायश्चित्त दिया जाता है। सरकार भी चोरी, जारी,

---

१ दशवैकालिक सूत्र अ. ९ उ. ४

डकैती, आदि भयंकर गुनाह करने वाले अपराधी को वध, बन्धन आदि की भयंकर सजा देती है। यदि कोई पापकर्मी या अपराधी इस जन्म में सरकार, समाज आदि के दण्ड से बच जाए तो परलोक में उसे नरक, या तिर्यञ्च गति में तो भयंकर सजा भुगतनी पड़ती है, मनुष्यलोक में भी कई व्यक्तियों को अपने पूर्वकृत पापकर्मों का कटुफल भोगना पड़ता है।

इसके विपरीत यदि व्यक्ति परमात्मा के चरणों में आत्म-समर्पण कर देता है, तो उसे अपने मन, वचन, तन, बुद्धि, हृदय, इन्द्रियाँ, प्राण आदि से होने वाली सावद्य (पापयुक्त) वृत्ति-प्रवृत्तियों का स्वयं स्वेच्छा से निरोध एवं दमन (नियन्त्रण) करना पड़ता है। फलतः हिंसादि आस्रव (कर्मों के आगमन) रुक जाते हैं। इसके अतिरिक्त परमात्म-समर्पित व्यक्ति अपने शुद्ध अन्तःकरण से निश्छल सरल होकर प्रभु की साक्षी से पूर्वकृत पापकर्मों की आलोचना, निन्दना-गर्हणा एवं प्रायश्चित लेकर शुद्ध हो जाता है, तब वह परमात्मभाव (शुद्ध आत्मभाव) में रमण करता है और एक दिन परमात्मा का कृपाभाजन बन कर उनके अनन्तज्ञानादि की निधि पा जाता है। अतः आत्मसमर्पण के मूल में स्वेच्छा से आत्मदमन करना अनिवार्य है।

उत्तराध्ययन सूत्र में आत्मसमर्पण के इसी सिद्धान्त को आत्मदमन (स्व-नियन्त्रण) के रूप में समझाया गया है—

अप्पा चेव दमेयव्वो, अप्पा हु खलु दुद्दमो।
अप्पा दंतो सुही होई, अस्सि लोए परत्थ य॥
वरं मे अप्पा दंतो, संजमेण तवेण य।
माऽहं परेहिं दम्मंतो, बंधणेहिं वहेहिं य॥[1]

इनका भावार्थ यह है कि यद्यपि आत्मा (अपनी मानी हुई दुर्वृत्ति-प्रवृत्तियों से व पापों से परिपूर्ण आत्मा) का दमन करना अतीव दुष्कर है, फिर भी (परमात्मा के चरणों समर्पित होने हेतु) ऐसे आत्मा (अपने पापकारी मन, बुद्धि, इन्द्रिय आदि) का दमन करना अनिवार्य है। क्योंकि इस प्रकार (आत्मसमर्पणपूर्वक) आत्मदमन करने वाला इहलोक और परलोक में सुखी होता है। इसलिए स्वेच्छा से आत्मसमर्पणपूर्वक संयम और

---

१ उत्तराध्ययन अ. १ गा. १५-१६

तप द्वारा आत्मदमन करना ही श्रेयस्कर है अन्यथा दूसरों के द्वारा वध बन्धन आदि से मुझे बलात् दमन किया जाएगा। स्वेच्छा से आत्मसमर्पण-पूर्वक आत्मदमन किये बिना ऐसा ही दुष्परिणाम आ सकता है।

वस्तुतः जो व्यक्ति स्वेच्छा से आत्मदमन नहीं करता, उसे पूर्वकृत पापकर्मों के फलस्वरूप इहलोक-परलोक में नाना दुःख उठाने पड़ते हैं, ये दुःख तो सामान्य हैं, बार-बार जन्म-मरणादि के भयंकर दुःख भी उसे भोगने पड़ते हैं।

आत्म-समर्पण से महान लाभ

एक बीज है, वह अगर धरती माता की गोद में अपने-आपको समर्पित नहीं करता है और अलग-थलग अपने तुच्छ घेरे में पड़ा रहता है तो पानी उसे गलाने लगता है, ऊपर की मिट्टी उसे सड़ाने लगती है, सूर्य का ताप उसे सुखाने लगता है, हवा उसे उड़ाकर कहीं का कहीं ले जाती है। अर्थात्—वह इधर से उधर थपेड़े खाता फिरता है।

किन्तु वही बीज यदि अपने-आपको मिटाने हेतु धरतीमाता की गोद में समर्पण कर देता है तो उसमें से विकास के नन्हें-नन्हें अंकुर फूट पड़ते हैं। हवा उसे दुलराती है, सूर्यकिरणें उसे शक्ति देती हैं। वर्षाजल उसका अभिसिंचन करता है। सारी प्रकृति उसकी सेवा में जुट जाती है। वह बीज नीचे विकसित होता है और अपनी आधारभूमिरूप जड़ें सुदृढ़ कर लेता है। जब ऊपर उठता है तो तेजी से विशाल वृक्ष के रूप में परिणत होता चला जाता है। फिर उस विशाल तरु के आश्रय से अनेकों जीव-जन्तुओं को पोषण मिलता है, अनेकों पक्षियों को बसेरा मिलता है। सैकड़ों मानवों और पशुओं को वह आश्रय देता है। सैंकड़ों प्राणियों को अपने फल-फूल, छाल, डाली, पत्ते आदि जीवनोपयोगी उपहार देता रहता है। वही एक बीज समर्पित होकर करोड़ों बीजों का जनक होकर उन्हें समर्पण परम्परा की अव्यक्त प्रेरणा दे जाता है।

इसी प्रकार जो व्यक्ति अपने माने हुए पदार्थों से अपना आसक्ति-सम्बन्ध रखकर परमात्मा से विमुख, अलग-थलग रहता है, वह सभी प्रकार से दुःखित, पीड़ित एवं प्रताड़ित होता रहता है। किन्तु जब वही व्यक्ति अपने-आपको (घर में अपनी आत्मबुद्धि को) मिटाकर परमात्मा में अपने को समर्पित कर देता है तो उसे ज्ञान-दर्शन का विशुद्ध प्रकाश मिलता है, जिससे वह प्रत्येक पदार्थ के वस्तुस्वरूप का विचार और विवेक कर सकता

है। इससे वह परमात्मा के असीम आनन्द और अनन्त आत्मशक्ति का रहस्य जान जाता है।

आत्मसमर्पण से बुद्धि को तृप्ति

परमात्मा के समक्ष आत्मसमर्पण कर देने से सबसे बड़ा लाभ तो यह होता है कि समर्पणकर्ता निश्चिंत हो जाता है। किसी भी शुभकार्य के करने से हानि-लाभ होने पर मन के पलड़े पर मानसिक चिन्ताओं एवं द्वन्द्वों का उतार-चढ़ाव नहीं होता। उसका मानसिक सन्तुलन-समत्व बना रहता है। कार्य बिगड़ जाने पर मनःकल्पित या अकल्पित निमित्तों को कोसने या भला-बुरा कहने की प्रवृत्ति से छूट जाता है। तथा कार्य भली-भाँति सिद्ध होने पर भी अपने या अपनों को निमित्त मानकर समर्पणकर्ता अहंकार से फूलता नहीं, प्रतिष्ठाप्राप्ति और श्रेय लूटने की धुन में वह विविध मदों से ग्रस्त नहीं होता, न ही अपने आध्यात्मिक विकास एवं सफलता का अधिक मूल्यांकन करके भविष्य में विकास की उज्ज्वल सम्भावनाओं से अपने-आपको वंचित करता है।

परमात्मसमर्पण करने के पश्चात् इष्टसंयोग व अनिष्टवियोग में, अथवा इष्टवियोग व अनिष्ट-संयोग में वह अपने उपादान पर, समत्व पर, परमात्मभाव के पुरुषार्थ पर, अथवा परमात्मा की अव्यक्त कृपा एवं सहायता पर स्थिर रहता है इससे इष्ट वस्तु एवं व्यक्ति के वियोग तथा अनिष्ट वस्तु एवं व्यक्ति के संयोग होने पर भी उसे आर्त्त-रौद्रध्यान नहीं होता। क्योंकि वह यह सोचता है कि 'मैंने सब कुछ जब वीतराग-परमात्मा के चरणों में समर्पित कर दिया है, तब मुझे किसी बात की चिन्ता, फलाकांक्षा, मनमानी या अहंता-ममता करने, अथवा निमित्त को श्रेय-अश्रेय देने की क्या जरूरत है? इस प्रकार समर्पणकर्ता की बुद्धि की यह सब उछलकूद बन्द हो जाती है। वह शान्त, स्थिर, निश्चिंत और तृप्त (सन्तुष्ट) हो जाता है। किसी प्रकार के भय, लोभ, स्वार्थ, आकांक्षा, अस्थिरता या क्षोभ का ज्वार उसे अपने प्रवाह में बहाकर नहीं ले जा सकता। प्रभुचरणों में आत्मसमर्पण करने से पूर्व जो दुर्विचारों, दुश्चिन्ताओं एवं क्रोधादि विकारों के बादल उमड़-घुमड़ कर आ जाते थे, वे सब समर्पण के बाद फट जाते हैं। बुद्धि में सद्विचार और सच्चिन्तन का संचार होता रहता है और तब आत्मा अपने स्वभाव, स्वगुण एवं स्वरूप में रमणता के सुविचारों में आगे बढ़ता रहता है। इसीलिए योगीराज आनन्दघनजी परमात्मा की स्तुति करते हुए कहते हैं—

सुमति-चरणकज आतम-अर्पणा, दर्पण जेम अविकार, सुज्ञानी ।
मतितर्पण बहुसम्मत जाणीए, परिसर्पण सुविचार, सुज्ञानी ।।[1]

भावार्थ यह है कि हे सुज्ञानी ! परमात्मा (सुमतिनाथ प्रभु) के दर्पण की तरह निर्विकारी चरणकमलों में आत्म-समर्पण करो। इस प्रकार के बहुजन सम्मत आत्म-समर्पण से बुद्धि को अत्यन्त तुष्टि (सन्तुष्टि) होगी और सद्विचारों का संचार होगा। फिर आत्मा शुद्ध होकर परमात्मभावों में आगे से आगे बढ़ती (परिसर्पण करती) जाएगी।

अपने अहंत्व-ममत्व के विसर्जन से आत्म-समर्पण का चमत्कार

तात्पर्य यह है कि जब साधक 'अप्पाणं वोसिरामि' करके अपने माने हुए स्वकीयों को विसर्जित, विस्मृत या अस्वीकृत कर देता है, तभी वह वीतराग परमात्मभाव में मग्न होता है, और परमात्मा को पा लेता है, जो आत्मबाह्य परभावों-विभावों को स्वीय मानकर, अपने अहंत्व-ममत्व की गठरी सिर पर लादे फिरता है, वह इन सबको तो खो ही देता है, परमात्मा को भी पाने से वंचित रहता है। इसलिए पूर्णतः आत्मसमर्पण अहंकार विसर्जन करने, अहंशून्य बन जाने पर होता है। ऐसी आत्म-समर्पण की स्थिति में अपना कुछ भी नहीं होता, न ही उस व्यक्ति को अपने शरीर और मन की आवश्यकताओं और अपेक्षाओं, लालसाओं और वासनाओं की पूर्ति करने की चिन्ता होती है। उसे अपनी शरीररक्षा की, भूख-प्यास की, सर्दी-गर्मी की अथवा अन्य भयों से सुरक्षा की बिल्कुल परवाह नहीं रहती। भगवान् महावीर की लगातार ५ महीने २५ दिन तक निराहार उपवास तपस्या के दौरान उनका शरीर, स्वास्थ्य, मनोबल या प्राणबल आदि नहीं गिरा, इसके पीछे आत्म-समर्पण का ही चमत्कार था। उन्होंने सिद्ध परमात्मा के चरणों में तन, मन, वचन आदि पर से अहंता ममता, अस्मिता आदि का सर्वथा विसर्जन तथा आत्मा का उनके प्रति सर्वतोभावेन समर्पण कर दिया था। यही कारण है कि लम्बे समय तक निराहार रहने पर भी उनके मन में भूख-प्यास का विचार भी न आया। उनके तन-मन स्वस्थ एवं प्रसन्न रहे। शरीर भी दुर्बल न होकर हृष्टपुष्ट रहा।

अपने आपको विराट्तर परमात्मशक्ति के समक्ष सर्वतोभावेन

---

१ आनन्दघन चौबीसी की सुमतिनाथ तीर्थंकर स्तवन गा. १

समर्पित कर देने तथा अपने अहंत्व-ममत्व को एवं अपने आपको (आत्मा को नहीं) विसर्जित एवं विस्मृत करने के ये सब चमत्कार हैं। वस्तुतः सिद्ध-बुद्ध-मुक्त परमात्मा के नियम-निर्देश में स्वयं को समाविष्ट कर देने तथा उस महाशक्ति में समर्पित कर देने से प्रकृति के नियम भी अपना काम करना छोड़ देते हैं।

परमात्मा के प्रति आत्मसमर्पण के हजारों उदाहरण भारत और अन्य देशों के प्रसिद्ध हैं। चेकोस्लोवाकिया के एक किसान 'विनित्री दोजनोव' ने अपना जीवन परमात्मा के चरणों में समर्पित कर दिया। वह प्रायः जमीन से ४ फुट ऊँचा उठकर दस मिनट तक गुरुत्वाकर्षण के पार अधर ठहर जाता है। जब उससे इसका रहस्य पूछा गया तो वह बोला—'इसका मुख्य कारण परमात्मा के प्रति मेरा समर्पणभाव है। मैं अपनी शक्ति से नहीं, किन्तु परमात्मा की शक्ति से, उन्हीं की कृपा से इतना ऊपर उठ पाता हूँ। जिस समय मैं ऊपर उठता हूँ, उस समय मैं अपने आपको भूल जाता हूँ। मुझे केवल इतना ही याद रहता है कि 'परमात्मा है।' बस, मैं शीघ्र ही ऊपर उठ जाता हूँ। सारा भार परमात्मा पर छोड़ देने से जीवन के सामान्य नियम भी अपना काम करना छोड़ देते हैं।' जब कभी 'विनित्री' जमीन से ऊपर नहीं उठ पाता था, तब वह कहता था—'आज मैं अपने आपको भूल नहीं सका। मुझे अपने तन एवं अंगोपांगों का ख्याल आ गया था। इस कारण पृथ्वी का गुरुत्वाकर्षण काम करने लगा, जमीन मुझे नीचे खींचने लगी।

तात्पर्य यह है कि जब व्यक्ति अपने आपको सर्वथा भूलकर परमात्मा को ही एकमात्र याद रखता है तब उस आत्मसमर्पण का इतना चमत्कार है कि पृथ्वी, जल, वायु, वनस्पति आदि सब अपनी-अपनी कोशिश छोड़ देती हैं, तब कोई आश्चर्य नहीं कि परमात्मा के प्रति अपना सर्वस्व समर्पण करने से जीवन के सामान्य नियम या शरीर की मांग (भोजन, पानी, निद्रा आदि) न छूट जाये, तथा विषयोपभोगों की वासना, कामना, अहंता-ममता, लालसा, तृष्णा आदि उस साधक के अन्तर् से पलायित हो जायें। यह सब आत्मसमर्पण का चमत्कार है।

सभी अध्यात्मपथिकों का आत्मसमर्पण का स्वर

इस प्रकार के आत्मसमर्पण का वर्णन प्रायः सभी अध्यात्म-पथिक धर्मग्रन्थों में कहा गया है। आत्मसमर्पण का प्रत्येक धर्म-संस्था, प्रत्येक सम्प्र-

दाय, मत, पन्थ एवं दर्शन में इसका बहुत महत्त्व आंका गया है। बड़े-बड़े अध्यात्म-मार्गदर्शकों, धर्मधुरन्धरों, अध्यात्म-प्रेरकों तथा भक्तिमार्गियों ने अध्यात्ममार्ग पर प्रयाण करते समय इसे आवश्यक माना है। इसलिए आत्मसमर्पण की बात अनेक धर्मपुरुषमान्य, बहुजनसम्मत और सार्वजनिक है।

भक्तिमार्गी वैष्णव सम्प्रदायों में प्रभु-भक्ति की दृष्टि से सर्वस्व-समर्पण करने का उल्लेख 'भगवद्गीता' 'भागवत' आदि धर्मग्रन्थों में जगह-जगह मिलता है। वहाँ सर्वस्व-समर्पण का फलितार्थ यह किया गया है—[1] तू जो कुछ सत्कार्य करता है, जो कुछ उपभोग करता है, तथा तप; जप, यज्ञ, दान, पुण्य आदि या जो भी अनुष्ठान करता है, एवं जो भी सद्व्यवहार, सद्विचार या सदाचरण करता है, वह सब मुझे अर्पण कर।'

इसका फलितार्थ यह है कि तेरे मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ, वाणी आदि समस्त अवयव तथा जो कुछ भी तेरे अपने माने हुए तन, मन, धन, साधन, परिवार, सन्तान, पद-प्रतिष्ठा, सम्प्रदाय आदि हैं, उन्हें प्रभु के चरणों में समर्पण कर दे और अन्तर से कह दे—'इदं न मम' (यह मेरा नहीं है, प्रभो! आपका ही है)। ईश्वर कर्तृत्ववाद की दृष्टि से तन, मन, बुद्धि, वाणी, धन, साधन आदि सब भगवान् के दिये हुए माने जाते हैं। इसलिए समर्पण करते समय भक्त भक्ति की भाषा में कहता है—'प्रभो! आपकी दी हुई वस्तु आपको ही समर्पित करता हूँ।'[2] सर्वस्व-समर्पण में तो खाने, पीने, पहनने से लेकर, व्यापार, आजीविका, अध्ययन करना, भोजन बनाना आदि जो भी सत्कर्म हैं, उन सबमें ममत्व और अहंकर्तृत्व बुद्धि का त्याग करना आवश्यक होता है। सांसारिक लोगों को सबसे बड़ा नैतिक लाभ यह है कि परमात्मा के चरणों में सर्वकार्यों और अपनी इच्छाओं को समर्पित करने के बाद वे अकार्य या बुरे कार्य में प्रवृत्त नहीं हो सकते। दुर्व्यसनों और पापकार्यों से तो उन्हें बचना ही होगा।

इससे भी आगे बढ़कर समर्पणयोगी भक्त अपने द्वारा किये जाने

---

१ यत्करोषि यदश्नासि, यज्जुहोसि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय! तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥
—भगवद्गीता अ. ९ श्लो. २७

२ 'त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये।'

वाले किसी भी सत्कार्य के शुभ फल का श्रेय या यश भी प्रभु को देता है, क्योंकि वह जो भी कार्य करता है, वह निष्काम, निःस्वार्थ-भाव से, प्रभु-कृपा से या प्रभु-प्रीत्यर्थ करता है, कामना-नामना के उद्देश्य से नहीं। जब समर्पणकर्ता भक्त प्रत्येक शुभकार्य निष्कामभाव से करता है, तब किसी प्रकार की प्रतिष्ठा, नामबरी, सौदेबाजी या अहंता, ममता, स्वच्छन्दता की वृत्ति, अथवा किसी प्रकार के बदले की या शुभफल की आकांक्षा, या अपेक्षा नहीं रहती। इस प्रकार के समर्पण में अहंकर्तृत्व एवं ममकर्तृत्व का अनायास ही त्याग हो जाने से भक्त एकमात्र प्रभु में ही तन्मय, तल्लीन और तद्रूप हो जाता है, उसका मन आत्म-बाह्य पदार्थों में नहीं भटकता। फिर वह अबाधगति से निष्कांक्ष, निष्काम, निःशंक एवं निर्विचिकित्सक होकर परमात्मप्राप्ति की साधनों के पथ पर बढ़ता जायेगा।

भगवद्गीता में ऐसे सर्वस्व समर्पणयोग का महत्व अनेक स्थानों में, अनेक रूपों में विस्तार से प्रतिपादित किया गया है।[1] वस्तुतः श्रद्धा-सिक्त आत्मसमर्पण एक उदात्त आध्यात्मिक संस्कार है, जो जीवन के प्रत्येक क्षेत्र के लिए सतत आत्मशक्ति के संचार की प्रेरणास्रोत बन जाता है। परमात्म-समर्पित व्यक्ति का चिन्तन और आचरण अपने इष्ट-देवाधिदेव की दिशा में ही नियोजित रहता है। साथ ही समर्पण के साथ आत्मा की शुद्धता, पवित्रता, निश्छलता, निष्कामभावना, निःस्वार्थता सन्निहित रहती है, जो समर्पणकर्ता को भौतिक प्रवंचनाओं से बचाती रहती है। वस्तुतः समर्पण व्यक्ति की निष्ठा की परख है। उसमें खरा उतरने पर ही समर्पण सार्थक होता है।

आत्मसमर्पण के वस्तु-तत्व का विचार

आत्म+समर्पण में आत्मा और समर्पण ये दो शब्द है। समर्पण का स्वरूप तो हम बता चुके हैं, किन्तु वह आत्मा के साथ जुड़ा हुआ होने से आत्मा के वस्तुतत्व का विचार करना आवश्यक है। आत्मा क्या है? क्या तन, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, कषाय, मोह, पापपुण्यरूप कर्म, राग-द्वेष आदि अथवा शरीर के अंगोपांग, इन्द्रियाँ, प्राण आदि आत्मा हैं? अथवा शरीर से सम्बन्धित या आश्रित परिवार, जाति, धर्म-सम्प्रदाय, राष्ट्र-प्रान्त आदि आत्मा हैं? या फिर धन, धाम, जमीन, जायदाद,

---

१ भगवद्गीता अ० ९, श्लोक २६, २७, ३२, ३४, अ० १० श्लोक ८, ९, अ. १२, श्लोक ८, १०, ११।

आदि आत्मरूप हैं ? अथवा शुद्ध, बुद्ध, ज्ञाता, द्रष्टा तथा ज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्यमय आत्मा है ? इस प्रकार यथार्थ विश्लेषण-पृथक्करण या भेद-विज्ञान करके आत्मा वस्तुतत्व का विचार है। फिर बहिरात्मभाव को छोड़ कर फिर शुद्ध आत्मभाव में स्थिर होना, अर्थात् अन्तरात्मा का परमात्म भाव में लीन, तन्मय या तादात्म्यभाव भावित हो जाना सही माने में आत्म समर्पण के वस्तुतत्व का विचार है।

आत्मसमर्पण से केवलज्ञान का प्रकाश

जिस प्रकार प्रकाश होते ही अन्धकार मिट जाता है, इसी प्रकार आत्म-समर्पण के स्वरूप का ज्ञानमय प्रकाश होते ही समस्त भ्रम स्वतः मिट जाते हैं। वे भ्रम हैं—शरीर और शरीर से सम्बद्ध सभी पदार्थों में आत्मबुद्धि—मैं व मेरेपन का भ्रम। ये भ्रम पैदा होते हैं—अज्ञान, मोह और मिथ्यात्व के कारण। संसारी व्यक्ति की बुद्धि पर अनादिकालीन संस्कारवश कुहासे की तरह छाये हुए अज्ञान, मोह, मिथ्यात्व, दुर्ध्यान, दुश्चिन्तन, दुश्चेष्टा, संशय, भय, आशंका आदि दोष आत्मसमर्पण के तत्त्व पर गहराई से चिन्तन करते ही दूर हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त आत्म-समर्पणकर्ता को बहुत-से आध्यात्मिक लाभ भी प्राप्त होते हैं—(१) उसकी आत्मा मोहनीय आदि घाती कर्मों को आते हुए रोक (संवर कर) लेती है, (२) वह आर्त्त-रौद्रध्यान से बचकर धर्म-शुक्लध्यान में लग जाती है, (३) वह परभावों में प्रवृत्त होने की वृत्ति छोड़कर स्वभाव में प्रवृत्त होती है, रमण करती है, तथा (४) शरीर और शरीर से सम्बन्धित सभी परभावों व विभावों (दुर्भावों) के चिन्तन से हटकर आत्म-चिन्तन में अधिकाधिक जुटती है। (५) अन्त में, आत्म-समाधि प्राप्त कर लेती हैं। बुद्धि में निर्मलता, निश्चिन्तता, सद्विचार, दृढ़ निश्चय, एवं हलकेपन का अनुभव होने लगता है और मति-श्रुतज्ञान से बढ़ते-बढ़ते परमात्मा की कृपा एवं स्वकीय पुरुषार्थ से केवल ज्ञान प्रगट हो जाता है। गणधर गौतम स्वामी ने इसी प्रकार आत्म-समर्पण के वस्तुतत्व का दृढ़ निश्चय करके अपने आपको सम्पूर्णरूप से वीतराग परमात्मा तीर्थंकर महावीर के समक्ष समर्पित कर दिया था, तभी उन्हें केवलज्ञान का प्रकाश, जो प्रभु के प्रति प्रशस्तराग (मोह) के कारण रुका हुआ था, प्रकट हो गया।

अन्त में, परमात्मसम्पत्ति भी प्राप्त हो जाती है

इससे भी आगे बढ़कर आत्म-समर्पणकर्ता को मोक्ष या परमात्म-

पदरूप परमपदार्थ प्राप्त हो जाता है। अन्त में, परमात्मा के प्रति समर्पण से उसे परमात्मा के अनन्तज्ञान-दर्शन-आनन्द और आत्मशक्ति की परमसम्पत्ति, अक्षयनिधि प्राप्त हो जाती है।[1] वह जन्म-मरण, संसार परिभ्रमण, सिद्ध समस्तदुःख, कर्म और रागद्वेषादि के चक्र से सदा के लिए स्वयं मुक्त परमात्मा बन जाता है।

---

१ इसी के समर्थन में कहा गया—

आतम-अर्पण वस्तु विचारतो, भरम टले, मति दोष, सुज्ञानी।
परम-पदारथ सम्पत्ति संपजे, 'आनन्दघन'—रस पोष, सुज्ञानी॥

—आनन्दघन चौबीसी पांचवां स्तवन

१६

परमात्म-शरण से परमात्मभाव-वरण

सांसारिक पदार्थ शरण एवं रक्षण नहीं दे सकते

संसार एक समुद्र है। उसमें सभी जीव, विशेष रूप से मनुष्य यात्रा कर रहे हैं। इस जीवन-यात्रा में मनुष्य इधर-उधर से नानाप्रकार के थपेड़े खाता फिरता है। संसार-समुद्र जन्म, जरा, मृत्यु, आधि, व्याधि, उपाधि, प्रभृति नानादुःखरूपी जल से भरा है। उसमें राग, द्वेष, काम, मोह, क्रोधादि कषाय, ईर्ष्या, घृणा, असन्तोष, मद, अहंता-ममता आदि भयंकर जलजन्तु हैं, जो संसारी जीवों को निगलने को मुँह फाड़े बैठे रहते हैं। मनुष्य भय, शोक, अशान्ति आदि से त्रस्त हैं। सर्वत्र त्राहि-त्राहि मच रही है। धनवान भी दुःखी हैं, और निर्धन भी। नरेन्द्र भी दुःखी है और सुरेन्द्र भी अपनी सीमा में दुःखाक्रान्त हैं। कहीं शान्ति नहीं है।

शान्ति की शोध में मनुष्य इधर-उधर मारा-मारा फिरता है। वह सोचता रहता है—'किसकी शरण में जाएँ, जिससे शान्ति और सुख मिल सकता है?' संसार के जितने भी सजीव या निर्जीव पदार्थ हैं, उनकी शरण सुख-शान्तिपूर्ण नहीं है। अज्ञान, मोह या मिथ्यात्व से ग्रस्त मानव उनकी शरण में जाता है, किन्तु वे सुखाभास-प्रदायक मालूम होते हैं, वास्तविक सुख प्रदान नहीं कर सकते।

धन, विषयसुख के साधन, ऐश्वर्य, राज्य आदि भौतिक पदार्थ भी शरण लेने लायक नहीं हैं, क्योंकि ये भी अशान्त मानव को सुख-शान्ति प्रदान नहीं कर सकते, न ही अपना माना हुआ परिवार, परिजन, मित्र, प्रान्त, जाति, सम्प्रदाय, राष्ट्र आदि शरण-ग्रहणयोग्य हैं, क्योंकि ये भी आत्मिक सुख-शान्ति प्रदान नहीं कर सकते। इससे भी आगे बढ़कर मनुष्य के अत्यन्त निकटवर्ती, आत्मा के अत्यन्त सहचर शरीर, मन, बुद्धि, हृदय, वाणी, इन्द्रियाँ, प्राण, अंगोपांग आदि की भी शरण स्वीकार करने योग्य नहीं है, क्योंकि ये भी मनुष्य को विपरीत मार्ग पर ले जाते हैं, आत्मा को रागद्वेषादि के चक्कर में डालकर कर्मबन्धन में डाल देते हैं, जिनसे जन्म-मरणादि के दुःख भोगने पड़ते हैं। रोग, शोक, जन्म, जरा, मरण, चिन्ता आदि दुःखों से आत्मा को ये मुक्त नहीं कर सकते।

अज्ञान और मोह से ग्रस्त मानव सुख-शान्ति की आशा से बार-बार इन्हीं की शरण लेता है, और दुःखी होता रहता है। दुनिया के इन नश्वर पदार्थों से चिपटे रहने वाले मानव दुःखरूपी जल से भरे हुए इस संसार-समुद्र में डूबते रहते हैं।

मनुष्य अज्ञानवश मृत्यु की घड़ियों तक भी इन्हीं पदार्थों को अपना शरणदाता, त्राता समझता है, किन्तु क्या ये अशरण्य उसे मृत्यु के समय उसे शरण दे सकते हैं? उसके मुख से बचा सकते हैं? मृत्यु जब आती है, तब गाफिल मनुष्य को ऐसी गति और योनि में घसीटकर ले जाती है, जहाँ उसे पुनः अज्ञान और मोह के अन्धकार में वास्तविक शरणदाता का बोध नहीं होता, इसलिए फिर इन्हीं अंधेरी गलियों में भटकता है, उन्हीं नश्वर और अशरण्य पदार्थों की शरण स्वीकार करके दुःख पाता रहता है। मृत्यु के समय मनुष्य द्वारा आसक्तिपूर्वक तिजोरी से रखा हुआ धन यों ही बन्द पड़ा रह जाता है, वह उसको त्राण या शरण देने वाला नहीं बनता। इसीलिए शास्त्र में कहा है—

वित्तेण ताणं न लभे पमत्ते[1]

धन, साधन आदि द्रव्यों से प्रमादी मनुष्य कोई त्राण-रक्षण नहीं पाता, जो पशुधन होता है, वह भी बाड़े में पड़ा रह जाता है, वह बेचारा क्या रक्षा कर सकता है? उसकी पत्नी घर के दरवाजे तक अपने मृत पति को शोकपूर्ण नजर से देख लेती है, वह भी उसे बचाने में विवश रहती है

---

१ उत्तराध्ययन ४/५

और उसके कुटुम्बीजन, मित्र आदि सब श्मशान तक उसके शव के साथ जाते हैं,[1] वे भी उसको बचाने में असमर्थ रहते हैं। कोई भी सांसारिक पदार्थ उसकी आत्मा को शरण देकर उसके विकास, रक्षण एवं आत्मिक सुख-शान्ति प्रदान करने में समर्थ नहीं रहा। न ही वह मोहमुग्ध मनुष्य किसी को त्राण एवं शरण दे सका। इसीलिए आचारांग सूत्र में बार बार कहा गया है—

नालं ते तव ताणाए वा सरणाए वा।
तुमंपि तेसिं ताणाए वा सरणाए वा॥[2]

वे तेरा त्राण (रक्षण) करने और तुझे शरण देने में समर्थ नहीं हैं, और तुम भी उनका त्राण (रक्षण) करने और उन्हें शरण देने में समर्थ नहीं हो।

शरण-ग्रहण करने योग्य एकमात्र परमात्मा के चरण

ऐसी स्थिति में प्रश्न होता है, तब कौन ऐसा है जो संसार समुद्र में नानादुःखों से परिपूर्ण जल में डूबते हुए सामान्य मानव को शरण दे सकता है? उसे अपने स्वरूप का, अपनी आत्मा के विशिष्ट निजी गुणों (ज्ञान, दर्शन, आत्मिक सुख और आत्मशक्ति) का भान करा सकता है? उसे जन्म-मरणरूप संसार-समुद्र में डूबने से बचा सकता है? इसका उत्तर आद्य शंकराचार्य की निम्नोक्त प्रश्नोत्तरी में पढ़िए—

अपार-संसार-समुद्रमध्ये, निमज्जतो मे शरणं किमस्ति?
गुरो! कृपालो! कृपया वदैतत् विश्वेश पादाम्बुज-दीर्घनौका।[3]

हे कृपालु गुरुदेव! कृपा करके मुझे यह बताइये कि मैं इस संसार रूपी समुद्र से डूब रहा हूँ। ऐसी स्थिति में मेरे लिए शरण (आश्रय) कौन-सी वस्तु होगी, जिसे पकड़कर मैं बच सकूँ, तर सकूँ? उत्तर मिला—विश्व के सर्वाधिक आत्मिक ऐश्वर्य से सम्पन्न परमात्मा के चरण-कमल ही तेरे लिये दीर्घ (लम्बी) नौका के समान शरणरूप होंगे।

सचमुच वीतराग परमात्मा के चरण भवजल में डूबते-गिरते हुए मनुष्यों के लिये नौका के समान शरण देने वाले हैं। भक्तामर (आदिनाथ) स्तोत्र में इसी रहस्य को प्रकट किया गया है—

---

१ धनानिभूमौ, पशवश्च या गोष्ठं, नारीगृहद्वारि जनाः श्मशानं। —नीतिशास्त्र
२ आचारांग श्रु. १, अ, २, उ. १ सू. १८५, १९४, १९८
३ शंकराचार्य प्रश्नोत्तरी श्लोक १

"आलम्बनं भवजले पततां जनानाम्।"[1]

संसाररूपी समुद्र में मोहादि के कारण डूबते-गिरते हुए मनुष्यों के लिए वीतराग परमात्मा के चरण ही शरणरूप—आलम्बन रूप हैं।

आत्मयात्री को परमात्मरूपी नाविक की शरण से लाभ

वस्तुतः परमात्मा के चरण नौका हैं तो परमात्मा स्वयं नाविक हैं, अगर आत्मार्थी मुमुक्षु अपनी जीवनयात्रा को अन्तिम मंजिल—मोक्ष या परमात्मभाव की प्राप्ति तक पहुँचना चाहता है तो उसे परमात्मारूपी नाविक के नेतृत्व और परमात्म-चरणरूपी नौका के आलम्बन या सम्बल पर दृढ़ विश्वास, अविचल श्रद्धा एवं पूर्ण निश्चय रखकर उनकी शरण स्वीकार करना अनिवार्य है। वीतराग परमात्मा की शरण शुद्ध अन्तःकरण से आत्मा द्वारा स्वीकार करने पर निश्चिन्तता और निर्भयता से वह परमात्मभाव की मंजिल तक पहुँचा देती है। उसकी जीवन-यात्रा को सुखद एवं सरल बना देती है।

गुरु नानकदेव ने चैतन्य यात्रा के लिए परमात्मारूपी नाविक की शरण स्वीकार न करने वाले तथा स्वीकार करने वाले का जीवन-चित्र एक रूपक द्वारा समझाया है।

एक यात्री था। वह सुदूर विदेश यात्रा के लिए निकला था। अभी वह चार कोस चला था, तभी एक विशाल नदी आ गई। उसने देखा कि एक नौका लंगर से बंधी हुई नदी तट पर खड़ी है। वह नौका चलाने में जरा भी कुशल नहीं था। वह अहंकार के साथ गरज उठा—यह नदी मेरा क्या कर लेगी? मेरे पास नौका जो होगी, वह मुझे उस पार पहुँचा ही देगी। वह अहंकारवश नाव को लंगर से खोलकर उस पर सवार हो गया तूफान से बचने के लिए नौका पर पाल उसने बांधा नहीं। डांड खोलकर उसने चलाए नहीं। नौकाचालननिपुण मल्लाह को उसने बुलाया नहीं। उसे बहुत जल्दी थी, जल्दी-जल्दी में नौका खोल दी थी। बादल गरज रहे थे, पानी की लहरें ऊँची उठ रहीं थीं। फिर भी उसने परवाह न की। नतीजा यह हुआ कि नौका हवा के जोर से चल पड़ी। किनारा पार करते ही नौका ज्योंही मझधार में आई, उसे उत्ताल तरंगों ने घेर लिया, नाव के ऊपर उछाल दिया और वह नौका उक्त मूढ़यात्री-सहित जल में डूब गई।

---

१ भक्तामर स्तोत्र प्रथम काव्य

थोड़ी देर बाद एक दूसरा यात्री आया। उसने नदी के किनारे आकर देखा कि नाव तो किनारे लगी है, नदी पार करने के लिए किन्तु वह टूटी-फूटी है। उसका डांड कमजोर है। पाल भी फटा हुआ है। वह स्वयं भी नौका चलाना नहीं जानता। फिर भी वह घबराया नहीं। धैर्यपूर्वक वहाँ खड़ा रहा। इतने में एक कुशल नाविक आया। उसने नाविक से कहा—'मुझे नदी के उस पार सही-सलामत पहुँचा दो।' नाविक ने स्वीकार किया और उसने यात्री को हिदायत दी—देखो, नदी में ऊँची-ऊँची लहरें उठ सकती हैं, तूफान आ सकता है और नौका ऊपर उछल भी सकती है, परन्तु तुम बिल्कुल न घबराना। मैं सब कुछ सम्भाल लूंगा। नाविक अपने पर आश्वस्त एवं विश्वस्त यात्री को लेकर चल पड़ा। मझधार में लहरें नौका से टकरायीं। तूफान आ गया। तूफानी हवाएँ नौका को उछालने और चट्टानों से टकराने के लिए उद्यत हो रही थीं, किन्तु यात्री नौका-चालन—निपुणता और शरणागत रक्षा के प्रति नाविक की वचनबद्धता पर आश्वस्त और विश्वस्त था। इसलिए घबराया नहीं।

कुशल नाविक ने प्रत्येक संकट को सम्भाला और नौका को लहरों और तूफानी हवाओं से बचाते हुए यात्री को नदी के उस पार सकुशल पहुंचा दिया।

संसारी मनुष्य भी एक जीवन यात्री है। संसाररूपी महासमुद्र उसे पार करना है, किन्तु पहले यात्री के समान जो अहंकारी, उद्धत, अविश्वासी और अज्ञान तथा मोह से ग्रस्त हो, वह अपनी जीवननैया को कुशल नाविक को लिए बिना ही स्वयं हांक देता है।

उसकी दशा भी वैसी ही होती है। वह संसार-समुद्र के उस पार-परमात्मभाव या मोक्ष रूपी लक्ष्य तक पहुँचना तो दूर रहा, मझधार में ही अहंता-ममता, राग-द्वेष, काम, मद, मोह तथा क्रोधादि कषायों के तूफान आने पर या आधि, व्याधि, उपाधि, तथा चिन्ता, विपत्ति, अर्थाभाव, बौद्धिक अक्षमता, अश्रद्धापूर्ण हृदय आदि संकटों की उत्ताल लहरें आने पर एकदम निरुत्साह, निरुद्यम, साहसहीन एवं व्याकुल हो जाता है। फलतः वह इन कठिनाइयों से स्वयं जूझ नहीं सकता और न ही किसी अन्तिम लक्ष्य प्राप्त वीतरागप्रभु पर विश्वास करके उसकी शरण ग्रहण करके अपनी जीवननौका सौंपता है एवं आश्वस्त, विश्वस्त व निर्भय होता है। फलतः उसकी जीवननौका नानादुःखों के जल से परिपूर्ण संसार-

समुद्र में पुनः डूब जाती है। वह संसार-समुद्र में अपनी जीवननैया डूबते समय अहंकार, अज्ञान और मोह में मग्न रहता है, उस समय वह परमात्मा-रूपी कुशल नाविक को पुकारता नहीं है, तथा स्वयं भी जीवन नैया को अंधड़ों और तूफानों से सही-सलामत पार करना नहीं जानता। इसलिए वह धन, परिजन, साधन आदि का आश्रय लेकर वहीं दुःखों के तूफान में फंसकर अपनी जीवननैया को डूबो देता है, उसकी आत्मा भी संसार-समुद्र में नानागतियों और योनियों में भटकती रहती है। उसे परमात्मप्राप्ति का बोध और मार्ग नहीं मिल पाता।

जो व्यक्ति संसार-सागर में अपनी जीवन-यात्रा करते समय अपने अन्तिम लक्ष्य का बोध और निश्चय कर लेता है। वीतराग परमात्मा इस मार्ग और मंजिल के पूर्ण अनुभवी हैं, वे संसार-समुद्र के पार हो चुके हैं, संसार के समस्त दुःखों तथा दुःखों के बीजरूप कर्मों, राग-द्वेषादि कर्मरूप कारणों से सर्वथा मुक्त हो चुके हैं, और अनन्त ज्ञान-दर्शन-आनन्द एवं अनन्त आत्मशक्ति (वीर्य) से परिपूर्ण हैं, तथा जिज्ञासु आत्मार्थियों, मुमुक्षुओं या परमात्मपदप्राप्ति के इच्छुकों के लिए मार्गदर्शक एवं प्रेरक हैं। इस प्रकार के दृढ़ विश्वास एवं निश्चयपूर्वक उनकी शरण ग्रहण करता है वह अपनी जीवननैया उनके हाथों में सौंप देता है। परमात्मा के गुणों और स्वभाव को स्वयं अपनाने लगता है। अपने हानि-लाभ, हार-जीत, सांसारिक सुख-दुःख, तथा अहंत्व-ममत्व, उतार-चढ़ाव, इन्द्रिय-विषयों के प्रति राग-द्वेष, मोह-घृणा, रुचि-अरुचि आदि समस्त द्वन्द्वों की भारी-भरकम गठड़ी सिर से उतार फेंकता है। परमात्मा की शरण स्वीकार कर लेने पर परमात्मभाव-प्राप्ति में मुख्य अवरोध रूप अहंकार पलायित हो जाता है। जीवन के समस्त विरोधी भाव, मन-वचन-काया की स्वकल्पित दुष्प्रवृत्तियाँ दुश्चिन्ताएँ तथा शास्त्र एवं भगवान् की आज्ञा के विरुद्ध सभी प्रवृत्तियाँ या क्रियाएँ प्रायः बन्द हो जाती हैं। फिर उस परमात्म-शरणागत साधक का जीवन, अन्तिम मंजिल (परमात्म-प्राप्ति या परमात्मभाव) की ओर उसी तरह द्रुतगति से बढ़ने लगता है, जिस तरह अनुकूल हवा की लहरों का संयोग पाकर नौका मंजिल की ओर द्रुतगति से बढ़ने लगती है।

परमात्म-शरण से ऊर्जा वृद्धिगत होती है

परमात्मा की शरण स्वीकार करने वाले साधक की परमात्मा के प्रति एकाग्रता, तन्मयता, तल्लीनता के कारण आत्मा से ऊर्जा प्रवाहित होकर समर्पित होती है, बदले में उधर परमात्मा की ओर से भी ऊर्जा

प्रचुर मात्रा में प्राप्त होती है, जिसे वह अपने अन्दर समाविष्ट कर लेता है। स्थूलदृष्टि वाले लोगों को ऐसा लगता है कि साधक ने परमात्मा की शरण स्वीकार करके अपने आपको खो दिया। अपने आपको उसने मिटाकर परमात्मा के चरणों में सर्वस्व समर्पित कर दिया। इसलिए समर्पणकर्ता साधक घाटे में रहा। किन्तु ऐसी बात नहीं है। नियमानुसार ऊर्जा का प्रवाह दोनों ओर से प्रवाहित होता है। समर्पित साधक अपनी ऊर्जा परमात्मा के प्रति छोड़ता है तो परमात्मा की ओर से उसे प्रचुर मात्रा में कई गुनी अधिक ऊर्जा प्राप्त होती है। कलकत्ता के पास जो गंगा नदी है वह गंगासागर की ओर बहती है, जबकि गंगासागर भी गंगा की ओर बहता है। गंगा गंगासागर की शरण में जाकर उसमें विलीन हो जाती है, अपना नाम-रूप सब खो देती है। इससे गंगा कुछ खोती नहीं है, बल्कि पहले से अधिक पानी पाती है, क्योंकि गंगासागर गंगा की ओर आता है और उसे अपना पानी प्रचुरमात्रा में देता है।

इसी प्रकार जो साधक अनन्त-ज्ञानानन्द के सागर परमात्मा की शरण स्वीकार करके अपने अहंत्व ममत्व को सर्वथा खो देता है, परमात्मा के चरणों में अपना सर्वस्व समर्पित कर देता है, अपने माने हुए स्व-कल्पित सभी पदार्थों को तथा अपने आपको भी प्रभु के समक्ष विसर्जित कर देता है। वह साधक भी खोता नहीं, अधिकाधिक पाता है। क्योंकि परमात्मा के अनन्त ज्ञान, दर्शन, शक्ति और आनन्द का जो विशाल ऊर्जा स्रोत व्याप्त है, उससे वह अधिकाधिक ऊर्जा प्राप्त करके अपनी आत्मा में समाविष्ट कर लेता है। शरणागति की उच्च भूमिका पर आरूढ़ साधक यदि गहराई में उतर कर परमात्मा के निजी गुणों का—उनके स्वरूप और स्वभाव का ध्यान करता है, उनके सौम्य रूप को अन्तःकरण में स्थिर करके त्राटक करता है, तो वीतराग परमात्मा की पवित्र ऊर्जा के परमाणु साधक में तेजी से प्रविष्ट होने लगते हैं। परमात्म भाव के ऊर्जा परमाणु प्रचुर मात्रा में संचित होने से शरणागत साधक भी उनकी कृपा से एक दिन परमात्मपद, परमशान्ति एवं शाश्वत मोक्षधाम को प्राप्तकर लेता है। इससे भगवद्गीता में भी कहा है—

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत!
तत्प्रसादात् परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥

हे अर्जुन! शुद्ध आत्मा के सर्वभावों से भावित होकर उसी परमात्मा की अनन्य शरण प्राप्त कर लो, फिर उनकी कृपा से परमशान्ति

और शाश्वत मुक्तिधाम को प्राप्त कर पाओगे।[1] इससे शरणागत साधक नफे में ही रहता है।

परमात्म-शरण से परमात्मा के महाप्रकाश का प्रवेश

परमात्मा की शरणागति का यह नियम है कि वह शरणागत साधक के समग्र आत्म द्वारों को परम ऊर्जा की ओर खोल देती है। जो व्यक्ति सूर्य की ओर मुंह करके अपने नेत्र सूर्य की ओर उठा लेता है, अपने हृदय के द्वार खुले कर देता है और जिधर सूर्य घूमता है, उधर ही घूम जाता है, तो सूर्य का प्रकाश उसके रोम-रोम और रग-रग में पहुँच जाता है। उसके हृदय के अन्धकारयुक्त कक्षों में भी सूर्य का आलोक प्रविष्ट हो जाता है। जिससे वह नई स्फूर्ति, अपूर्व उत्साह, परम तेज एवं पुनर्जीवन पा जाता है। परमपितामह परमात्मा विश्व ऊर्जा के स्रोत (Universal Energy Sources) हैं, विश्वव्यापी ज्ञानरूप महाप्रकाश के परम प्रेरणा स्रोत हैं। जो व्यक्ति अपना मुख उनकी ओर कर लेता है, अपने दिव्य नेत्रों से उनकी ओर देखता है, तथा उनकी शरण ग्रहण करके अपने हृदय-कपाट उनकी ओर खोल देता है, तो वह महाप्रकाश परमात्मा के ज्ञानादि का प्रकाश, तथा उनकी परम ऊर्जा के परमाणु शरण स्वीकर्ता के रोम-रोम एवं रग-रग में भर जाते हैं। ज्ञान का वह प्रकाश उसके समस्त अन्धकारपूर्ण आत्म-प्रदेशों में भर जाता है, तब अज्ञान तिमिर मिट जाता है। ज्ञान के उस प्रकाश से उसे नई स्फूर्ति, नया उत्साह एवं नई उमंग मिलती है। ऊर्जा के परमाणु उसकी अन्तरात्मा में प्रविष्ट होने से उसे शुद्ध आत्म-गुणों में रमण करके परमात्मभाव की ओर बढ़ते जाने की शक्ति मिलती है।

परमात्मा की शरण परावलम्बी बनने के लिए नहीं

कई स्थूल दृष्टि वाले लोग कहते हैं कि परमात्मा की शरण में चले जाओ और धर्म-कर्म करना आदि सब कुछ उसी पर छोड़ दो। वही सब पापों से मुक्त कर देगा।[2] स्वयं कुछ त्याग, तप, संयम, व्रत, नियम या ज्ञान-दर्शन-चारित्र में पुरुषार्थ करने या कष्ट सहने की आवश्यकता नहीं।

---

१ भगवद्गीता अ. १८, श्लो. ६२

२ सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

—भगवद्गीता

विपत्तियाँ आएँगी, संकट या विघ्न आयेंगे तो वही दूर कर देगा। हमें कुछ करने-धरने की आवश्यकता नहीं। परन्तु यह तो महान आलसियों का सूत्र है। यह परमात्मशरण-स्वीकार करने का यथार्थ उद्देश्य नहीं है। श्रमण-संस्कृति में परमात्मा की शरण परावलम्बी बनने के लिए नहीं, अपितु स्वयं द्वारा रत्नत्रय-साधना में श्रम (पुरुषार्थ) से ही परमात्मपद या मोक्षपद प्राप्त करने के लिए है। शरण स्वीकार करके साधक शरण्य-परमात्मा पर अपने द्वारा करने योग्य कार्य का भार नहीं डालता। न ही श्रमणसंस्कृति किसी देवी-देव या देवाधिदेव से ऐसी याचना या भीख मांगना ही सिखाती है। वह अदीन मन से अपने पुरुषार्थ आध्यात्मिक श्रम से अपनी आत्मशक्ति एवं आत्मज्योति प्रकट करना सिखाती है। परमात्मा की शरण लेने का उद्देश्य यही है कि अनन्तज्ञानादि चतुष्टय सम्पन्न परमात्मा से अपने में सम्यग्ज्ञान, दर्शन, आत्मिक सुख और आत्मशक्ति प्रकट करने की प्रेरणा, बोध या जागृति मिले। दूसरी दृष्टि से देखें तो परमात्मशरण एक तरह से शुद्ध आत्मा का ही शरण है। जैसा कि मोक्षपाहुड में कहा है—

आदा हु मे शरण[1]

निश्चयनय की दृष्टि से आत्मा ही मेरा शरण है।

प्रभु-शरण-ग्रहण का मुख्य उद्देश्य

शरणस्वीकर्ता साधक की आत्मा अभी ज्ञानादि-चतुष्टय में अपूर्ण है, कर्मों से मलिन है, आत्मिकशक्ति में बहुत दुर्बल है। जब तक आत्मघाती कर्म आत्मा से हटते नहीं, तब तक उसके आत्मभावों एवं आत्मगुणों में रमण में, आत्मविकास एवं आत्मशुद्धि करने में बार-बार अनेक अड़चनें आती हैं। अनेक दुःख, संकट और विघ्न आते हैं। प्रभुशरण का उद्देश्य है—उस समय प्रभु से बोधमय प्रकाश, अन्तःस्फुरणा, साहस एवं धैर्य की प्रेरणा मिले, प्रभु का शरण-सान्निध्य उन समस्त दुःखों के बीजरूप कर्मों को काटने में शक्ति, अनुभूति, हिम्मत और आश्वासन देने वाले वाला बने। साथ ही जब कभी साधक साधना करते समय कर्तव्य-अकर्तव्य, हिताहित, श्रेय-प्रेय, हेय-उपादेय के विषय में अल्पज्ञता के कारण किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो जाए, वहाँ परमात्मा की अव्यक्त यथार्थ प्रेरणा मिले तथा साधक कार्यसिद्धि होने पर अहंकर्तृत्व से बचे, वह सभी श्रेयस्कर कार्यों का श्रेय उन्हीं को दे। दुःख,

---

१ मोक्षपाहुड १०५

संकट, विपत्ति, रोग या आकस्मिक प्राकृतिक प्रकोप आदि होने पर स्वयं को एकाकी, असहाय और अनाथ न समझे, स्वयं समभावपूर्वक उन्हें सहन कर ले। प्रभु का शरण-सान्निध्य शरणागत के लिए इतना शक्तिदायक, समत्वप्रेरक बन जाता है कि वह पूर्वकृत कठोर कर्मों को भी हंसते-हंसते भोग कर काट लेता है। वह ऐसे विषम स्थानों में भी निर्भय और बेधड़क होकर चला जाता है, जहाँ अधिकांश लोग विरोधी, द्वेषी या प्रतिकूल हों, उसका जाना-माना कोई सहायक, भक्त, अनुयायी या परिचारक या पारिवारिकजन नहीं होता, अथवा उन स्थानों के खानपान, रहनसहन, जलवायु भाषा, सभ्यता या संस्कार उसके अनुकूल नहीं होते। इसके पीछे शरणागत का दृढ़विश्वास होता है कि मेरे साथ अव्यक्तरूप से अनन्तशक्तिमान परमात्मा हैं।

चिकागो की विश्व धर्म परिषद् में भाग लेने के लिए जब स्वामी विवेकानन्द अमेरिका आए थे, तब उनका परिचित कोई सहायक नहीं था, बल्कि वहाँ के क्रिश्चियन पादरी उनके विरोधी बनकर उन्हें बदनाम करने लगे थे, फिर भी वे उस विरोधी वातावरण में वहाँ डटे रहे, क्योंकि वे अपने साथ परम कृपालु परमात्मा एवं अपने गुरुदेव रामकृष्ण परमहंस का सान्निध्य मानते थे। इसी कारण उन्हें वहाँ काफी सफलता, आत्मशक्ति एवं कीर्ति प्राप्त हुई। यह है शरणागत द्वारा परमात्मशरण ग्रहण करके विपरीत वातावरण में भी स्व-पुरुषार्थ द्वारा अर्जित सफलता का महालाभ! अतः परमात्मशरण स्वावलम्बी बनकर पुरुषार्थ करने के लिए है, परावलम्बी बनकर बैठे रहने के लिए नहीं।

शरण-ग्रहण आप्त वीतराग परमात्मा का ही क्यों ?

आज संसार में कलियुगी भगवानों की बाढ़ आ गई है, जो भी थोड़ा-सा चमत्कार बतला देता है, या छटादार भाषण करता है, अथवा कठोर कष्ट सहन करता है, या जादूगर की तरह कुछ करिश्मे बताता है, उसे भोले लोग भगवान् मान बैठते हैं। कई तथाकथित भगवान् अहर्निश स्त्रियों का संग करते हैं, कामोत्तेजना के कारणभूत दृश्य, श्रव्य, स्पृश्य, खाद्य और गन्ध्य विषयों का खुलकर उपयोग करते हैं। इन्द्रियों और मन को अपने-अपने विषयों में रमण करने के लिये जो उन्मुक्त छोड़ देते हैं, और पंचेन्द्रियों की विषयासक्ति से समाधि लाभ का प्रचार करते हैं, जिन्हें आडम्बर, प्रदर्शन, प्रसिद्धि, प्रतिष्ठा और प्रशंसा की भूख है, अथवा जो अपनी

निजी जमीन-जायदाद, धन-सम्पत्ति, बंगले, कार और मठ (आश्रम) आदि की आसक्ति और ममता में डूबे हुए हैं। जो स्वयं भक्तों से लाखों रुपए भेंट लेते हैं, अपने मिशन का प्रचार-प्रसार करते की उधेड़बुन में ही लगे रहते हैं। जो निद्रा को जीत नहीं सकते। इष्ट-वियोग और अनिष्ट-संयोग से जो तिलमिला उठते हैं, शोक-संतप्त हो जाते हैं। अपनी प्रतिष्ठा पर आँच आते ही या लोकनिन्दा होते ही धनलोलुप नेताओं एवं अधिकारियों को मनमाना प्रलोभन देकर उनका मुँह बन्द कर देते हैं। ये और ऐसे ही तथाकथित लोगों की बौद्धिक प्रतिभा से आकर्षित होकर उन्हें भगवान्, प्रभु, आप्त या शरण्य मानकर उनकी शरण ग्रहण करते हैं। परन्तु जैनदर्शन उन्हें ही आप्त सर्वज्ञ एवं परमात्मा मानता है, जो या तो सर्वकर्ममुक्त सिद्ध-बुद्ध-विदेह-मुक्त हों, या वे घातीकर्मों से मुक्त, अठारह दोषों से रहित हों, ज्ञान-दर्शन चारित्र, आनन्द और आत्मशक्ति से परिपूर्ण हों। इसके लिए आचार्य अमितगति कहते हैं—

येनक्षता मन्मथ-मान-मूर्च्छा-विषादनिद्रा-भय-शोक-चिन्ता।
क्षयोऽनलेनेव तरुप्रकरस्तं देवमाप्तं शरणं प्रपद्ये ॥[1]

जिन्होंने काम, मान, मूर्च्छा, विषाद, निद्रा, भय, शोक और चिन्ता को उसी प्रकार भस्म कर डाला है जिस प्रकार अग्नि तरुसमूह को भस्म कर डालती है, मैं उन आप्त वीतराग परमात्मा की शरण स्वीकार करता हूँ। वैभव, आडम्बर, चमत्कारों एवं केवल अतिशयों के आधार पर किसी को सर्वज्ञ, वीतराग एवं आप्त मानने से आप्तमीमांसा के रचयिता आचार्य समन्तभद्र ने सर्वथा इन्कार कर दिया है।[2] उन्होंने उन्हीं को वीतराग आप्त माना है, जो क्षुधा, पिपासा, जरा, रोग, भय, जन्म-मरण, अहंकार, राग, द्वेष, मोह, चिन्ता, रति, विषाद, खेद, निद्रा, आश्चर्य आदि १८ दोषों से रहित हों।[3] वही सर्वज्ञ वीतरागदेव, जीवन्मुक्त परमात्मा कहलाता है। जीवन्मुक्त परमात्मा का लक्षण भी 'नियमसार' में स्पष्ट बताया गया है—

---

१ सामायिक पाठ श्लो. २

२ देवागमनभोयान, चामरादि-विभूतयः।
मायाविष्वपि दृश्यन्ते, नातस्त्वमसि नो महान् ॥ —आप्तमीमांसा

३ क्षुत्पिपासा-जरातंक-जन्मान्तक-भय-स्मयाः।
न रागद्वेष-मोहाश्च यस्याप्तः स प्रकीर्त्यते ॥ —रत्नकरण्डकश्रावकाचार ६

"णिस्सेस-दोस-रहिओ, केवलणाणाइ-परमविभवजुदो ?
सो परमप्पा उच्चइ, तव्विवरीओ ण परमप्पा ।"[1]

जो राग-द्वेष-मोहादि समस्त दोषों से रहित हैं और केवलज्ञानादि परमआत्मिक वैभव (ऐश्वर्य) से युक्त हैं, वही परमात्मा आप्त कहलाता है, जो उससे विपरीत है, वह आप्त व परमात्मा नहीं हो सकता।

लौकिक व्यवहार में भी उसी को शरण ली जाती है, जो उस विषय में समर्थ हो। निर्बल व्यक्ति अपनी रक्षा के लिए शरीर से बलवान् की शरण लेता है, जो निर्भय हो, भयभीत व्यक्ति उसी की शरण ग्रहण करता है। निर्धन धनाढ्य की, मन्दबुद्धि बुद्धिमान् की और अभावपीड़ित सम्पन्न व्यक्ति की शरण में आता है। इसी प्रकार आध्यात्मिक क्षेत्र में उसी की शरण ग्रहण की जानी चाहिए, जो आत्मा के ज्ञानानन्दादि निजी गुणों से परिपूर्ण हो, जो सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, आत्मानन्द और आत्मिक शक्ति से परिपूर्ण हो, उसी से ज्ञान-दर्शन, आनन्द और शक्ति की परिपूर्णता की ओर, अर्थात् परमात्मभाव की ओर गति-प्रगति करने की, उस मार्ग (मोक्षमार्ग) में आने वाले विघ्नों, संकटों, भयों व प्रलोभनों से आत्मरक्षा करने की प्रेरणा मिल सकती हो। जो स्वयं आध्यात्मिक गुणों में अपूर्ण है, निर्बल है, आत्मशक्तियों में बहुत पिछड़ा हुआ है, परीषहों और उपसर्गों को समभावपूर्वक सहने में अशक्त है, सुख-सुविधाभोगी है, भयों और प्रलोभनों से, तथा मनोज्ञविषयों के मोहजाल से निःसंग, निर्लेप एवं अनासक्त नहीं रह सकता, आत्मगुणों में रमण करने की अपेक्षा स्वयं परभावों या विभावों में अथवा सांसारिक प्रपंचों में डूबा रहता है, उसकी शरण में जाने से सामान्य साधक को अपने अन्तिम लक्ष्य—परमात्मभाव की ओर गति करने की, परीषहों और उपसर्गों को समभाव से सहने की, त्याग, वैराग्य की, विषय-सुखों से अनासक्त रहने की तथा इष्टवियोग-अनिष्टसंयोग के समय समभाव में स्थिर रहने की क्या प्रेरणा मिल सकती है? वह आध्यात्मिक अनुभवहीन व्यक्ति शुद्ध आत्मभावों में रमण करने का क्या उपाय एवं अनुभव बताएगा।

कदाचित् आप्त-परमात्मा की शरण में जाने के बदले कोई स्वार्थ साधक मोहान्ध व्यक्ति तथाकथित भगवान् की शरण में चला भी जाए तो क्या वह उससे आध्यात्मिक सम्पत्ति या परमात्मभाव की प्रेरणा

---

१ नियमसार

पाएगा ? बहुत सम्भव है, उसे बीच में ही धोखा खाकर ऐसे भगवान् को छोड़ना पड़े; अथवा वह उसकी कथनी-करणी में विषमता एवं आत्मिक दुर्बलता देखकर उसके प्रति शंका, अविश्वास एवं अश्रद्धा लाकर या उससे भय या खतरा समझकर छोड़ दे।

अतः जो परमज्योतिर्धर, सर्वज्ञ, रागद्वेषरहित, आत्मघाती कर्मों से रहित, सर्वजीव हितैषी, एवं सत्य-हितोपदेष्टा हैं वे ही पूर्वोक्त १८ दोषों से रहित, आप्त परमात्मा हो सकते हैं, उन्हीं की शरण-ग्रहण से आध्यात्मिक विकास के शिखर पर पहुँचने एवं परमात्मभाव प्राप्त करने की प्रेरणा मिल सकती है। शेष जो दो उत्तमों की शरण बताई गई है, वह परमात्मभाव के मार्ग को बताते हैं, उनसे सीधी परमात्मभाव-प्राप्ति की अनुभवयुक्त प्रेरणा नहीं मिल सकती। इसलिए यहाँ आप्त वीतरागपरमात्मा की शरण-ग्रहण ही अभीष्ट बताई है।

शरण-ग्रहण करने की सार्थकता

शरणग्रहण करने की सार्थकता तभी पूर्ण हो सकती है, जब वह वीतराग-परमात्मा का स्वरूप भलीभाँति समझकर, निष्काम, निःस्वार्थ एवं निःस्पृहभाव से उनकी शरणग्रहण करे। बिना सोचे-समझे यों ही किसी की शरण में जाना अंधकूप में कूदना है। जिसकी शरण में व्यक्ति जाना चाहता है, पहले उसे जानना चाहिए कि वह शरणदाता परमात्मा के गुणों से युक्त है या नहीं ? यदि कोई व्यक्ति किसी लौकिक स्वार्थ, साधन, पुत्र, धन, मुकदमे में विजय या हाथ पकड़कर विपत्ति में सहायता प्राप्त करने की आशा-आकांक्षा से वीतराग आप्त परमात्मा की शरण-ग्रहण करता है, तो यह एक प्रकार की सौदेबाजी हो जाएगी, अथवा अतिशय, चमत्कार, वैभव या आडम्बर आदि देखकर कोई इनकी शरण ग्रहण करता है तो वह सच्चे माने में शरणग्रहण नहीं हैं। शरणग्रहण के साथ कोई सौदेबाजी स्वार्थसिद्धि या चमत्कार-प्रदर्शन की शर्त लगाई जायेगी तो वह शरण निष्काम और निःस्वार्थ नहीं रहेगी। उसमें से शरणागति का असली तत्त्व लुप्त हो जाएगा। और जब उस शरण्य से अमुक स्वार्थ या कामना की पूर्ति नहीं होगी, या अमुक भौतिक चमत्कार नहीं दिखाई देगा तो उसके प्रति देवमूढ़ता से युक्त उस शरणागत की श्रद्धा-भक्ति छूमंतर हो जाएगी। अतः शरण अकारणयुक्त होनी चाहिए, सकारण नहीं। शरण जितनी ही निष्काम, निःस्वार्थ, निःस्पृह एवं विनिमयभाव से रहित होगी, उतनी ही वह शुद्ध होगी, शरणागत की परमात्मभाव की ओर दौड़ उतनी ही तीव्र

और अप्रतिबद्ध होगी। शरण्य आप्त-पुरुष (वीतराग परमात्मा) की आप्तता एवं परमात्मभाव को वैभव, चमत्कार, प्रदर्शन, आडम्बर लौकिक स्वार्थपूर्ति आदि के बाँटों से न तोलें। शरणागत द्वारा परमात्मा की शरण-ग्रहण करने का उद्देश्य एकमात्र परमात्मभाव का शीघ्र वरण करना है।

शरणागत की विशिष्ट अर्हताएँ

बिना किसी शर्त और स्वार्थ के वीतराग परमात्मा की शरण स्वीकार करने के अतिरिक्त शरणस्वीकर्त्ता में कुछ विशिष्ट अर्हताएँ आवश्यक हैं। वे इस प्रकार हैं—(१) सर्वतोभावेन अहंत्व-ममत्व-विसर्जन, (२) परमात्मा के प्रति अद्वैतभाव, (३) अनुशासित आज्ञांकित और आश्वस्त जीवन, (४) शरण्य परमात्मा के प्रति समर्पण, (५) शरण स्वीकार करने में कारण और तर्क से दूर रहना, (६) परमात्मा में दृढ़विश्वास, (७) परमात्मभाव प्राप्त करने की तड़फन, एवं (८) आत्मा को निर्मल एवं स्वभाव में रत रखने की जागृति।

(१) अहंत्व विसर्जन—परमात्मा की शरण में जाने वाले के लिए अहं का विसर्जन करना अनिवार्य है। उसके बिना परमात्मा की वत्सलता, कृपा, करुणा, दया आदि शरणग्रहणकर्त्ता साधक को प्राप्त नहीं होती, न ही परमात्म-प्राप्ति का तथा जन्म-मरणादि दुःखों को मिटाने का बोध तथा उत्साह मिलता है। इसीलिए आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने परमात्मभक्त शरणागत बनकर वीतराग प्रभु के चरणों में प्रार्थना की है—

त्वं नाथ दुःखिजन-वत्सल ! हे शरण्य !
कारुण्य-पुण्य-वसते ! वशिनां वरेण्य !
भक्त्या नते मयि, महेश ! दयां विधाय।
दुःखांकुरोद्दलन—तत्परतां विधेहि ॥[1]

अर्थात्—हे नाथ ! दुःखित जनों के प्रति अकारणवत्सल हैं, शरण-प्रदाता हैं, कारुण्य और पुण्य के आवास स्थान हैं, जितेन्द्रिय व्यक्तियों में श्रेष्ठ हैं। हे अनन्तज्ञानादि आत्मिक ऐश्वर्य के निधान महेश्वर ! मैं आपके चरणों में सभक्ति नतमस्तक हूँ। आप मुझ पर दया करके मेरे जन्म-मरणादि दुःखों को नष्ट करने का उपाय तथा उत्साह प्रदान करें।

वस्तुतः जब शरणग्रहणकर्त्ता अपने अहंत्व का विसर्जन करता है, तभी परमात्मा यानी शुद्ध-आत्मा का अनुग्रह प्राप्त होता है।

---

१ कल्याण मन्दिर स्तोत्र काव्य ३६

(२) परमात्मा के प्रति अद्वैतभाव—परमात्मा के प्रति अद्वैतभाव में मैं नहीं, तू ही मेरा सर्वस्व है। यही भाव अन्तर्हृदय में गूंजते रहते हैं। एक सूफी संत ने एकात्मभाव से परमात्मा का ध्यान किया। उसने बहुत ही एकाग्रतापूर्वक चिन्तन-मनन के पश्चात् अन्तर्हृदय में परमात्मा को भावना के द्वारा विराजमान करके मन ही मन द्वार खटखटाया। भीतर से अदृश्य आवाज आई—कौन है? उसने मन से ही उत्तर दिया—'मैं हूँ।" अव्यक्त वाणी हुई—"अभी भीतर प्रवेश करने की योग्यता प्राप्त नहीं हुई।"

दस वर्ष के पश्चात् फिर इसी प्रकार अन्तःस्थित परमात्मा का द्वार खटखटाया। पुनः अदृश्य आवाज आई और सूफी संत ने वही उत्तर दोहराया। इस बार भी वही अव्यक्त उत्तर मिला। तीसरी बार फिर उसी प्रकार दरवाजा खटखटाने पर उससे पूछा गया तो उसने उत्तर दिया—'तू ही है।" इस बार द्वार खुला। अन्तर् में स्पष्ट स्फुरणा उत्पन्न हुई—जब तक 'मैं' है, तब तक परमात्मा (या मोक्ष) का द्वार नहीं खुलता। 'मैं' को जब 'तू' में समर्पित या विसर्जित कर दिया जाता है; अप्पाणं वोसिरामि[1] (मैं अपने आपको व्युत्सर्ग करता हूँ) की निष्ठा प्रकट होती है, तभी प्रभु का द्वार खुलता है। उसमें साधक की वर्तमान अशुद्ध आत्मा शुद्ध होकर परमात्मभाव (शुद्ध आत्मभाव) में मिल जाती है, तादात्म्य स्थापित कर लेता है। वहाँ 'मैं' और 'तू' एक अद्वैत हो जाते हैं। जैसा कि विनयचन्द चौबीसी में कहा गया है—

"तुम्हीं-हम एकता मानूं, द्वैत भ्रम कल्पना जानूं।"[2]

शरण ग्रहण करने वाला परमात्मा और अपनी आत्मा के बीच में द्वैतभाव (दुई) नहीं रखता। वह निश्छल, निर्भय और बालक की तरह सरल निखालिस होकर अपना हृदय परमात्मा के समक्ष खोल देता है। जब आत्मा निष्ठापूर्वक परमात्मा की शरण स्वीकार करके इस प्रकार का अभेद या अद्वैत भाव परमात्मा के साथ स्थापित कर लेता है, तब उसके अन्तर् से वाणी फूट पड़ती है—

---

१ करेमि भंते का पाठ

२ विनयचन्द चौबीसी कुन्थुनाथ जिनस्तवन

सिद्धोऽहं सुद्धोऽहं, अणंत-णाणादि गुण-समिद्धोऽहं ।[1]

"मैं सिद्ध हूँ, शुद्ध हूँ, मैं (मूल में) परमात्मा के समान अनन्त-ज्ञानादि गुणों से समृद्ध हूँ।" जो आत्मा परमात्मशरण स्वीकार करता है वह औपाधिक मलिनता को एक ओर हटा लेता है, और अन्तर्दृष्टि होकर अनन्यभाव से जब अपने विशुद्ध स्वरूप का अन्तर् निरीक्षण-अनुप्रेक्षण करता है, तब समस्त विभावों को आत्मा से भिन्न अनुभव करने लगता है।

ऐसे शरणागत आत्मार्थी को 'सोऽहम्' की प्रतीति होने लगती है। उसका अन्तरात्मा बोल उठता है—प्रभो! मूल में तुझ में और मुझ में कोई अन्तर ही नहीं है। शरणागत व्यक्ति अपनी पैनी अन्तर्दृष्टि से शरीर, मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ आदि से परम शुद्ध एवं सूक्ष्म आत्मा को देख लेता है।

(३) अनुशासित, आज्ञांकित और आश्वस्त जीवन—शरणस्वीकर्त्ता में तीसरा गुण यह होना चाहिए।

शरण ग्रहणकर्त्ता के अन्तःकरण में सदैव यह बात अंकित हो जानी चाहिए कि वीतराग परमात्मा का शासन (अनुशासन) मेरे सिर पर है। अतः उसे अपना जीवन सदैव धर्मानुशासन में अनुशासित और नियंत्रित रखना चाहिए। शरणागत साधक गृहस्थ हो साधु, वह कोई भी ऐसा दुष्कृत्य नहीं करेगा, जिससे सरकार और समाज द्वारा वह दण्डनीय हो, बदनाम हो और अपने धर्मतीर्थ संस्थापक वीतराग प्रभु की बदनामी हो। वह परमात्मा वीतराग द्वारा प्ररूपित एवं स्थापित धर्म और धर्मतीर्थ की धर्म-मर्यादाओं के पालन में सजग और त्याग-तप-संयम द्वारा स्वयं को कठोर नियन्त्रण में रखने का प्रयत्न करेगा। सर्वज्ञ वीतराग द्वारा उपदिष्ट शास्त्रवचन या सिद्धान्त की पूर्वापर विरुद्ध बात जहाँ उसकी समझ में नहीं आती, वहाँ वह पूर्णतः आश्वस्त होकर सही मार्गदर्शन एव कर्तव्य-निर्धारण के लिए वीतराग-परमात्मा की शरण ग्रहण कर वह पूर्ण आश्वासन प्राप्त कर लेता है और निश्चिन्त तथा निर्द्वन्द्व होकर भावपूर्वक प्रभु को अपने पवित्र शुद्ध हृदयासन पर विराजमान कर जब परमात्मा की भावना से रूपस्थ ध्यान करता है तो अन्तःकरण से स्वतः स्फुरणा प्रस्फुटित हो

---

१ प्रवचनसार

जाती है—कि 'यह करो यह न करो।' 'इस प्रकार का व्यवहार करो, ऐसा व्यवहार न करो' इत्यादि। तत्पश्चात् वह प्रभु के आदेश-सन्देश को शिरोधार्य कर लेता है, तथा परमात्मा के द्वारा स्थापित संघ एवं संघनायक के अनुशासन में चलता है।

कर्मयोगी श्रीकृष्ण द्वारा गीता का उपदेश और बोध प्राप्त कर लेने पर भी अर्जुन विषादमग्न रहा। युद्ध क्षेत्र में हुई खिन्नता को वह शान्त एवं समाहित न कर सका, न ही स्व-कर्तव्य निर्धारित कर सका। ऐसी स्थिति में वह अपनी अन्तर्व्यथा श्रीकृष्ण जी के समक्ष प्रगट करता है—

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः।
पृच्छामि त्वां धर्म-संमूढचेताः।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहितन्मे।
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्॥[1]

कायरता के दोष से मेरा स्वभाव आहत हो गया है, इस कारण अपने धर्म के विषय में मेरा चित्त विवेकमूढ़ हो गया है। इस कारण मैं आपसे पूछता हूँ, कि जो मेरे लिए निश्चय ही श्रेयस्कर कल्याणकारक (कर्त्तव्य) हो, वह मुझे आप कहिए। मैं आपकी शरण स्वीकार किया हुआ, आपका शिष्य हूँ, मुझे शिक्षा दीजिए, अनुशासित कीजिए।

वस्तुतः परमात्मा की शरण स्वीकार करने वाले व्यक्ति का भी ऐसा ही आदर्श होना चाहिए। उसका जीवन अनुशासित, आज्ञांकित और आश्वस्त होना चाहिए।

(४) शरण स्वीकर्त्ता का समर्पित जीवन—यह शरण स्वीकर्त्ता का चौथा गुण है। वह परमात्मा के चरणों में अपना जीवन समर्पित कर देता है। फलतः वह निश्चिन्त, निर्द्वन्द्व एवं दृढ़ निश्चय के साथ जीवन यापन करता है। फिर वह शरण्य से कदापि विमुख नहीं होता, न ही वह पीछे मुड़कर अपने और अपनों के लिए चिन्तित होता है।

विभिन्न धर्मों के धर्मग्रन्थों में शरण के विषय में पृथक्-पृथक् उपदेश

---

१ भगवद्गीता अ० २, श्लोक ७।

मिलते हैं। 'सरणं गच्छामि'[1] और 'सरणं पवज्जामि'[2] इन दोनों वाक्यों में ऊपर-ऊपर से देखने पर कोई अन्तर नहीं मालूम होता, किंतु गहराई से सोचने पर दोनों में स्पष्ट अन्तर प्रतीत होता है। 'गच्छामि' में शरण में जाने का प्रारम्भ है। शायद शरण में जाने की यह यात्रा पूरी न भी हो, किसी भ्रम, संशय या बहकावे में पड़कर व्यक्ति वापस भी लौट सकता है। अथवा शरण में जाता हूँ, कहने वाले व्यक्ति को शरण्य तक पहुँचते-पहुँचते कई वर्ष या कई जन्म भी लग जाएँ, क्योंकि यह तो साधक के तीव्र या मंद उत्साह की मनःस्थिति या गति-मति पर निर्भर है। किन्तु 'सरणं पवज्जामि' (शरण स्वीकार करता हूँ) यह प्रतिज्ञाबद्ध साधक का दृढ निश्चय सूचक वचन है। इसमें बहुत ही सोच-विचार के पश्चात् निर्णय करके उठाया हुआ कदम, अन्तिम निश्चय सूचित होता है। इस वाक्य में वापस लौटने का कोई आभास नहीं होता। साधक ने यह कहकर एक ही झटके में शरण स्वीकार करने का फैसला कर लिया, मानो वह शरण के अन्तिम सिरे तक पहुँच गया।

अध्यात्मसाधना करने वाला जैनसाधक प्रतिदिन इसी प्रकार के सूत्रों का उच्चारण करता है—

"चत्तारि सरणं पवज्जामि—अरिहंते सरणं पवज्जामि, सिद्धे सरणं पवज्जामि, साहू सरणं पवज्जामि, केवलि-पण्णत्तं धम्मं सरणं पवज्जामि।"[3]

"मैं चार लोकोत्तमों एवं लोकमंगलों की शरण स्वीकार करता हूँ। संक्षेप में वे चार हैं—अरिहंत, सिद्ध, साधु और सर्वज्ञ प्रज्ञप्त धर्म।"

'सर्वेपद हस्तिपदे निमग्नाः'—हाथी के पैर में सभी के पैर समा जाते हैं, इस न्याय के अनुसार अरिहन्त और सिद्ध परमात्मा की शरण में साधु और केवलि (सर्वज्ञ) प्रज्ञप्त धर्म की शरण का समावेश हो जाता है, क्योंकि ये दोनों क्रमशः वीतराग सर्वज्ञ अरिहन्त परमात्मा द्वारा रचित (संघ) और प्ररूपित (धर्म) हैं। वस्तुतः सर्वज्ञ प्ररूपित धर्म और उनके

---

१ 'बुद्धं सरणं गच्छामि' इत्यादि पाठ
२ चत्तारि सरणं पवज्जामि इत्यादि पाठ
३ आवश्यक सूत्र में श्रमण सूत्रान्तर्गत शरणसूत्रपाठ

द्वारा रचित संघ ये दोनों ही परमात्मा की शरण स्वीकार करने के साथ ही उपलब्ध हो जाते हैं।

दूसरी बात—पूर्णता या परमात्मभाव की प्राप्ति की ओर जाना हो तो परमात्मा की शरण ग्रहण करना ही उचित और अभीष्ट है। वास्तव में, शरण स्वीकारने वाला सर्वतोभावेन परमात्मा के प्रति समर्पित हो जाता है।

एक दृष्टान्त के द्वारा 'शरण में जाने' और 'शरण-स्वीकार करने' के अन्तर को समझ लेना उचित होगा—

एक बार बरसात में उत्पन्न पंखवाले कीड़ों और पतंगों में कुछ समानता होने से परस्पर प्रेम हो गया। पंखवाले कीड़ों ने पतंगों के सरदार से अपनी जाति में मिलाने, परस्पर बिरादरी का सम्बन्ध स्थापित करने तथा मेलजोल बढ़ाने के लिए कहा तो पतंगों के सरदार ने कहा—'बात तो आपकी ठीक है। परन्तु हम आपको अपनी जाति में तभी मिला सकते हैं, जब हम पहले आप लोगों की परीक्षा करलें।' पंखवाले कीड़ों ने इस शर्त को सहर्ष स्वीकार कर लिया।

उसी दिन सन्ध्या काल में जब दीयाबत्ती का समय हुआ तो पतंगों के सरदार ने पंख वाले कीड़ों से कहा—'अच्छा, जरा देख आइए तो शहर में रोशनी हुई या नहीं ?

पंखवाले कीड़े शीघ्र गति से शहर के बाजार में पहुँच गए और थोड़ी ही देर में वापस लौट आए। वे पतंगों के सरदार से कहने लगे—'हम देख आए हैं, शहर में रोशनी हो गई है।'

पतंगों के चौधरी ने कहा—"हमें आपको हमारी जाति में नहीं मिलाना है। हमारी जाति का कोई भी सदस्य रोशनी देखकर वापस नहीं लौटता। वह प्रकाश पर अपना सर्वस्व न्यौछावर कर देता है, तुम तो प्रकाश को देखकर वापस लौट आए हो।"

यह है शरण स्वीकारने और शरण में जाने वालों की मनोवृत्ति का स्पष्ट चित्र ! शरण स्वीकार करने वाला शरण्य परमात्मा में ही समर्पित हो जाता है, अपने सर्वस्व को विसर्जित कर देता है, जबकि शरण में जाने वाला प्रायः बीच में से वापस लौट सकता है। उसके अहं और स्वार्थ को ठेस लगते ही उसकी वक्र तर्कबुद्धि तत्काल कह सकती है—नहीं स्वीकार

करनी है मुझे किसी की शरण, क्यों जान-बूझकर किसी की अधीनता स्वीकार करूँ।

वास्तव में, अहंकार, अष्टविधमद, सप्तविध भय एवं कुतर्क बुद्धि से ग्रस्त व्यक्ति अथवा उद्धत, उद्दण्ड, आत्मकेन्द्रित, निपट स्वार्थी या असीम महत्वाकांक्षी व्यक्ति परमात्मशरण स्वीकार करने से घबराता है। वह अपने पूर्वाग्रह, अहम्मन्यता एवं हठाग्रह को छोड़ नहीं सकता। परन्तु शरण स्वीकार करने वाले के लिए पहली शर्त है, इन पूर्वोक्त दोषों को छोड़ने की।

सच्चा शरणस्वीकर्त्ता : प्रभु का उज्ज्वल प्रकाश पाने का अधिकारी

सच्चे माने में शरण वही स्वीकार कर पाता है, जो व्यक्ति वीतराग परमात्मा से अपना अनन्य सम्बन्ध जोड़ता है। चकोर जैसे चन्द्रमा के प्रति एकटक दृष्टि रखकर उससे सम्बन्ध जोड़ता है। सूरजमुखी पुष्प या सूर्य-विकासी कमल जैसे सूर्य की ओर मुख किये रहता है, सूर्य के उदय होने पर विकसित होता है और सूर्य के अस्त होने पर सिकुड़ जाता है, उसी प्रकार परमात्मा की शरणग्रहण करने वाला परमात्मा की ओर एकटक दृष्टि रखता है, उनकी ओर अभिमुख रहता है। परिणामस्वरूप वह परमात्मा रूपी सूर्य या चन्द्रमा से अनन्तज्ञान का प्रकाश और दर्शन पाता है, उनकी आत्मशक्ति और आत्मिक आनन्द की किरणें उसकी आत्मा पर पड़ती हैं। परमात्मा की शान्ति और ऊर्जा के श्वेत परमाणु सीधे उसके मन-मस्तिष्क, हृदय एवं आत्मा पर पड़ते हैं। शरण स्वीकारकर्त्ता का जीवन ओजस्वी, तेजस्वी और वर्चस्वी बनता है। परमात्मभाव-प्राप्ति में शरण-ग्रहण एक ऐसी वैज्ञानिक प्रक्रिया है, जिसके माध्यम से शरणस्वीकर्त्ता साधक अपने अन्दर रहे हुए काले और मटमैले पापाचरण प्रोत्साहक मानव अणुओं को, दिव्य, तेजस्वी, उज्ज्वल तथा शान्ति, सदाचार और प्रसन्नता में अभिवृद्धि करने वाले प्रकाशाणुओं (मानवाणुओं) में परिवर्तित कर सकता है।[1] जैन सिद्धांत की दृष्टि से कहें तो वह कृष्णपक्षी से शुक्लपक्षी बन जाता है, कृष्णादि अप्रशस्त लेश्याओं को प्रशस्त (तेज-पद्म-शुक्ल) लेश्याओं में परिणत कर लेता है। तात्पर्य यह है कि जो इस प्रकार परमात्मा से सीधा अनन्य आत्मीय सम्बन्ध जोड़ लेता है, वही सच्चा शरण-स्वीकर्त्ता है, वही परमात्मा के ज्ञानादि का उज्ज्वल प्रकाश पाता है।

---

१ विशेष जानकारी के लिए देखिए—अणु और आत्मा (ले. मदर जे. सी. ट्रस्ट)

परमात्मा से सम्मुखता और विमुखता का परिणाम

यह तो एक अनुभवसिद्ध तथ्य है कि जो फूल पेड़ की जड़ों से अपने सम्बन्ध तोड़ लेता है, सूर्य की ओर मुँह फेरने में अकड़ दिखाता है। वर्षा आती है, तब अपनी पंखुड़ियाँ बन्द कर लेता है, वह मुर्झा जाता है, सड़ जाता है और शीघ्र ही सूखकर झड़ जाता है, उस फूल का विनाश निश्चित है। किन्तु जो फूल पेड़ से अपना सम्बन्ध नहीं तोड़ता, दिन में सूर्य के सम्मुख होकर रहता है, रात को चन्द्रमा की ओर भी मुँह करता है, तथा वर्षा आने पर अपनी पंखुड़ियों को बन्द नहीं करता, वह पेड़ से जीवन-शक्ति पाता है, सूर्य और चन्द्रमा से प्रकाश, ऊर्जा और तेजस्विता तथा प्रफुल्लितता पाता है, सूर्य से जीवनरस प्राप्त करता है। ऐसा फूल शरणागत और समर्पित है। वह विकसित और प्रफुल्लित रहता है। उसे सब ओर से प्रकाश और जीवन मिलता है।

यही बात परमात्मा से विमुख और सम्मुख या परमात्मा की शरण ग्रहण न करने वाले और करने वाले के विषय में समझ लेनी चाहिए। जो संसारी व्यक्ति उद्धत, अहंकारी और आत्मकेन्द्रित है, वह परमात्मा से ही नहीं, परिवार, समाज और समष्टि से भी अपना शुद्ध शुभ या सम्बन्ध त्याग देता है। वह परमात्मा और शुद्ध आत्मा के सम्मुख होने में अपनी अकड़ दिखाता है। अपने आप में ही बन्द हुआ, वह निपट स्वार्थी या मोह-मुग्ध व्यक्ति, परमात्मा की आध्यात्मिक उपदेशवर्षा को भी ग्रहण नहीं करता, वह परमात्मा के सम्यग्ज्ञान-दर्शन का प्रकाश पाने से वंचित रहता है, उसका जीवन भी बुराइयों, अनैतिकताओं या दुर्व्यसनों में सड़-गलकर खत्म हो जाता है, वह आध्यात्मिक मृत्यु के कगार पर पहुँच जाता है। परन्तु जो परमात्मा से सीधा सम्बन्ध जोड़ता है, उनके सम्मुख होकर रहने में अपना सौभाग्य समझता है, उनकी उपदेशवृष्टि को ग्रहण करता है, तदनुसार यथाशक्ति आचरण भी करता है, वह परमात्मा से ज्ञानादि का उत्तम प्रकाश पाता है, आनन्दित और प्रफुल्लित रहता है।

शरणागत की बाह्य और आभ्यन्तर कायोत्सर्ग की सी स्थिति

वीतराग परमात्मा की शरण-ग्रहण करने वाले आत्मसमर्पित साधक की बाह्य और अन्तरंग स्थिति क्रमशः द्रव्यकायोत्सर्ग और भावकायोत्सर्ग के तुल्य हो जाती है। द्रव्य कायोत्सर्ग में मनुष्य शरीर को एक आसन में स्थिर कर देता है। उस समय वाणी को बोलने से, मन को सोचने से और

काया[1] को किसी प्रकार की चेष्टाएँ करने से रोक कर बिलकुल स्थिर कर दिया जाता है। इसी स्थिति में मन-वचन-काया को सर्वथा स्थिर करके प्रभु के समक्ष 'अप्पाणं वोसिरामि' कहकर द्रव्य-कायोत्सर्ग किया जाता है। इसी प्रकार की एक और प्रक्रिया भी द्रव्य-कायोत्सर्ग की है, जिसमें शरीर को और अंगोपांगों को बिलकुल शिथिल कर दिया जाता है। शरीर की बाह्य स्थिति शवासन की-सी हो जाती है। परमात्मा के समक्ष शरीर को पूर्णतः शिथिल छोड़कर साष्टांग दण्डवत् प्रणाम करने की अथवा पंचांग झुकाकर नमस्कार करने की भारतीय धर्मों की प्राचीन पद्धति है। यही परमात्मा की शरण स्वीकार करने वाले की बाह्य स्थिति है। जो जैनदृष्टि से द्रव्यकायोत्सर्ग की स्थिति है। भाव-कायोत्सर्ग शरण-ग्रहणकर्ता साधक की अन्तरंग स्थिति है, जिसमें परमात्मा की शरण स्वीकार करने वाला अपने शरीर और शरीर से सम्बन्धित, अपने माने हुए सजीव-निर्जीव पर-पदार्थों के प्रति अहंत्व-ममत्व का अन्तःकरण से, शुद्ध निष्काम भाव से विसर्जन करता है।

परमात्मा के समक्ष कायोत्सर्ग को केवल द्रव्यकायोत्सर्ग समझना भूल है। द्रव्यकायोत्सर्ग के साथ भावकायोत्सर्ग होने पर ही शरण-स्वीकर्त्ता की बहिरंग और अन्तरंग, दोनों प्रकार की स्थिति शरणग्रहण की सर्वांगपूर्ण बनाती है।

शिथिलीकरण वाली द्रव्य कायोत्सर्ग-प्रक्रिया में 'अप्पाणं वोसिरामि' कहने के साथ ही व्यक्ति भूमि पर सीधा लेट जाता है तथा हाथ-पैर आदि सारी अंगों को ढीला छोड़ देता है। उसे केवल काया का शिथिलीकरण भर न समझिये। लेटने के साथ भाव-कायोत्सर्ग के सन्दर्भ में शरण ग्रहण-कर्त्ता का अहंकार-ममकार भी लेट जाता है। उसके साथ काम-क्रोधादि अन्य विकार भी उस समय नष्ट हो जाते हैं क्योंकि परमात्मा की शरण ग्रहण करने पर व्यक्ति को शरीररक्षा की चिन्ता नहीं रहती, भयंकर से भयंकर विपत्ति और संकट आने पर भी समभाव से सहन करने की शक्ति उसमें आ जाती है। वह परमात्मा शुद्ध आत्मा की ही शक्ति है, क्योंकि शरणग्रहणकर्त्ता बाह्य और अन्तरंग दोनों प्रकार से स्वयं को प्रभुचरणों में विसर्जित कर उनमें तन्मय हो जाता है।

(५) **शरण्य के प्रति कारण और कुतर्क से दूर**—यह शरणागत का पंचम गुण है। शरणग्रहणकर्त्ता में शरण्य के प्रति मन में कुशंका,

१ 'ठाणेणं मोणेणं झाणेणं अप्पाणं वोसिरामि।' —आवश्यक सूत्र, कायोत्सर्ग पाठ

अविश्वास एवं उनकी भूलें तलाशने की वृत्ति नहीं होनी चाहिए। उनकी वाणी में रचना की भूलें या उनकी आकृति में कमी ढूंढना शरणस्वीकर्त्ता का सबसे बड़ा दोष है। अथवा वे सर्वज्ञ थे, तो सारी बातें पहले से ही क्यों नहीं बता दीं, भगवान् थे तो उनको इतने कष्ट क्यों सहने पड़े? उनके इर्द-गिर्द शत्रुता नहीं रहनी चाहिए थी? इत्यादि कुतर्क-वितर्क शरणागति में विघ्न पैदा करते हैं।

(६) **परमात्मा में दृढ़विश्वास**—शरणागत का परमात्मा के प्रति दृढ़ विश्वास होना अनिवार्य है। उसके मन में पक्का विश्वास होना चाहिए कि प्रभु की चरण-शरण ग्रहण करने पर मेरा अवश्य कल्याण होगा। मेरी आत्मा के विकास एवं उत्थान का पथ तथा अध्यात्मज्ञान का प्रकाश परमात्मा की शरण से ही मिल सकता है। इनकी शरण स्वीकार करने पर ही संसार के जन्म, जरा, मृत्यु, व्याधि, अज्ञान, मोह आदि से जनित दुःख मिट सकते हैं। आत्मिक आनन्द एवं शान्ति इन्हीं की शरण से मिल सकती है। साथ ही परमात्मा के कथनानुसार आत्मा की क्षमता, उत्कृष्टता, शुद्धता, एवं शक्तियों पर भी दृढ़विश्वास होना चाहिए। परमात्मविश्वास, आत्मविश्वास से भी ऊँची अन्तःनिष्ठा है। जिसका विश्वास दुर्बल और संशयग्रस्त होगा, वह उनकी शरण से लाभान्वित नहीं हो सकेगा।

(७) **परमात्मपद प्राप्ति की तड़फन**—परमात्मा की शरण से शरणागत में परमात्मा (परमात्मपद) को प्राप्त करने की, उनका दिव्यदृष्टि से साक्षात् करने की तीव्र उत्कण्ठा होनी आवश्यक है। शरणागत का मुख्य उद्देश्य भी है—परमात्मशरण से परमात्मभाव-वरण का। जिस प्रकार पानी में डूबते समय प्राणवायु (सांस) पाने की तड़फन होती है, वैसी ही तड़फन शरणागत के हृदय प्रभु को पाने की होनी चाहिए।

(८) **आत्मा को निर्मल एवं स्वभाव में रत रखने की जागृति**—शरणागत का यह सबसे महत्त्वपूर्ण गुण है, क्योंकि शरणागत का अन्तिम लक्ष्य परमात्मभाव को प्राप्त करना है, जो आत्मा को स्वभाव में, शुद्ध भावों में रत रखने से ही प्राप्त हो सकता है। साधक को प्रतिपल जागृत रहना चाहिए कि कहीं वह परमात्मा के नाम की ओट में अपना स्वार्थ सिद्ध तो नहीं कर रहा है, स्वभाव में रमण करने के बजाय जान-बूझकर परभावों और विभावों को अपने मानकर उनमें रागद्वेष-मोहवश प्रवृत्त तो नहीं हो रहा है? परमात्मा की शरणग्रहण करके शरणागत प्रतिपाल विश्व-वत्सल, दीनबन्धु, करुणासिन्धु प्रभु को बदनाम तो नहीं कर रहा है—

स्वयं के द्वारा दुश्चरित्र अनाचार, दुराचार एवं अनैतिकता घड़ल्ले से अपनाकर ? यदि वह अपनी आत्मा पर नियन्त्रण और सावधानी (चौकसी) न रखकर बेखटके पापकर्म करता जाता है तो उसका फल यहाँ और आगे भी कुगतियों और कुयोनियों के रूप में भोगना पड़ेगा। अतः जाने-अनजाने प्रमादवश या लाचारी से कोई भी पापदोष या अपराध हुआ हो तो उसका प्रतिक्रमण (आलोचना-निन्दना-गर्हणा-क्षमापनासहित) प्रभु के समक्ष पश्चात्तापपूर्वक निवेदन करके आत्मशुद्धि कर लेनी चाहिए। तभी परमात्मा का (निश्चयनय से शुद्ध आत्मा का) अनुग्रह शरणागत पर बरसता है। यही शरण-स्वीकार का व्याकरण है जिसे शुद्ध रूप में अपनाने पर परमात्मभाव अवश्य ही प्राप्त किया जा सकता है।

○○

१७

आलम्बन : परमात्म-प्राप्ति में साधक या बाधक ?

आलम्बन : विपक्ष और पक्ष की दृष्टि से

आत्मार्थी साधक का अन्तिम लक्ष्य परमात्मभाव या मोक्ष की प्राप्ति है। इसके लिए साधक के समक्ष प्रश्न यह है कि परमात्मप्राप्ति में सहायक कोई आलम्बन लिया जाए या नहीं ? जैनसिद्धान्त की निश्चयदृष्टि यह है कि जितना-जितना आलम्बन लिया जाता है, उतनी-उतनी आत्मा निर्बल, पराधीन और परमुखापेक्षी बनती है; उसकी प्रगति बहुत ही धीमी और परमात्मभाव की प्राप्ति में विलम्ब-कारी होती है। जबकि व्यवहारदृष्टि यह है कि जब तक आत्मा इतनी तैयार नहीं है, उच्च भूमिका पर पहुँची नहीं है, तब तक नदी पार होने के लिए नौका की तरह यथा-योग्य आलम्बन लिया जाए, परन्तु उस आलम्बन को भी अन्ततोगत्वा त्याज्य समझा जाय।

निश्चयदृष्टि से आलम्बन/निरालम्बन मीमांसा

निश्चयदृष्टि से षड्द्रव्यात्मक लोक में छह द्रव्यों में से कोई भी द्रव्य किसी दूसरे द्रव्य का आधार या आलम्बन नहीं है। प्रत्येक द्रव्य अपने-अपने स्वरूप में स्थित है। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का आलम्बन नहीं है। यह कथन केवल औपचारिक या व्यावहारिक है कि आत्मा लोकाकाश के आलम्बन (आधार) से रहता है। कोई भी पदार्थ किसी

दूसरे पदार्थ के आधार (आश्रय या आलम्बन) से नहीं रहता। यहाँ तक कि एक आत्मा (जीव) दूसरी आत्मा (जीव) के आलम्बन (आधार) पर नहीं रहता। जैसे—एक घड़े में घी भरा है। व्यावहारिकदृष्टि से लोग उसे घी का घड़ा कह देते हैं। किन्तु निश्चयदृष्टि से घी, घी में है और घड़ा, घड़े में है। घी, घी के आधार से रहा हुआ है, घड़ा घड़े के आधार से। घी के बिगड़ने पर घड़ा नहीं बिगड़ जाता, तथैव घड़े के बिगड़ जाने से भी घी नहीं बिगड़ जाता, क्योंकि घड़ा और घी भिन्न-भिन्न पदार्थ हैं। वैसे ही आत्मा भी देह आदि से भिन्न है। अतः वह (आत्मा) किसी अन्य द्रव्य या दूसरे जीव के आलम्बन से नहीं रहता। अपितु अपनी आत्मा के आधार (आलम्बन) से है। प्रत्येक पदार्थ जैसे अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से अपने रूप में है पररूप में नहीं, इस दृष्टि से प्रत्येक आत्मा अपने द्रव्य, क्षेत्र काल, भाव की अपेक्षा से अपने रूप में है, पररूप नहीं है। निष्कर्ष यह है कि निश्चयदृष्टि से प्रत्येक आत्मा परपदार्थों या अन्य आत्माओं की अपेक्षा से निरालम्बी है। परपदार्थों का आलम्बन आत्मा का धर्म भी नहीं है। परद्रव्यों या परपदार्थों का आलम्बन छोड़ने से ही आत्मा निरालम्बी बनती है। इसलिए परमात्मा या शुद्ध आत्मा अपने आप में निरालम्बी है। वह निरालम्बी होकर ही आत्मा के शुद्ध ज्ञान-दर्शन-चारित्र में प्रवृत्त हो सकता है।

इस दृष्टि से यह निश्चित हुआ कि आत्मा अपने ही शुद्ध आत्मतत्त्व का आलम्बन है। नियमसार में यही कहा गया है—

आलम्बणं च मे आदा।

मेरा अपना आत्मा ही मेरा एकमात्र आलम्बन है।[1]

यही कारण है कि ज्ञानी महापुरुष (वीतराग परमात्मा) भी यह नहीं कहते कि 'तू मेरा आश्रय (अवलम्बन) लेकर रुक जा।' परन्तु उनका कहना है कि "तू अपनी आत्मा को सिद्ध परमात्मा के समान पूर्ण शुद्ध स्वभाव वाला जान-पहचान कर उसी का आश्रय (अवलम्बन) ले, अथवा तू आत्मा के वीतरागी स्वभाव का आश्रय (अवलम्बन) ले।" अखण्ड आत्मस्वभाव का आलम्बन ही एक तरह से मोक्ष—परमात्मभाव है।

यही समस्त शास्त्रों द्वारा सम्मत, समस्त सन्तों के हृदय से स्वीकृत

---

१ नियमसार ९९

एवं वीतराग महापुरुषों द्वारा अनुभूत परमात्मा के मोक्षधाम (सिद्धगति) को पाने का महामार्ग है। यही समस्त साधकों के परम आत्मानन्द का एकमात्र उपाय है।

परमात्मतत्व के आलम्बन का माहात्म्य

परमात्मतत्व कहें या शुद्ध आत्मतत्व कहें, बात एक ही है; क्योंकि निश्चयदृष्टि से शुद्ध आत्मा ही परमात्मस्वरूप है। अतः परमात्मतत्व का आलम्बन ही समस्त दुःखों से मुक्त कराने वाला है।

यह सिद्ध-बुद्ध-मुक्त परमात्मा के अनन्तज्ञानादि चतुष्टय से युक्त स्वयं परमात्मा होने का राजमार्ग है। परमात्मतत्व सर्वतत्वों का सारभूत है। त्रिकाल-निरावरण-नित्यानन्दस्वरूप है, एवरूप है। स्वभाव की शाश्वत उपलब्धि का उपाय है। जन्म-जरा-मरण-आधि-व्याधि-उपाधि आदि रूप संसार-रोग का एकमात्र महौषध है। स्वरूपरमणरूप चारित्र का मूल है, सर्वदुःखों का अन्त करने वाला, मुक्ति का प्रमुख कारण है। संसार-सागर से पार करने वाला है।

जब तक आत्मार्थी साधक की दृष्टि ध्रुव, अचल परमात्मतत्व पर नहीं गिरकर क्षणिक भावों-पर्यायों पर पड़ती है,तब तक शुभ-अशुभ भावों के औपाधिक विकल्पों का शमन नहीं होता। परन्तु जब उसकी दृष्टि में परमात्मतत्वरूप ध्रुव आलम्बन जम जाता है,तभी से वह दृष्टि की अपेक्षा से कृतकृत्यता का अनुभव करता है। विधि-निषेध के विकल्पों का विलय हो जाता है। अपूर्व समरसभाव का वेदन होता है। निजस्वभावरूप परिणमन होने लगता है और कृत्रिम औपाधिक विकल्पों का ज्वार क्रमशः शान्त होता जाता है। इस नित्य निरंजन निज परमात्मतत्व के आलम्बन रूप मार्ग से भूतकाल में सभी मुमुक्षु सिद्ध-बुद्ध-मुक्त परमात्मा बनकर सिद्धिगति (परमात्मधाम) में पहुँचे हैं, वर्तमान काल में भी पहुँचते हैं और भविष्य में भी पहुँचेंगे। जैसे कि आगम मे कहा है—"जैसे समस्त प्राणियों का आधार (अधिष्ठान) पृथ्वी है, वैसे ही सभी बुद्ध-मुक्त महापुरुषों का आधार (आलम्बन) शान्ति (निर्वाण या परमात्मतत्व) है।[1]

---

१ जे य बुद्धा अइक्कंता, जे य बुद्धा अणागया।
सन्ति तेसिं पइट्ठाणं, भूयाणं जगई जहा॥

—सूत्रकृतांग

इस परमात्मतत्व में निश्चय सम्यग्दर्शन से लेकर सिद्धि-मुक्ति= परमात्म-पद-प्राप्ति तक की सभी भूमिकाएँ समाविष्ट हो जाती हैं। परमात्मतत्व के आलम्बन से शुद्ध (निश्चय) रत्नत्रय प्रकट किया जा सकता है। परमात्मतत्व का आश्रय (आलम्बन) ही शुद्ध सम्यग्दर्शन है, वही सम्यग्ज्ञान है और वही सम्यक्चारित्र है। परपदार्थों की चिन्ता (रमणता) छोड़कर एकमात्र अपनी आत्मस्वरूप का ही ज्ञान, अपनी आत्मा का ही श्रद्धान और चित्त को अन्य विकल्पों से रहित करके स्वरूप में जोड़कर उसी में लीन करना ही सम्यक्चारित्र है। यह है—निश्चयरत्नत्रय=अभेद रत्नत्रयी। इसलिए समयसार में कहा गया है—

'आदा खु मज्झ णाणं आदा मे दंसणं चरित्तं च।'[1]

मेरा अपना आत्मा ही ज्ञान (रूप) है, मेरा आत्मा ही दर्शन और चारित्र है।

यही निश्चयदृष्टि से शुद्ध (सत्यार्थ) सामायिक, प्रतिक्रमण, उत्कीर्तन वन्दना, कायोत्सर्ग, प्रत्याख्यान, प्रायश्चित्त, आवश्यक, महाव्रत, समिति-गुप्ति, तप, संयम, धर्म,[2] संवर-निर्जरा, धर्म-शुक्लध्यान आदि सब हैं। मोक्ष (परमात्मभाव) का कारणरूप ऐसा एक भी भाव नहीं है, जो परमात्मतत्व के आलम्बन से पृथक् है।

परमात्मतत्व का तीन भागों में वर्गीकरण

परमात्मतत्व के शुद्ध ध्रुव आलम्बन को तीन विभागों में वर्गीकृत किया जा सकता है—(१) इसका जघन्य आलम्बन निश्चयसम्यग्दर्शन है। (२) मध्यमकोटि का आलम्बन है—शुद्ध देशचारित्र और सकलचारित्र आदि दशाएँ और (३) तीसरा है—पूर्ण आलम्बन। पूर्ण आलम्बन होते ही सर्वज्ञत्व-सर्वदर्शित्व (केवलज्ञान केवलदर्शन) और सिद्धत्व (परमात्म पद) प्राप्त करके आत्मा सर्वथा कृतार्थ हो जाती है। जितना-जितना परमात्मतत्व यानी शुद्ध आत्मभाव का आलम्बन लिया जाएगा, उतनी-उतनी रत्नत्रय की भक्ति है, वही रत्नत्रय रूप धर्म है, मोक्षमार्ग है—परमात्म-

---

१ समयसार गा. २३७

२ आदा धम्मो मुणेदव्वो।

—प्रवचनसार १/८

प्राप्ति का शुद्ध पथ है। ऐसे परमात्मतत्व का आलम्बन लेने से व्यक्ति स्वयं को निर्भय, निश्चिन्त और सुरक्षित अनुभव करता है। उसे यह निश्चिन्तता रहती है कि मेरे साथ परमात्मा (शुद्ध आत्मा) है।

व्यवहार-दृष्टि से आलम्बन की मीमांसा

शुद्ध आत्मा को बाह्य आलम्बन की आवश्यकता क्यों ?

यद्यपि निश्चयदृष्टि से आत्मा मूल में अनन्त शक्तिमान है, सच्चिदानन्दस्वरूप है। उसे किसी भी बाह्य (पर के) आलम्बन की आवश्यकता नहीं होती। वह अपना आलम्बन स्वयं ही है। परमात्मतत्व का आलम्बन भी स्वयं के शुद्ध आत्मतत्व का आलम्बन है। फिर वह सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र आत्मा व्यवहारदृष्टि से क्यों किसी बाह्य (पर) पर-पदार्थ का आलम्बन लेकर परतन्त्रता मोल ले ? जब वह किसी पर-पदार्थ का आलम्बन लेगा, तो उसके मन-मस्तिष्क में उस आलम्बन के साथ ही सम्भावित इष्ट-संयोग, अनिष्ट-वियोग, इष्ट-वियोग तथा अनिष्ट-संयोग के समय राग-द्वेष, मोह-द्रोह, आसक्ति-घृणा, रति-अरति आदि भावकर्मों के प्रादुर्भाव एवं बंध के खतरों का सामना भी करना पड़ेगा।

ये और इस प्रकार के अन्य विषम भाव पैदा करने वाले खतरों के समय साधक समभाव नहीं रखेगा, अन्धाधुन्ध प्रवृत्ति करेगा तो उक्त आलम्बन के लेने से आध्यात्मिक विकास की दिशा में, अन्तिम लक्ष्य की ओर उसके कदम आगे बढ़ने के बदले लक्ष्य के विपरीत कदम पीछे की ओर बढ़ने लगेंगे। ऐसे प्रमादी, गाफिल और असावधान साधक की आध्यात्मिक प्रगति वहीं ठप्प हो जाएगी। इसीलिए परमात्मप्राप्ति या मोक्ष-प्राप्ति के मार्ग में व्यवहारदृष्टि से योग्य आलम्बन लेने से जैसे साधक की गति जहाँ तीव्र होने की सम्भावना है, वहाँ आलम्बन-ग्रहण में अविवेक, असावधानी होने से या आलम्बन ग्रहण के पश्चात् समभावपूर्वक गति न करने से उद्देश्य के विपरीत परिणाम आने भी सम्भव हैं।

अपूर्ण तथा घातिकर्मावृत आत्मा को आलम्बन अपेक्षित

निष्कर्ष यह है कि उच्च भूमिकारूढ़ व्यक्ति को आत्मा से परमात्मा बनने के लिए किसी भी बाह्य आलम्बन की अपेक्षा नहीं रहती। उसे अपने उपादान के शुद्ध होने पर पूर्वकृत पुण्यफलस्वरूप अनायास ही यथासमय

यथायोग्य आलम्बन मिलते जाते है। उसे न तो किसी बाह्य आलम्बन लेने की इच्छा जागती है, और न ही वह अनावश्यक आलम्बनों को अपनाकर अपने लिए उपाधि बढ़ाता है। परन्तु जो व्यक्ति अभी अपूर्ण है, आत्मार्थी है, निम्नतम या निम्नतर भूमिका पर है, जो अभी वीतरागता की भूमिका से काफी दूर है, जिसका ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप अभी ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय, इन चारों घाति कर्मों से आवृत है, जिसकी आत्मा अभी सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्र और सम्यक्तप में, अथवा परमात्मा के अनन्तज्ञान, दर्शन, आनन्द और आत्मिक शक्ति से बहुत पिछड़ी हुई है, छद्मस्थ है, दुर्बल है, आत्मघातक कर्मों से मलिन है, जिसकी आत्मा पर पूर्वजन्मकृत कर्मों की गाढ़ी चादर लिपटी हुई है, उसे अन्तिम लक्ष्य—मोक्ष या परमात्मभावरूपी तट पर पहुँचने के लिए किसी न किसी तदनुरूप आलम्बन-ग्रहण करने की आवश्यकता रहती है। निशीथ सूत्र भाष्य में इसी तथ्य का समर्थन करते हुए कहा गया है—

संसार-गड्ड-पडितो, णाणादवलंबितुं समारुहति।
मोक्खतडं जध पुरिसो, वल्लि-वितारेण विसमाओ ॥[1]

जिस प्रकार विषम गर्त में पड़ा हुआ व्यक्ति लता आदि को पकड़ कर ऊपर आ जाता है, उसी प्रकार संसाररूपी गर्त में पड़ा हुआ व्यक्ति ज्ञानादि का आलम्बन लेकर मोक्ष तट पर आ जाता है।

अन्तिम मंजिल तक द्रुतगति से पहुँचने के लिए आलम्बन जरूरी

एक आत्मार्थी साधक है। उसको अपने अन्तिम लक्ष्य—मोक्ष या परमात्मभाव तक पहुँचने का सम्यक्ज्ञान-भान है। किन्तु वह अभी जिस भूमिका पर खड़ा है, वहाँ से अन्तिम मंजिल बहुत दूर है। उसकी गति, मति, शक्ति, क्षमता, योग्यता तथा शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक और आत्मिक सम्पदा अभी बहुत ही कम है। वह चाहता तो है—आध्यात्मिकता के सर्वोच्च शिखर पर—अन्तिम छोर पर शीघ्रातिशीघ्र पहुँचना, उसके तन-मन-मस्तिष्क में अन्तिम लक्ष्य तक द्रुतगति से पहुँचने की तमन्ना है, परन्तु अभी वह जहाँ खड़ा है, वहाँ से अन्तिम मंजिल काफी दूर है। वह सोचता है कि भविष्य में, मनुष्यजीवन तथा ऐसे धर्म, संघ,

---

१ निशीथ भाष्य ४६५।

सशक्त स्वस्थ शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि या संस्कारी परिवार का सुयोग मिले या न मिले। पिछले अनेक जन्मों तक जन्ममरणादिरूप संसारचक्र में मैं भ्रमण करता रहा हूँ। उस चक्कर में मुझे अन्तिम लक्ष्य और मार्ग का भी बोध नहीं हो सका। मैं संसाररूपी विषम गर्त में पड़ा रहा। अब मुझे इस गड्ढे से बाहर निकलने के लिए तथा अन्तिम लक्ष्य तक द्रुतगति से पहुँचने के लिए योग्य आलम्बन लेना चाहिए ताकि मैं तीव्रगति से अन्तिम मंजिल तक पहुँच सकूं। सुयोग्य एवं सशक्त आलम्बन के बिना भला ऐसा मुमुक्षु आत्मार्थी साधक कैसे शीघ्र पहुँच सकेगा ?

आत्मस्वरूप का बोध प्राप्त करने हेतु
देव, गुरु, धर्म का आलम्बन आवश्यक

अथवा एक व्यक्ति अपने निजी आत्म-गुणों और आत्मा और परमात्मा के स्वरूप से तथा स्वभाव से अनभिज्ञ है, उसने सद्गुरुओं के मुख से सुना है कि देवाधिदेव सर्वज्ञ परमात्मा, निर्ग्रन्थ निःस्पृह धर्मगुरु एवं सद्धर्म के अवलम्बन से वह आत्मा, परमात्मा, आत्मगुणों, आत्मस्वरूप, परमात्मा के स्वरूप एवं स्वभाव आदि को भलीभाँति जान सकता है, आत्मा से परमात्मा बनने या मोक्ष-प्राप्त करने के उपाय एवं मार्ग का भी बोध प्राप्त कर सकता है। अब यदि वह इनका आलम्बन न लेकर चुपचाप बैठ जाए और अपने मन की जिज्ञासा को अन्दर ही दबा ले तो क्या वह स्वयं उपर्युक्त महत्वपूर्ण लक्ष्य, मार्ग, एवं मार्ग पर चलने की विधि से अनभिज्ञ निरालम्ब एवं अल्पज्ञानादि सामर्थ्यवान् व्यक्ति संसार-सागर को पार कर सकता है? क्या अज्ञानान्धकार में डूबी साधनविहीन आत्मा अपने अभीष्ट कार्य को स्वयं सिद्ध कर सकती है ? इसीलिए दशवैकालिक सूत्र में कहा है—

अन्नाणी किं काही किं वा, नाही य सेय-पावगं[1]

अर्थात्—अज्ञानी बेचारा क्या कर सकता है ? कैसे वह कल्याण और पाप को (तथा उनके कारणों को) जान सकता है ?

साधन के बिना साध्य सिद्ध नहीं हो सकता

साधन आलम्बन हैं। उनके बिना व्यवहारदृष्टि से साध्य कैसे सिद्ध हो सकता है ? व्यवहारभाष्य में इसी तथ्य को उजागर किया गया है—

---

१ दशवैकालिक अ. ४ गा. १०

'उवगरणेहि विहूणो, जह वा पुरिसो न साहए कज्जं ।[1]

"साधनों (उपकरणों) से विहीन व्यक्ति अभीष्ट कार्य को सिद्ध नहीं कर पाता ।"

लोकोत्तर तथा लौकिक ज्ञान की प्राप्ति के लिए योग्य आलम्बन

उदाहरणार्थ--मूल में आत्मा अनन्त ज्ञानमय है, वही परमात्मा का गुण है । आत्मा का अपना ज्ञान गुण पूर्णरूप से विकसित हो तो वह परमात्मा के समान अनन्तज्ञानवान् बन सकता है । परन्तु जब तक उसके ज्ञानगुण पर आवरण पड़ा हुआ है, तब तक वह आत्मा से सीधा परमात्मा के उस अनन्त असीम ज्ञान को प्राप्त नहीं कर पाता । अतः उस असीम परमात्मज्ञान को प्राप्त करने के लिए उस अल्पज्ञ आत्मार्थी को व्यवहार में देव, गुरु, धर्म और शास्त्र का आलम्बन लेना होता है । निश्चयदृष्टि से तो आत्मा ही अपना देव है, आत्मा ही अपना गुरु है, ज्ञानादि में उपयुक्त आत्मा ही अपना धर्म है ।[2] और भाव शास्त्र भी आत्मा का ही अपना गुण है जो कि उसके अन्तर् में निहित है ।

शास्त्र भी व्यवहार में ज्ञान प्राप्त करने के लिए एक साधन (अवलम्बन) है, अल्पज्ञ साधक के लिए । उसमें लिखे हुए अक्षर शिक्षित और अशिक्षित सभी को नजर आते हैं । किन्तु शास्त्र में लिखित उन अक्षरों या बातों को पढ़ने या सुनने और उनका सम्यक् अर्थ जानने-समझने के लिए अक्षरज्ञान, भाषाज्ञान अध्ययन की आवश्यकता से इन्कार नहीं किया जा सकता । इसी प्रकार शास्त्र में अंकित शब्दों और उनके अर्थों एवं रहस्यों का बोध करने के लिए वाचनाचार्य या गुरु का सहारा लेना पड़ता है । शास्त्रीयज्ञान के लिए ही क्यों, संसार के सामान्य पदार्थों का यानी आत्मा और आत्मगुणों के अतिरिक्त आत्मबाह्य पदार्थों का पूर्ण ज्ञान भी सीधा आत्मा से अल्पज्ञ साधक को नहीं हो पाता, उसके लिए भी इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि तथा शरीर के अंगोपांगों का सहारा लेना पड़ता है । यद्यपि देखना, सुनना, सूंघना, चखना, स्पर्श करना आदि इन्द्रिय-विषयों का ज्ञान होता तो आत्मा की शक्ति से ही है, किन्तु यह सब ज्ञान किया जाता है, इन्द्रियों और मन की सहायता (आलम्बन) से । देखने के लिए आँखों का, सूंघने के

---

१ व्यवहार भाष्य १०/५४०

२ 'आदा धम्मो मुणेदव्वो ।'—प्रवचनसार १/८

लिए नाक का, चखने के लिए जीभ का, चबाने के लिए दाँतों का, चलने के लिए पैरों का तथा किसी वस्तु को उठाने के लिए हाथों का सहारा अल्पज्ञ व्यक्ति को लेना ही पड़ता है। आँखें सबको देखती हैं, मगर स्वयं को देखने के लिए दर्पण का सहारा लेना पड़ता है। इसी प्रकार गुणी मनुष्य भी अपने आपको समझने के लिए दूसरों का सहारा लेते हैं।[1]

लौकिक व्यवहार की तरह लोकोत्तर व्यवहार में भी आलम्बन अनिवार्य

इसी प्रकार नदी का तट नजर आने पर भी उसे पार करके तट पर पहुँचने के लिए तैरने की कला में अनभिज्ञ को नौका का आलम्बन लेना पड़ता है। एक तिमंजला मकान है। उसकी सर्वोपरि मंजिल तक पहुँचने के लिए सीढ़ियों की आवश्यकता को सभी स्वीकार करते हैं। कुंए में झाँकने पर पानी नजर आता है। किन्तु उस पानी को प्राप्त करने और उससे प्यास मिटाने के लिए सर्वप्रथम रस्सी और बाल्टी की आवश्यकता रहती है। फिर पानी को निकालने और पीने के लिए व्यक्ति के अपने पुरुषार्थ को। आवश्यकनिर्युक्ति में भी बताया है कि अच्छा से अच्छा जलयान भी हवा के सहारे के बिना महासागर को पार नहीं कर सकता, इसी प्रकार शास्त्र ज्ञान में निपुण[2] जीव (साधक) रूपी जलयान तप-संयम रूप पवन के बिना संसार-सागर को पार नहीं कर सकता। छद्मस्थ और अल्पशक्तिमान साधक के लिए निशीथभाष्य में आहार का आलम्बन लेने का कारण बताते हुए कहा गया है—

मोक्ख-पसाहण-हेतु णाणादि, तप्प-साहणो देहो।
देहट्ठा आहारो, तेण तु कालो अणुण्णातो॥[3]

अर्थात्—ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप आदि मोक्ष-साधना के लिए कारण (आलम्बन) है और ज्ञानादि का साधन देह है, तथा देह का साधन आहार है। अतः साधक को समयानुकूल आहार ग्रहण करने की आज्ञा दी गई है।

---

१ गुणिनामपि निजरूप प्रतिपत्तिः परतं एव सम्भवति।
स्वमहिमदर्शनमक्ष्णोर्मुकुरतले जायते यस्मात्॥ —एक संस्कृति कवि

२ वाएण विणा पोओ, न चएइ महण्णवं तरिउं।
निउणो वि जीवपोओ, तव-संजम-मारुअ-विहीणो॥
—आव. नि. ९५-९६

३ निशीथभाष्य ४१५९ तथा बृहत्कल्पभाष्य ५२८१

अभिप्राय यह है कि जो साधक दुर्बल है, आत्मशक्ति एवं ज्ञान से न्यून है, वही अपने तप, संयम के पालनार्थ एवं तप संयम द्वारा मोक्ष = परमात्मभाव को प्राप्त करने के लिए आहारादि का आलम्बन लेता है।

दुर्बल मानव-शिशु के लिए माता-पिता का आलम्बन

मानव-शिशु जब तक घुटनों से चलता है, स्वयं खड़ा नहीं हो सकता, दुर्बल और अबोध होता है, तब तक वह माता-पिता का आलम्बन लेता है। उन्हीं के सहारे से वह खाना-पीना, चलना, बोलना, खेलना-कूदना, उठना-बैठना आदि क्रियाएँ करता है। उन्हीं के सहारे से वह अबोध बालक संसार के पदार्थों को जानना-पहचानना सीखता है। कई बातों में अनुभव-हीन, असमर्थ और अयोग्य होने के कारण वह भूलें भी कर बैठता है, अतः वे बातें भी माँ-बाप के अनुभव के सहारे से बच्चा सीखता है।

आत्मशुद्धि के लिए वीतराग परमात्मा का आलम्बन

जगत् पितामह विश्ववत्सल[1] वीतराग परमात्मा के लिए गृहस्थ और संयमी दोनों प्रकार के साधक भी बालक हैं, जो अभी छद्मस्थ हैं, अपूर्ण हैं, दुर्बल हैं। वे आवश्यक (प्रतिक्रमणादि धर्मक्रिया) के समय वीतराग परमात्मा की साक्षी से अपनी गलतियों, भूलों और दोषों की सरल भाव से स्वच्छ मन से आलोचना, निन्दना, प्रतिक्रमणादि करके आत्मशुद्धि करता है। जब साधक वीतराग परमात्मा का आलम्बन ग्रहण करता है तो उसकी जिज्ञासा, भावना और इच्छा के अनुरूप उसे यथायोग्य अन्तःस्फुरणा और अन्तः प्रेरणा मिलती है, जिससे उसकी अन्तश्चेतना जागृत हो जाती है। अतः अपूर्ण अशक्त साधक व्यवहारदृष्टि से जीवन्मुक्त परमात्मा या सिद्धपरमात्मा का आलम्बन लेकर आत्मा को शुद्ध बनाता है, अथवा शुद्ध आत्मभाव में रमण करके परमात्मभाव की ओर बढ़ता जाता है।

सद्धर्माचरणकर्ता के लिए पाँच आलम्बन

स्थानांग सूत्र में श्रुत-चारित्ररूप अथवा रत्नत्रयरूप धर्म का आचरण करने वाले गृहस्थ या संयमी साधक के लिए पाँच प्रकार के आलम्बन इस प्रकार बताए गये हैं— (१) षट्कायिक जीव, (२) गण (धर्मसंघ),

---

१ 'जगप्पियामहो जगवच्छलो भयवं।' —नन्दीसूत्र मंगलाचरण गाथा

(३) राज्य शासनकर्ता, (४) धर्माचार्य और (५) गाथापति (गृहस्थ)।[1] दीर्घ दृष्टि से विचार करने पर व्यावहारिक दृष्टि से साधक के लिए इन पाँचों का आलम्बन ग्रहण करना उचित जान पड़ता है।

सद्धर्मसाधक के लिए षट्कायिक जीवों का आलम्बन

सद्धर्माचरण-कर्ता के जीवन में सर्वप्रथम षट्कायिक जीवों (विश्व के समस्त प्राणियों) को आलम्बन (आश्रय=निश्राय) रूप कहा है। तत्त्वार्थ सूत्र में भी कहा गया है—

'परस्परोपग्रहो जीवानाम्।[2]

'जीवों का स्वभाव परस्पर एक-दूसरे का उपग्रह=उपकार करना है।' 'बरट्रेण्ड रसैल' ने एक पुस्तक लिखी है—The world as I see it (संसार : जैसा कि मैं देखता हूँ)। इस पुस्तक में उसने बताया है कि जब मैं अपने जन्मकाल से अब तक के जीवन पर दृष्टिपात करता हूँ, तो मुझे ऐसा लगता है कि मैंने छोटे-बड़े अगणित जीवों से सहायता ली है। अगर ये जीव मुझे जीवन जीने, विकास करने तथा संवर्द्धित होने में सहयोगी (आलम्बनदाता) न बनते तो शायद ही मैं जिन्दा रह सकता और इतना विकास कर पाता।

धर्मसाधक के जीवन में भी एकेन्द्रिय जीवों से पंचेन्द्रिय तक असंख्य जीव आलम्बनदाता (सहायक) बनते हैं। पृथ्वी, पानी, वायु, वनस्पति एवं अग्नि के जीव साधक जीवन में पद-पद पर सहायक बनते हैं? उनके आलम्बन के बिना वह अपने जीवन को स्वस्थ, सशक्त, प्राणवान् और सर्वांगीण विकासशील कैसे रख पाता? यह तो ठीक, परन्तु द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीवों का धर्म-साधक के जीवन में क्या सहयोग है? उनका कैसे और क्या उपकार या आलम्बन है? सच पूछें तो रत्नत्रयरूप या अहिंसा-संयम-तपरूप धर्म का आचरण करने में एकेन्द्रिय से लेकर तिर्यंच पंचेन्द्रिय, मनुष्य, नारक और देव, इन सबका आलम्बन प्रेरणारूप में लिए बिना धर्मसाधक एक कदम भी आगे नहीं बढ़ सकता। सर्वप्रथम प्रेरणात्मक आलम्बन यह है कि सर्वज्ञ वीतराग प्ररूपित शास्त्रों में कथित इन सबकी

---

१ धम्मस्स णं चरमाणस्स पंचठाणा निस्सिया पण्णत्ता, तंजहा—छक्काया, गणे, राया, धम्मायरिए, गाहावइ। —स्थानांग सूत्र स्था. ५

२ तत्त्वार्थ सूत्र

गति, जाति, इन्द्रिय, योग, पर्याप्ति, कषाय, लेश्या आदि वर्णन पढ़ने से इन सब जीवों के अस्तित्व का सम्यग्ज्ञान करने के साथ-साथ अप्प समं मन्निज्ज छप्पिकाए[1]—इस वीतराग वचन के अनुसार आत्मोपम्य भावना उत्पन्न होती है, तथा इनमें भी मेरे ही समान आत्मा है, पूर्वजन्मकृत पुण्य-पाप कर्म के अनुसार इनकी चेतना का विकास अल्पतम, अल्पतर एवं अल्प हुआ है। इन सबको भी मेरी ही तरह अपना-अपना जीवन प्रिय है।[2] इन्हें किसी भी प्रकार का कष्ट पहुँचाना, कुचलना, मारना-पीटना, सताना, डराना, बन्धन में डालना आदि नाना प्रकार से हिंसा करना है।

ये सब हिंसाएँ इनकी नहीं, परन्तु अपनी हैं। वह अपनी आत्मा के गुणों की हिंसा करके पाप-कर्म बाँध कर अपने लिए जन्म-जरा-मरण-व्याधि, अंग विकलता, दरिद्रता, विपत्ति, संकट आदि दुःखों को निमन्त्रण देता है। क्योंकि जीवों का वध अपना ही वध है, जीवों की दया अपनी ही आत्मदया है। श्रमण इसलिए कहलाता है, जो अपने समान दूसरों के लिए विचारता है, जैसे—मुझे दुःख प्रिय नहीं है वैसे ही सभी जीवों को दुःख प्रिय नहीं है, यह जानकर जो किसी भी प्राणी की हिंसा न करता है, और न ही करवाता है।[3] मुझे इन हिंसाओं से बचकर समस्त प्राणियों के प्रति मैत्री, आत्मोपम्य, दया, क्षमा, करुणा, अनुकम्पा, सहानुभूति आदि विधेयात्मक अहिंसा की भावना लानी चाहिए। साथ ही यह प्रेरणा भी धर्मसाधक को इन प्राणियों से लेनी चाहिए कि इन बेचारे प्राणियों को अज्ञान, मोह, मिथ्यात्व एवं राग-द्वेष, कषाय आदि के कारण नीच गतियाँ और कुयोनियाँ प्राप्त हुईं। एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के तिर्यञ्चों को माया, गूढ़माया, छल-कपट, तौल-माप आदि में बेईमानी, ठगी, धूर्तता आदि के कारण ही तिर्यञ्चयोनि मिली है, तथा पंचेन्द्रिय नारकियों को भी निर्दोष

---

१ उत्तराध्ययन सूत्र

२ सव्वेसि जीवियं पियं नाइवाएज्ज कंचणं —आचारांग १/२/३

३ (क) तुमंसि नाम तं चेव जं हंतव्वं ति मन्नसि,
तुमं सि नाम तं चेव जं अज्जावेयव्वं ति मन्नसि।
तुमं सि नाम तं चेव ज परियावेयव्वं ति मन्नसि। —आचारांग १/५/५
(ख) जीववहो, अप्पवहो, जीवदया अप्पणो दया होइ। भक्तपरिज्ञा ९३
(ग) जह मम ण पियं दुक्खं, जाणिअ एमेव सव्वजीवाणं।
न हणइ ण्ण हणावेइ वा सममणइ तेण सो समणो। —अनुयोगद्वार १२९

पंचेन्द्रिय जीवों के वध, महारम्भ-महापरिग्रह, मांसाहार, हत्या, आगजनी, डकैती, चोरी, आदि के कारण अत्यन्त दुःखों और यातनाओं से भरी नारकीययोनि मिली है। जिन्होंने पूर्वजन्म में हत्या, कत्ल, अत्याचार, जालसाजी आदि भयंकर कुकृत्य किये हैं, वे मनुष्यगति पाकर भी सम्यक् बोधहीन, पंगु, कोढ़ी, लूले-लँगड़े, अन्धे, दुःसाध्यरोगग्रस्त, पीड़ित, कसाई, वेश्या, चोर, डकैत आदि बने हैं। इनसे मुझे यह प्रेरणा लेनी है कि मैं ऐसा कोई कुकृत्य न करूँ, हिंसा आदि आस्रवों से, क्रूरता, हत्या, दंगा, आगजनी, लूटपाट, व्यभिचार, माँसाहार आदि से महारम्भ एवं महापरिग्रह से बचूँ, जिससे कि मुझे ऐसी दुर्गति या दुर्योनि न मिले और मेरी ऐसी दुःस्थिति और दुर्बोधता न हो। साधु-साध्वी को आहार, विहार, निहार तथा शयन, आसन, आदि प्रत्येक क्रिया में प्रायः पृथ्वी, पानी, वनस्पति आदि का आलम्बन प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से लेना ही पड़ता है, इसलिए साधु वर्ग के लिए आगमों में पृथ्वीकाय संयम, अप्काय संयम, वायुकाय संयम, वनस्पतिकाय-संयम, तेजस्काय संयम, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रिय-पंचेन्द्रिय संयम, प्रेक्षा संयम, उत्प्रेक्षा संयम, अजीवकाय-संयम आदि तथा त्याग, तप, प्रत्याख्यान की बातें कही गई हैं। कोई कह सकता है कि सिंह, बाघ, सर्प, जंगली हाथी, भैंसा आदि क्रूर हिंसा प्राणियों या क्रूर मानव का आलम्बन साधु वर्ग को कब लेने का काम पड़ता है? इसके उत्तर में यही कहना है कि सिंह आदि प्रायः तभी आक्रमण करते हैं, जब इनके साथ मनुष्य छेड़खानी करता है। कदाचित् छेड़खानी न करने पर भी वे साधु वर्ग पर हमला करने को उतारू हो जाते हैं अथवा कोई क्रूर मानव भी विश्वमित्र, विश्वहितैषी अजातशत्रु साधुवर्ग पर आक्रमण करने को उद्यत हो जाते हैं, तो उसे यही समझना चाहिए कि उस क्रूर प्राणी के साथ पूर्वजन्म का कोई वैर विरोध है, उसी का वह बदला लेने आया होगा। यह मेरे ही कुकर्मों का फल है, इसमें यह दोषी नहीं, दोषी मेरा अपराधी आत्मा ही है। यह तो निमित्त है, उपादान मेरा आत्मा है। जैसे—भगवान् महावीर पर तीर्थंकर भव में एक ग्वाले ने कानों में कील ठोक दी थी। उस समय उन्हें भयंकर पीड़ा भी हुई थी, किन्तु उन्होंने उस ग्वाले पर कोई भी रोष-द्वेष नहीं किया, बल्कि उसे अपने पूर्वकृत कर्मों को भोगने में सहायक माना और अपने ही द्वारा त्रिपृष्ठ वासुदेव के भव में शय्यापालक के कानों में खौलता हुआ शीशा उँड़ेलवाने के कृत क्रूरकर्म का दुष्फल माना और उसे समभाव से सहन किया।[1]

१ देखो, कल्पसूत्र में भगवान महावीर का जीवनवृत्तान्त।

अन्तकृद्दशा सूत्र में ध्यानारूढ़ गजसुकुमाल मुनि की घटना प्रसिद्ध है। महाकाल श्मशान में सोमिल ब्राह्मण द्वारा दी गई असह्य यातना, जिसमें उनके मुण्डित मस्तक पर चारों ओर गीली मिट्टी की पाल बाँधकर उसके बीच में खैर के धधकते अंगारे रख दिये। इस घोर पीड़ा के समय भी समभावी गजसुकुमाल मुनि ने सोमिल को अपराधी, वैरी या द्वेषी नहीं माना, बल्कि उसे अपने कर्मक्षय करने में सहायक मान कर उस पीड़ा को समभाव से सहन किया। तीर्थंकर अरिष्टनेमि प्रभु ने भी गजसुकुमाल मुनि को पीड़ा देने वाले सोमिल ब्राह्मण के लिए श्रीकृष्ण जी से कहा था—'उसने गजसुकुमाल मुनि को सहायता दी है, उस पर किसी प्रकार का द्वेष मत करो।'[1]

इसके अतिरिक्त ऐसे क्रूर प्राणी से जब भी वास्ता पड़ता है, तो संयमी, निर्ग्रन्थ अहिंसक साधु ऐसा विचार करे कि यह मेरी निर्भयता तथा देहाध्यास के त्याग-वैराग्य एवं समभाव की साधना की परीक्षा करने में निमित्त बना है। यह तो मेरी अहिंसा, निर्भयता और समता आदि की साधना में सहायक है, आलम्बन है। 'अपूर्व अवसर' के अनुसार मुझे मानो आज परम मित्र का सुयोग मिला है,[2] ऐसा मान कर चले। अरुणाचल (तरुवन्नामलै स्थित आश्रम) की गुफा में रमण-महर्षि ने जब सर्वप्रथम निवास किया था तो अनेक साँप वहाँ रहते थे, वे आ-आकर उनके शरीर पर लिपट जाते थे। परन्तु किसी भी साँप को भगाने या मारने का प्रयास उन्होंने नहीं किया, न ही वे साँपों से डरे। धीरे-धीरे वे साँप भी उनके परम मित्र बन गये।[3]

इस दृष्टि से षट्कायिक जीवों का आलम्बन धर्माचरणकर्त्ता के लिए श्रेयस्कर है।

---

१ अन्तकृद्दशांग सूत्र, गजसुकुमार-अधिकार।

२ एकाकी विचरतो वली श्मसानमां,
वली पर्वतमां वाघ सिंह-संयोग जो।
अडोल आसन ने मनमां नहिं क्षोभता,
परममित्रनो जयाणे पाम्या योग जो ॥११॥

३ गुप्त भारत की खोज (डा० पाल ब्रिटन द्वारा लिखित अँग्रेजी पुस्तक का हिन्दी अनुवाद)।

पंचेन्द्रिय नारक भी धर्माचरण में अवलम्ब बनते हैं

पंचेन्द्रिय जीवों में मनुष्यों और तिर्यञ्चों के अतिरिक्त नारक (नैरयिक) भी आते हैं, भला एक धर्माचरणकर्त्ता के जीवन के लिए वे कैसे आलम्बन बनते हैं ? नारक जीव तिर्यक्लोक (मनुष्यलोक) से बहुत दूर हैं मनुष्यलोक की पृथ्वी से नरकलोक की पृथ्वी बहुत दूर है। उसे वैदिक ग्रन्थों में पाताललोक कहा गया है। इसलिए वैसे तो नारकीय जीव (नैरयिक) मनुष्यों के लिए प्रत्यक्ष रूप से आलम्बन नहीं बनते, किन्तु वे परोक्ष रूप से प्रेरणात्मक आलम्बन बन सकते हैं। नारकों की परस्पर संक्लेशमय, यातनामय, शारीरिक मानसिक व्यथाओं से पीड़ित, भयावह एवं घृणित असहाय परिस्थिति तथा आर्त्त-रौद्रध्यान से परिपूर्ण मनःस्थिति एवं उनकी कालोकलूट, बेडौल, भयंकर आकृति व शरीर रचना आदि को आगमों से पढ़-सुनकर किस धर्मनिष्ठ साधक का दिल दहल नहीं उठेगा ? साथ ही वहाँ की अत्यन्त शीत एवं अतीव उष्ण क्षेत्रीय परिस्थिति, तथा ऊबड़-खाबड़ असुविधाजनक आवास, अत्यन्त यातनाओं से भरी लम्बी लम्बी आयु, तथा क्षायिक सम्यग्दृष्टि के सिवाय प्रायः मिथ्यात्व, अज्ञान, दुर्बोध, राग-द्वेष, मोह, कषाय आदि दुर्भावों तथा अशुभ कर्मों से घिरी हुई बेचारे नारकों की आत्माएँ स्वभाव-चिन्तन या शुद्ध आत्मभावों में रमण कर ही नहीं सकतीं। इन और ऐसी ही नारकों की उत्पत्ति, स्थिति और मनःस्थिति, परिस्थिति के कारणों पर दीर्घदृष्टि से धर्माचरणपरायण मानव गहन चिन्तन करता है तो वह अवश्य ही अपनी आत्मा को ऐसी दुष्परिस्थिति और शोचनीय निम्न-स्तर की वृत्ति-प्रवृत्ति में तथा पापाचरण एवं अधर्माचरण में डालने को कदापि तैयार न होगा। वह नरक में उत्पन्न होने के कारणों से अवश्य बचने का प्रयत्न करेगा। वह मनुष्य जीवन में धर्मनिष्ठ रहकर तप, त्याग, वैराग्य, तितिक्षा, समभावपूर्वक परीषह-उपसर्ग-सहिष्णुता, दया, क्षमा, सन्तोष, शील आदि गुणों तथा रत्नत्रयरूप धर्म की अधिकाधिक साधना करेगा, शुद्ध आत्म-भाव में तीव्रतापूर्वक रमण करेगा।

पंचेन्द्रिय देव भी धर्माचरण के लिए आलम्बन

देवों का जीवन केवल वैषयिक सुखभोग के लिए है, वहां कर्मक्षय का, मोक्ष प्राप्त करने का पुरुषार्थ प्रायः नहीं हो पाता। फिर देव स्वर्ग के पंचेन्द्रिय विषयसुखों में इतने आसक्त हो जाते हैं कि नया पुण्य उपार्जन

करने का प्रयत्न भी वे बहुत ही कम कर पाते हैं। मनोज्ञ विषयसुखों के प्रति जहाँ रागभाव होगा, वहाँ अमनोज्ञ विषयों के प्राप्त होने पर द्वेष भी होगा, घृणा और अरुचि भी होगी। देवों में विषयोपभोगों की प्रतिस्पर्धा, ईर्ष्या, द्वेष, वैर-विरोध आदि भी कम नहीं है। इसलिए धर्माचरणपरायण साधक ऐसे देवजीवन की तथा विषयसुखों की आकांक्षा कभी नहीं करेगा जिससे उसे आत्मभाव—परमात्मभाव से विमुख होना पड़े। अतः देवजीवन से विरक्ति, अनासक्ति, निष्कांक्षता, अनिदानभाव तथा कर्मक्षयरूप धर्म-जीवन के प्रति निष्ठा, भावना आदि प्रेरणात्मक आलम्बन वह ग्रहण कर सकेगा।

धर्माचरण कर्त्ता के लिए 'गण' का आलम्बन

'गण' से यहाँ अभिप्राय 'धर्मसंघ' से है। धर्मपालन के लिए व्रतबद्ध या नियमबद्ध समविचार-आचारवाला जनसमूह गण कहलाता है। इस वर्तमान युग में गच्छ, पंथ, सम्प्रदाय, सभा, धर्म संस्था आदि विभिन्न नाम प्रचलित हैं। यह श्रमण भगवान् महावीर द्वारा रचित श्रमण-श्रमणी, श्रावक श्राविकारूप चतुर्विध विशाल श्रमण संघ की ही एक इकाई है। कहीं-कहीं इसे धर्मसंघ' भी कहते हैं।

गण भी सामूहिक रूप से धर्मपालन करने में आलम्बन रूप बनता है। कोई भी गृहस्थ या साधु अकेला अलग-थलग रहता है तो वह धर्माचरण के लिए उत्साहित नहीं होता। वह स्वयं भी प्रायः भौतिक जीवन को सर्वस्व मानकर उसी में ग्रस्त रहता है। फलतः उसका सारा परिवार प्रायः उसी साँचे में ढलता है। जब वह 'गण' से जुड़ जाता है, तो उसके अनुशासन, नियम और आचार-विचार के अनुसार उसका जीवन निर्मित होता है। फलतः अपने परिवार को भी वह अपने पदचिन्हों पर चला सकता है, धर्मध्यान एवं धर्माचरण के संस्कारों से संस्कारित कर सकता है। बृहत्कल्पभाष्य में बताया गया है कि जिस गच्छ (गण या धर्मसंघ) में सारणा, वारणा और पडिचोयणा नहीं है, संयमाकांक्षी साधक को उस गच्छ का आलम्बन छोड़ देना चाहिए, वह गण गण नहीं है।[1] संघबद्ध होने

---

१ जहिं णत्थि सारणा वारणा य पडिचोयणा य गच्छम्मि।
सो उ अगच्छो गच्छो, संजमकामीण मोत्तव्वो ॥
—बृहत्कल्पभाष्य ४४६४

से संघ के प्रत्येक सदस्य के सुख-दुःख, विपत्ति-सम्पत्ति आदि में, धर्मश्रद्धा से विचलित होते समय सहारा देने में, धर्म में स्थिर करने में, धर्माचरण में आने वाली विघ्न-बाधाओं को हटाने में, धर्माचरण करने के लिए धर्मोपदेश, धर्मक्रियाएँ धर्म के जप-तपादि विविध अनुष्ठान के लिए केन्द्र स्थान बनाने, एक-दूसरे को धर्माचरण की प्रेरणा देने, दानादि धर्म के लिए उत्साहित करने, धर्माचरण का माहौल बनाने में संघ के सदस्य साधर्मि वात्सल्य से प्रेरित होकर एक-दूसरे के सहायक (आलम्बन) बनते हैं। साधु के लिए 'गण' सुदूर अपरिचित देश-परदेशों में भ्रमण करने, धर्मप्रचार करने तथा जनता को धर्मसम्मुख करने एवं धर्माचरण की प्रेरणा में सहायक बनता है। गण के सदस्य साधुवर्ग को कल्पनीय आहार-पानी, वस्त्र-पात्रादि तथा औषध-भैषज, पथ्य-पदार्थ आदि से सेवा करते हैं। गण से जुड़े रहने पर गण का कोई भी साधु या साध्वी बीमार पड़ जाय या कष्ट या विपत्ति में पड़ जाए तो दूसरे साधु उस साधु की तथा साध्वियाँ उस साध्वी की सब प्रकार से यथोचित सेवा करती हैं। इस प्रकार 'गण' भी धर्मपालन में बहुत बड़ा आलम्बन बनता है।

धर्माचरण में शासनकर्त्ता का आलम्बन

प्राचीन काल में राजतंत्र था, इसलिए राजा शासन करता था, अब जनतंत्र है, इसलिए जनता में से चुने हुए विशिष्ट प्रतिनिधि राष्ट्र की विविध व्यवस्था संभालते हैं। धर्माचरणकर्ता गृहस्थ वर्ग के जीवन में आर्थिक, सामाजिक, नैतिक व्यवस्था में आने वाली अड़चनों को दूर करने में, तथा धर्मनिष्ठ व्यक्तियों पर अन्याय, अत्याचार, ज्यादती, मारपीट आदि करने वालों पर यथोचित्त नियन्त्रण करने तथा न्याय दिलाने में शासक तंत्र सहायता देता है। धर्मात्मा गृहस्थ के जान-माल एवं शील तथा धर्म पर संकट आने पर शासन रक्षा करता है। इसी प्रकार साधु-साध्वी वर्ग के शील, धर्म, तप, त्याग, धर्मानुष्ठान आदि पर संकट आने पर या दुष्टों एवं अत्याचारियों से रक्षा करने में शासकतंत्र सहायक बनता है। इसलिए शासनकर्त्ता वर्ग भी धर्मसाधक के लिए विशिष्ट आलम्बन है।

गाथापति (गृहस्थ) भी धर्माचरण में आलम्बन रूप

गाथापति उस गृहस्थ को कहते हैं, जो गृहस्थजीवन की नैतिक-धार्मिक मर्यादाओं का पालन करता हो, जिसके जीवन में प्रशंसनीय गृहस्थ धर्म हो। ऐसा प्रशस्त गृहस्थ आहार, विहार, रोग, आतंक, संकट, विपत्ति,

प्राकृतिक प्रकोप, घोर अरण्य आदि में आहार, विहार इत्यादि से साधुवर्ग की यथाकल्प सेवा करना अपना धर्म समझता है। प्राचीनकाल में घोर जंगलों को निर्विघ्न, निरापद रूप से पार कराकर विहार कराने तथा यथा कल्प आहार-औषधादि से तप-संयम के आराधक साधुवर्ग की सेवा करने में धर्मनिष्ठ सार्थवाह सहायक होता था। साथ ही प्रशस्त गृहस्थ साधु वर्ग के संयमपालन में, तथा साधुधर्म से विचलित या भ्रष्ट होते हुए किसी साधु या साध्वी को साधुधर्म में, साध्वाचार में स्थिर करने तथा संयम पालन के लिए उत्साहित करने में एवं नवदीक्षित या अस्थिर साधु-साध्वी को वात्सल्यभाव से शिक्षा देकर साधु धर्म में प्रेरित करने में प्रत्येक प्रकार से सहायक आलम्बनदाता होता है। इसीलिए ऐसे प्रशस्त गृहस्थ नर-नारी को शास्त्रों में '**अम्मा-पिउ समाणा**'[1]—माता-पिता के समान वत्सल कहा गया है। अपने क्षेत्र या समाज के किसी भी सदस्य पर संकट, आफत या दुःख आ पड़ा हो तो उसे दूर करने में ऐसा गाथापति सहयोगी व सहभागी बनता है। ऐसे प्रशस्त गाथापति के लिए उपासक दशा सूत्र में कहा गया है—

मेढी, पमाणे आहारे आलंबणं चक्खू[2]

वह गृहस्थ अपने समाज तथा कुटुम्ब के लिए मेढीभूत (स्तम्भ के समान उत्तरदायित्व वहन करने वाला), प्रमाण भूत, आधार, आलम्बन और चक्षु अर्थात्—नेता या पथप्रदर्शक होता है।

पारिवारिक जीवन में पत्नी भी पति के लिए धर्म-सहायिका, धर्म-कार्य में सहयोगी, धर्मरक्षा करने में तत्पर तथा धर्म से डिगते या विचलित होते हुए पति को धर्म में स्थिर करने में आलम्बन रूप होती है। इसीलिए भारतीय संस्कृति में गृहिणी को केवल पत्नी ही नहीं, धर्मपत्नी कहा जाता है। उपासक दशांगसूत्र में धर्मपत्नी के गुणों का वर्णन करते हुए कहा है—

"भारिया धम्म-सहाइया, धम्म-बिईज्जिया, धम्माणुरागरत्ता, सम सुह-दुक्ख-सहाइया।"[3]

---

१ ठाणांग सूत्र
२ उपासकदशांग १/५
३ वही, ७/२२७

अर्थात्--पत्नी भार्या (भरण-पोषण करने वाली), धर्मसहायिका, धर्मसहचारिणी, धर्म में अनुरक्त, सुख-दुःख से समानसहायिका होती है।

इसी प्रकार परिवार में माता-पिता एवं दादा-दादी, नाना-नानी, चाचा-चाची, ताऊ-ताई, बड़ी बहन, भाई-भाभी आदि भी बालकों एवं युवकों को धर्मसहायक, धर्माचरण की प्रेरणा देने वाले, धर्म में स्थिर करने वाले तथा धर्ममार्ग बताकर धर्मसंस्कार सुदृढ़ करने वाले होते हैं, इसलिए वे भी धर्मार्थी के लिए आलम्बन रूप हैं।

इन सब आलम्बनों का समावेश गाथापति वर्ग के आलम्बन में हो जाता है।

धर्माचार्य धर्माचरणकर्त्ता के लिए विशिष्ट आलम्बन हैं

धर्माचार्य धर्मसाधक गृहस्थ और साधु दोनों के जीवन के लिए विशिष्ट एवं महत्त्वपूर्ण आलम्बन है। धर्माचार्य का आलम्बन लिए बिना धर्मसाधक का जीवन अस्त-व्यस्त, मर्यादाभ्रष्ट, आचार-संहिता की लोक से दूर हो सकता है। संघ में सभी साधु या साध्वी ज्ञानादि पाँचों आचारों का पालन करने में पूर्ण समर्थ नहीं होते, कई नवदीक्षित होते हैं, कई तपस्वी नहीं होते, कई अल्पशिक्षित होते हैं, कई शरीर से दुर्बल, वृद्ध, अशक्त या रोगी होते हैं, उन सब के लिए संघ का आचार्य या धर्मगुरु यथा-योग्य सेवा की व्यवस्था करता है, उनको सारणा, (कर्तव्य का स्मरण कराना), वारणा (अकर्तव्य करने से रोकना), धारणा (साध्वाचार के मौलिक नियमों एवं परम्पराओं को ग्रहण कराना, त्याग-प्रत्याख्यान कराना), चोयणा (सेवा, तपस्या, दोषशुद्धि के लिए प्रायश्चित्त आदि की प्रेरणा देना) तथा पडिचोयणा (भूल होने पर कठोरता के साथ शिक्षा देना) करता है। साधुवर्ग को ग्रहण शिक्षा एवं आसेवना शिक्षा के हेतु भी धर्माचार्य या धर्मगुरु (दीक्षागुरु) का आलम्बन लेना आवश्यक होता है। धर्माचार्य का आलम्बन इसलिए भी आवश्यक है कि साधुवर्ग या श्रावकवर्ग के जीवन में या संघ में कहीं भी कोई दोष, अपराध या भूल हुई हो तो धर्माचार्य उसे सावधान करके दोष निवारण की सूचना देता है। उसे धर्म का शुद्ध मार्ग सुझाता है।

शुद्ध आलम्बन का फलितार्थ और विवेक

योगीश्वर आनन्दघनजी ने परमात्मप्राप्ति के लिए शुद्ध आलम्बन की प्रेरणा देते हुए कहा है—

"शुद्ध आलम्बन आदरे, तजो अवर जंजाल रे।"[1]

परमात्मप्राप्ति के इच्छुक मुमुक्षु को अन्य सब प्रपंच छोड़कर पूर्वोक्त सभी आलम्बनों में जो शुद्ध आलम्बन हो, उसे ही ग्रहण करना चाहिए। शुद्ध आलम्बन का निश्चयदृष्टि से अर्थ होता है—जो शुद्ध आत्म-स्वरूपलक्ष्यी हो, परमात्मलक्ष्यो हो अथवा मोक्षलक्ष्यो हो। निश्चय दृष्टि से तो शुद्ध आलम्बन एकमात्र शुद्ध स्वरूपलक्ष्यो आत्मा ही हो सकता है। जिसमें अन्य विकल्पों का जाल न हो। वह आलम्बन शुद्ध आत्मा का ज्ञान, शुद्ध आत्मस्वरूपदर्शन तथा अखण्ड आत्मस्वरूप में रमणरूप चारित्र ही सम्भव है। वही वास्तव में स्वावलम्बन है। शुद्ध आलम्बन में किसी प्रकार का आडम्बर, प्रपंच, स्वार्थ, कामना, धोखाधड़ी, ठगी या मायाजाल नहीं होना चाहिए। इसी प्रकार शुद्ध आलम्बन राग, द्वेष, कषाय, मोह, मद, मत्सर आदि के परिणामों से रहित होना चाहिए। जिस आलम्बन से साधक दुर्गतियों में भटकता हो, जो आलम्बन संसार-परिभ्रमण का कारण हो, जिससे जीवन पतन की ओर जाता हो, जो आलम्बन मनुष्य को सदा के लिए परावलम्बी बनाए रखता हो, उसे शुद्ध आलम्बन नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार जो आलम्बन परमात्मप्राप्ति में सहायक न हो, अथवा जो परमात्मा से विमुख करता हो, वह भी अशुद्ध आलम्बन है।

अपूर्ण व दुर्बल के व्यवहारदृष्टि से शुद्ध आलम्बन

एक दृष्टि से देखा जाए तो शुद्ध, आत्मा के सिवाय किसी दूसरे का आलम्बन परावलम्बन है। शुद्ध आत्मा का आलम्बन लेने से किसी दूसरे से सहायता की याचना करने की तथा दूसरे को रिझाने की दृष्टि से अतिशयोक्तिपूर्ण गुणगान करने की आवश्यकता नहीं रहती। परन्तु जहाँ तक शरीर साथ में है, वहाँ तक किसी दूसरे का आलम्बन लेना ही पड़ता है। यों देखा जाए तो आलम्बन शब्द ही परसापेक्ष या परापेक्षित है। आत्मशक्ति की न्यूनता ही आलम्बन की अपेक्षा रखती है। साधक में जब तक अपूर्णता है, जिस साधक की आत्मा अभी सम्यग्ज्ञानादि चतुष्टय में पिछड़ी हुई है, दुर्बल है, ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय, इन चारों आत्मगुणघाती कर्मों से आच्छादित है, जो अभी कषायों और राग-द्वेष-मोहादि से मुक्त नहीं है, परन्तु जो संसार-समुद्र से पार होना चाहता है, इन सब विकारों, कर्मों

---

१ आनन्दघन चौबीसी, शान्तिनाथ स्तवन गा. ५

तथा आत्मिक दुर्बलता को मिटाने, आत्मा को पुनः-पुनः जगाने, प्रमाद दूर करने एवं आत्मा को शुद्ध बनाने और परमात्मपद को पाने के लिए तीव्र उत्सुक एवं प्रयत्नशील है, उसे शरीर, षट्कायिक जीव, गण (संघ), शासक, धर्माचार्य, गृहपति तथा देवाधिदेव अरिहंत, निर्ग्रन्थ गुरु एवं सद्धर्म एवं सुशास्त्र आदि का आलम्बन लेना आवश्यक है। उत्तराध्ययन सूत्र में मोक्ष (परमात्मपद) प्राप्ति के लिए, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-तप, इन चारों के संयुक्त मार्ग (सद्धर्म) को आलम्बन बताया है। शुद्ध आशय से इन और ऐसे ही बाह्य आलम्बनों को लेने में कोई दोष नहीं है।

शुद्ध बाह्य आलम्बन भी कैसे, क्यों और कब लेने चाहिए ?

अपूर्ण साधक व्यावहारिकदृष्टि से वीतराग देव, सद्गुरु और सद्धर्म का आलम्बन लेता है। व्यवहारदृष्टि से मोक्षलक्ष्यी (परमात्मभावलक्ष्यी) आलम्बन के रूप में व्यवहार सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक् तप (सद्धर्म) ग्रहण किये जाते हैं।

परन्तु आत्मार्थी साधक को इन सबका आलम्बन लेने से पूर्व पूरी तरह जांच-पड़ताल कर लेनी चाहिए। व्यावहारिकदृष्टि से जो भी बाह्य आलम्बन लिये जाएँ, उसके पीछे आत्मार्थी साधक का अन्तिम उद्देश्य, दृष्टि और कारण स्पष्ट होना चाहिए और यह विवेक करना चाहिए कि मैं जिन देव, गुरु, धर्म, शास्त्र या ज्ञानादि चतुष्टय रूप धर्म का आलम्बन ले रहा हूँ, वे वीतरागता, पूर्णता, पूर्णसमत्व, परमात्मभाव, मोक्ष या शुद्ध आत्मभाव की ओर ले जाने वाले हैं या साम्प्रदायिक कट्टरता, सम्प्रदाय मोह, कलह, कदाग्रह, राग-द्वेष, संघर्ष आदि बढ़ाने वाले हैं ? अगर वे आलम्बन तथाकथित देव, गुरु, धर्म, शास्त्र या ज्ञानादि सद्धर्म के नाम से उपद्रव, सिरफुटोवल, झगड़े, फूट, दम्भ, अभिमान, मद, छिद्रान्वेषण, छलकपट या दम्भ आदि बढ़ाने या पैदा करने वाले हों तो उन्हें व्यवहारदृष्टि से भी शुद्ध आलम्बन कहना अनुचित है। तथाकथित सम्यग्दर्शन (सम्यक्त्व) के नाम से गुरुडमवाद, अहंपोषक, स्वव्यक्तित्वपोषक,अन्धश्रद्धापोषक मिथ्या परम्पराएँ, साम्प्रदायिकता,कुरूढ़ि, मिथ्यामान्यताएँ, एकान्तवाद, कदाग्रह, कलहवर्द्धक सम्यक्त्व को आलम्बन के रूप में कोई स्वीकार करने का कहे, सम्यग्ज्ञान के नाम से उन्मार्गगामी, अन्धविश्वासपोषक या भौतिकज्ञान या मिथ्याज्ञान अथवा सावद्यमार्ग की ओर ले जाने वाले विषमतावर्द्धक आत्मबाह्य ज्ञान या वैसे शास्त्रों को आलम्बन के रूप में

थोपना चाहे अथवा सम्यक्चारित्र के नाम से युगबाह्य,सिद्धान्तविरुद्ध, संवर-निर्जरा-प्रतिपक्षी, सद्धर्म से विपरीत, आत्मविकासघातक, वृथाकष्टकारी, निरर्थक आडम्बरयुक्त तप आदि क्रियाकाण्डों को लादना चाहे तो इन्हें भी व्यावहारिकदृष्टि से शुद्ध आलम्बन नहीं कहा जा सकता। व्यवहारदृष्टि से सुदेव, सुगुरु एवं सद्धर्म आदि परमात्मभाव (मोक्ष) या शुद्ध आत्मभाव की ओर ले जाने वाले पुष्ट या पवित्र आलम्बन ही जलसन्तरण के लिए नौका की तरह कथंचित् शुद्ध एवं उपादेय हो सकते हैं। यद्यपि पूर्णतः शुद्ध आलम्बन तो आत्मा का ही हो सकता है, क्योंकि वही नित्य, शुद्ध और अभिन्न आलम्बन है।

शुद्ध आलम्बन का अर्थ व्यवहारदृष्टि से यह भी सम्भव है—शुद्ध रूप से आलम्बन यानी देव, गुरु, धर्म आदि सच्चे हों, साथ ही दुष्ट आशय से, गलत रूप से स्वार्थ, दम्भ, छलछिद्र, आडम्बर,यशोलिप्सा, पद-प्रतिष्ठा-लोलुपता, प्रमाद-आलस्य-वृद्धि, सुख-सुविधाप्राप्ति, अधर्माचरण प्रवृत्ति, पापाचरण या स्वकृत-पापकर्म के आच्छादन आदि विपरीतभाव से तथा क्रोध, द्रोह, ईर्ष्या-अहंकारवश उनका आलम्बन ग्रहण है जो अन्तिम लक्ष्य-प्राप्ति में बाधक है। आलम्बन के नाम से चाहे जितने पवित्र नाम से कोई थोपना चाहे, यदि वे मायाजाल में फँसाने वाले, दम्भवर्द्धक प्रपंचमय हैं तो त्याज्य समझने चाहिए।

परन्तु शुद्ध आशय से अगर कोई किसी आलम्बन को ग्रहण करता है तो वह बाह्य आलम्बन भी शुद्ध है। ज्ञानादि की साधना करते समय शरीरादि की दुर्बलता, व्याधि, संकट आदि के अवसर पर उत्सर्गमार्ग को ध्यान में रखते हुए भी यदि कोई साधक अपवादमार्ग का आलम्बन लेता है, तो वह आलम्बन भी शुद्ध माना जाता है। व्यवहारभाष्य में कहा है—

सालम्ब सेवी समुवेइ मोक्खं।[1]

इसका भावार्थ यह है कि जो साधक ज्ञानादि किसी विशिष्ट हेतु से अपवादमार्ग का आलम्बन लेता है तो वह भी मोक्ष (परमात्मभाव) को प्राप्त कर सकता है।

परन्तु ये सब आलम्बन तभी तक ग्राह्य हैं, जब तक साधक साधना

---

१ व्यवहारभाष्य पीठिका १८४

में परिपक्व न हो जाए। जब साधक परिपक्व हो जाए, अथवा उच्च गुण-स्थान या वीतरागता की भूमिका पर पहुँच जाए, तब नदी पार होने के बाद नौका को छोड़ देने की तरह, उक्त आलम्बन को छोड़ देना चाहिए। यों भी थोड़ी-सी उच्च भूमिका पर आरूढ़ हो जाने पर साधक को नीची भूमिका के आलम्बनों को छोड़ देना चाहिए। जैसे—बच्चा बचपन में खिलौने आदि का आलम्बन लेता है, किन्तु वयस्क होने पर उन सब आलम्बनों को छोड़ देता है, वैसे ही विवेकी साधक को साधना में आगे बढ़ जाने पर नवदीक्षित आदि की पूर्वभूमिका के आलम्बनों को छोड़ते रहना चाहिए। बृहत्कल्पभाष्य में कहा गया है—

"सीहं पालेइ गुहा, अविहाउं तेण सा महिड्ढिया।
तस्स पुण जोव्वणम्मि, पओअणं किं गिरिगुहाए ?"[1]

"गुफा बचपन में सिंह-शिशु की रक्षा करती है। तभी तक उसकी उपयोगिता है। जब वह सिंह तरुण हो गया तब फिर उसके लिए गुफा का क्या प्रयोजन है ?"

जिस प्रकार एम० ए० पढ़े हुए विद्यार्थी को उससे पहले की कक्षाएँ या पाठ्य-पुस्तकें छोड़ देनी होती हैं, वैसे ही उच्च श्रेणी पर पहुँचे हुए साधक को नीची श्रेणी के समय लिये जाने योग्य आलम्बन छोड़ देने चाहिए।

परावलम्बन का त्याग कर निरालम्बी बनो

साधक के लिए परमात्मप्राप्ति के लक्ष्य की ओर द्रुतगति से पहुँचने हेतु उत्कृष्ट मार्ग तो निरालम्ब (केवल शुद्धात्मावलम्बी रहने) का है। साधक जितना-जितना बाह्यालम्बन ग्रहण करता है, उतना-उतना वह परावलम्बी एवं पराधीन बनता है। 'पराधीन सपने हु सुख नाहीं' गोस्वामी तुलसीदास जी की यह उक्ति अक्षरशः सत्य है। अतः साधक जितना-जितना परावलम्बन पराधीनत्व छोड़ता है, उतनी ही उतनी उसकी आत्मा तेजस्वी, बलवान्, शुद्ध और परमात्मभाव के निकटतर पहुँचती है।

आचारांग सूत्र में बताया गया है कि जो साधक अपने विनय (ज्ञानादि चतुष्टय) में महान् है, जिसका मन सम्यग्दृष्टि से बाहर नहीं

---

१ बृहत्कल्पभाष्य २११४

होता, वह किसी से भी अपराजित साधक निरालम्बनता (किसी भी बाह्य आलम्बन के बिना) से रहने में समर्थ होता है।[1]

उत्तराध्ययन सूत्र में सहाय (बाह्यालम्बन) का प्रत्याख्यान (त्याग) का महत्त्व बताते हुए भगवान् महावीर ने कहा—सहाय (बाह्य सजीव-निर्जीव आलम्बन) का त्याग करने से जीव (आत्मार्थी साधक) एकीभाव (आत्मा के साथ एकत्व) को प्राप्त कर लेता है। एकीभावभूत जीव एकत्व भावना में भावित होता हुआ अल्प शब्दी (कम बोलने वाला, प्रायः मौन धारण करके रहने वाला) हो जाता है। उसके बाह्य झंझट, प्रपंच, आडम्बर आदि कम हो जाते हैं। कलह, कषाय, अहंत्व-ममत्व आदि भी अत्यन्त कम हो जाते हैं। उसके जीवन में संयम और संवर की प्रचुरता हो जाती है। फलतः वह आत्म-समाधिस्थ हो जाता है।"[2]

वस्तुतः किसी भी सजीव-निर्जीव बाह्य आलम्बन के लेने में साधक को अत्यन्त विवेकी और सावधान रहना चाहिए। यदि वह उत्तम से उत्तम बाह्य आलम्बन लेकर स्वयं सावधान, जागृत और अप्रमत्त नहीं रहता है, पापकर्मों की ओर फिसलती हुई अपनी आत्मा की रक्षा नहीं कर सकता है तो उसे कोई नहीं तार सकता, वह भ्रष्ट और पतित हो सकता है। यदि स्वयं की आत्मा जागरूक होकर पुरुषार्थ न करे तो संघ आदि कोई भी आलम्बन उस साधक को तार नहीं सकता। एक आचार्य ने कहा है—

संघो को वि न तारेइ कट्ठो मूलो तहव अन्नो वा।
अप्पा तारेइ अप्पा, ...

काष्ठा संघ, मूल संघ या द्राविड़, यापनीय आदि अन्य कोई भी संघ आत्मा को नहीं तार सकता। आत्मा ही आत्मा को तारता है।

'कूलवालुक' नाम का एक उत्कृष्ट साधक था। नदीतट पर स्वयं एकाकी रहकर वह ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, संयम की उत्कट साधना करता था। रत्नत्रय की उत्कृष्ट साधना द्वारा मोक्ष (परमात्मभाव) को

---

१ अणभिभूए पभू निरालंबणयाए, जे महं अनहिमणे।
—आचारांग सूत्र श्रु, १/अ. ५ गा. ६

२ 'सहाय-पच्चक्खाणे णं, भन्ते ! जीवे किं जणयइ ? स० एगीभावं जणयइ। एगीभावभूए वि य णं जीवे एगत्तं भावेमाणे अप्पसद्दे अप्पझंझे अप्पकलहे अप्पकसाए अप्पतुमंतुमे संजमबहुले संवर-बहुले समाहिए या वि भवइ।"
—उत्तराध्ययन सूत्र २९/३९

प्राप्त करने के लिए उसने व्यावहारिक ज्ञान-दर्शन-चारित्र-तप का तथा साधुवेष आदि बाह्य पदार्थों का आलम्बन लिया था। परन्तु वह सुख-सुविधा एवं मोहक प्रलोभनों में एवं अन्त में, मागधिका गणिका में आसक्त हो गया। फलतः संयम से भ्रष्ट और पतित हो गया। परमात्मा बनने के बदले वह बहिरात्मा हो गया। इसी प्रकार जहाँ आत्मिक दृष्टि से दुर्बल साधक के लिए शास्त्र में साधक को संघ (गण), एवं गुरु आदि का आलम्बन बताया है, वहाँ उसका उद्देश्य भी बताया है कि "जिस प्रकार किसी आलम्बन के सहारे दुर्गम गर्त आदि में गिरता हुआ व्यक्ति अपने को सुरक्षित रख सकता है, इसी प्रकार ज्ञानादिवर्धक किसी विशिष्ट हेतु का आलम्बन लेकर अपवाद (सालम्बन) मार्ग में उतरता हुआ साधक भी यदि निश्छल-सरल भाव रखे तो वह अपनी आत्मा को दोषों से बचा सकता है।[1] दुर्बलतावश आलम्बन लेकर यदि निरहंकार, सरल, निश्छल एवं जागृत न रहे तो उसका पतन निश्चित है। शास्त्र में एक ओर तो दुर्बल साधु के लिए सहचारी साधर्मि साधकों का आलम्बन लेने का विधान है, परन्तु दूसरी ओर यह भी बताया गया है कि यदि सद्गुणों में अपने से अधिक अथवा सद्गुणों में समान साथी साधक न मिले तो काम भोगों में अनासक्त रहकर पापकर्मों से दूर रहता हुआ एकाकी (द्रव्य और भाव से एकमात्र आत्मावलम्बी) होकर विचरण करे।"[2] परन्तु एकाकी होकर विचरण करने वाले साधक के लिए जो कड़ी शर्तें उसकी अर्हता के लिए रखी हैं, उनकी ओर ध्यान देना आवश्यक है। अगर वैसी योग्यता नहीं है, आत्मा ज्ञानादि गुणों से उतनी परिपुष्ट और समृद्ध नहीं है किन्तु किसी पदलोलुपता, प्रतिष्ठा, स्वच्छन्दता, स्वार्थसिद्धि, सुखसुविधा या स्वकीय आचार शिथिलता अथवा ज्ञानादि के मद तथा अहंकार के वशीभूत होकर संघ, साधर्मिक साधु तथा गुरु आदि का वह आलम्बन छोड़ता है और एकाकी विचरण करता है तो वह एकाकीपन साध्य प्राप्ति में अत्यन्त बाधक है। ऐसा एकाकीपन साधक को प्रमाद और पाप की ओर ले जाने वाला, पतनकारक है, आसक्तिवर्द्धक है।

---

१ सालंबणो पडतो, अप्पाणं दुग्गमेऽवि धारेइ।
इअ सालंबण-सेवा धारेइ जइं असढभावं॥ —आवश्यकनिर्युक्ति ११८०

२ न वा लभेज्जा निउणं सहायं, गुणाहियं वा गुणओ समं वा।
एगो वि पावाइं विवज्जयंतो, विहरेज्ज कामेसु असज्जमाणो॥
—उत्तराध्ययन ३२/५

वह निरालम्बन नहीं, पौद्गलिक सुखावलम्बन है। वह स्वच्छन्दता एवं अहंकारवृद्धि का कारण है। इसके साथ ही संघ या साधर्मिक साधु आदि का आलम्बन लेने पर भी यदि उनसे अशुभ कर्मबन्ध होता हो, अहंकारादिवश साथी साधु या शिष्यादि उसकी हितकारी बात को भी मानने-सुनने को तैयार न हों तथा उसके साथ रहने से अपनी आत्मा भी संक्लिष्ट, आर्त्तध्यानाविष्ट-सी पतित हो रही हो तो ऐसी स्थिति में उन साधर्मिक साधुओं, शिष्यों या संघ आदि का आलम्बन छोड़ा भी जा सकता है। जैसे—गार्ग्याचार्य[1] एक बहुत ही आचार-विचार सम्पन्न, जागृत आत्मार्थी साधक थे। उन्होंने कई शिष्य बनाये तो थे परमात्मभाव (मोक्ष) प्राप्ति की साधना में मार्गदर्शन देकर सहायता करने तथा संघ-सेवा करके कर्मनिर्जरा करने के लिए। परन्तु उनके सभी शिष्य अविनीत, स्वच्छन्द और कुपथगामी निकले। वे आचार्य की एक भी हितकर बात को मानते नहीं थे। उन्हें सुधरने का उन्होंने मौका भी दिया, परन्तु जब वे न सुधरे तो गार्ग्याचार्य ने उनका आलम्बन छोड़ दिया और अनासक्त, विरक्त एवं पाप कर्म से दूर रहकर एकाकी विचरण करने लगे।

सभी बाह्य आलम्बन तटस्थ आलम्बन हैं

वास्तव में ये जितने भी बाह्य आलम्बन हैं, वे तटस्थ आलम्बन हैं। वे अपने आप में चला कर किसी का आलम्बन नहीं बनते, किन्तु कोई व्यक्ति अगर उनका आश्रय लेना चाहे, उसके लिए आलम्बन बन जाते हैं। जैसे मछली के लिए पानी आलम्बन माना जाता है। परन्तु वह आलम्बन तभी बनता है, जब मछली उसका आलम्बन लेना चाहे। धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय जीवों के लिए क्रमशः गति और स्थिति करने में आलम्बन भी तभी बनते हैं, जब वह आलम्बन लेना चाहे। सूर्य उदय होता है, तब चारों ओर का सारा अन्धेरा दूर हो जाता है, सर्वत्र प्रकाश हो प्रकाश हो जाता है। पशु, पक्षी, मानव आदि सब प्राणी सूर्य का आलम्बन लेकर अपने-अपने कार्य में प्रवृत्त हो जाते हैं। सूर्य किसी को जागने, उठने तथा अपने प्रकाश से पदार्थों को देखने एवं कार्यों में प्रवृत्त होने को नहीं कहता, न ही वह बलाकर आलम्बन बनता और प्रेरणा करता है। पशु-पक्षी, मानव आदि स्वयं सूर्य का आलम्बन लेकर विविध कार्यों में प्रवृत्त

---

१ गार्ग्याचार्य के वृत्तान्त के लिए देखिये—
उत्तराध्ययन सूत्र का २७ वां खलुंकिज्जं अध्ययन।

होते हैं। यदि कोई मनुष्य सूर्य का आलम्बन लेना ही न चाहे, अपनी आँखें बन्द कर ले या अन्धकार मिटाना ही न चाहे तो सूर्य उसके लिए आलम्बन नहीं बनता। अतः संसार के पूर्वोक्त सारे परपदार्थ तटस्थ आलम्बन हैं। आन्तरिक आलम्बन आत्मा का अपना ही है। तटस्थ आलम्बन स्वयं अपने आप में किसी का आलम्बन नहीं बनता, कोई उसका आलम्बन लेना चाहे तो ले सकता है। जैनजगत में कई प्रत्येकबुद्ध हुए हैं। उनमें से किसी ने बादलों का, किसी ने वृक्ष, चूड़ी, स्त्री या बैल का आलम्बन लेकर उसके निमित्त से संसार से वैराग्य एवं बोध पाया। इसी प्रकार एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय, नारक, देव, मनुष्य, तिर्यंच पंचेन्द्रिय तथा गण, शासक, गृहस्थ, धर्माचार्य एवं देव, गुरु, धर्म, शास्त्र आदि सब तटस्थ आलम्बन हैं। यह तो किसी पदार्थ का आलम्बन लेने वाले की योग्यता, क्षमता, रुचि, भावना आदि पर निर्भर है। महात्मा गांधीजी कहा करते थे—"जब भी मेरे समक्ष कोई अटपटी पेचीदा समस्या आती है, तब मैं गीता माता का आलम्बन लेता हूँ, मुझे शीघ्र ही उसका हल मिल जाता है।" यदि कोई आत्मिक दुर्बल मानव अपने अहंकाराविष्ट होकर किसी भी उत्तम पुरुष या प्रेरक पदार्थ का आलम्बन लेना ही न चाहे या आलम्बनीय पदार्थ को तटस्थ न समझकर उस पर ही सारा भार डाल दे कि वही उसे बोध दे दे, उसका दुःख दूर कर दे या समस्या हल कर दे, या कोई महापुरुष वीतराग परमात्मा, धर्माचार्य या गुरु अथवा किसी भी महान् आत्मा का फोटो, छवि या मूर्ति उसे हाथ पकड़कर तार दे, संसारसागर से पार उतार दे, या उसका दुःख स्वयं दूर कर दे, ऐसा हो नहीं सकता। आलम्बन लेने वाला आलम्बन लेकर स्वयं पुरुषार्थ न करे या स्वयं प्रेरणा न ले तो वह भी कुछ नहीं कर सकता। भरत चक्रवर्ती ने शीशमहल का आलम्बन लिया, उन्होंने अंगूठी आदि आभूषणों के हटने से शरीरसौन्दर्य की अनित्यता का बोध लिया। शरीर और आत्मा की पृथक्ता का भेद-विज्ञान होते ही उन्हें उसी आलम्बन से केवलज्ञान हो गया। शीशमहल या आभूषणों ने स्वयं चलाकर उन्हें कोई भेदविज्ञान नहीं दिया। उन्होंने स्वयं उससे बोध व भेदविज्ञान प्राप्त कर लिया था। एक बालक किसी पुस्तक के अक्षरों का आलम्बन लेकर वैसे ही अक्षर बनाने का प्रयत्न करता है। अभ्यास करते-करते वह पुस्तक को देखे बिना ही वैसे अक्षर बनाने लगता है। पुस्तक के अक्षर जहाँ के तहाँ हैं। उन्होंने पुस्तक से उठकर बालक की कोई सहायता नहीं की। बालक ने उन अक्षरों का आलम्बन लिया, इस लिए वे उसके लिए तटस्थ आलम्बन (निमित्त) बन गए।

वीतराग परमात्मा भी इसी प्रकार के तटस्थ आलम्बन

'नमोत्थुणं' (शक्रस्तव) में वीतराग परमात्मा को तिन्नाणं तारयाणं बुद्धाणं बोहयाणं मुत्ताणं मोयगाणं' (स्वयं संसार सागर को पार करने और दूसरों को पार कराने वाले, स्वयं बोध प्राप्त करने और दूसरों को बोध प्राप्त कराने वाले तथा स्वयं मुक्त होने वाले व दूसरों को मुक्त कराने वाले) कहा गया है, इस दृष्टि से तो वीतराग परमात्मा साक्षात् आलम्बनदाता हो गए, किन्तु यह तो भक्ति की भाषा है। वास्तव में परमात्मा किसी को हाथ पकड़ कर तारने, बोध प्राप्त कराने या मुक्त कराने वाले या चलाकर पार करने वाले आदि नहीं है, जो साधक तरना, बोध पाना या मुक्त होना चाहता है, या जो उनके बताए हुए मार्ग पर चलकर मोक्षमार्ग की या परमात्मभाव की सतत् साधना करना चाहता है, उसके लिए वे तटस्थ आलम्बन (सहायक) बन जाते हैं। किन्तु जो तरने या मुक्त होने के लिए उनके द्वारा प्रतिपादित मार्ग पर पुरुषार्थ नहीं करता, हिचकिचाता है, प्रभु पर तैराने, पार उतारने या मुक्ति दिला देने का भार डाल देता है, उसे वे हाथ पकड़कर या जबरन उठाकर नहीं तारते हैं, न मुक्त कराते हैं। इसलिए कहा गया **'बालम्बनं भवजले पततां जनानाम्'**[1] प्रभो ! आप संसार समुद्र में गिरते हुए मनुष्यों के लिए आलम्बन रूप हैं।

मरुदेवी माता ने कोई भी बाह्य आलम्बन (व्यावहारिक रत्नत्रय, साधु वेष आदि) नहीं लिया, वीतराग ऋषभदेव प्रभु को देखकर उनके मन में उनके प्रति जो मोह था, वह समाप्त हो गया। उनके अन्तर् में केवल ज्ञान की ज्योति जगमगा उठी।

इसमें भगवान् ऋषभदेव को बाह्य तटस्थ आलम्बन कहें तो कह सकते हैं। मुख्य आलम्बन तो उनकी आत्मा ही थी।

निष्कर्ष यह है कि निश्चयदृष्टि से शुद्ध आत्मतत्त्व ही एकमात्र आलम्बन है, किन्तु दुर्बल एवं अपूर्ण आत्मा व्यावहारिक दृष्टि से वीतराग परमात्मा तथा गुरु, धर्म, (रत्नत्रय रूप) शास्त्र तथा अन्य किसी भी पदार्थ का आलम्बन निश्चयदृष्टि को लक्ष्य में रखकर ले तो वह भी परमात्म-भाव को प्राप्त कर सकता है, आलम्बन ग्रहणकर्ता की दृष्टि, वृत्ति, प्रवृत्ति एवं उद्देश्य शुद्ध एवं स्पष्ट होना चाहिए। □□

---

१ भक्तामर स्तोत्र, काव्य १

१८

परमात्मभाव से भावित आत्मा : परमात्मा

जैसे भाव, वैसी बुद्धि और शक्ति

श्रमणसंस्कृति का एक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है—**यादृशी भावना यस्य, बुद्धिर्भवति तादृशी**—जिसकी जैसी भावना होती है, उसकी बुद्धि भी वैसी ही बन जाती है। कोई भी व्यक्ति जिस प्रकार की भावना से अपने आपको भावित करता है, वैसा ही बन जाता है। भावपाहुड में कहा है—किसी भी मनुष्य के गुण या दोष से युक्त होने में उसके भाव ही कारण हैं।[1] केवल व्यक्ति ही नहीं, हर पदार्थ भी भावित हो सकता है। आयुर्वेदिक औषधियों में कई रसायन एवं भस्म भावना का पुट देकर अमुक गुण धर्मों में परिवर्तित कर दिये जाते हैं। उस भस्म या रसायन की शक्ति एवं क्षमता बदल जाती है। सादा पानी विविध रंग की बोतलों में भर सूर्य-किरणों से भावित किया जाता है, तब उसके गुणधर्म भी बदल जाते हैं। भावित होने पर पदार्थों और व्यक्तियों में रासायनिक परिवर्तन भी हो जाते हैं।

नाटक-सिनेमा आदि में भी नाट्यकर्त्ता या सिनेमा-एक्टर थोड़े समय के लिये तो जिस स्त्री या पुरुष की

---

१ भावो कारणभूदो गुणदोसाणं जिणाविंति। —भावपाहुड २

वेशभूषा धारण करके दर्शकों के समक्ष उपस्थित होते हैं, उस समय वे ठीक उसी तरह का अभिनय, आकृति, अंग-चेष्टा तथा वाणी और भाव प्रकट करते हैं। जब वे राजा या भिखारी का पार्ट अदा करते हैं, तब राजा या भिखारी के ही भावों से भावित होकर रहते हैं।

बुरे और अच्छे दोनों प्रकार के भावों से भावित हो सकता है

अच्छे विचारों से भी मन को भावित किया जा सकता है, और बुरे विचारों से भी। जो व्यक्ति चोरी, हत्या, डकैती, क्रूरता आदि बुरे काम करता है, वह पहले अपने मन को चोरी, हत्या, डकैती, क्रूरता आदि के भावों से भावित करता है। हर आदमी चोरी, हत्या, डकैती, क्रूरता आदि दुष्कृत्य नहीं कर सकता। जो क्रूरता, कठोरता आदि के विचारों से अपने मन को भावित कर लेता है, वही ऐसे बुरे काम कर पाता है। अच्छे काम करने के लिये मन को अच्छे विचारों से भावित करना पड़ता है।

चोर आदि भी परमात्मभावों से भावित हो सकते हैं

आपने देखा या सुना होगा कि चोर, डाकू, दस्यु एवं हत्यारा भी जब अपनी अन्तरात्मा को तप, संयम से भावित कर लेता है तो अतिशीघ्र तपस्वी, संयमी, महात्मा और यहाँ तक कि सिद्ध-बुद्ध-मुक्त परमात्मा भी बन जाता है।

चिलातीपुत्र बहुत बड़ा चोर था।[1] उसके आतंक से बड़े-बड़े शक्तिशाली लोग भी थर्राते थे। एक बार उसने क्रूरता के भावों से भावित होकर अपने प्रति प्रेम रखने वाली श्रेष्ठि-कन्या की हत्या कर डाली। फिर एक हाथ में उस कन्या का मस्तक और दूसरे हाथ में खून से सनी तलवार लिये वह जंगल में भागा जा रहा था। श्रेष्ठीपरिवार और पुलिस जन उसका पीछा कर रहे थे। मार्ग में एक शान्त, स्वस्थ, निश्चिन्त एवं तेजस्वी साधु को उसने ध्यानमुद्रा में खड़े देखा। अशांत, अस्वस्थ चिलातीपुत्र उस साधु को देखकर अत्यन्त प्रभावित हुआ। पास में जाकर उसने

---

१ देखिए ज्ञाताधर्मकथा सूत्र में चिलातीपुत्र का वर्णन

कहा—'मुझे कुछ बताइए।' साधु ने उसके क्रूर भावों को सौम्य भावों में परिवर्तन करने के उद्देश्य से उसे कहा—'उपशम, संवर, विवेक।' बस, इन तीन शब्दों ने चिलातीपुत्र के मन-मस्तिष्क और अन्तरात्मा में उथल-पुथल मचा दी। उसने अपने क्रूरभावों का सर्वथा परित्याग कर दिया। तलवार एक ओर फेंक दी। मृतकन्या का मस्तक तो वह पहले ही फेंक चुका था। अब वह सहसा अपनी अन्तरात्मा को उपशम, संवर और विवेक से भावित करने लगा। वह शुद्ध आत्मभावों से भावित होकर कुछ ही देर में उपशांत, संवृत्त एवं समाधिस्थ हो गया। उस भावितात्मा के आत्मघातक कर्म—ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय सहसा नष्ट हो गये और वह केवलज्ञान-केवलदर्शन (अनन्तज्ञानदर्शन) अनन्त आत्मिक आनन्द एवं असीम आत्मशक्ति से सम्पन्न—सिद्ध-बुद्ध-मुक्त परमात्मा बन गया।

अभिप्राय यह है कि जो व्यक्ति जिस प्रकार के भावों से स्वयं को भावित करता है, वह वैसा ही हो जाता है। चोर, डाकू, हत्यारे, वेश्या, धीवर, कसाई आदि भी जब अपनी आत्मा को परमात्मभावों से भावित कर लेते हैं तो वे भी शीघ्र ही परमात्मा बन जाते हैं। ऐसे एक नहीं अनेक उदाहरण संसार के इतिहास में मिलते हैं।

बौद्ध ग्रन्थों में आम्रपाली वेश्या का उल्लेख आता है। वह अति नीच कृत्य करने वाली गणिका थी। उन्हीं नीचभावों से वह भावित रहती थी। किन्तु तथागत बुद्ध के उपदेशों से एक दिन उसने बौद्धसंघ को अपनी सर्वस्व सम्पत्ति सौंपकर बौद्धभिक्षुणी का जीवन अंगीकार कर लिया। वह उच्च भावों से भावित रहने लगी।

इसी प्रकार रोहिणेय चोर, अंगुलिमाल हत्यारा, दृढ़प्रहारी, अर्जुनमाली आदि अनेकों उदाहरण आत्मा को उच्च भावों से भावित होने के माहात्म्य को एक स्वर से सिद्ध करते हैं।

इसी प्रकार शालिभद्र जैसे श्रेष्ठिपुत्र, जो एक दिन पंचेन्द्रिय-विषय सुखों में निमग्न थे। जिन्होंने कभी दुःख की छाया तक नहीं देखी थी, जिनके यहाँ वैभव का अम्बार लगा हुआ था, किन्तु राजा श्रेणिक का आगमन जब उसके आवास भवन में हुआ। और माता भद्रा के मुख से जब उसने यह सुना कि 'पुत्र! ये (मगधसम्राट श्रेणिक) हमारे सिरछत्र हैं। इनका सारे मगधदेश पर आधिपत्य है।' तभी अतिसुकोमल शालिभद्र की अन्तरात्मा ने नई अंगड़ाई ली। उसकी अन्तरात्मा इन भावों से

अनुप्राणित होने लगी—'क्या मेरे पर भी कोई सिरछत्र है, किसी का आधिपत्य है ? नहीं, मैं अपना स्वयं अधिपति हूँ, मेरे पर मैं ही सिरछत्र हूँ। अपनी आत्मा पर दूसरों का आधिपत्य, दूसरों की सिरछत्रता ! नहीं-नहीं, मैं स्वयं अपना अधिपति तथा सिरछत्र बनूँगा।' बस, इन्हीं भावों के अनुरूप शालिभद्र के चिन्तन का दौर चला। उसने सोचा और निश्चय कर लिया—'इन्हीं पंचेन्द्रिय विषयों की सुख-सामग्री, धन-सम्पत्ति, जमीन-जायदाद, भवन, वैभव आदि पर मेरी आसक्ति के कारण ही मेरे पर दूसरों का आधिपत्य है। अगर इन सबका हृदय से परित्याग कर दिया जाये और अपनी आत्मा को तप-संयम से भावित किया जाये तो मैं स्वयं अपना अधिपति, तथा पारमात्मिक ऐश्वर्य से सम्पन्न बन सकूँगा। और एक दिन जगत् ने सुना कि अपार वैभवशाली शालिभद्र ने धन-धाम, वैभव, भौतिक समृद्धि तथा अपनी प्रिय माता, भगिनी एवं बत्तीस सुकुमार रमणियों पर से आसक्ति भाव छोड़कर भगवान् महावीर के चरणों में मुनि-दीक्षा ग्रहण कर ली और अपनी आत्मा को तप-संयम से भावित करते हुए परमात्मभावों में विहरण करने लगे। इसी प्रकार के उल्लेख शास्त्रों में यत्र-तत्र मिलते हैं—'संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरइ'[1]—संयम और तप से वह साधक अपनी आत्मा को भावित करता हुआ (परमात्म-भावों में) विहरण करता है।

चन्दनबाला एक खरीदी हुई दासी थी। उसकी मालकिन मूला सेठानी ने उसे घोर विपन्नावस्था में डाल दिया था, परन्तु उस समय भी वह अपनी आत्मा को परमात्मभावों से भावित करके रही। फलतः समभाव से भावित चन्दनबाला की आत्मा भगवान् महावीर के चरणों में दीक्षित व समर्पित हो गई। जैसे—वह विपन्नावस्था में समभाव में मग्न रही और वैसे ही भगवान् महावीर के साध्वी संघ की अधिष्ठात्री बन गई, तब भी अहंत्व-ममत्व से रहित होकर समत्व में स्थिर रही। यही कारण है, कि परमात्मभावों से भावित महासती चन्दनबाला एक दिन सिद्ध-बुद्ध-मुक्त परमात्मा बन गई।

व्याख्या-प्रज्ञप्ति (भगवती) सूत्र में भावितात्मा की क्षमता, शक्ति

---

१ (क) उपासकदशा सूत्र १/७६।
(ख) सुखविपाक सूत्र अ० १।
(ग) भगवती सूत्र।

और जीवन के अन्तिम क्षणों में परमात्मतत्व की प्राप्ति का उल्लेख यत्र-तत्र मिलता है। जैन आगमों की तरह बौद्ध पिटक, महाभारत, भगवद्-गीता आदि धर्मग्रन्थों में भी भावितात्मा शब्द का यत्र-तत्र प्रयोग हुआ है। वस्तुतः जो अपनी आत्मा को परमात्मभाव (शुद्ध आत्मभाव) से भावित नहीं करता, वह परमात्मतत्त्व को प्राप्त नहीं कर पाता। इसी दृष्टि से आचार्य कुन्दकुन्द ने कहा—'भावरहिओ न सिज्झइ'[1]—"(परमात्म-) भाव से रहित मनुष्य कभी सिद्धि-प्राप्ति (परमात्म-प्राप्ति) नहीं कर सकता।"

यह साधना भी अपनी आत्मा से ही होती है

यह भी सत्य है कि परमात्मभावों से आत्मा को भावित करने की इस साधना की क्षमता, शक्ति, योग्यता और दक्षता कोई बाहर से नहीं आती, अपितु स्वयं के अभ्यास से ही आती है। किसी तथाकथित शक्ति, देवी-देव, भगवान् या अवतार के अनुग्रह, वरदान या शक्तिपात आदि से भी यह प्राप्त नहीं होती। न ही किसी धर्म, सम्प्रदाय, मत, पन्थ या गुरु का आश्रय लेने से भी यह प्राप्त होती है। जैसा कि धर्म-समभावी आचार्य हरिभद्रसूरि ने कहा है—

"सेयंबरो वा आसंबरो वा, बुद्धो वा तहेव अन्नो वा।
समभाव-भाविअप्पा लहइ मुक्खं न संदेहो॥"

श्वेताम्बर हो, या दिगम्बर हो, बौद्ध हो या अन्य किसी भी धर्म-पन्थ से सम्बन्धित हो, जिसका आत्मा समभावों से भावित हो, वह निः-संदेह मोक्ष (परमात्मत्व) को प्राप्त कर लेता है। वस्तुतः यह साधना स्वयं को परमात्मभाव से भावित करने से ही होती है।

'भावितात्मा' शब्द का अर्थ और फलितार्थ

'भावितात्मा' शब्द अत्यन्त प्राचीन तथा शास्त्रीय शब्द है। इसका शब्दशः अर्थ होता है—'जिसकी आत्मा भावित हो।' इसका आधुनिक मनोविज्ञान की दृष्टि से अर्थ होगा—जिसकी अन्तरात्मा या अन्तःकरण किसी दृढ़भाव या दृढ़संकल्प से व्याप्त हो। आध्यात्मिक जगत् में आत्मा-परमात्मा के विपरीत किसी भी भाव को स्थान नहीं है। जो भाव आत्मा को परमात्मभाव तक ले जाने में सहायक हों, या साधक हों, जो आत्मा के निजी गुण, स्वभाव और धर्म के अनुकूल हों, वे ही भाव यहाँ ग्राह्य हैं।

---

१ भावपाहुड ४

उन्हीं भावों से भावित आत्मा को जैन, बौद्ध, वैदिक आदि धर्मों के ग्रन्थों में 'भावितात्मा' कहा गया है, साथ ही उसकी योग्यता, क्षमता, सामर्थ्य और आत्मशक्ति का भी निरूपण किया गया है। 'नन्दीसूत्रचूर्णि' में कहा गया है—आत्मा जब विशुद्ध भावों से स्वयं को ओतप्रोत कर लेता है, तब उसमें (परमात्मभाव की) सुगन्ध आ जाती है।[1] आत्मा को परमात्मभाव से भावित करना ही भावितात्मा का फलितार्थ है। 'आचारांग सूत्र' में इसी को 'स्थितात्मा'[2] (शुद्ध आत्मा में=परमात्मभाव में स्थित होने वाला बताकर उसके गुणधर्म बताए गये हैं कि 'इस प्रकार शुद्धआत्मभावों में रमण करने के लिये उत्थित (उद्यत) स्थितात्मा (भावितात्मा), पर-पदार्थों (परभावों एवं विभावों) के प्रति निरीह (निःस्पृह), शुद्ध आत्मभाव (परमात्मभाव) में अविचल, संयम में गतिशील (चल) एवं (परमात्मभाव से) बाह्य लेश्या से रहित होकर संसार में परिव्रजन (विचरण) करता है।

आत्मभाव में स्थिर होना ही परमात्मभाव में आना है

तात्पर्य यह है कि आत्मभाव में स्थिर होना ही परमात्मभाव में आना है। इस दृष्टि से अपनी आत्मा में परमात्मत्व (सिद्धत्व) को स्थापित करना ही परमात्मभाव को प्राप्त करना है। यह तभी हो सकता है, जब व्यक्ति यह दृढ़ निश्चय कर लेता है कि परमात्मा और मेरी आत्मा के स्वभाव एवं गुणधर्म में कोई अन्तर नहीं है। एक आचार्य ने इसी तत्त्व का समर्थन करते हुए कहा है—

यः परमात्मा स एवाऽहं, योऽहं स परमस्तथा।
अहमेव मयाऽऽराध्यः, नान्यः कश्चिदिति स्थितिः॥

'जो परमात्मा है, वही मैं हूँ। तथा जो मैं हूँ, वही परमात्मा है। ऐसी स्थिति में मैं (शुद्ध आत्मा) ही मेरा आराध्य है, अन्य कोई नहीं।' इसका अर्थ यह नहीं है, कि साधक जीवन्मुक्त वीतराग परमात्मा (अरहंत) का जो बाह्य रूप है, उनके शरीर का सौष्ठव, बल, आकृति (संस्थान),

---

१ नन्दीसूत्र, चूर्णि २/१३—विसुद्ध भावत्तण तोय सुगंधं।

२ एवं से उट्ठिए ठियप्पा, अणिहे अचले चले अवहिलेस्से परिव्वए।
—आचारांग सूत्र १/६/५/६८६

रचना (संहनन), तथा उनके अतिशयों को ही अपना स्वरूप जान-पहचान ले। उसी को अपना स्वरूप मान ले। उनके स्थूलस्वरूप को देखना जिन-दर्शन या जिनेन्द्र भगवान् को देखना या पहचान करना नहीं है। जो व्यक्ति वीतराग अरहन्त परमात्मा की शरीरसम्पदा आदि स्थूल रूप में ही अटक कर रह जाते हैं, वे स्थूलदृष्टि व्यक्ति न तो परमात्मस्वरूप को यथार्थतः जान-पहचान सकते हैं और न ही शुद्ध आत्मस्वरूप को। जिनकी स्थूल-दृष्टि वीतराग परमात्मा (जिनेन्द्र) की आत्मिक गुणसमृद्धि की ओर नहीं जाती; वे अपने जैसा ही भौतिक वैभवसम्पन्न अरहंत परमात्मा को समझ लेते हैं। उनकी प्रतिकृति को भी वस्त्राभूषणों से सुसज्जित करते हैं और प्रभु से वैसी ही भौतिक ऋद्धि-समृद्धि पाने की कामना (प्रार्थना) करते हैं।

व्यक्ति परमात्मस्वरूप को अपना आत्मस्वरूप कब समझता है ?

परमात्मा के स्वरूप को व्यक्ति अपना स्वरूप तभी समझ सकता है, जब वह परपदार्थ को अपना न समझे, एकमात्र परमात्मा को ही अपना समझे। जब तक व्यक्ति परपदार्थों पर से 'मैं' और 'मेरे' की मिथ्याधारणा को नहीं मिटा देता, तब तक परमात्मा के स्वरूप और आत्मा के शुद्ध स्वरूप का निश्चय नहीं हो सकता। अज्ञान और मोह से प्रेरित होकर लोग कह देते हैं—'यह मेरा घर है, यह मेरा पुत्र है, यह मेरी पत्नी है, यह मेरी कार है।' क्या ये सब (पर) पदार्थ उनके अपने हैं ? जिसे वे अपना घर, पुत्र या कार आदि कहते हैं, यदि उनके हैं तो उनसे कभी अलग नहीं होने चाहिये। मगर घर, पुत्र, कार आदि सब कभी न कभी उनसे अलग हो ही जाते हैं। जिस 'कार' को व्यक्ति अपनी कहता है, वह भी एक्सीडेंट होने पर बिलकुल नष्ट-भ्रष्ट हो जाती है, अपनी कहने वाले व्यक्ति से विलग हो जाती है। यह शरीर जिसे वह अपना कहता है, वह भी तो आयुष्य पूर्ण होते ही उससे छूट जाता है। मान लो, कोई व्यक्ति घर को अपना मानकर सरकार को हाउस टेक्स न दे तो सरकार भी उसे उस घर से बाहर निकाल देगी। दीर्घदृष्टि से सोचते हैं तो स्पष्ट प्रतीत हो जाता है कि घर न तो उसका है, न सरकार का है, वह तो ईंट, चूने, पत्थर आदि जड़ पदार्थों का है। यही हाल शरीर, पुत्र, कार आदि का है।

अपने आपको अपने में न पाने वाला मोक्ष नहीं पाता

अतः जब तक व्यक्ति अपने आपको नहीं पहचान पाता, तब तक

वह परमात्मा को कैसे पहचान पायेगा ? इसीलिये एक विचारक कहता है—

'जब तलक कोई 'आप' में, अपने को पाता नहीं ।
मोक्षपथ में तब तलक हर्गिज कदम जाता नहीं ।।'

इसका तात्पर्य यह है कि जब तक अपनी आत्मा में अपने आपको कोई नहीं प्राप्त कर लेता—स्थिर नहीं कर लेता, तब तक मोक्ष (परमात्मभाव) को पाना तो दूर रहा, मोक्ष (परमात्मभाव) के मार्ग पर भी कदम नहीं रख पाता। इसी आशय की एक उर्दू सूक्ति है—'खुद शनासी खुदा शनासी है।' —अपने आपको जानना ईश्वर को जानना है। शास्त्रकार इसी दृष्टि से कहते हैं—

'संपिक्खए अप्पगमप्पएणं'[1]

'शुद्ध आत्मा को आत्मा के द्वारा देखो-जानो-पहचानो।'

शुद्ध आत्मा और वीतराग परमात्मा को एक मानो

शुद्ध आत्मा को अपने में जानने में साधारण आत्मा समर्थ नहीं होती। वह शरीर, इन्द्रियों, मन और आसपास के परपदार्थों के गोरख-धन्धे में ही आसक्त होकर उन्हीं को अपना आत्मीय मान बैठती है अथवा वस्त्राभूषणों से सुसज्जित, तिलक छापे लगे हुए, अमुक ढंग से केशप्रसाधन किये हुए प्रभावशाली अथवा वाणी-विलास और बौद्धिक चातुर्य से युक्त किसी तथाकथित भगवान् या आचार्य को शुद्ध एवं पवित्र आत्मा मानने लगती है। अतः शुद्ध आत्मा को यथार्थ रूप से जानने-पहचानने के लिए श्रीमद् राजचन्द्र ने कहा—

"आत्म-स्वभाव अगम्य ते अवलम्बन आधार।
जिनपदथी दर्शावियो तेह स्वरूप प्रकार।।
जिनपद निजपद एकता, भेदभाव नहीं कांई।
लक्ष थवाने तेहनो कह्यां शास्त्र सुखदाई।।"

इसका भावार्थ यही है कि आत्मा के शुद्ध स्वरूप को पाना अत्यन्त दुष्कर है, उसके लिए जिनपद (वीतराग अर्हन्त परमात्मा) का आलम्बन शास्त्र में बताया गया है, क्योंकि जिनपद और निजपद (शुद्ध आत्मपद) में साम्य है, कोई भिन्नता नहीं है। शुद्ध आत्मपद को सुखपूर्वक प्राप्त करने के लिए शास्त्रों में जिनपद (वीतराग परमात्मा शब्द) को लक्ष्य बनाकर चलने का विधान किया गया है।

परमात्मा को पहले जानने से ही शुद्ध आत्मा को जान पायेगा

सामान्यतया आध्यात्मिक जगत् में यह कहा जाता है कि पहले आत्मा को जानो, फिर परमात्मा को। किन्तु आत्मा को—शुद्ध आत्मा को—सामान्य व्यक्ति बिना किसी आलम्बन या आदर्श दृष्टिसमक्ष हुए बिना अथवा बुद्धि में जमे बिना पहले कैसे जान-पहचान सकता है? अतः सच्चे माने में पहले परमात्मा को जाने-पहचाने बिना आत्मा के शुद्ध रूप को नहीं जाना जा सकता। इसी तथ्य का समर्थन आचार्य कुन्दकुन्द ने किया है—

जो जाणादि अरहन्ते, दव्वत्त-गुणत्त-पज्जवत्तेहिं।
सो जाणादि अप्पाणं, मोहो तस्स लयं जादि॥

जो द्रव्य, गुण और पर्याय की अपेक्षा से अर्हत् परमात्मा को जानता है, वही अपनी आत्मा को (शुद्धरूप में) जान पाता है। और अपनी आत्मा को शुद्ध रूप में जानने पर परपदार्थों पर से उसका मोह-ममत्व समाप्त हो जाता है।

परमात्मा बनने के इस आदिसूत्र का फलितार्थ यही है कि अगर कोई मुमुक्षु आत्मा परमात्मा होना चाहता है, तो उसे पहले परमात्मा को अपने में स्थापित करना आवश्यक है। अर्थात् परमात्मा का स्वरूप जानकर अपनी आत्मा को उक्त परमात्म-भाव से भावित करना अनिवार्य है।

परमात्मा के दो रूप : प्राथमिकता अरहन्त प्रभु को

जैनदृष्टि से परमात्मा मुख्यतया दो प्रकार के माने गये हैं—(१) अरहन्त परमात्मा और (२) सिद्ध परमात्मा। यद्यपि सिद्ध-परमात्मा का दर्जा अरहन्त परमात्मा से ऊँचा है, क्योंकि सिद्ध परमात्मा तो आठों ही कर्मों से रहित, अशरीरी, निरंजन, निराकार एवं जन्म-मरण से सर्वथा रहित पूर्णशुद्ध हो चुके हैं, जबकि अरहन्त परमात्मा अभी चार आत्मगुण-घाती कर्मों से रहित हुए हैं, सशरीर होने के कारण उनके शरीर से सम्बन्धित चार अघातीकर्म क्षय करने शेष हैं। उनकी आत्मा अभी पूर्णरूप से शुद्ध व सिद्ध नहीं हुई है। फिर भी आत्मिक गुणों में वे सिद्ध परमात्मा के समकक्ष हैं। सिद्ध परमात्मा को प्रथम स्थान देने के बदले अरहन्त परमात्मा को नवकार मन्त्र में जो प्रथम स्थान दिया गया है, उसके मुख्यतया कारण हैं—एक तो सिद्ध परमात्मा हमारे बीच में नहीं हैं। वे निरंजन,

निराकार एवं शरीरादि से रहित हैं। उनका यथार्थ स्वरूप क्या है? उनके स्वरूप की प्राप्ति का यथार्थ उपाय क्या है? इसे बताने वाले कोई हैं तो वे सर्वज्ञ सर्वदर्शी अरहन्त परमात्मा हैं। सिद्ध परमात्मा का स्वरूप अरहन्त परमात्मा ने न बताया होता तो हम कैसे जान पाते कि सिद्ध परमात्मा का स्वरूप तथा सिद्धदशा की प्राप्ति का उपाय क्या है? सिद्ध परमात्मा के विषय में जाने बिना कोई भी आत्मार्थी जीव पूर्ण परमात्म प्राप्ति के के लिए उत्साहित न होता।

दूसरे, निरंजन-निराकार परमात्मा के साथ सीधा सम्बन्ध जोड़ने की अपेक्षा साकार परमात्मा के साथ सम्बन्ध जोड़ना आसान होता है। साकार परमात्मा के माध्यम से निराकार परमात्मा के साथ सरलता से सम्बन्ध जोड़ा जा सकता है। जिनेश्वर देव में निराकार शुद्ध चैतन्य को देख-समझकर हम प्रतीति कर सकते हैं। इसलिए पहले अर्हत्प्रभु के परमात्मभाव को अपनी आत्मा में भावित करना आवश्यक है।

आत्मा अणु है तो परमात्मा सूर्य है

अपने आपको परमात्मभाव से भावित करने पर ही आत्मा परमात्मा हो सकती है। प्रश्न होता है—कहाँ आत्मार्थी की लघु आत्मा और कहाँ विराट् परमात्मा! विराट् परमात्मा को साधारण साधक कैसे अपने में स्थापित कर सकता है? वे वीतराग हैं, साधक अभी छद्मस्थ है, वीतरागपथ का पथिक है, घाती कर्मों से आवृत है। व्यवहारदृष्टि से साधक की आत्मा और परमात्मा में लघुता और महानता का अन्तर अवश्य है, किन्तु निश्चयदृष्टि से दोनों की आत्मा में कोई अन्तर नहीं है। अन्तर केवल विकसित और अविकसित अवस्था का है। अविकसित साधक क्षुद्र है, फिर भी उसमें विराट् की सभी सम्भावनाएँ मौजूद हैं। इसीलिए तो साधक की आत्मा को परमात्मभाव से भावित करने का निर्देश किया गया है।

अग्नि की नन्ही-सी चिनगारी विराट् अग्नि तत्व की एक इकाई है, उसे अवसर मिले तो प्रचण्ड ज्वाला बनकर दूर सुदूर के क्षेत्रों में फैल सकती है। वह चाहे तो अपना अग्निकणरूप समाप्त करके विराट् अग्नितत्व में विलीन हो सकती है और स्वयं विराट् अग्नितत्व भी बन सकती है। हम विराट् और लघु की यानी परमात्मा और साधक की आत्मा की तुलना सूर्य और परमाणु से कर सकते हैं। यद्यपि सूर्य का विस्तार एवं

शक्ति-भण्डार असीम है, फिर भी नगण्य-सा दीखने वाला परमाणु भी कम नहीं है। जितनी शक्ति विस्तृत स्थिति वाले विशालकाय सूर्य में है, उतनी ही शक्ति छोटी-सी स्थिति वाले लघुकाय परमाणु में है। इसलिए साधक की आत्मा अभी चाहे छोटी स्थिति में हो, मूल में तो उसमें भी अनन्तशक्ति छिपी हुई है। तुच्छता से महानता में विकसित होने में मुख्य बाधा तो परमात्मभावों से दृढ़तापूर्वक भावित होने की है।

जिनस्वरूप होकर जिनाराधना से जिन परमात्मा

इसीलिए योगीश्वर आनन्दघनजी आत्मार्थी साधकों को उद्बोधन करते हुए कहते हैं—

"जिनस्वरूप थई जिन आराधे, ते सही जिनवर होवे रे।
भृंगी ईलिका ने चटकावे, ते भृंगी जग जोवे रे॥"

रागादि की मन्दता करके आत्मा यदि वीतरागदशा से अपने आपको भावित करे तो वह जिनवर (वीतराग परमात्मा) हो सकता है। वही जिनवर की सही आराधना है। दर्शनशास्त्र में कीट-भ्रमर-न्याय प्रसिद्ध है। कहा जाता है कि भ्रमरी पहले मिट्टी का घरौंदा बनाती है। फिर हरे घास में से एक ईलिका (लट) को ले आती है। उसके डंक मारकर अपने बनाये हुए घरौंदे में उसे डाल देती है। तत्पश्चात् वह भ्रमरी उस मिट्टी के घरौंदे के आस-पास कई दिनों तक गुंजार करती रहती है। वह ईलिका (लट) भ्रमरी के डंक की वेदना से दुःखित होती है, किन्तु भ्रमरी के मधुर गुंजार में मोहित होकर वेदना उतनी महसूस नहीं करती। उस असह्य पीड़ा से पीड़ित वह लट भ्रमरी के गुंजार के मोहभाव में मरती है। अतः भ्रमरी के भाव से स्वयं भावित होने के कारण वह लट मरकर उसी मिट्टी के घरौंदे में भ्रमरी के रूप में उत्पन्न होती है।

इसी न्याय से साधक की आत्मा जिन (वीतराग परमात्मा) स्वरूप में मग्न होकर जिनवर की आराधना—भावना करे तो वह भी निःसन्देह जिनवर हो जाता है।

देव होकर ही देव की पूजा हो सकती है

भगवद्गीता में भी इसी तथ्य का समर्थन किया गया है—

मय्यावेश्य मनो ये मां, नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥[1]

मेरे (परमात्मभाव) में अपने मन को प्रविष्ट=स्थिर करके मेरे ही स्वरूप के ध्यान में सतत् संलग्न जो भक्तजन परम श्रद्धा से युक्त होकर मेरी (सद्गुण परमात्मा की) उपासना करते हैं। वे मेरे मत से योगियों में उत्तम योगी हैं।

उपनिषद् में एक सूक्त है—'देवो भूत्वा देवं यजेत्'—जो वीतराग परमात्मदेव बनना चाहता है, वह तदनुरूप देव (परमात्मरूप) बनकर ही परमात्म देव की यथार्थ उपासना-पूजा करे।

परमात्मा की ओर मुंह करो, परमात्मा को पकड़ सकोगे

आत्मा में परमात्मा का प्रकाश तो मौजूद है, किन्तु थोड़ी-सी भूल हो रही है। भूल यही हो रही है कि परमात्मा की ओर मुंह करना चाहिए उसके बदले विपरीत दिशा में मुंह कर रखा है।

सूर्य पूर्व में उदित हुआ है, और एक व्यक्ति पश्चिम की ओर मुंह करके खड़ा है। उसकी परछांई पश्चिम में पड़ रही है। वह व्यक्ति अपनी परछांई को देखकर उसे पकड़ने दौड़ता है। ज्यों-ज्यों वह आगे बढ़ता है, त्यों-त्यों परछांई भी आगे बढ़ती जाती है। परछांई उसके हाथ नहीं आती। किसी ज्ञानी पुरुष ने उसकी मनोव्यथा देखकर कहा—भाई! तू उलटी दिशा में दौड़ लगा रहा है। अपनी छाया को पकड़ने का यह उपाय नहीं है। यदि तू पूर्व की ओर मुंह करके आगे बढ़ता तो तेरी छाया भी तेरे पीछे-पीछे भागती आती। तू अपना मुँह बदल लेगा तो फिर तुझे छाया के पीछे भागने की जरूरत नहीं पड़ेगी। भागने वाले ने अपना मुंह फिराया और पूर्व की ओर भागने से उसकी छाया भी उसके पीछे-पीछे भागने लगी। पहले वह परछांई के पीछे दौड़कर परेशान हो रहा था, तब वह हाथ नहीं आती थी, अब तो छाया ही उसके पीछे दौड़ने लगी।

यही स्थिति आत्मा की है। यदि आत्मा परमात्मा की ओर दृष्टि रखकर न चले और उसे पकड़ना चाहे तो वह दूर ही रहेगा, पकड़ में नहीं आएगा, अपितु आत्मा यदि परमात्मा की ओर मुख करके लक्ष्य की दिशा में दौड़ेगा तो अवश्य ही परमात्मतत्व पकड़ में आ जाएगा। क्योंकि ज्ञानी पुरुष कहते हैं—'तुम्हारा परमात्मा तुम से दूर नहीं है।'

---

१ भगवद्गीता अ. १२, श्लो. २

आत्मा को परमात्मभाव से भावित करने के लिए श्रेष्ठ साधना

अपनी आत्मा को परमात्म-भाव से भावित करने के लिए आचारांगसूत्र में महत्त्वपूर्ण साधनासूत्र बताया है—

"तद्दिट्ठीए तम्मुत्तीए तप्पुरक्कारे।
तस्सण्णी तन्निसेवणे अभिभूय अदक्खू।"[1]

भावार्थ यह है कि 'परमात्मभाव से भावित होने के लिए साधक की आत्मा परमात्मा की ओर ही दृष्टि रखे, सावद्य (पर) भावों से उनकी मुक्ति की वृत्ति से चले, उन्हें आगे (केन्द्र में) रखकर चले, परमात्मा की जो संज्ञा (नाम) है, वही अपने लिए माने, उनकी सेवा में अपने मन,बुद्धि आदि को संलग्न कर दे। ऐसा साधक आत्मबाह्य दुर्गुणों (विभावों) को पराभूत (जीत) कर अनन्य द्रष्टा (आत्मदर्शी) बनता है।'

यह साधना ऐसी ही है, जैसे पनिहारी अपनी सखी-सहेलियों से कितनी ही बातें करती रहती हैं, परन्तु सिर पर रखा हुआ पानी का घड़ा नहीं भूलती। चकवा उधर ही टकटकी लगाए रहता है जिधर चन्द्रमा का मुख हो, पतिव्रता स्त्री अपने पति को सदैव स्मरण करती रहती है।

आशय यह है कि जैसे ही साधक अरहन्त परमात्मा का नाम उच्चारण करे, वैसे ही उसकी अन्तर्दृष्टि सब ओर से सिमट कर एकमात्र अरहन्त में निविष्ट हो जाए, 'अप्पाणं वोसिरामि' करके जिनेन्द्र परमात्मा की तरह समस्त परभावों और विभावों से या सर्वसावद्य योगों से अपने-आपको मुक्त कर ले, वीतराग परमात्मा को ही अपनी बुद्धि में केन्द्रित कर ले, उनकी ही सेवा में अपनी इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, चित्त, हृदय, प्राण आदि को संलग्न करदे, परमात्मा की जो संज्ञा (गुणवाचक नाम) है, वही संज्ञा अपनी माने, इस प्रकार साधक का तन, मन, नयन, वचन, प्राण, इन्द्रियाँ, तथा हृदय संकल्पशक्ति से इतने सुदृढ़ और विकसित हो जाएं कि जगत् की कोई भी बाह्य शक्ति, भीति एवं प्रलोभन उसे अरिहन्त परमात्मा से एक इंच भी विचलित एवं पृथक् न कर सके। साधक सतत् अपनी आत्मा के शुद्ध स्वरूप का—अरहन्त प्रभुमय स्वरूप का—अनुभव करती रहे। तभी उसकी आत्मा अर्हत्मय—परमात्ममय बन सकेगी। उसका अन्तरात्मा (मन, बुद्धि, हृदय आदि अन्तःकरण) इतना सुदृढ़ और प्रतिरोधात्मक शक्ति से युक्त बन जाए कि उसमें परभावों और विभावों-दुर्भावों के परमाणु जरा

---

१ आचारांग श्रु. १, अ. ५, उ. ६, सू. ५७६

भी प्रवेश न पा सकें। जो भी दुर्भावों या रागद्वेषादि विभावों के परमाणु आयें, वे बाहर ही बाहर टकराकर वापस लौट जाएँ, वे अन्तरात्मा में प्रविष्ट नहीं हो सकें, इतनी क्षमता और शक्ति परमात्मभावों से भावित साधक में आ जानी चाहिए।

भगवद्गीता में भी आत्मा को परमात्मभावों से भावित करने की प्रेरणा दी गई है—

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूत कल्मषाः ॥[1]

जिनकी बुद्धि तद्रूप है, यानी परमात्मभावरूप हो जाती है, जिसका अन्तरात्मा सच्चिदानन्दघन परमात्मा में निमग्न है, परमात्मस्वरूप में ही जिनकी निष्ठा है, जो परमात्म-परायण हैं, परमात्मा के प्रति एकीभाव से जिनकी आत्मा भावित हो गई है, वे सम्यग्ज्ञान से अपने मन-वचन-काया के समस्त कलुषों (सावद्य योगों) को नष्ट कर देते हैं और वे अपुनरावृत्ति रूप (जन्म-मरण से रहित—सिद्धि) परमगति को प्राप्त होते हैं।

परमात्मभावों से भावितात्मा का व्यावहारिक रूप इस प्रकार होना चाहिए—

'नमो अरहंताणं' का उच्चारण करने के साथ ही साधक की चेतना में अरहन्त के द्रव्य, गुण और पर्याय स्वतः स्फुरित हो जाएँ। द्रव्यदृष्टि से अर्हन्त की शान्त, सौम्य, प्रसन्न, शुद्ध, निर्विकार, स्वच्छ मूर्ति (छवि) अन्तर् में प्रतिष्ठित हो जाए। गुणदृष्टि से अरहन्त के अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्त आत्मिक आनन्द और अनन्त आत्मिक शक्ति से अन्तरात्मा ओत-प्रोत हो जाए, तथा पर्यायदृष्टि से ज्ञान, दर्शन, चारित्र और आत्मवीर्यगुणों के विभिन्न परमाणु (क्रमभावी पर्याय) की लहरें तन-मन-नयन को आप्लावित करने लगें। सारी की सारी चेतना 'अर्हत्' कहते ही पारमात्मिक वैभव-ऐश्वर्य से झंकृत हो उठे। ऐसा अभ्यास हो जाना चाहिए। अर्हत् प्रभु कहने पर उनके वीतरागता, समता, सर्वज्ञता, क्षमा आदि गुणों एवं पर्यायों को तथा उनके व्यक्तित्व को विश्लेषण करके बार-बार दोहराना न पड़े। कानों में अर्हत्-परमात्मा की ध्वनि पड़ते ही सारी चेतना अर्हत्परमात्ममय हो जाए उनके विशेषणों को दोहराना न पड़े। इस प्रकार जब अपनी अन्तरात्मा में

---

१ भगवद्गीता अ. ५ श्लो. १७

अर्हत्-परमात्मा का स्पष्ट बोध, स्मरण एवं अवतरण हो जाएगा, तभी परिपक्वरूप से अर्हत्परमात्मा से उसकी आत्मा भावित हो गई, ऐसा समझा जाएगा। जिस व्यक्ति की अन्तरात्मा में इस प्रकार जीवन्मुक्त वीतराग अर्हत्परमात्मा प्रतिष्ठित हो गए उसे अपने में अर्हत्परमात्मा का अनुभव होने लगता है, फिर उसमें परभावों का किंचित् भी मोह टिक नहीं सकता। उस शुद्ध आत्मा को सिद्धपरमात्मा होने देर नहीं लगती।

इसी प्रकार ज्यों ही 'नमो सिद्धाणं' की ध्वनि कर्णकुहरों में पड़े, त्यों ही आत्मार्थी साधक की चेतना में सिद्ध-बुद्ध-मुक्त परमात्मा द्रव्य, गुण और पर्याय झंकृत हो जाना चाहिए। सिद्ध-परमात्मा के अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त आनन्द और असीम आत्मिक शक्ति की लहरें अन्तरात्मा में स्फुरित हो जानी चाहिए। साथ ही ज्ञान, दर्शन, शक्ति और आत्मिक सुख की पर्यायों का भी तब मन के कण-कण में अनुभव होना चाहिए। 'परमानन्द पंचविंशति' के शब्दों में—

"अनन्तसुख-सम्पन्नं, ज्ञानामृत-पयोधरम्।
अनन्तवीर्यसम्पन्नं दर्शनं परमात्मनः॥
निर्विकारं निराधारं सर्व-संग-विवर्जितम्।
परमानन्द-सम्पन्नं, शुद्ध चैतन्य-लक्षणम्॥"

परमात्मा शुद्ध आत्मा (चैतन्य) रूप है, अनन्तसुख सम्पन्न है, ज्ञानामृत के मेघ से युक्त, अनन्तवीर्य (आत्मशक्ति) सम्पन्न एवं अनन्तदर्शनमय है। फिर वह परमानन्द से सम्पन्न प्रभु निर्विकार, आधाररहित, सर्व-संग से दूर है।' ऐसे परमात्मा का दर्शन शुद्ध आत्मा में करना ही भावितात्मा का लक्षण है।

कुक्कुटभाव से भावित चित्रकार

एक राजा को चित्रकला का बड़ा शौक था। उसने अपने राज्य के नामी चित्रकारों को आमंत्रित करके कहा—"मुझे अपने राज्य की मुद्रा के लिए बोलते हुए मुर्गे का चित्र बनवाना है। जिसका चित्र उत्तम होगा, उसे पुरस्कार दिया जाएगा।" सभी चित्रकार चले गए। कुछ दिनों बाद वे अपना-अपना चित्र बनाकर लाए। राजा ने उनके बनाये हुए चित्रों को देखा तो वे बहुत पसन्द आए। राजा ने विचार किया कि मैं चित्रकला का पारखी तो हूँ नहीं। कौन-सा चित्र सर्वश्रेष्ठ है, इसका निर्णय मैं कैसे दूँ?

अच्छा हो, मैं अपने राज्य के जाने-माने चित्रकला-परीक्षक, पुराने बूढ़े चित्रकार को बुलाकर इन चित्रों की परीक्षा कराऊं। वह जिसके चित्र को सर्वश्रेष्ठ बताए, उसे पुरस्कृत करूं। राजा का आदेश पाकर बूढ़ा चित्रकार आया। राजा ने उसे वे सारे चित्र दिखा कर कहा—"इन चित्रों में सर्वश्रेष्ठ कौन-सा चित्र है, इसका निर्णय करो।" चित्रकार सभी चित्रों को घर ले गया। दूसरे दिन वह राज दरबार में उपस्थित हुआ। उसने राजा से कहा—'इनमें एक भी चित्र राज्य मुद्रा में अंकित करने योग्य नहीं है। सब बेकार हैं।' राजा ने आश्चर्यान्वित होकर कहा—"यह कैसे कहते हो? मुझे तो वे चित्र अच्छे लगे हैं।"

चित्रकार—"अच्छे तो हैं, लेकिन आपको तो बांग देते हुए मुर्गे का जीता-जागता चित्र चाहिए न? वह इनमें नहीं है।"

राजा—"तो फिर तुम वैसा जीवन्त चित्र बनाकर लाओ।"

चित्रकार—'वैसा चित्र बनाने के लिए मुझे तीन वर्ष का समय दीजिए।" राजा ने विस्मित होकर कहा—"क्या इतना समय सिर्फ एक चित्र बनाने में लग जाएगा?"

चित्रकार बोला—"साधना के बिना श्रेष्ठ चित्र नहीं बन सकता। काम-चलाऊ साधारण चित्र चाहें तो मैं कुछ ही क्षणों में बना दूँ।" तीन वर्ष की मुद्दत लेकर चित्रकार अपने घर चला गया। छह महीने की प्रतीक्षा के बाद राजा ने अपने विश्वस्त सेवक को चित्रकार के यहां पता लगाने भेजा कि वह मुर्गे का चित्र बना रहा है या नहीं? वहां से चित्रकार का पता लगाकर जंगल में पहुँच गया। बूढ़े चित्रकार को उसने एक बाड़े में कई मुर्गों के बीच बैठे देखा। राजसेवक ने पूछा—"चित्र बन गया या नहीं?" चित्रकार ने कहा—"अभी नहीं बना है। उसे बनाने मैं अभी ढाई वर्ष और लगेंगे।"

ढाई वर्ष बाद राजा ने फिर चित्रकार के पास सेवक भेजा, जांच-पड़ताल करने के लिए और उस चित्रकार को साथ में ले आने के लिए।

राजा के पास बूढ़ा चित्रकार पहुँचा तो राजा ने सीधे ही कहा—"वह चित्र लाओ।" चित्रकार ने कहा—'वह तो अभी तक बना ही नहीं है।' राजा—'क्यों क्या वजह है? तीन वर्ष पूरे हो गये हैं, अभी तक चित्र क्यों नहीं बना?' चित्रकार बोला—आप कारण जानना चाहते हैं तो मैं बताऊँगा।' राजा ने कहा—"क्या कारण है? मुझे समझाओ।" थोड़ी ही

देर में राजसभा में चारों ओर मुर्गों की आवाज होने लगी। राजा तथा अन्य सभासदों ने कहा—"यह कैसा चित्रकार? इसने तो हूबहू मुर्गे की-सी आवाज, उसी की-सी चेष्टाएँ अपना ली हैं। राजा ने पूछा—'यह क्या कर रहे हो? तुम्हें तो मैंने मुर्गे का चित्र बनाने का कहा था, स्वयं मुर्गा बनने का नहीं। मुझे तो मुर्गे का चित्र चाहिए चित्र।'

चित्रकार बोला—मैं तीन वर्ष में क्या करता रहा? यही बता रहा हूँ। राजन्! स्वयं मुर्गा बने बिना मैं जीवन्त मुर्गे का चित्र कैसे बना पाता?

राजा—"अब तो तुम हूबहू मुर्गा बन चुके हो, अब जल्दी से चित्र तैयार करो।"

चित्रकार ने कहा—"अब तो मैं आध घन्टे में मुर्गे का चित्र बना दूंगा। चित्र बनाने की सामग्री मंगवा दीजिए।"

राजा ने तुरन्त कागज, रंग और कूंची मंगवा दी। सारी सामग्री आने पर उस चित्रकार ने थोड़ी ही देर में चित्र बना दिया।

राजा ने पूछा—"क्या यह जीवन्त मुर्गे का चित्र है?'

चित्रकार बोला—"जी हाँ, वही है।"

राजा—"तो फिर तुम्हारे इस चित्र में और उन चित्रकारों के चित्र में क्या अन्तर है? तुम्हारा चित्र जीवन्त मुर्गे का है और दूसरे चित्रकारों का नहीं है, यह सिद्ध करके बताओ।"

चित्रकार ने एक मुर्गा मंगवाया और पहले उन सभी चित्रकारों द्वारा बनाये हुए चित्र के सामने क्रमशः मुर्गे को छोड़ दिया। मुर्गा प्रत्येक चित्र के सामने गया और मुंह फेरकर वापस लौट आया। सबके चित्र के पश्चात उस चित्रकार ने अपना चित्र रखा। वह मुर्गा उस चित्रित मुर्गे को देखते ही एकदम उस पर झपट पड़ा। बूढ़े चित्रकार ने कहा—"देखिये, महाराज! मेरे द्वारा चित्रित मुर्गे से यह मुर्गा लड़ने को तत्पर हो गया, क्या यह जीवन्त मुर्गा नहीं है?" राजा ने साश्चर्य कहा—"वाह! इतनी जल्दी जीवन्त मुर्गा कैसे बना दिया तुमने?" चित्रकार बोला—महाराज! मुझे तीन वर्ष तो स्वयं कुक्कुट बनने में लगे हैं। अगर मैं स्वयं मुर्गा न बनता तो मुर्गे का चित्र इतना जीता-जागता नहीं बना पाता। मैं कुक्कुट-

भाव से स्वयं भावित होकर ही कुक्कुट का यह जीवन्त चित्र इतना शीघ्र बना सका हूँ।"

इसलिए "देवो भूत्वा देवं यजेत्" इस उपनिषद्—वाक्य के अनुसार जब तक आत्मार्थी साधक स्वयं परमात्मा (शुद्ध आत्मा) नहीं बनता, तब तक वह परमात्मा नहीं बन सकता। अतः पूर्वोक्त प्रक्रिया के अनुसार अर्हत्-परमात्मा या सिद्धपरमात्मा बनने के लिए आत्मार्थी साधक को परमात्म-भावों से भावित होना आवश्यक है। और परमात्मभावों से भावित होने के लिए अपनी आत्मा को परभावों और विभावों के कुचक्र से अथवा सावद्य-योगों से दूर रखना तथा उसे सोते-जागते, उठते-बैठते, यानी प्रत्येक प्रवृत्ति करते समय परमात्मभाव को ध्यान में रखना अनिवार्य है। तभी शुद्ध आत्मा 'अप्पा सो परमप्पा' के सिद्धान्त को क्रियान्वित कर सकेगी।

●

१६

हृदय का सिंहासन : परमात्मा का आसन

हृदय कोमल भावनाओं का प्रतीक

हृदय अपने आप में कठोर, क्रूर, पापमय नहीं होता। पापी से पापी अथवा क्रूर से क्रूर प्राणी का भी हृदय कोमल, वात्सल्यमय, प्रेममय, श्रद्धामय एवं दयामय होता है। अर्जुनमाली, दृढ़प्रहारी, चिलातीपुत्र, रोहिणेय आदि मानव बाहर से जितने ही क्रूर, नृशंस, हत्यारे या पापत्मा माने जाते थे, उनका अन्तर् हृदय उतना ही कोमल, वात्सल्यमय एवं दयामय था। इसीलिए हृदय आत्मविश्वास, श्रद्धा, सरलता, वत्सलता, मृदुता, नम्रता, क्षमा, दया, करुणा, सहानुभूति, अनुकम्पा आदि कोमल भावनाओं का प्रतीक माना जाता है।

और तो और सर्प, सिंह, व्याघ्र, भेड़िया आदि क्रूर एवं हिंस्र माने जाने वाले प्राणियों के अन्तर्हृदय भी कोमल पाये जाते हैं। चण्डकौशिक जितना क्रूर और हिंस्र था, प्रभु महावीर के जरा-से कोमल उद्बोधन से उसका क्रूर हृदय उतना ही शान्त, कोमल, निर्मल, दयामय एवं वात्सल्यमय बन गया। एंड्रयूक्लीज नामक गुलाम के द्वारा अपनी पीड़ा दूर किये जाने के कारण सिंह के हृदय की क्रूरता भी कोमलता में परिणत हो गई। यदि सिंह के हृदय में कोमलता, वत्सलता आदि मृदुभावनाएँ न होतीं तो भूखा सिंह अपने उपकारी को भी मार सकता था।

अपने बच्चों को वह क्यों नहीं मार डालता ? यही कारण है कि सिंह जैसे हिंस्र प्राणी का हृदय भी वत्सलता, करुणा और कोमलता से युक्त है। अतः क्रूर प्राणी का बाह्य व्यक्तित्व कठोर प्रतीत होने पर भी उसका हृदय कोमल होता है। चम्बल घाटी के खूंखार डाकुओं को भी इसलिए बदला जा सका कि उनके हृदय में कोमलता, वत्सलता एवं प्रेम का निवास था। इसी कारण शान्ति, प्रेम और वात्सल्य की भाषा को उनका हृदय ग्रहण कर सका था।

परमात्मा के विराजने का सर्वाधिक उपयुक्त स्थान : प्राणिहृदय

यही कारण है कि परमात्मा का आसन प्रत्येक प्राणी के, विशेषतः मनुष्य के हृदय-सिंहासन पर है। अर्थात् प्रत्येक प्राणी के हृदय में परमात्मा का निवास है। हृदय में परमात्मा का स्थान इसीलिए उपयुक्त माना जाता है कि प्राणियों का हृदय ही अपने आपमें सबसे कोमल, सरल, निश्छल और पवित्र एवं शुद्ध चेतना का केन्द्र होता है। यह बात दूसरी है कि चेतना के विकास की न्यूनाधिकता के कारण किसी प्राणी का हृदय किसी कारणवश कदाचित् कठोर हो जाए तो भी वह अमुक परिस्थिति, संयोग और कारणों से परिवर्तित भी हो सकता है। वह कठोर से कोमल, क्रूर से दयार्द्र, कृपण से उदार, कुटिल से सरल, क्रोधी से क्षमाशील, अहंकारी से नम्र, स्वार्थी से निःस्वार्थी, प्रतिकूल से अनुकूल, कामनाप्रवण से निष्काम, मदग्रस्त से निर्मद, मोहग्रस्त से निर्मोही तथा अशुद्ध और अपवित्र से शुद्ध और पवित्र बन सकता है। इसी अपेक्षा से परमविशुद्ध वीतराग परमात्मा (शुद्ध आत्मा) का निवास हृदय में ही सर्वाधिक उपयुक्त माना गया है। भगवद्गीता में भी इसी तथ्य का समर्थन किया गया है—

'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन ! तिष्ठति।'[1]

हे अर्जुन ! ईश्वर (परमात्मा) समस्त प्राणियों के हृदय-प्रदेश में स्थित रहता है।

वस्तुतः परमात्मा (शुद्ध आत्मा) का सबसे निकटवर्ती स्थान, उनके बैठने का सबसे उपयुक्त सिंहासन, उनके रहने का पवित्र मन्दिर तथा विराजमान होकर उनके द्वारा प्राणियों को मूक अन्तःप्रेरणा देने तथा उन्हें जागृत करने का प्रेरणा-सदन, द्रव्य और भाव से प्राणियों को निर्विकार

---

१ भगवद्गीता अ. १८, श्लो. ६१

और विशुद्ध होने के लिये मार्गदर्शन देने का प्रभु का निर्मल भवन एवं प्रभु की आन्तरिक दिव्य ध्वनि श्रवण करने का ध्वनि प्रसारण केन्द्र प्राणियों का हृदय ही है। यहीं विराजमान परमात्मा (शुद्ध आत्मा) की अव्यक्त दिव्यध्वनि अपने दिव्यकर्णों से मनोयोगपूर्वक दत्तचित्त होकर कोई सुने तो उसके हृदय में ऐसी प्रेरणा, स्फुरणा, संकेत या सन्देश प्राप्त होता रहता है, जिस पर चलकर वह दिव्य श्रोता अपनी आत्मा को परमात्मतत्व तक ले जा सकता है, आत्मा का चरम उत्कर्ष प्राप्त कर सकता है। इसलिये कहना चाहिये कि प्रभु की अनिवर्चनीय अव्यक्त दिव्यध्वनि श्रवण करने का सर्वोत्कृष्ट स्थान या वर्तमान युग की भाषा में कहें तो रेडियो स्टेशन प्राणी का हृदय ही है। यहीं से प्रभु की दिव्य ध्वनि प्रसारित होती है। हृदय के सिंहासन पर समासीन होकर ही वीतराग परमात्मा जिज्ञासु प्राणियों के लिये हित का परामर्श, सुझाव, निर्देश, आदेश, अन्तःस्फुरणा या मार्गदर्शन अव्यक्तरूप से देते रहते हैं। वे समस्त जीवों की भावदया—आत्मरक्षा से प्रेरित होकर सतत् अपना निर्ग्रन्थ-प्रवचन या अध्यात्म-विकास के मूलमन्त्र, समस्त जिज्ञासु जीवों के अन्तःकरण में स्फुरित करते रहते हैं। पवित्र हृदयमन्दिर में स्थित होकर वे अपनी अस्पष्ट दिव्यध्वनि से उन तत्त्वों, तथ्यों, सत्यों और सिद्धान्तों का स्मरण कराते रहते हैं, जिन्हें आत्मार्थी साधक समय-समय पर विस्मृत हो जाता है। प्राणिहृदय-रूपी प्रभु मन्दिर में भव्य प्राणियों के लिये आत्मजागरण का घण्टा-नाद होता रहता है। ध्यान से सुनने पर इस प्रभुमन्दिर की शंखध्वनि भी मानव जीवन के साथ जुड़े हुए महान् दायित्वों एवं कर्त्तव्यों को निभाने तथा जागतिक शान्ति, सुव्यवस्था, सद्भावना एवं सत्प्रवृत्तियों में अभिवृद्धि करने का सन्देश एवं परामर्श देती सुनाई देती है।

परमात्मीय दिव्यसन्देश सुनने के लिए प्राणियों का अन्तःकरण एक प्रकार का टेलीफोन (दूरभाष) केन्द्र है, वहाँ से वीतराग परमात्मा की दिव्यध्वनि सुनी जा सकती है। अपने हृदय में स्थित परमात्मीय टेलीफोन से प्रभु की (शुद्ध आत्मा की) आवाज तभी स्पष्ट सुनाई देगी, जब जिज्ञासु प्राणी अथवा मानव उसका रिसीवर (चोंगा) उठाकर कान के निकट लगायेगा। टेलीफोन का चोंगा (रिसीवर) उठाकर कान के पास लगाने से ही दूर से बोलने वाले व्यक्ति की आवाज स्पष्ट सुनाई देती है। परमात्मीय दूरभाषक (टेलीफोन) का रिसीवर (चोंगा) है—स्वभाव-सन्देशवाहक।

यदि उस रिसीवर को दिव्यकर्ण से सटाकर एकाग्रचित्त से ध्यानपूर्वक सुना जाए तो प्रभु की दिव्यध्वनि के सन्देश सुने जा सकते हैं।

कुछ परमात्मीय दिव्य-सन्देश, सन्देश ग्रहण के लिये सर्वोत्तम पात्र मनुष्य के लिये इस प्रकार है—'हे मननशील मानव ! अमृतपुत्र! यह मानव जीवन इन्द्रिय-विषय-सुखों के आसक्तिपूर्वक उपभोग करने, कषायों की बालक्रीड़ा, तृष्णा एवं मोहमाया तथा राग-द्वेष-अज्ञान के भंवरजाल में फँसकर व्यर्थ गंवा देने के लिये नहीं है। तुम्हें प्राप्त हुए सम्यग्दर्शन, ज्ञान, आत्मिक आनन्द एवं आत्मशक्ति के दिव्य अनुदान का सदुपयोग करो, इन्हें निष्क्रिय बनाकर मत बैठो रहो, ज्ञानादि को आचार में परिणत—क्रियान्वित करो। ज्ञानादि चतुष्टय की इस दिव्यसम्पदा एवं आत्मशक्ति को सुषुप्त एवं प्रच्छन्न मत रखो। इसे जागृत एवं विकसित रखो। इस दिव्य सम्पदा एवं आत्मशक्ति की चाबी तुम्हें मिल गई है। उसे पाकर विविध मदों में उन्मत्त होकर विषय-कषायों के जंग से खराब, मलिन और बेकार मत बनाओ, किंतु आत्मा के स्वभाव और निजी गुणों की निधि खोलने, उसी में रमण करने का आनन्द पाने में लगाओ। आत्मा का सर्वोच्च विकास करो। इस दिव्य सम्पदा की महान् निधि को विषय-वासनाओं, विषय-सुखों तथा काम, क्रोधादि विभावों दुर्भावों और परभावों की तुच्छ सम्पदा पाने में मत लगाओ। इस परमात्मीय हृदयमन्दिर में दुर्विचारों, दुर्भावों, दुश्चेष्टाओं एवं दुराचरणों के तुच्छ कीटाणुओं को मत घुसने दो। इसमें उच्च भावनाएँ एवं स्वभाव रमणता की विचारधारा संजोकर इस अमूल्य दिव्यसम्पदा को समृद्ध करो। अन्यथा काम, क्रोध, मद, मत्सर, मोह, लोभ, तुच्छ स्वार्थ, आदि के निन्दनीय एवं घृणित दुर्भाव उठते रहेंगे, विषयवासनाओं, विविध सांसारिक कामनाओं, तृष्णा और लालसा तथा सत्ता पद प्रतिष्ठादि की लोलुपता इत्यादि अनिष्ट दुर्भावनाओं का ज्वार उमड़ता रहेगा, राग-द्वेष एवं कषाय की तरंगें उछलती रहेंगी, जिनसे मेरा (प्रभु का) यह पवित्र, शुद्ध हृदय-मन्दिर अपवित्र, अशुद्ध गन्दा एवं कलुषित होता जायेगा। फिर तुम मेरे (प्रभु के) दिव्यसन्देश से वंचित हो जाओगे, परमात्म-प्राप्ति के पथ से भटक जाओगे। अतएव संसार की इस तुच्छ एवं विनश्वर सम्पदा को पाने के लिए अपनी महान् आत्मिक सम्पदा को बर्बाद मत करो।

कभी-कभी ऐसी पावन आध्यात्मिक एवं जीवन-सम्बन्धी प्रेरणाएँ हृदयस्थित परमात्मा की दिव्यध्वनि के रूप में प्राप्त होती है—"ओ बुद्धिशील मानव ! तुझे देवदुर्लभ मानवजीवन मिला है। किन्तु तूने इस

जीवनसम्पदा के बहुमूल्य तत्त्वों से कोई लाभ नहीं उठाया। अब जीवन की सान्ध्यबेला में भी तू समझ जा और आत्मा के विकास, स्वभाव, स्वगुण एवं परमात्मतत्व-प्राप्ति के विषय में चिन्तन, मनन और स्वरूपाचरण कर। अपनी आत्मा को शुद्ध और पवित्र बना, और ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप, रूप मोक्षमार्ग (परमात्मप्राप्ति के पथ) पर चलकर उसे आत्मगुणों से समृद्ध बना। अब तेरे जीवनदीप में आयुष्यरूपी तेल बिलकुल कम रहा है। इसलिए कब यह जीवनदीप बुझ जाये, कोई भरोसा नहीं। अतः जो कुछ भी आचरणीय, विचारणीय एवं करणीय है, उसे शीघ्र कर। इसमें क्षणमात्र का भी प्रमाद, आलस्य या टालमटूल मत कर। अब तू पिछली भूलों, अपराधों और दोषों का परिमार्जन-परिष्कार करने में जुट जा और साथ ही अपनी बहुमूल्य आत्म-सम्पदा को सँभालने और विकसित करने में लग जा। नहीं तो, बाद में मनःसंक्लेश कर पश्चात्ताप के सिवाय कुछ भी नहीं रहेगा।"

ये और ऐसे ही पवित्र परमात्मीय दिव्यसन्देश मनुष्य के अन्तःकरण से ही ग्रहण (Catch) किये जा सकते हैं, सुने जा सकते हैं। परमात्मा की पवित्र प्रेरणा, अन्तःस्फुरणा, एवं वत्सलता भी अपने हृदय से ही जानी-समझी जा सकती है। इसलिए हृदय को ही परमात्मा (शुद्ध आत्मा) के विराजने का सर्वाधिक उपयुक्त एवं उत्तम स्थान माना गया।

हृदय में परमात्मा का निवास होते हुए भी कठोर व कलुषित क्यों ?

हृदय मन का ही एक घटक है। एकेन्द्रिय प्राणियों के द्रव्यमन तो नहीं, भावमन होता है, उनका हृदय (भावमन) अत्यन्त सुषुप्त, मूर्च्छितसा होता है। अतः जैन, वैदिक आदि सभी धर्मों की धाराएँ यह मानती हैं कि प्रत्येक प्राणी के हृदय में परमात्मा (जैनदृष्टि से शुद्ध आत्मा) का निवास है। प्रश्न यह है कि जब प्रत्येक संसारी प्राणी के हृदय में परमात्मा का निवास है, तब अधिकांश छोटे-बड़े प्राणियों का हृदय कोमल और पवित्र रहने के बजाय कठोर, क्रूर एवं अपवित्र तथा कलुषित क्यों बन जाता है। कौन-से ऐसे कारण हैं कि अन्तःकरण में परमात्मा का निवास होते हुए भी अधिकांश प्राणी, विशेषतः मानव भी मलिन, पापिष्ठ, क्रूर, निर्दय, तथा हत्या, चोरी, डकैती आदि दुष्कर्मों के दुर्भावों तथा कषाय, काम, मोह आदि विभावों से आवृत हो जाता है ? क्यों नहीं, वह परमात्मा के दिव्य सन्देश, प्रभु की अमृतमयी दिव्यध्वनि को श्रवण एवं

ग्रहण कर पाता ? कदाचित् हृदयस्थ परमात्मा का भान होने पर भी अथवा उनकी आन्तरिक अव्यक्त दिव्यध्वनि (आवाज) सुनाई देने पर भी चोर, डाकू, हत्यारे आदि पापकर्मियों का हृदय क्यों नहीं बदल जाता ? हृदय में परमात्मा के विराजमान होते हुए भी कौन ऐसी शक्ति है, जो उन्हें न चाहते हुए भी बलात् विविध पापकर्मों में प्रेरित करती है ?

भगवद्गीता में भी इसी प्रकार का प्रश्न अर्जुन द्वारा उठाया गया है,[1] और वहाँ उसका समाधान इस प्रकार किया गया है—

काम एष क्रोध एष रजोगुण-समुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥[2]

'रजोगुण से उत्पन्न होने वाले ये विविध काम और क्रोध ही महान् पापी (पापकर्म में प्रेरित करने वाले) और महान् उदरम्भरी हैं। इन्हें ही इस विषय में (परमात्मा का दिव्यसन्देश सुनने में विघ्नकारक) वैरी समझो।'

जैनसिद्धान्त की दृष्टि से इसका समाधान यह है कि प्राणियों की आत्मा पर जब तक और जितने अंशों में ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय तथा सम्यक्त्वमोहनीय, मिथ्यात्वमोहनीय और मिश्र-मोहनीय, कर्म के पुद्गल छाये रहेंगे, तब तक उनके सम्यक्ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र तथा तप की शक्ति आच्छादित रहेगी। आत्मा अज्ञान, मोह, राग-द्वेष, मिथ्यात्व, काम तथा क्रोधादि कषायों में रमण करता रहेगा। अपने सम्यक्ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, आत्मिक शक्ति आदि गुणों को उतने अंशों में प्रकट नहीं कर सकेगा। ऐसी स्थिति में जिस प्राणी के सम्यक्ज्ञान, सम्यक्-दृष्टि, सम्यक्चारित्र की क्षमता एवं आत्मिकशक्ति सर्वांशतः, अधिकांशतः या अल्पांशतः आवृत होगी, वह उतने अंशों में परमात्मा का दिव्यसन्देश ग्रहण नहीं कर सकेगा। भगवद्गीता में भी इसी तथ्य को स्वीकार किया है—

---

१ अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः ॥
—भगवद्गीता अध्याय ३ श्लोक ३६

२ भगवद्गीता अध्याय ३ श्लोक ३७।

'उन प्राणियों का ज्ञान अज्ञान के कारण आवृत हो जाता है, इस कारण वे मोहयुक्त हो जाते हैं। ज्ञानियों के नित्यवैरी काम-मोहादि आत्म-ज्ञान को ढक लेते हैं।[1]

निष्कर्ष यह है कि परमात्मा का निवास तो प्रत्येक प्राणी के हृदय में है, किन्तु उपर्युक्त कारणों से जिस प्राणी के हृदय का द्वार बन्द हो जाता है, अथवा जो प्राणी परमात्मा के पवित्र सम्यग्ज्ञानादि की किरणों को लेने के लिए आतुर, जिज्ञासु, उत्सुक या उत्कण्ठित नहीं हो पाता और हृदय-मंदिर के कपाट बन्द कर लेता है, वह परमात्मा की दिव्यध्वनि या दिव्य-सन्देश ग्रहण या श्रवण नहीं कर पाता।

आकाशवाणी केन्द्र से रेडियो में सभी स्टेशनों से ब्रॉडकास्टिंग (समाचार प्रसारण) किया जाता है। कभी-कभी तो एक ही समय में कई स्टेशन समाचार-प्रसारण के खुले रहते हैं, किन्तु रेडियो या ट्रांजिस्टर का स्विच खोला न जाए और अमुक स्टेशन पर संकेतदर्शक सुई लगाई न जाए तो वह समाचार, वार्तालाप, संगीत या संवाद सुनाई नहीं देगा, उसे वह व्यक्ति ग्रहण न कर सकेगा। इसी प्रकार जिस मनुष्य या मनुष्येतर प्राणी के हृदयरूपी स्टेशन का स्विच खुला नहीं होगा, वह हृदय-स्थित परमात्मा की दिव्यध्वनि, अव्यक्त अन्तःप्रेरणा या स्फुरणा को ग्रहण या श्रवण नहीं कर सकेगा। जो अपने हृदयरूपी स्टेशन का स्विच ऑन (खुला) कर देगा, वह हृदयस्थ परमात्मा के सन्देश, प्रेरणा आदि से अवश्य लाभान्वित हो सकेगा।

जिस प्रकार रेडियो पास में पड़ा रहने पर और समाचार-प्रसारित होते रहने पर भी उस स्टेशन का स्विच न खोलने पर व्यक्ति उन समाचारों के ग्रहण-श्रवण से लाभान्वित नहीं हो पाता, इसी प्रकार परमात्मा का दिव्यसन्देश प्राणी के हृदयरूपी स्टेशन से अव्यक्तरूप से सतत प्रसारित हो रहा है, लेकिन व्यक्ति अपने हृदयद्वार खुले न रखे तो वह उनके दिव्यसन्देश के ग्रहण-श्रवण से लाभान्वित नहीं हो पाता। ऐसी स्थिति में प्रभु का दिव्यसन्देश ग्रहण-श्रवण न कर पाने के कारण वह प्राणी परमात्मा

---

१ (क) "अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः।"

—भगवद्गीता

(ख) आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा॥ गीता ३/३९

(शुद्ध आत्मा) से विमुख हो जाता है, उसका हृदय कोमल के बदले कठोर, पवित्र के बदले अपवित्र और कलुषित हो जाता है।

जो प्राणी अपने हृदयमन्दिर के पट खोल देते हैं, परमात्मा के दिव्यज्ञानयुक्त सन्देश को ग्रहण करने के लिए उत्कण्ठित होते हैं, वे ही भव्य जीव उसके ग्रहण-श्रवण से लाभान्वित होते हैं। प्रकृति की ओर से भूमि के अनुरूप सर्वत्र वर्षा होती है, किन्तु उस वर्षा से ऊषर भूमि और जवासा का पौधा लाभ नहीं उठा पाता। स्वातिनक्षत्र में हुई वृष्टि की बूंदें तो सर्वत्र गिरती हैं, परन्तु सीप के मुख में पड़कर वे मोती बन जाती हैं, अन्यत्र नहीं। सूर्य उदय होते ही अन्य सभी फूल नहीं खिलते, किन्तु सूर्यमुखी पुष्प एवं कमल खिल उठते हैं।

उसी प्रकार वीतराग परमात्मा का बोध तो सब जीवों के लिए होता है, किन्तु इसे ग्रहण कर पाते हैं—सुलभबोधि और भव्य जीव ही।

श्रमण भगवान् महावीर चण्डकौशिक सर्प की बांबी पर उसे प्रतिबोध देने पधारे। उन्हें देखते ही पहले तो चण्डकौशिक ने अपने हृदय के पट नहीं खोले और स्वभावानुसार उनके अंगूठे को डस लिया। किन्तु फिर भी प्रभु महावीर को वहाँ अविचल खड़े देख, वह विस्मय-विमुग्ध होकर उनकी ओर टकटकी लगाकर देखने लगा। ऊहापोह के कारण उसे अपने पूर्वजन्म का स्मरण हो आया। पूर्वजन्म की अन्तिम समय की दुर्घटना उसके सामने चलचित्र की तरह साकार हो गई। उसकी जिज्ञासा बुद्धि जागी। अपने हृदय कपाट खोले। प्रभु के प्रतिबोधक वचनों को वह अमृत-सम पी गया। हृदय में भली-भांति उतर जाने के कारण उसने अपना सारा जीवन बदल डाला। उसका विषाक्त हृदय अमृतमय बन गया। वह कठोर से कोमल, अपवित्र से पवित्र और अनुदार से उदार बन गया।

इसी प्रकार चिलातीपुत्र, रोहिणेय चोर, हत्यारे अर्जुनमाली एवं दृढ़प्रहारी आदि का कठोर और कलुषित हृदय भी तभी कोमल और पवित्र बना, जब उन्होंने अपने हृदय के पट खोले और उन-उन महापुरुषों की पवित्र प्रेरणाएँ श्रद्धा से श्रवण और ग्रहण कर लीं।

ये तो पौराणिक काल की कथाएँ हैं। वर्तमानकाल में महात्मा गांधीजी का तो युवावस्था का जीता-जागता उदाहरण प्रसिद्ध है। जिसे वे अपनी आत्मकथा में स्वयं लिखते हैं। जब वे अपनी माताजी के समक्ष जैन सन्त श्री बेचरजीस्वामी से परस्त्रीसेवन, मांसाहार एवं मद्य-

पान के त्याग की प्रतिज्ञा लेकर विदेश गए। वहां उनके परस्त्रीगमन त्याग की प्रतिज्ञा की तीन बार कसौटी हुई। तीनों ही बार जब वे फिसलने को हुए, तब उनके हृदय में स्थित परमात्मा ने अन्तःस्फुरणा जागृत की और वे परमात्मा के उस अव्यक्त सन्देश को श्रवण-ग्रहण करके उक्त पापकर्म से बच गए, और अपनी प्रतिज्ञा पर दृढ़ रहे, क्योंकि उन्होंने अन्तःस्थित परमात्मा के दिव्यसन्देश को सुनने और ग्रहण करने के लिए अपने हृदय के पट खुले रखे थे।[1]

हृदय के द्वार : किनके बन्द, किनके खुले ?

वैसे तो किसी भी प्राणी के हृदय के द्रव्य-पट या द्रव्य-द्वार नहीं होते, किन्तु यहां हृदय के भावद्वार या भाव-पट से अभिप्राय है। एकेन्द्रिय-जीवों से लेकर चार इन्द्रियों वाले जीवों तक द्रव्यमन तो होता ही नहीं, वे असंज्ञी होने के कारण उनके भावमन ही होता है, वह भी सुषुप्त चेतना या मूर्च्छित चेतना से युक्त होता है। इसलिए उनके भाव-हृदय के भावपट या भावद्वार अवरुद्ध रहते हैं, वे परमात्मा के दिव्यसन्देश या ज्ञान के प्रकाश को ग्रहण-श्रवण करने में सर्वथा अक्षम रहते हैं। पंचेन्द्रियों के चार प्रकार हैं—नारक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव। उनमें से नारक जीवों में सम्यग्दृष्टि के सिवाय अन्य जीवों के हृदय के पट खुले नहीं होते। वे मिथ्यात्व, अज्ञान एवं मोह के तिमिर से आवृत रहते हैं। देवों में भी सम्यग्दृष्टि देवों तथा उच्चजातीय देवों के सिवाय अन्य देवी-देवों के हृदयपट प्रायः बन्द रहते हैं। इसलिए जिनके हृदयद्वार बन्द रहते हैं, वे प्रभु के दिव्यसन्देश को ग्रहण-श्रवण करने में उत्सुक नहीं होते। वे वैषयिक सुखों में निमग्न होकर अपना देवायुष्य पूर्ण कर देते हैं। पंचेन्द्रियतिर्यञ्च जीवों में भी किसी-किसी जीव के पूर्वसंस्कारवश तथा पूर्वकृतपुण्योदय से हृदयपट खुल जाते हैं। वह तिर्यञ्चभव में भी अन्तःस्थित प्रभु के दिव्यसन्देश को श्रवण-ग्रहण कर लेता है और अपना जन्म सुधार लेता है, जीवन को उन्नत बना पाता है।

राजगृही निवासी 'नन्दन मणिहार'[2] एक समृद्ध धनिक व्यवसायी था, और भगवान् महावीर का बारहव्रतधारी श्रमणोपासक बना हुआ था। वह अष्टमी-चतुर्दशी आदि तिथियों में पौषधोपवास भी करता था।

---

१ महात्मा गांधीजी की आत्मकथा से सार संक्षिप्त

२ देखिये—भगवतीसूत्र में नन्दनमणिहार का वृत्तान्त

उसने शुभ भावनावश अतिथियों और पथिकों के विश्राम करने तथा जल-पान करने के लिए एवं नागरिकों के स्वास्थ्यलाभ के लिए राजगृहीनगरी के बाहर पथिकशाला, व्यायामशाला, विश्रामगृह आदि बनवाए और मधुरशीतल जल संचय के लिए एक वापिका भी बनाई। यहाँ तक तो ठीक था, किन्तु एक बार पौषधोपवास में उसे अत्यन्त प्यास लगी और सुखशील जीवन बिताने की भावना जगी। पौषधोपवास के समय तो समस्त सावद्य-योग (पापमयीप्रवृत्तियों) का तथा अन्न-जल का भी त्याग होता है, फिर भी उसकी अपनी बावड़ी आदि पर आसक्ति हुई, अपनी बावड़ी का पानी पीने की तीव्र लालसा जगी। उसके पश्चात् श्रावक के कठोर व्रत-नियमों के पालन में शिथिलता आने लगी। फलतः फलासक्ति एवं सुखसुविधासक्ति की भावनाओं में मरकर वह अपने द्वारा निर्मित बावड़ी में ही तिर्यञ्चपंचेन्द्रिय मेंढक के रूप में उत्पन्न हुआ। पूर्वजन्म के संस्कारवश वह अपने द्वारा निर्मित वापिका, पथिकशाला आदि पर आसक्ति रखने लगा, अपनी प्रशंसा प्रसिद्धि और नामबरी के श्रवण के लिए तीव्र उत्सुक हो गया। श्रावकव्रत तो उसके भंग हो ही गये थे। अतः मिथ्यात्व, अज्ञान और मोह के प्रचुर अन्धकार के कारण उसके हृदय के द्वार बन्द हो गए। किन्तु एक बार पूर्व-जन्म के इस नन्दनमणिहार दर्दुर ने श्रमण भगवान् महावीर के राजगृही में पदार्पण से समाचार सुने। पूर्वजन्म के संस्कार उद्बुद्ध हुए। ऊहापोह करते-करते पूर्वजन्म की स्मृति हो आई। अपने उत्तम श्रावकजीवन को पुनः अपनाने और आत्मशुद्धि करने की तीव्रभावना जगी। उसके हृदय के बन्द द्वार खुल गए। उत्तम भावना से प्रेरित होकर वह फुदकता-फुदकता भगवान् महावीर के दर्शन-श्रवण के लिए जा रहा था, किन्तु मार्ग में ही श्रेणिक राजा के घोड़े की टाप से बेचारे मेंढक का शरीर कुचल जाने से वहीं उसका प्राणान्त हो गया। हृदयपट खुले होने से अन्तिम समय में शुभभावों में मरकर वह दर्दुरान्तक देव बना। यह था तिर्यंचपंचेन्द्रिय के हृदय-पट खुल जाने का परिणाम!

मनुष्यों में भी जो नर-नारी सुलभबोधि, आत्मा-परमात्मा के प्रति श्रद्धालु परमात्मा के सन्देश को सुनने के लिए उत्सुक, सम्यग्दृष्टि या जागरूक होते हैं, जिनका हृदय सरल, निश्छल, निष्काम, निःस्पृह, मन्दकषायी, मन्दविकारी एवं निष्पाप होता है, उनके हृदय के भावपट खुले रहते हैं या खुल जाते हैं। वे परमात्मा का दिव्यसन्देश या अन्तःप्रेरणा स्फुरण आदि ग्रहण एवं श्रवण करने के योग्य होते हैं। परन्तु जब वे प्रभु के दिव्य अमर-

सन्देश को श्रवण-ग्रहण करने में प्रमाद कर जाते हैं, उनकी उत्सुकता एवं उत्कण्ठा में मन्दता आ जाती है, तब उनके हृदय पर अज्ञान एवं मोह का पर्दा पड़ जाता है और तब वे उनके सन्देश-निर्देश को ग्रहण नहीं कर पाते।

निष्कर्ष यह है कि जिसका अन्तःकरण स्वच्छ, निश्छल, सरल, निष्काम, निःस्पृह न हो; जिसके हृदय में क्रोधादि की तीव्रता हो, कामान्धता, विषयवासना तथा राग-द्वेष, मोह आदि विकारों की प्रचुरता जिसके हृदय में हो, हिंसा आदि आस्रवों में जो अहर्निश प्रवृत्त रहता है, जिसका हृदय मिथ्यात्व, अज्ञानता तथा दुर्भावों से भरा हो, उसके हृदय पर पर्दा पड़ जाता है, उसके हृदय के भावद्वार आवृत हो जाते हैं। उसको अन्तःस्थित ज्ञानादिरूप परमात्मा के दर्शन तथा उनकी दिव्यप्रेरणा का ग्रहण-श्रवण नहीं हो पाता। इस कारण उसकी आत्मा सुषुप्त हो जाती है।

हृदयद्वार बन्द हो जाने पर····

इसी आशय से आचारांग सूत्र में बताया गया है—

अणाणाए पुट्ठा वि एगे नियट्टंति।
'मंदा मोहेण पाउडा।'
तओ से एगया मूढभावं जणयंति।
तं से अहियाए, तं से अबोहिए।[1]

अर्थात्—अन्तःस्थित परमात्मा की अव्यक्त आज्ञा को ठुकराकर कई अज्ञानी मोह से आवृत होकर (मुक्त-परमात्मा की ओर जाने के बजाय) संसार की ओर लौट पड़ते हैं। फिर कभी-कभी उनके हृदय में मूढभाव उत्पन्न हो जाते हैं। यह (हिंसादि कृत्य करने की) मूढता उसके लिये अहितकर होती है, उसके लिए अबोधि का कारण होती है।

इन सब भगवद्वचनों का अभिप्राय यह है कि जिसका हृदय स्वच्छ, निर्मल, परमात्मा के प्रति एकाग्र, सरल एवं निश्छल नहीं होता, जो हिंसादि दुष्कृत्यों के चिंतन में रत रहते हैं। उनके हृदय का द्वार काम, क्रोध

---

१ (क) आचारांग सूत्र अ. १, अ. २, उ. २
(ख) वही, १/१/२
(ग) वही, १/२/१
(घ) वही, १/१/७

लोभ, मोह आदि विभावों तथा परभावों की आसक्ति से आवृत हो जाता है। वे फिर परमात्मा की दिव्य-प्रेरणा, स्फुरणा एवं अव्यक्त आदेश-संदेशों का श्रवण-मनन-चिंतन एवं ग्रहण नहीं कर पाते। उन्हें कुछ सूझता ही नहीं, उनकी सद्बुद्धि पर पर्दा पड़ जाता है, वे सोच ही नहीं पाते कि हिंसादि आरम्भ करके[1] हम अपने ही पैरों पर कुल्हाड़ी मार रहे हैं। हमारे लिये यह और अहितकर एवं अबोधिजनक होगा।

जिसका हृदयद्वार अवरुद्ध हो जाता है, वह अपनी आत्मा के निजी गुणों को विकसित करने के लिये परमात्मा से अव्यक्त प्रेरणा और प्रकाश नहीं पाता। अपनी आत्मा में ज्ञान, दर्शन, आत्मशक्ति और आत्मानन्द के भण्डार भरे पड़े हैं, उन्हें पहचानने, ढूंढने और विकसित करने के महान् कार्यों को करने हेतु उसमें कोई रुचि, उत्साह एवं साहस नहीं होता। वह जीवन से निराश, हताश होकर जीवन का ध्येय बहुत ही क्षुद्र एवं संकुचित बना लेता है। जो क्षुद्र ध्येय बना लेते हैं, वे अपने में, अपने ही संकीर्ण स्वार्थ और अहं के घेरे में बन्द हो जाते हैं। उनकी जिज्ञासावृत्ति, आस्तिकता एवं उदारता समाप्त हो जाती है। वे केवल अपने ही क्षुद्र वैषयिक सुख का विचार करते हैं। आचारांग सूत्र[2] के अनुसार वह अपना एवं अपनों का ही पेट भरने, सन्तान पैदा करने में और इन्द्रियविषयों के कामभोगों में आसक्त व्यक्ति मूर्ख और मोहग्रस्त होता है। उसका दुःख शांत नहीं होता। फलतः वह दुःखी होकर दुःखों के ही आवर्त चक्र में बार-बार जन्म-मरण-रूप संसार में पर्यटन करता रहता है।

फिर उसका हृदय क्षुद्रताग्रस्त विचारों से श्मशान की तरह मनोविकारों की चिन्ताओं के धुएं से आच्छादित हो जाता है। उसका हृदय-द्वार क्यों और कैसे आवृत हो जाता है, उसके लिये भगवद्गीता कहती है—

'धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च।
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ॥[3]

---

१ एत्थ सत्थं समारंभमाणस्स इच्चेते आरम्भा अपरिण्णाया भवन्ति।
—आचा. १/१/६

२ बाले पुण निहे काम-समुण्णे असमियदुक्खे, दुक्खी दुक्खाणमेव आवट्टमणुपरियट्टइ। —आचा. १/२/३

३ भगवद्गीता अ. ३ श्लो. ३८

जैसे धुएँ से अग्नि और मैल (गर्द) से दर्पण ढक जाता है, इसी प्रकार जैसे जेर से गर्भ ढका हुआ होता है, वैसे ही अन्तःस्थित परमात्मा के दिव्यज्ञान का प्रकाश कामादि विकारों के द्वारा ढक जाता है।

जिस हृदयरूपी उद्यान में परमात्मीय ज्ञान के सुगन्धित फूल खिल सकते थे और उनसे पारिपार्श्विक वातावरण को गुणों की सुगन्ध से सुरम्य बनाये रखा जा सकता था, उस उद्यान में पतझड़ की स्थिति उत्पन्न करने में मूल कारण वही क्षुद्रताधारी मूर्ख हो जाता है।

निराकार परमात्मा : अपने अनन्तज्ञानादि स्वभाव के रूप में हृदय में स्थित

कोई कह सकता है कि सिद्ध-परमात्मा तो अशरीरी एवं निराकार हैं, वे कैसे किसी प्राणी के हृदय-भवन में बैठ सकते हैं? जबकि आचार्य अमितगतिसूरि ने सामायिकपाठ में छह श्लोकों के द्वारा अभिव्यक्त किया है—

स देवदेवो हृदये ममाऽस्ताम्।[1]

"वह देवाधिदेव परमात्मा मेरे हृदय में आसीन हों, विराजमान हों।"

यदि यह प्रार्थना जीवन्मुक्त अरिहन्त परमात्मा के लिये की गई है, तब वे भी किसी दूसरे प्राणी के हृदय में कैसे विराजमान हो सकते हैं?

इसका समाधान यह है कि इस पाठ में छह श्लोकों द्वारा शरीरधारी अरिहन्त और अशरीरी सिद्ध, दोनों ही प्रकार के परमात्मा से हृदय में स्थित होने की नम्र प्रार्थना की है। हाँ, यह तथ्य सिद्धान्त-विरुद्ध एवं युक्तिविहीन है कि कोई भी परमात्मा, यहाँ तक कि शुद्ध आत्मा भी किसी दूसरे प्राणी के हृदय में सन्निविष्ट होता है, विराजता है या बैठता है। परमात्मा (या शुद्ध आत्मा) स्वभावों और स्वगुणों के अमूर्त-निराकाररूप में ही प्राणी के हृदय में स्थित होते हैं, साकार रूप में नहीं। यही कारण है कि आचार्यश्री अमितगति ने इस प्रार्थना के साथ ही उनके स्वभावों एवं स्वगुणों का वर्णन करते हुए कहा है—"जो अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन और

---

१ सामायिक पाठ श्लो. १३

अनन्तसुख के स्वभाव से ओतप्रोत हैं, जो संसार के समस्त विकारों से रहित हैं, जो निर्विकल्पसमाधि (ध्यान की पूर्ण निश्चलता) द्वारा ही पूर्णतया अनुभव में आते हैं, जिनका परमात्मा नाम है।[1] जो संसार के समस्त दुःख जाल को विध्वस्त कर डालता है, जो त्रिजगत्वर्ती समस्त पदार्थों को जानता-देखता है। और अन्तर्हृदय में योगियों (ध्यानसाधकों) द्वारा भली-भाँति निरीक्षण किया जा सकता है, वह देवाधिदेव मेरे हृदय में विराजमान हों। जो मोक्षमार्ग के प्रतिपादक हैं, जो जन्म-मरणादिरूप दुःखों (आपत्तियों) से रहित हैं, जो तीन लोक के द्रष्टा-ज्ञाता हैं, जो निरंजन-निराकार (अशरीरी) हैं और निष्कलंक हैं, वे देवाधिदेव"""""। जिन दोषों (अष्टादश दोषों) ने समस्त संसारी जीवों को अपने चंगुल (नियन्त्रण) में ले रखा है, वे रागादि दोष जिनमें लेश-मात्र भी नहीं हैं, जो (अशरीरी होने के कारण) इन्द्रिय और नोइन्द्रिय (मन) से रहित हैं, अथवा जो (जीवन्मुक्त) अतीन्द्रिय (ज्ञान के लिए इन्द्रियों और मन की सहायता नहीं लेने वाले) हैं, जो ज्ञानमय हैं, अपाय (विघ्न या विनाश) से रहित-अविनाशी हैं। वे वीतराग देव"". जो (अनन्तज्ञान की दृष्टि से) सारे विश्व में व्याप्त हैं, जो विश्व कल्याण की भावना से ओतप्रोत हैं, जो सिद्ध (कृतकृत्य) हैं, बुद्ध (पूर्ण ज्ञाता) हैं, जो कर्मबन्धनों को तोड़ चुके हैं, जिनका अन्तर्ध्यान करने पर समस्त विकार दूर हो जाते हैं, वे देवाधिदेव परमात्मा मेरे हृदय में आसीन हों।[2]

---

१ "यो दर्शन, ज्ञान-सुख-स्वभावः, समस्त-संसार-विकार-बाह्यः।
समाधिगम्यः परमात्म-संज्ञः, स देवदेवो हृदये ममाऽस्ताम्॥
—सामायिक पाठ श्लो. १३

२ (क) निर्धूदते यो भवदुःखजालं, निरीक्षते यो जगदन्तरालम्।
योऽन्तर्गतो योगि निरीक्षणीयः, स देवदेवो हृदये ममास्ताम्॥ ४॥
(ख) विमुक्ति मार्ग प्रतिपादको यो, यो जन्म-मृत्यु-व्यसनाद्व्यतीतः।
त्रिलोकलोकी सकलोऽकलंकः, स देवदेवो हृदये ममाऽस्ताम्॥१५॥
(ग) क्रोड़ीकृताः शेष-शरीरिवर्गाः रागादयो यस्य न सन्ति दोषाः।
निरिन्द्रियो ज्ञानमयोऽनपायः, स देवदेवो हृदये ममास्ताम्॥१६॥
(घ) यो व्यापको विश्वजनीनवृत्तिः सिद्धो विबुद्धो धुतकर्मबन्धः।
ध्यातो धुनीते सकलं विकारं, स देवदेवो हृदये ममाऽस्ताम्॥१७॥
—सामायिकपाठ

इन समस्त श्लोकों के द्वारा परमात्मा को स्वभावों और आत्मगुणों से युक्त निराकार अमूर्त्त बताया गया है। वही निरंजन-निराकार परमात्मा (शुद्ध आत्मा) प्राणि-हृदय में स्थित विराजमान रहते हैं।

हृदयासीन निराकार परमात्मा किसे दिखाई देते हैं ?

ऐसे निरंजन-निराकार ज्ञानादिमय परमात्मा को अपने हृदय में विराजमान वही देख सकता है, वही जान सकता है, जिसका हृदय संकीर्ण, क्षुद्र, स्वार्थी तथा अनुदार न हो। जिसका हृदय स्वच्छ और सरल नहीं होगा, जिसके हृदय में पापवासनाएँ क्षुद्र कामनाएँ, तुच्छ स्वार्थभावनाएँ भरी होंगी। उसके हृदय के भावद्वार पर कामक्रोधादि विकारों का पर्दा पड़ जायगा, उसके अन्तश्चक्षुओं पर मोहादिकर्ममालिन्य का जाला छा जाएगा। फलतः उसे अपने अन्तर्भवन में विराजमान निराकार परमात्मा, स्वभावों और आत्मगुणों से सम्पन्न वीतराग प्रभु दिखाई नहीं देंगे। जिसको अपने हृदय में स्थित निराकार परमात्मा नहीं दिखाई देते ; वह मनुष्य जन्म पाकर भी 'मैं' और 'मेरे' (मेरा शरीर, मेरे पुत्र, मेरी पत्नी, मेरे माता-पिता, मेरा धन, मेरा प्रान्तादि) के चक्कर में फंस जाता है। ऐसा दूषित अहंभाव मानव को जन्म-मरणादि रूप संसार के दुःखों में डालता है। वह कंचन और कामिनी के मोह में लुब्ध कर देता है। जिससे व्यक्ति अपना (अपने शुद्ध आत्मा और परमात्मा) का भान-ज्ञान भूल जाता है। आत्मधर्म से विमुख होकर अपने हृदय पर पर्दा डाल देता है, जिससे उसे अन्तःस्थित परमात्मा हृदय सिंहासन पर आसीन दिखाई नहीं देते। निरंजन निराकार परमात्मा उसकी दृष्टि से ओझल हो जाते हैं।

परमात्मा को हृदय में विराजमान देखने के लिए क्या करे, क्या नहीं ?

जो साधक परमात्मा को हृदय में विराजमान देखना चाहता है, जो हृदयद्वार पर भाव-आवरण नहीं चाहता, अन्तश्चक्षु के पट खुले रखना चाहता है, उसे निराकार ज्ञानमय प्रभु को विराजमान रखने और देखने के लिए अपने हृदय को सतत स्वच्छ और पवित्र रखना चाहिए। अपने हृदय को परमात्मा, शुद्ध आत्मा या आत्म-गुणों के सिवाय किसी और (परभाव या विभाव) के लिए सुरक्षित न रखे। अपने हृदय के सिंहासन पर वह परमात्मा को भी बिठाना चाहे और सांसारिक कामादि विभावों, या पर-भावों को भी, तो परमात्मदर्शन संभव नहीं हो सकेगा। जैसा कि एक अनुभवी ने कहा है—

जहाँ राम, तहां काम नहीं, जहाँ काम नहीं राम।
दोनों इकठा ना रहे, राम काम इक ठाम ॥[1]

यही कारण है कि जो परमात्मा को अपने अन्तर्हृदय-भवन में विराजमान देखना चाहते हैं, या देखते हैं, वे सदैव सतत सावधान एवं अप्रमत्त रहते हैं और रहने का प्रयत्न करते हैं। जब भी हृदयभवन पर काम, क्रोध, मद, मोह, मत्सर, राग, द्वेष आदि विकाररूपी चोर आक्रमण करने लगते हैं, तब वे तुरन्त सावधान हो जाते हैं। ऐसा भक्त सहृदय साधक अल्पज्ञ और अल्प-अप्रमत्त होता है, इसलिए विकार चोरों के हृदय-भवन में प्रवेश करने और उसे गंदा करने की संभावना रहती है। ऐसे विकारचोरों के जबरन घुस जाने पर वह परमात्मा से सविनय प्रार्थना करता है, कि वे ऐसी अन्तःस्फुरणा एवं आत्मशक्ति प्रदान करें, जिससे वह उन अन्तःप्रविष्ट विकारचोरों को शीघ्र भगा सके, वे विकारचोर उसके आत्मगुणरूपी धन का हरण न कर सकें। गोस्वामी तुलसीदासजी ने 'विनय पत्रिका' में ऐसी ही प्रार्थना प्रभु से की है—

मम हृदय-भवन प्रभु तोरा। तंह आय बसे बहु चोरा॥
अतिकठिन करहिं बरजोरा। मानहिं नांही विनय-निहोरा॥
तम मोह लोभ अहंकारा। मद क्रोध बोधरिपु मारा॥
अति करहिं उपद्रव नाथा। मरदहिं मोहि जान अनाथा॥
मैं एक अमित बटमारा। कोऊ सुनै न मोर पुकारा॥[2]

वस्तुतः अपनी आत्मा को परमात्म-प्राप्ति के योग्य बनाना चाहने वाले साधक को चाहिए कि परमात्मा के परमात्मभाव के रूप में रहने के स्थान— हृदय-भवन में सूक्ष्मरूप से प्रविष्ट होने वाले काम, क्रोध, मद, लोभ, रागद्वेष, अज्ञान आदि विकारों को ज्ञ-परिज्ञा से जान ले, किन्तु उनके प्रवाह में न बह जाए, उनके संग का रंग न लगाए, वह तटस्थ ज्ञाता-द्रष्टा रहे, फिर प्रत्याख्यान परिज्ञा से उन्हें हटाने के लिए पूर्ण आत्मशक्ति के साथ पुरुषार्थ करे। दूसरी ओर से---वह ऐसा प्रयत्न भी करे, जिससे उसका हृदय आत्मगुणों से सुसज्जित रहे, ताकि काम क्रोधादि दुर्गुणों को हृदय में प्रविष्ट होने का अवसर ही न मिले। क्योंकि आत्मगुणों के रहते,

---

१ तुलसी दोहावली (गोस्वामी तुलसीदास जी)
२ विनयपत्रिका (गोस्वामी तुलसीदास जी)

कामक्रोधादि वैकारिक दुर्गुणों-विभावों सहसा घुस नहीं सकते और वे विकासचोर हृदयभवन का नष्ट-भ्रष्ट एवं विकृत भी नहीं कर सकते हैं। इसके लिए साधक सदैव वीतराग परमात्मा से प्रार्थना करता रहे—

प्रभो ! मेरा हृदय गुणसिन्धु अपरम्पार हो जाए।
सफल सब ओर से पावन मनुज-अवतार हो जाए॥
खुशी हो, रंज हो, कुछ हो; रहूँ मैं एक-सा हरदम।
हृदय के यंत्र पर मेरा; अटल अधिकार हो जाए॥
जरा-सा भी मिले मेझमें, न ढूंढा चिन्ह ईर्ष्या का।
पदोन्नति देखकर, दिल हर्ष से सरसार हो जाये॥[1]

ये और इस प्रकार के आत्मगुणों से साधक का हृदय सराबोर रहेगा, तब यह निश्चित है कि आत्मगुणों से परिपूर्ण परमात्मा भी हृदय-मन्दिर में विराजमान हुए दिखाई दें; क्योंकि शुद्ध आत्मा के स्वभाव और निजगुणों में एवं परमात्मा के स्वभाव और स्वगुणों में कोई अन्तर नहीं है।

हृदय-भवन को पवित्र रखने से ही परमात्मा विराजमान दीखेंगे

यह ध्यान रखना चाहिए कि परमात्मा से सद्गुणों से हृदय परिपूर्ण रहने की केवल प्रार्थना करने से ही काम नहीं चलेगा, इतने मात्र से ही प्रभु हृदय में सदैव सतत विराजमान दिखाई नहीं देंगे। प्रभु को आमंत्रित करने से पहले उनके विराजमान होने के हृदय को पवित्र, निर्मल, निश्छल एवं निष्कलंक भी रखना होगा। फारसी के एक शायर 'दीवाने साहब' ने लिखा है—

"गैर हकरा मिदे हो रह, दर रहीम दिल चिरा।
मीक सौबर सफे हस्ती खते बातिल चिरा॥"

इसका भावार्थ यह है—ऐ इन्सान ! तू अपने दिल के किले में हक, ईमान और रहम के सिवा दूसरे को क्यों जगह देता है ? तू अपने दिल में हक को जगह देने के बदले हराम को जगह देता है, तो क्या तेरा दिल हराम को जगह देने के लिए ही है ?

एक धनिक ने बहुत सुन्दर महल बनवाया। यदि वह अपने महल में पधारने के लिए किसी बड़े आदमी—महामन्त्री को आमन्त्रण दे दे और जिस

---

१ अमर जैन पुष्पांजलि (कवि श्री अमर मुनिजी म०)

दिन महामंत्री पधारने वाले हों, उसी दिन एक मेहतर आकर अपना गंदगी का टोकरा वहाँ रख देने के लिए उस धनिक से अनुरोध करे तो क्या वह अपने महल में या महल के पास गंदगी का टोकरा रखने देगा ? हर्गिज नहीं। वह उक्त मेहतर से यही कहेगा—'जल्दी से यहाँ से चला जा। मैंने अपने महल में महामंत्री को आमंत्रित किया है। तू यहाँ गंदगी रखेगा तो महामंत्री इस महल में पधारना बिलकुल पसन्द नहीं करेंगे।'

जिस प्रकार अपने महल में बड़े आदमी को आमंत्रित करने वाला धनिक वहाँ जरा भी गंदगी रखना पसंद नहीं करता। इसी प्रकार परमात्मा को हृदयभवन में विराजमान रहने और उन्हें सदैव वहाँ विराजमान देखने की प्रार्थना करने वाला व्यक्ति उस हृदय-भवन को कामक्रोधादि विकारों से जरा भी मलिन एवं गंदा रखेगा, तो क्या परमात्मा वहाँ सदैव विराजमान रहना पसंद करेंगे या वे विराजमान दीखेंगे ? कदापि नहीं।

परमात्मा का ज्ञान-प्रकाश हृदय में सतत स्थिर कैसे रहे ?

जिस प्रकार स्विच ऑन कर देने पर भी बिजली एक बार प्रकाशित होकर बीच-बीच में कई घंटों तक चली जाती है तब पुनः अन्धकार छा जाता है। उसी प्रकार हृदयभवन का स्विच आन कर देने पर परमात्मा की आत्मगुणरूपी विद्युत का प्रकाश सतत स्थिर नहीं रह पाता। साधक के हृदयभवन पर अज्ञान, मोह आदि का अन्धकार पुनः छा जाने पर वह ज्ञान-प्रकाश लुप्त हो जाता है। साधक के दिव्य नेत्रों पर पर्दा पड़ जाता है। उसकी बुद्धि कुण्ठित हो जाती है। फलतः वह परमात्मा की दिव्य-प्रेरणा, दिव्य-आदेश, निर्देश एवं सन्देश को ग्रहण-श्रवण नहीं कर पाता। पुनः उसका चिन्तन-मनन एवं पुरुषार्थ शरीर और शरीर से सम्बद्ध सजीव-निर्जीव पदार्थों को पाने की लालसा एवं आसक्तिपूर्वक उनका उपभोग करने की वृत्ति-प्रवृत्ति में संलग्न रहना है। वह पुनः जागृत और सतर्क न हुआ तो मनःकल्पित आकांक्षाओं, आवश्यकताओं और पंचेन्द्रियविषयों की पूर्ति में ही मग्न रहता है। ऐसे व्यक्ति को अन्तःस्थित परमात्मा अपनी अन्तःस्फुरणा एवं अव्यक्त प्रेरणा से सावधान करता रहता है, फिर भी मोह-निद्रा, प्रमाद एवं गफलत में पड़ा रह जाता है और कामक्रोधादि विकार चोर उसका ज्ञानादि धन हरण कर लेते हैं। इसीलिए अपरिपक्व, किन्तु जिज्ञासु आत्मार्थी साधक संकल्पात्मक प्रार्थना करता है कि हे मुनीश प्रभो ! आपके ज्ञान की लौ मेरे हृदय में अन्धकार निवारक दीपक के समान इस प्रकार लीन हो जाए, कीलित हो जाए, स्थिर होकर आसीन हो जाए, तथा

ऐसे प्रतिबिम्बित हो जाए[1] कि कषायों का अन्धड़ उसे बुझा न सके, विषय-वासना की आंधी का झोंका उसे चंचल न बना सके, राग द्वेषादि के तूफान उसे नष्ट-भ्रष्ट न कर सके, अज्ञान और मोह का पर्दा उसे तिरोहित न कर सके। प्रभु के ज्ञान का प्रकाश मेरे हृदय को सतत प्रकाशित करता रहे। उसमें बीच-बीच में कोई रुकावट या व्यवधान न आए। ऐसा तभी हो सकता है, जब साधक अपने अन्तःकरण को संकीर्ण, अनुदार और क्षुद्र ध्येय वाला न बनाए। परमात्मा के प्रति उसके हृदय में विनय, बहुमान एवं पूज्यभाव हो। श्रद्धा, भक्ति, जिज्ञासा और सद्भावना के साथ जो परमात्मा की दिव्य अव्यक्त प्रेरणा को ग्रहण-श्रवण करने के लिए चातक की तरह पिपासु हो। जिसके अन्तर् का तार परमात्मा के साथ जुड़ा हुआ हो। निर्मल, निश्चल होने के कारण जिसके हृदय का द्वार खुला हो, जिसका जिज्ञासु मन परमात्मा के प्रति अभिमुख एवं उत्सुक हो। तभी परमात्मा के दिव्य ज्ञान दीप का प्रकाश उक्त आत्मार्थी भक्त की हृदय-गुफा में सतत प्रज्वलित एवं स्थिर रह सकता है।

परमात्मा हृदयस्थ होने से लाभ : किसको और कैसे ?

परमात्मा ज्ञानमय हैं, उनका ज्ञान विश्वव्यापी है। इसलिए परमात्मा को जो साधक अन्तःकरण में विराजमान रखता है, वह अनन्तज्ञानी परमात्मा का अनुभवज्ञान प्राप्त कर सकता है। जैसे किसी निर्धन व्यक्ति के घर के आंगन में धन गड़ा हो, मगर उसे इस बात का पता न हो, तब तक वह निर्धनता एवं दरिद्रता का अनुभव करके नाना चिन्ताओं और उलझनों में डूबता-उतराता रहता है। अपनी समस्याओं का सामना करने में हतोत्साह, निराश और उदास रहता है। उसे कोई सही मार्ग सूझता ही नहीं है। यदि उसे कोई गड़ी हुई निधि का पता बता दे, तो उसके हृदय में आत्मविश्वास, आशा एवं उत्साह का प्रकाश जगमगा उठेगा। बताने वाले के प्रति भी श्रद्धा-भक्ति जागेगी। फिर तो धनवान और समृद्ध होने का यह विश्वास उसके जीवन के दृष्टिकोण को ही बदल देगा। इसी प्रकार अन्तःस्थित परमात्मा अल्पज्ञ, अल्पशक्तिमान एवं सीमित आनन्दयुक्त आत्मार्थी एवं जिज्ञासु साधक का आत्मा में निहित गुप्त एवं प्रच्छन्न अनन्तज्ञानादि

---

१ मुनीश ! लीनाविव कीलिताविव, स्थिरौ निशाताविव विम्बिताविव।
पादौ त्वदीयौ मम तिष्ठतो सदा, तमो धुनानौ हृदि दीपकाविव।
—सामायिक पाठ ४

गुणधन का पता अव्यक्त अन्तःस्फुरणा से लग जाता है। आत्मा में निहित विशिष्ट शक्तियों का ज्ञान भी परमात्मा द्वारा जिज्ञासु को मिल जाता हैं। परमात्मा का सान्निध्य जिज्ञासु आत्मार्थी की अन्तरात्मा में सुषुप्त शक्तियों तथा ज्ञान आदि की निधि के प्राप्त होने का विश्वास जगा देता है।

ज्ञानमय परमात्मा के अन्तःस्थित होने से दूसरा लाभ यह है कि जैसे दीपक के प्रकाशित होने पर अन्धेरे में छिपे हुए चोर, विषाक्त कीटाणु, भयानक पत्थर या ठूंठ, साँप, बिच्छू आदि जहरीले जन्तु, कांटे, कंकर; गंदगी के ढेर आदि का स्वतः पता लग जाता है, और व्यक्ति सावधान होकर चलता है अथवा अपने अभीष्ट कार्यों को निर्विघ्न कर पाता है। इसी प्रकार जिस प्राणी के हृदय के द्वार खुले होते हैं, उसे अन्तःस्थित परमात्मा के केवलज्ञान-दीप के प्रकाश में अपने हृदयभवन में पड़े हुए काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर आदि चोर स्पष्ट दिखाई पड़ते हैं, राग-द्वेष, क्लेश, दुष्कर्म आदि के विषाक्त कीटाणु भी साफ नजर आ जाते हैं, क्रूरता, स्वार्थान्धता, निर्दयता, प्रमाद, भय, शरीरासक्ति, विषयवासनाओं की तीव्रता की गंदगी का ढेर एवं दुर्गुण, दुश्चरित्र, दुर्बोध अज्ञान, मिथ्यात्व एवं दुर्भावरूपी कांटे आदि स्पष्ट दृष्टिगोचर हो जाते हैं। और हृदयस्थित परमात्मा के ज्ञानरूपी प्रकाश से वह अपने अन्दर रहे हुए इन दोषों-दुर्गुणों आदि को जानकर शीघ्रातिशीघ्र भगा सकता है। और अपनी आत्मा को दूध-सा उज्ज्वल, स्फटिकसम पारदर्शी, मुक्ता के समान शुक्ल तथा चन्दन के तुल्य सुगन्धित एवं अमृत के समान शुद्ध बना सकता है और स्वयं परमात्मतुल्य बन सकता है।

तीसरा लाभ यह है कि अपने अन्तर् में स्थित परमात्मा को तटस्थ ज्ञाता-द्रष्टा और हितैषी मानने से आत्मार्थी सदैव उनकी अनुभूतियों से लाभ उठा सकता है। जीवन की अटपटी समस्याओं में उसे सम्यक्मार्ग भी सूझ जाता है।

एक बड़ा लाभ यह भी है परमात्मा को ज्ञाताद्रष्टा, तथा ज्ञान से सर्वव्यापक विराट् मानने से आत्मार्थी साधक को यह प्रतीति रहती है कि मैं जो कुछ भी अच्छा-बुरा, पाप-पुण्य करूंगा, उसके साक्षी परमात्मा हैं। वह मेरे घट में विराजमान हैं। अतः मुझे उनके देखते कोई भी ऐसा कार्य नहीं करना चाहिए, जिससे स्व-पर का अहित हो, पापकर्म का बन्ध हो। साथ ही, परमात्मा की व्यापकता और विराट्ता पर पूर्ण विश्वास होने से वह सोचेगा कि 'प्रभु मेरे घट में भी विराजमान हैं वह सर्वत्र मेरे साथ

रहते हैं। उनसे मेरी कोई भी वृत्ति-प्रवृत्ति छिपी नहीं रहती। वह सब कुछ जानते-देखते हैं। अतः हृदय में जरा भी छल-कपट, काम, क्रोधादि विकार उत्पन्न होते ही वह तुरन्त सँभल जायेगा और उस पापकर्म से विरत हो जाएगा कि मैं इस पापकर्म का आचरण कैसे कर सकता हूँ। जिसे परमात्मा की ज्ञानदृष्टि से व्यापकता की प्रतीति हो जाती है, वह अपने अन्तर् में प्रभु को सन्निकट समझ कर ऐसी ही प्रवृत्ति करता है, जिसमें पापकर्म का अंश न हो।

ज्ञान का प्रकाशपुंज परमात्मा साधक के हृदय-सिंहासन पर विराजमान रहता है। इसलिए ज्ञानमय प्रभु के सान्निध्य से साधक को बन्ध, निर्जरा, मोक्ष का, आस्रव और संवर का, तथा इनके कारणों का यथार्थ ज्ञान होना ही चाहिए। यदि वह अज्ञान, अन्धविश्वास, संशय, विपर्यय, भ्रान्ति, प्रमाद, अनध्यवसाय (अनिश्चय) आदि को साथ में रखेगा तो अज्ञानमग्न होकर संसार में भटकेगा। अज्ञान के कारण उसके सभी कार्य विपरीत होंगे। सम्यग्ज्ञान न होने पर साधक की जीवननैया पुनः संसार सागर में डूब जाएगी। अतः आत्मार्थी साधक एक ओर से विशुद्ध ज्ञानमय परमात्मा को हृदय में विराजमान करके आत्मा को ज्ञानालोक से प्रकाशित करता है; तथैव दूसरी ओर से ज्ञान को आवृत करने वाले ज्ञानावरणीय कर्मबन्ध के जितने भी कारण हैं, उन्हें दूर करके सम्यग्ज्ञान वृद्धि के लिए पुरुषार्थ करता है।

परमात्मा की ज्ञानज्योति पाकर साधक उदात्त चिन्तन, एवं विश्व-हित पर मनन करता है, विश्व के सभी प्राणियों के प्रति आत्मौपम्य भावना बढ़ाता है। विश्व मैत्री, करुणा, प्रमोद और माध्यस्थ्य भावनाओं के माध्यम से हृदय में विश्वकल्याण की उदार भावना और प्रवृत्तियाँ संजोता है। मैं सारे विश्व का हूँ, सारा विश्व मेरा है, सभी प्राणियों की आत्मा मेरे ही समान सुख-दुःख, प्रिय-अप्रिय का संवेदन करती हैं। ऐसे साधक के मन से आसक्ति, मोह, द्वेष, घृणा, ईर्ष्या, अहंता-ममता आदि दुर्भावों का विष निकल जाता है। ऐसी स्थिति में वह स्वयं विश्ववत्सल, परमात्मा बन सकता है। इस उदार एवं व्यापक मान्यता और विशाल बोध से उसका अन्तःकरण एवं अन्तरात्मा असीम एवं व्यापक बनता है।

साध्यप्राप्ति के लिए आत्मशक्ति भी आवश्यक

रेलगाड़ी को लोहे की पटरी पर दौड़ाने के लिए केवल रेलगाड़ी, उसके चालक की इच्छा और नियन्त्रण-कुशलता ही पर्याप्त नहीं होती।

उसके लिए एंजिन में भाप का भी यथोचित्त मात्रा में होना आवश्यक होता है। वाष्प से उत्पन्न शक्ति के कारण ही रेलगाड़ी के पहियों में गति-प्रगति होती है। इसी प्रकार परमात्मपद प्राप्त करने के आत्मार्थी के संकल्प और अन्तःस्थित परमात्मा के प्रति सम्मुखता तथा हृदयद्वार खुलने के साथ-साथ पर्याप्त शक्ति और साहस की भी आवश्यकता है। अपने अन्तिम लक्ष्य के प्रति दृढ़निष्ठा, वफादारी तथा उसे पूर्ण करने के लिए आवश्यक प्रयास, भविष्य के प्रति आशापूर्ण दृष्टिकोण, धैर्य, साध्यप्राप्ति के मार्ग में आने वाली कठिनाइयों से जूझने का साहस, उत्साह और मनोबल भी आवश्यक है। इन सबको हम एक शब्द में 'आत्मशक्ति' कह सकते हैं। वह शक्ति अनन्तशक्तिमान् परमात्मा से ही प्राप्त हो सकती है, जो आत्मार्थी के हृदय में विराजमान है। वह एकाग्रचित्त होकर जब मन ही मन संकल्पात्मक प्रार्थना करता है कि "मेरे हृदय के आराध्यदेव प्रभो! मेरे अन्तर् में ऐसी अन्तःप्रेरणा और प्रबल स्फुरणा उत्पन्न कर दें, जिससे मुझे वह पर्याप्त आत्मशक्ति मिल सके। क्योंकि आप अनन्त आत्मशक्ति के स्रोत हैं। तब अवश्य ही आत्म शक्ति का संचार उसकी आत्मा में होने लगता है।

आत्मार्थी साधक की अन्तिम लक्ष्य-शिखर तक पहुँचने की यात्रा बहुत लम्बी व उतार-चढ़ाव वाली और दुर्गम है। मार्ग में कई विकट घटियाँ आती हैं, जिन्हें पार करना अत्यन्त कठिन है। तथा आत्मघाती चार बड़े-बड़े कर्म-पर्वत आते हैं, जिन्हें लाँघना अतीव दुष्कर कार्य है, रास्ते में राग-द्वेष आदि भयंकर लुटेरे हैं, तथा मोह-ममत्व आदि बहुत-से लुभावने विकार ठग हैं, जो आत्मधन का हरण करने के लिए उद्यत हैं। परमात्म पद की मंजिल तक पहुँचने की ऐसी कठोर साहसिक तथा दुर्गम यात्रा में किसी विश्वस्त मार्गदर्शक तथा आत्मशक्ति-प्रेरक के सहारे की आवश्यकता रहती है। उसकी पूर्ति अपने हृदय में स्थित विश्ववत्सल प्रभु अव्यक्त रूप से करते हैं। अन्यथा, आत्मार्थी साधक को अपने दुर्बल अंगोपांग, अल्पज्ञान और चंचल व अदृढ़ मन तथा अल्प जीवनी शक्तिसम्पन्न इन्द्रियों एवं अत्यल्प साधनों के भरोसे लक्ष्य के अन्तिम शिखर तक पहुँचना अतीव दुष्कर होता है। किन्तु अन्तःस्थित परमपितामह विश्ववत्सल परमात्मा का पूर्वोक्त प्रकार से सुदृढ़ आलम्बन मिल जाता है, तब आत्मार्थी साधक उत्साह, साहस और आत्मबल के साथ अन्तिम लक्ष्य तक आसानी से पहुँच सकता है। इसी आत्मशक्ति को प्राप्त करने के लिए समस्त

मुनि ऋषि, नरेन्द्र, देवेन्द्र, वेद, पुराण एवं धर्मशास्त्र एक स्वर से स्तोत्र, जप, स्मरण, भक्तिगीत आदि द्वारा हृदय में विराजमान होने की प्रार्थना कहते हैं।[1]

हृदय स्थित परमात्मा परमात्मभाव (मोक्ष) के तटस्थ मार्गदर्शक भी, तटस्थ तारक और साथी भी अव्यक्त रूप से बन सकते हैं, बशर्ते कि आत्मार्थी की स्वयं उस मार्ग पर चलने तथा संसारसागर को पार करने की उत्कण्ठा हो। उसके लिए यथाशक्ति पुरुषार्थ करने में वह जरा भी हिचकिचाता न हो। इसी दृष्टि से वीतराग परमात्मा को **'मग्गदयाणं,' 'तिण्णाणं तारयाणं'** तथा **'मुत्ताणं मोयगाणं'**[2] कहा गया है। आचार्य सिद्धसेन ने बहुत सुन्दर युक्ति द्वारा इस तथ्य को समझाया है—

त्वं तारको जिन ! कथं भविनां, त एव,
त्वामुद्वहन्ति हृदयेन यदुत्तरन्तः।
यद्वा दृतिस्तरति यज्जलमेष नून—
मन्तर्गतस्य मरुतः स किलानुभावः॥[3]

हे वीतराग प्रभो ! आप भव्यजीवों के कैसे तारक (तारते) हैं ? हमने आपको तारते हुए प्रत्यक्ष तो कभी नहीं देखा, कि आप किसी को हाथ पकड़ कर तार रहे हैं। भव्यजीव ही आपको हृदय में धारण करके संसार-सागर से तर जाते हैं। इस दृष्टि से आप तटस्थ तारक अवश्य हैं। जैसे—मशक पानी पर तैरती है, उसके पीछे उसके अन्दर भरी हुई हवा का ही प्रभाव होता है।

इसी दृष्टि से परमात्मा को मुक्ति (परमात्मप्राप्ति)—मार्ग का प्रतिपादक कहा है, प्रापक या दायक नहीं। परमात्मप्राप्ति मार्ग के वे प्रतिपादक है, प्रदर्शक हैं, परमात्मप्राप्ति (मुक्ति) के मार्ग पर चलना और प्रगति करना बड़ी टेढ़ी खीर है। तलवार की धार पर चलने के समान दुर्गम है। ऐसे समय अन्तःस्थित परमात्मा यदि मार्ग-दर्शक साथी होता है, तो साधक को राग, द्वेष, मोह, कषाय आदि मुक्ति-विरोधी, शुद्ध-आत्मभाव के प्रतिबन्धक शत्रुओं के साथ जूझने में कोई थकान, निराशा एवं

---

१ यः स्मर्यते सर्व मुनीद्रवृन्दैर्यः स्तूयते सर्व-नरामरेन्द्रैः।
यो गीयते वेद-पुराण-शास्त्रैः, स देवदेवो हृदये ममाऽस्ताम्॥
—सामायिक पाठ श्लोक १२

२ देखें, शक्रस्तव (नमोऽत्थुणं) का पाठ

३ कल्याणमन्दिर स्तोत्र, काव्य-१०

निरुत्साहता नहीं होती। वह मनोज्ञ परभावों के मोहक प्रलोभनों में नहीं पड़ता, उसका विश्वास और धैर्य क्षीण नहीं होता, साहस और उत्साह शिथिल नहीं होता। आपत्तियों, संकटों और उपसर्गों, परीषहों के समय भय और आशंका से प्राण सूखने की नौबत नहीं आती। मुक्तिरूपी गाड़ी के कुशल अनुभवी संचालक होने से आत्मार्थी के मन में परमात्मभाव या मोक्ष तक पहुँचने का अटल-अचल विश्वास होता है, उसे कहीं धोखा या बोझ मालूम नहीं होता। परमात्मभाव (मोक्ष) यात्री के अन्तर्हृदय में मार्गदर्शक प्रभु द्वारा साहस, उत्साह, मनोबल और धैर्य में वृद्धि कर देने से वह आत्मबल, आत्मविश्वास एवं धैर्य के साथ निश्चित और स्वस्थ होकर मुस्तैदी से मुक्तिमार्ग पर अपने कदम बढ़ाता रहता है और एक दिन मंजिल तक पहुँच जाता है।

जैसे अबोध शिशु के सामने से माता ओझल हो जाती है, तो वह भयभीत और सशंक होकर इधर-उधर देखता है, किन्तु माता के निकटवर्ती होने की प्रतीति मन में होते ही वह स्वयं को सुरक्षित अनुभव करने लगता है, उत्साह और प्रसन्नता से खिल उठता है, इसी प्रकार मातृवत् परमात्मा भी आत्मार्थी साधक के हृदय से ओझल हो जाता है, उसकी दिव्यअन्तर्दृष्टि से दिखाई नहीं देता, तब वह भयभीत, सशंक होकर स्वयं को असुरक्षित अनुभव करने लगता है। वह सोचने लगता है कि कहीं मैं इधर-उधर कषायों के बीहड़ वन में भटक गया और रागद्वेषादि आत्मधन के दुष्ट लुटेरों से मेरी आत्मरक्षा कैसे होगी? किन्तु जब वह देखता है कि वात्सल्यमूर्ति मातृसम परमात्मा मेरे अन्तःकरण में स्थित है, तब वह आल्हादित हो उठता है, स्वयं को सुरक्षित अनुभव करने लगता है। उनका यह विश्वास ही उसे मोक्षयात्रा में आने वाले संकटों, विघ्न-बाधाओं आदि से सही-सलामत पार करके परमात्मभाव के आग्नेय पथ पर यात्रा करने में सहायक बन जाता है। उसके पैर आगे बढ़ने में लड़खड़ाते नहीं, न ही उसे मार्ग से भटकने की भीति रहती है और न ही विपत्तियों को देखकर उसका धैर्य एवं साहस टूटता है, क्योंकि उसका यह दृढ़विश्वास होता है कि मेरे अन्तर्हृदय में अनन्तज्ञानानन्द-शक्ति-सम्पन्न परमात्मा विराजमान है, वे मेरे अतिनिकट हैं। वे मुझे परमात्मभाव की प्राप्ति (मुक्ति) के मार्ग में आने वाली दुविधाओं, उलझनों, कुण्ठाओं और किंकर्तव्यविमूढताओं को दूर करके साहसपूर्वक आगे बढ़ने की प्रेरणा और प्रोत्साहन देने वाले हैं। जब भी उनके आदेश-संदेश, कर्तव्य या मार्ग के

विषय से उलझन आएगी, तब कोई न कोई प्रेरणा, अन्तःस्फुरणा, आदेश-संदेश या आज्ञा अव्यक्तरूप से परमात्मा की ओर से मिलेगी। जैसे कि ऋग्वेद में भी परमात्मा से अन्तःकरण को पवित्र करने और कल्याणपथ का निर्देश करने की प्रार्थना की गई है—

'ओ३म् विश्वानि देव ! सवितुर्दुरितानि परासुव, यद्भद्रं तन्न आसुव।'[1]

हे सूर्यसम तेजस्वी ओ३म्रूप प्रभो ! हमारे समस्त पापों को दूर कर और जो भद्रकल्याण-मार्ग या विचार हो, उसे हमें प्रदान कर ! जिससे हमारे अन्तःकरण पवित्र बनें।

अन्तःस्थित परमात्मा ही काम, क्रोध-मोहादि विकारों से रहित, कर्म, काया, मोहमाया आदि से सर्वथा शून्य निष्कलंक शुद्ध पवित्रात्मा हैं, उन्हीं की प्रेरणा और अनुभूतियों से आत्मार्थी पवित्रात्मा बन सकता है। फिर परमात्मा निराकार, निरिन्द्रिय, अशरीरी और अपायरहित हैं, इसलिए उनके सान्निध्य से आत्मार्थी को भी शरीरादि परभावों, तथा इन्द्रिय-विषयों के प्रति रागद्वेष को, एवं कामक्रोधादि भावकर्मरूप विभावों-अपायों को जीतने, तथा उनका व्युत्सर्ग करने की बार-बार अन्तःप्रेरणा, शक्ति और आत्मभावों में लीन रहने की स्फुरणा मिल सकती है। और एक दिन अन्तर्हृदयस्थित परमात्मा की परोक्ष सहायता से अपनी आत्मा को भी उनके समान शुद्ध, बुद्ध, मुक्त परमात्मा बना लेता है।

□□

---

१ ऋग्वेद ५/८२/५

२०

एकाकी आत्मा : बनती है परमात्मा

'अप्पा सो परमप्पा' सूत्र से स्पष्ट ध्वनित होता है कि अकेली आत्मा ही परमात्मा बन सकती है। आत्मा के साथ जो परभावों और विभावों की भारी भीड़ लगी है, उसे साथ लेकर वह परमात्मा बनना चाहे या परमात्मा के धाम में प्रवेश करना चाहे तो नहीं कर सकती। व्यावहारिक जीवन का यह जाना-माना सूत्र है कि कोई भी प्राणी या मानव जब मरता है, तब परलोक में उसके साथ कोई नहीं जाता है और परलोक से इस लोक में जब कोई जन्म लेने आता है, तब भी अकेला ही आता है।

एकत्व भावना का यह दोहा प्रसिद्ध है—

आप अकेला अवतरे, मरे अकेला होय।
यों कबहुँ या जीव को, साथी सगो न कोय॥

जिस प्रकार सांसारिक (इहलौकिक पारलौकिक) गति आगति के विषय में आत्मा का अकेलापन प्रसिद्ध है, वैसे ही परमात्म-प्राप्ति (मुक्ति-सिद्धि गति) के विषय में भी यही नियम है कि आत्मा नितान्त अकेली हो जाए, तभी वह मोक्ष या परमात्मपद प्राप्त कर सकती है। सांसारिक गति-आगति में तो आत्मा के साथ तैजस्कार्माणशरीर, शुभाशुभ कर्म आदि उसके साथ जाते हैं, अन्य कोई भी सजीव या निर्जीव पर-पदार्थ जीव के साथ नहीं जाते, किंतु मोक्षगति

(परमात्म प्राप्ति) के लिए तो यह अनिवार्य शर्त है कि वहाँ न तो द्रव्यकर्म-भावकर्म साथ जा सकते हैं, न ही शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि या रागद्वेष आदि विभाव या सजीव निर्जीव कोई भी परभाव साथ में जा सकते हैं। और मुक्ति या परमात्मभाव की प्राप्ति तो यहीं मनुष्यलोक में ही हो जाती है। उसी नर-नारी को परमात्मभाव की प्राप्ति होती है, जिसकी आत्मा परभावों और विभावों की भीड़ साथ में न लिये हुए हो।

व्यवहारदृष्टि से आत्मा का अकेलापन

तात्पर्य यह है कि आत्म का अकेलापन दो प्रकार से होता है—एक व्यवहारदृष्टि से, दूसरा निश्चयदृष्टि से। व्यवहारदृष्टि से आत्मा के अकेलेपन=एकत्व का चिन्तन 'बारस अणुवेक्खा' में इस प्रकार का मिलता है—

एक्को करेदि कम्मं, एक्को हिंडदि य दीह-संसारे।
एक्को जायदि मरदि, तस्स फलं भुंजदे एक्को ॥१४॥

यह आत्मा अकेला ही शुभ-अशुभ (पुण्य-पाप) कर्म बाँधता है, और अकेला ही इस अनादिकालीन दीर्घ संसार (जन्म-मरण रूप) में अपने-अपने शुभाशुभकर्मानुसार विविध योनियों और गतियों में परिभ्रमण करता है। वह अकेला ही जन्मता है और अकेला ही मरता है। अकेला ही कर्मों का फल भोगता है।"

परन्तु इस भौतिकवादी युग में वैज्ञानिक सुख-साधनों से सम्पन्न लोग व्यवहारदृष्टि से स्वयं को अकेला महसूस नहीं करते हैं। वे अकेलेपन में सुख-शान्ति की कल्पना नहीं करते, वे कहते हैं—हम अपने बीच अपने माता-पिता, भाई-बहन, पुत्र-पुत्री, कुटुम्ब-कबीले एवं समाज के लोगों को पाकर खुश हैं, सुखी हैं। वे हमारे सहयोगी हैं, हम उनके। परन्तु क्या सचमुच वे अनेक के साथ होकर सुखी हैं, निश्चिन्त हैं? जिन पचास लोगों को वे अपने साथ मानते हैं, क्या वे उसके दुःख, संकट, बीमारी आदि में हिस्सा बँटा सकते हैं। क्या वे मृत्यु से उनकी रक्षा कर सकते हैं। या परलोक में भी उनके साथ जा सकते हैं? पूर्वजन्मकृत अशुभ कर्मों के उदय में अपने पर क्या परिवार,जाति या समाज वाले उसके कटु फल भोगने में हिस्सा बंटा सकते हैं? मध्यम वर्ग में तो प्रायः घर का मुखिया ही अकेला सारे परिवार की चिन्ता करता है। लड़के-लड़कियों की शिक्षा, संस्कार,

वस्त्रादि, भरण-पोषण विवाह तथा अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति की रात-दिन उसे चिन्ता सताती रहती है। जब व्यक्ति बूढ़ा हो जाता है और घर का काम करने और कमाने में असमर्थ हो जाता है, तब पारिवारिक स्वार्थ-सिद्धि न होने पर परिजन-स्वजन प्रायः उसके प्रति उपेक्षा भाव रखने लगते हैं, उसकी किसी अच्छी बात को भी सुनी-अनसुनी कर देते हैं। बूढ़ा सोचता है—तीस साल पहले सारा परिवार मेरे आदेश पर चलता था। मेरी आज्ञा होते ही सब हाथ जोड़कर खड़े हो जाते थे। आज मेरे पुत्र, पत्नी, पुत्रियाँ, पुत्रवधुएँ कोई मुझे नहीं पूछतीं। सब मेरा तिरस्कार एवं उपहास करते हैं। भला बताइए, इतने बड़े परिवार के होते हुए वृद्ध क्यों होता है? इसी आशय का निरूपण भगवान् महावीर ने किया है—

माया पिया ण्हुसा भाया, भज्जा पुत्ता य ओरसा।
नालं ते तव ताणाए लुप्पंतस्स सकम्मुणा॥[1]

जब व्यक्ति अपने दुष्कर्मों से जीवन में नष्ट-भ्रष्ट दुःखित हो रहा हो, तब माता, पिता, भ्राता, भार्या, औरसपुत्र या पुत्रवधू कोई भी उसकी रक्षा करने में, उसे बचाने में समर्थ नहीं होते।

बल्कि आचारांग सूत्र के अनुसार—"वह मूढ मानव इस प्रकार दूसरों के लिए क्रूर कर्म करता हुआ, उस दुःख से, (धनादि के नष्ट होने से उत्पन्न दुःख से) मूर्ख बनकर विपर्यास (विपरीत परिणाम) को प्राप्त करता है।"[2]

प्रायः लोग चिन्तातुर होकर यही सोचते हैं कि 'इसकी अपेक्षा तो मैं अकेला होता तो आज दुःखी न होता। आज तो मैं अनेकों अपनों के होते हुए भी दुःखी हो रहा हूँ।'

इन सब दुःखों को देखते हुए क्या मनुष्य यह कहने को तैयार है कि बहुजन समुदाय या प्रचुर-धन-साधन आदि होने से मनुष्य निश्चित, सुखी या शांतिमय जीवन बिताता है? कहावत है—'सौ सगे, सौ दुःख।' व्यक्ति स्वयं ही अपने सुख-दुःखों का कर्त्ता है।

आचारांग सूत्र के अनुसार—"रोगादि उत्पन्न होने पर न तो वे

---

१ उत्तराध्ययन सूत्र अ. ६ गा. ३

२ "इअ से परस्स अट्ठाए कूराणि कम्माणि बाले पकुव्वमाणे तेण दुक्खेण मूढे विप्परियासमुवेति।" —आचारांग सूत्र श्रु. १ अ. २ उ. ४

तुम्हारी रक्षा करने में या शरण देने में समर्थ होते हैं, और न ही तुम उनका रक्षण करने या उन्हें शरण देने में समर्थ होते हो।"[1]

निष्कर्ष यह है कि व्यावहारिक जीवन में अकेलेपन की अनुभूति सुखदायी और आनन्दप्रद हो सकती है। अनेक व्यक्तियों और वस्तुओं को पाकर चिन्ताग्रस्त मनुष्य क्षुब्ध और अशान्त हो जाता है। अतः पहले से ही व्यक्ति अनेक वस्तुओं और व्यक्तियों से आसक्तियुक्त लगाव न रखकर सजीव-निर्जीव परपदार्थों और विभावों में न फंसता, उन्हें अपने न मानता एवं एकाकीपन का अप्रमत्त होकर अभ्यास करता तो किसी भी परिस्थिति में उसे दुःख न होता।

अकेलेपन से महत्वपूर्ण उपलब्धियाँ

आज लोग अकेलेपन से घबराते हैं। वे सोचते हैं—अकेले होने पर हमें कौन पूछेगा? कौन हमारी सेवा करेगा? कौन समय पर हमारी सहायता करेगा? जिन्हें आत्मा की अनन्त शक्तिमत्ता और अपने पुण्यकर्मों पर विश्वास नहीं हैं, वे ही ऐसा सोचते हैं। जिनका आत्मविश्वास दृढ़ हो चुका है। वे अकेलेपन से घबराते नहीं हैं। यह बात अनुभवसिद्ध है कि जो व्यक्ति दूसरों से सेवा और सहायता लेने से निरपेक्ष और निःस्पृह रहे हैं, उन्होंने आध्यात्मिक, बौद्धिक और शारीरिक प्रगति की है। रमण महर्षि[2] ने तिरुवन्नामलै के निकटवर्ती गुफा में अनेक हिंस्र जन्तुओं के बीच अकेले असहाय और सुखसुविधा निरपेक्ष रहकर ही अपनी आत्मशक्ति बढ़ाई थी। योगी अरविन्द ने कलकत्ते की अलीपुर जेल की कोठरी में अकेले रहकर कई आध्यात्मिक अनुभव प्राप्त किये थे। उन्होंने खाली समय का उपयोग अपने आत्मविकास के हेतु योगसाधना में किया था। लोकमान्य बालगंगाधर तिलक ने मांडले जेल में एकाकी नजरबन्द रहकर अपना चिन्तन-मनन भगवद्गीता जैसे आध्यात्मिक ग्रन्थ पर 'गीता रहस्य' ग्रन्थ लिखने में किया था। पण्डित जवाहरलाल नेहरू ने जेलों में राजनैतिक बंदी के रूप में एकाकी रहकर अपना समय विश्व इतिहास की झलक, 'हिन्दुस्तान की कहानी' नामक बहुमूल्य पुस्तकें लिखने में व्यतीत किया। उन्हें एकाकीपन

---

१ ....नालं ते तव ताणाए वो सरणाए वा। तुमंपि तेसिं नालं ताणाए वा सरणाए वा....। —आचारांग श्रु. १ अ. २ उ. ४

२ गुप्त भारत की खोज (ले. पाल ब्रिटन) से

अखरा नहीं। विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने 'गीतांजलि' में जीवन में एकाकी विचरण पर बहुत ही सुन्दर प्रेरणात्मक कविता लिखी है—

"जदि तोर डाक सुनिया, केउ ना आसे।
तोने तुमि एकला चलो रे, एकला चलो रे॥"

यदि तुम्हारी पुकार सुनकर कोई भी तुम्हारे साथ चलने को न आए तो तुम स्वयं अकेले चलो, अकेले ही अपने स्वीकृत पथ पर प्रयाण करो। ऐसा कभी मत सोचो कि तुम अकेले हो। भले ही बाहर से तुम अकेले दिखते हो, परन्तु यदि अन्तर् में तुम्हें अपनी आत्मा और परमात्मा पर विश्वास है तो बड़ी-बड़ी मुसीबतों, कष्टों, उलझनों और संकटों को तुम हंसते-हसते पार कर सकोगे। वस्तुतः एकाकीपन त्रासदायक या दुःखोत्पादक नहीं है, बल्कि अकेलेपन से व्यक्ति शान्ति, निश्चिंतता एवं संघर्ष-रहित निर्भय जीवन जीता है। उपनिषद् में बताया है—'द्वितीयाद् वै भयं भवति' दूसरा होने से अन्तर् में प्रायः भय और आशंका ही पैदा होती है।

आत्मैकत्वभावना से शान्ति और समाधि

जो आत्मार्थी साधक शुद्ध आत्मा के अकेलेपन—एकत्व का अभ्यास करते हैं, साधना करते हैं, उन्हें निश्चितता, शान्ति, समाधि और निरोगता प्राप्त होती है। इस विषय में प्रमाण के रूप में प्रस्तुत है, आचार्य अमितगति का यह श्लोक—

'आत्मानमात्मन्यवलोक्यमानस्त्वं दर्शन-ज्ञानमयो विशुद्धः।
एकाग्रचित्तः खलु यत्र-तत्र, स्थितोऽपि साधुर्लभते समाधिम्॥'[1]

जब तू अपने आप में अपने (आत्मा) को देखता है, तब तू दर्शन-ज्ञानमय एवं पूर्ण विशुद्ध हो जाता है। जो साधक जहाँ कहीं एकाग्रचित्त होकर अपनी आत्मा में स्थित हो जाता है, वह अवश्य ही समाधिभाव (आत्मसमाधि) को प्राप्त कर लेता है।

इस सम्बन्ध में नमिराजर्षि के जीवन की एक घटना बहुत ही बोधप्रद है।[2] एक बार वे दाहज्वर से पीड़ित हो गये थे। सारे शरीर में आग जलने की-सी असह्य पीड़ा हो गई थी। राजपरिवार के सभी लोग चिन्तित

---

१ सामायिक पाठ श्लो. २५

२ उत्तराध्ययन सूत्र अ. ९ (नमिपव्वज्जा) में देखें।

व्यथित थे। स्वयं नमिराज भी इस पीड़ा से व्याकुल हो रहे थे। इतने बड़े परिवार के साथ होते भी वे स्वयं को असहाय महसूस कर रहे थे। कोई भी उनकी इस पीड़ा को शान्त न कर सका। एक अनुभवी वैद्य ने शरीर पर दावना चन्दन घिस कर लगाने का सुझाव दिया। सभी रानियाँ चंदन घिसने में लगीं। चंदन घिसते समय उनके हाथों में पहनी हुई चूड़ियों के खनकने की आवाज अत्यधिक असह्य महसूस होने लगी। अतः उन्होंने इस आवाज को बन्द करने की सख्त हिदायत दी। रानियों से कहा गया तो उन्होंने अपने हाथों में एक-एक चूड़ी सौभाग्य चिन्हस्वरूप रखकर शेष चूड़ियाँ उतार दीं। और फिर चंदन घिसने लगीं। अनेक चूड़ियों के परस्पर टकराने से जो आवाज होती थी, वह अब बन्द हो गई।

नमिराज ने कहा—अब आवाज नहीं हो रही है, क्या चन्दन घिसना बन्द हो गया ?

उत्तर मिला--महाराज ! चन्दन घिसना बन्द नहीं हुआ है, किन्तु रानियों ने पहले अनेक चूड़ियाँ पहन रखी थीं, उनके परस्पर टकराने से आवाज होती थी, अब उन्होंने अपने हाथों में सिर्फ एक-एक चूड़ी पहन रखी है, इस कारण आवाज नहीं हो रही है।

इसी पर नमिराज के अन्तर् में चिन्तन की चिनगारी प्रकट हुई—"अनेक होने से संघर्ष होता है, एक होने से संघर्ष नहीं होता। मैं भी शरीरादि अनेक के साथ अपने को मानता हूँ इसी कारण संघर्ष, भय, चिन्ता, व्यग्रता, अशान्ति, विकृति आदि होती हैं। मेरी आत्मा अकेली ही आयी थी, अकेली ही जाएगी, वही शुद्ध नित्य एवं ज्ञानमय है। मैं व्यर्थ ही अनेक के साथ मोहजनित सम्पर्क करके संघर्ष और खतरा मोल ले बैठा। इसी कारण शरीर सम्बन्धी इस रोग के कारण मुझे उद्विग्नता, एवं चिन्ता होती है। अतः अब मुझे इन सबके प्रति एकत्व-ममत्व छोड़कर केवल आत्मा के साथ ही एकत्व साधने का अभ्यास करना चाहिए।" बस, थोड़ी ही देर में इस एकत्व भावना के कारण वे आत्मानन्द में लीन हो गए। उनकी व्याधि, चिन्ता, अशान्ति और व्याकुलता भी समाप्त हो गई।

उन्हें अच्छी नींद आई। प्रातःकाल स्वस्थ होकर उठे तो उन्होंने अपना एकाकी बनने का—आत्मा के साथ एकत्व साधने का निश्चय सुना दिया। इस प्रकार नमिराजर्षि ने स्वयं एकाकी, स्वाश्रयी एवं आत्मावलम्बी बनकर अपनी साधना की और अन्त में परमात्मपद (मोक्ष) को प्राप्त किया। यह थी आत्मा के साथ शुद्ध एकत्व की उपलब्धि !

आत्मा के एकाकीपन के अभ्यास के लिए चिन्तन

व्यवहारदृष्टि से आत्मा के अकेलेपन के लिए इस प्रकार चिन्तन एवं अभ्यास करे—"मैं (आत्मा) अकेला ही बार-बार जन्म, जरा, मृत्यु, व्याधि आदि के रूप में कर्मानुसार महादुःखों का अनुभव करता आया हूँ। न तो मेरा कोई 'स्व' (अपने स्वजन, धन, साधनादि) है, न पर है कोई। मैं अकेला ही जन्मता-मरता हूँ। पूर्वकृत शुभाशुभ कर्मों का फल भी मैं अकेला ही भोगूंगा। कर्मफल से प्राप्त अपने माने हुए कोई भी स्वजन या परजन, व्याधि, बुढ़ापा, मृत्यु आदि दुःखों से मेरी रक्षा नहीं कर सकते।' इसके साथ ही आत्मा के साथ अकेलेपन के इस सूत्र का पुनः-पुनः उच्चारण करे—

"एगो अहमंसि, न मे अत्थि कोइ, नवाऽहमवि कस्सइ। एवं से एगागिणमेव अप्पाणं समभिजाणेज्जा।"[1]

मैं (आत्मा) अकेला हूँ। मेरा अपना कहा जाने वाला कोई भी व्यक्ति, जीव या पदार्थ नहीं है। और मैं भी किसी दूसरे का नहीं हूँ। इस प्रकार व्यक्ति दीनताभाव को छोड़कर अपनी आत्मा को एकाकी समझे—जानें। आत्मा को इसी रीति से एकाकीपन में अभ्यस्त एवं अनुशासित करे।[2]

आत्मा के एकत्व का यह सूत्र जब आत्मसात् हो जाता है, तब वह गृहस्थ या साधु समस्त झंझटों, कठिनाइयों, कलहों, झगड़ों, प्रपंचों, चिन्ताओं एवं समस्याओं से मुक्त हो जाता है; वैयक्तिक, पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रीय या जागतिक समस्याओं और उलझनों से पर हो जाता है। फिर वह अपनी मस्ती में शुद्ध आत्मभाव में रमण करता हुआ, अति शीघ्र परमात्मभाव को प्राप्त कर लेता है।

एकत्वभाव से अभ्यस्त : सहायत्यागी आत्मनिर्भर

एकाकी भाव से अभ्यस्त वह व्यक्ति फिर किसी से सहायता के लिए हाथ नहीं पसारता, न ही सहायता के लिए ताकता है। वह परमात्मा से

---

१ आचारांग सूत्र श्रु-१ अ-८, उ-५

२ तुलना कीजिए—

एगो मे सासओ (सासदो) अप्पा, नाण-दंसण-संजुओ (संजुदा)।
सेसा मे बाहिरा भावा, सव्वे संजोगलक्खणा। —नियमसार ९९

भी किसी भी परभाव की याचना, प्रार्थना या दीनतापूर्वक माँग नहीं करता।

संघ, परिवार या गण आदि की सहायता का त्याग करने वाले आत्मैकत्व में अभ्यस्त साधक की उपलब्धियों का वर्णन करते हुए श्रमण भगवान् महावीर कहते हैं—

"सहायक के प्रत्याख्यान (त्याग) से साधक एकीभाव—आत्मैकत्व को प्राप्त होता है। जब एकत्व भावना से भावित होकर साधक एकमात्र आत्मावलम्बन कर लेता है, तब वह बहुत ही कम बोलता है, उसका व्यर्थ बोलना बन्द हो जाता है, झंझट, कलह, मनमुटाव, बकवास, विवाद आदि भी प्रायः नामशेष हो जाते हैं। कषाय मन्द हो जाते हैं। तू-तू-मैं-मैं (तूने ऐसा किया, वैसा किया इत्यादि वाक्कलह) भी समाप्त हो जाता है। उस साधक का जीवन १७ प्रकार के संयम से ओतप्रोत हो जाता है, वह अधिकतर संवर (आते हुए नये कर्मों का निरोध) कर लेता है। फिर वह एकमात्र अपनी आत्मा में ही समाहित (आत्मसमाधिस्थ) हो जाता है। और अपनी आत्मा में ही डूब जाता है।"[1]

वस्तुतः आत्मा के साथ एकत्व के इस प्रकार के अभ्यास से साधक स्वयं को सिर्फ एकाकी मानता और जानता है। वह दूसरे से सहायता या सहयोग की अपेक्षा नहीं रखता। सहजभाव से जो कुछ सहायता या सहयोग मिल गया उसी में सन्तुष्ट एवं निरपेक्ष रहता है। दूसरों से सहयोग, साहचर्य और सहायता लेने की आदत मनुष्य को पंगु, परमुखापेक्षी, परनिर्भर एवं पराधीन बनाती है। वह हमेशा दूसरों का मुख ताकता रहता है। इसके विपरीत परपदार्थों या पर-व्यक्तियों के सहयोग की अपेक्षा न रखने से मनुष्य आत्मनिर्भर, स्वावलम्बी और स्वाश्रयी बनता है। अकेलेपन से व्यक्ति में निर्भयता की शक्ति का संचार होता है। इस सम्बन्ध में 'सेंटजोन' का कहना है—'यह मत समझो कि तुम मुझे यह कह कर डरा सकोगे कि तुम अकेले हो। फ्रांस अकेला, पृथ्वी अकेली है,

---

१. सहाय-पच्चक्खाणेणं एगीभावं जणयइ। एगीभावभूए वि य णं जीवे एगत्तं भावेमाणे अप्पसद्दे, अप्पझंझे, अप्पकलहे, अप्पकसाए, अप्पतुमंतुमे, संजमबहुले संवर—बहुले समाहिए या वि भवइ।

—उत्तराध्ययन सूत्र अ. २९/३९

चन्द्रमा अकेला है, सूर्य अकेला है, यहाँ तक कि ईश्वर भी अकेला है। इन सबकी तुलना में मेरा अकेलापन है ही क्या ?" अकेला आदमी प्रायः बड़ी सावधानी से चलता है जबकि समूह के साथ चलने में प्रायः असावधान भी हो जाता है। एकाकी बनने पर व्यक्ति अपने आत्मबल को ही अन्तिम तथा शाश्वत मानकर आत्मावलम्बी बनने की प्रेरणा प्राप्त कर पाता है। अकेलेपन के अभ्यास से आत्मशक्ति बढ़ती है, जो परमात्मभाव की ओर ले जाने में सहायक सिद्ध होती है। स्वामी विवेकानन्द ने अपनी अनुभव-सम्पृक्त वाणी में कहा—'महापुरुष सर्वाधिक शक्तिमान तभी होते हैं, जब वे अकेले खड़े होते हैं।"

भगवान् महावीर के जीवन की एक घटना है। एक ग्वाले को जब अपनी गायें ध्यानस्थ भगवान् महावीर के पास नहीं मिलीं। तब पहले तो उसने उनसे पूछताछ की। भगवान् तो ध्यानस्थ थे, मौन थे, कैसे उत्तर देते। जब कोई उत्तर न मिला तो ग्वाला क्रुद्ध होकर उन्हें मारने-पीटने और गालियाँ देने लगा। आत्मशक्तिमान एकाकी भगवान् यह सब समभाव से सहन करते जा रहे थे। इसी बीच वहाँ इन्द्र आ गया। उसने उस गोपालक को भगवान् महावीर का परिचय दिया, समझाया और शान्त किया। इतने में भगवान् महावीर का ध्यान खुला। इन्द्र ने भगवान् के चरणों में श्रद्धावनत होकर प्रार्थना की—"भगवन् ! आपको ये अबोध लोग एकाकी और मौन देखकर इतना भयंकर कष्ट देते हैं कि मेरा रोम-रोम काँप उठता है। अतः अब मैं आपकी सेवा में रहकर आपकी सहायता करता रहूँगा। ऐसे अबोध लोगों को समझाता रहूँगा, ताकि आपको कोई कष्ट न हो और आपकी साधना निर्विघ्नता से चलती रहे।" इस पर भगवान् महावीर ने कहा—'देवराज ! ऐसा कभी नहीं हो सकता। साधना निर्विघ्न हो या सविघ्न मेरे लिए इसका कोई महत्व नहीं है। मेरे पूर्वकृत कर्मों को मेरी अनन्तशक्तिमान् आत्मा ही काटेगी। दूसरे किसी की सहायता कर्मक्षय करने में अपेक्षित नहीं होती, अतः मुझे किसी से किसी भी प्रकार की सहायता नहीं चाहिए। साधक को केवल अपनी आत्मशक्ति के बल पर ही परम (परमात्म) पद प्राप्त होता है, किसी दूसरे की सहायता के भरोसे पर नहीं और भगवान् महावीर के मुख से यह[1] दिव्य-ध्वनि गूँज उठी—

'स्ववीर्येणैव गच्छन्ति जिनेन्द्राः परमं पदम्।'

---

१ तीर्थंकर महावीर से

वीतराग जिनेन्द्र अपनी आत्मशक्ति से ही परम-पद (सिद्ध-बुद्ध-मुक्त-परमात्मपद) प्राप्त करते हैं।

यह है—आत्मा के साथ एकत्व की साधना से प्राप्त आत्मशक्ति का परिचय ! आत्मिकरूप से अकेले रहने पर मनुष्य के जीवन और व्यक्तित्व में अगाध शक्ति, निर्भयता, निश्चिन्तता और अपूर्व क्रान्ति आ जाती है। ऐसा अनुभव व्यक्ति को तभी होता है—जब वह सभी ओर से पर-पदार्थों एवं व्यक्तियों का आश्रय, सहयोग एवं आलम्बन छोड़कर या छूट जाने पर एकमात्र आत्मा—अनन्तज्ञानादि से सम्पन्न शुद्ध आत्मा को ही अपनी अनन्तशक्ति का सम्बल मानकर चले।

जब व्यक्ति अकेला—बिलकुल अकेला, केवल अपनी आत्मा के भरोसे पर रहता है, सिर्फ अपनी आत्मा के साथ रहता है, तब वह अपने विषय में गहराई से सोच सकता है। अपने-आप से खुलकर बातें कर सकता है। बल्कि जब वह नितान्त अकेला होता है, तब समाज, परिवार या अन्य व्यक्ति का उसे कोई दण्डादि का भय, संकोच या प्रतिष्ठा जाने का भय नहीं होता, इसलिए वह अपने में निहित गुण-दोषों का विश्लेषण कर सकता है, अपनी कमजोरियों और मजबूरियों का खुलकर आलोचन कर सकता है, आत्मा की निर्बलता और सबलता को पहचान कर वह दृढ़विश्वास के साथ आत्मशुद्धि का उपक्रम कर सकता है। इस प्रकार आत्मा को एकाकी भाव से भावित करके वह बाह्यपदार्थों, परभावों एवं राग-द्वेषादि विभावों से अपना लगाव, मोह, आसक्ति, लालसा एवं ममत्व-अहंत्व अत्यन्त कम कर सकता है। आत्मिक सौन्दर्य का, आत्मा की अनन्तशक्तियों का, एवं आत्मिक आनन्द का दिव्यप्रकाश भी एकाकी आत्मा को ही मिलता है। आत्मा के साथ एकत्व साध लेने पर ही साधक को परमात्मभाव की दिव्य झांकी मिल जाती है, और एक दिन वह भी आत्मा के साथ पूर्णएकत्व साधकर केवलज्ञान की ज्योति से आलोकित हो उठता है और स्वयं सिद्ध-बुद्ध-मुक्त परमात्मा बन जाता है।

निश्चयदृष्टि से आत्मैकत्व

निश्चयदृष्टि से आत्मा का एकत्व तभी सिद्ध होता है, जब व्यक्ति समस्त परभावों, एवं विभावों को संयोगजन्य, कर्मजन्य मानकर अथवा आत्मा से बाह्य मानकर, उनसे लगाव, ममत्व, आसक्ति या मोह राग आदि तथैव द्वेष, घृणा, वैर-विरोध आदि को सर्वथा हटाकर निपट एकाकी

(आत्मा) हो जाता है, हो जाता ही नहीं, बल्कि इस प्रकार का दृढ़निश्चय कर लेता है—

अहमिक्को खलु सुद्धो, दंसण-णाण-मइओ सदाऽरूवी ।
ण वि अत्थि मज्झ किंचि वि, अण्णं परमाणुमित्तंपि ।।[1]

'मैं (आत्मा) अकेला और बिलकुल शुद्ध हूँ, ज्ञान-दर्शनस्वरूप हूँ, सदैव अरूपी=अमूर्त हूँ तथा शुद्ध शाश्वत आत्मद्रव्य हूँ। परमाणुमात्र भी अन्य द्रव्य मेरा नहीं है।'

भगवान् महावीर का यह अनुभव-पूर्ण सिद्धान्त है—एकोऽहम्—'एगे आया।' अर्थात्—मैं अकेला हूँ—शुद्ध आत्मा (निश्चयदृष्टि से) अकेला है। भगवान् महावीर का यह गहन एवं अनुभूत विश्लेषण है—मन-वचन-काया में जब तक दूसरा (पर) है, तब तक संसार है। दूसरे (परभाव) पर ध्यान रखना ही तो संसार है। दूसरे से अपने ध्यान को सर्वथा मुक्त कर लेना ही मोक्ष (परमात्मभाव) है। तभी तुम 'एकोऽहं खलु सुद्धो'—शुद्ध एकाकी आत्मा हो सकोगे, जब परभावों की अणुमात्र भी छाया तुम पर नहीं पड़ेगी। दूसरों (शरीरादि या रागद्वेषादि-परभावों) से मुक्त होने पर ही शुद्ध आत्मा कहला सकोगे। आत्मा के अनुभव के लिए भी दूसरे का सहारा लेना पड़े तो वह अनुभूति भी पर-निर्भर हो जाती है, आत्मा से ही आत्मा का अनुभव शुद्ध और निज-सापेक्ष होता है। इसीलिए दशवैकालिक सूत्र में कहा गया—

'संपिक्खए अप्पगमप्पएण'[2]

अपनी आत्मा के द्वारा ही आत्मा का सम्प्रेक्षण करो। व्यक्ति इतना अकेला हो कि उसे अपने अकेलेपन का भी पता न चले। अगर अकेलेपन का आभास हो गया तो समझ लो, दूसरा अभी अन्तर् में उपस्थित है। अकेलेपन का पता तभी चलता है, जब दूसरे का स्मरण होता है, दूसरे की अपेक्षा या आकांक्षा मन में जागती है। जब परभाव की अपेक्षामूलक या आकांक्षामूलक स्मृति भी नहीं आए, मन से वह बिलकुल खो जाए, तभी आत्मा का अकेलापन सिद्ध, पूर्ण एवं सफल हुआ समझो। इसी को जैन-

---

१. समयसार ३७
२. दशवैकालिक सूत्र चूलिका १

सिद्धान्त में केवलज्ञान-केवलदर्शन कहा है। इसमें सिर्फ ज्ञान-दर्शनमय आत्मा रहता है। यही अकेलेपन की परिपूर्णता है।

इसके लिए 'बारस-अणुवेक्खा' के अनुसार सतत यही चिन्तन होना चाहिए—

एक्कोहं निम्ममो सुद्धो, णाण-दंसण-लक्खणो।
सुद्धेयत्तमुपादेयमेवं [चिंतेह सव्वदा ॥[1]

मैं अकेला हूँ, ममत्व-रहित हूँ, शुद्ध हूँ और ज्ञान-दर्शन-स्वरूप हूँ। इस प्रकार का शुद्ध आत्मैकत्व ही उपादेय है। यों सदैव चिन्तन करना चाहिए।

यही निश्चयदृष्टि से एकत्व है।

आत्मा के अद्वैत और निर्द्वन्द्व अकेलेपन में अन्तर

'एगे आया' (आत्मा एक है) इस सूत्र के अनुसार 'आत्मैकत्व निर्द्वन्द्व है। इसमें अपना होना ही इतना गहन होता है कि अब दूसरे को कोई आवश्यकता या अपेक्षा नहीं रहती। न ही दूसरे की स्मृति रहती या होती है। वेदान्त के 'अद्वैत' (दो नहीं—अद्वितीय) में ऐसा ध्वनित होता है कि दो चीजों में संघर्ष है। जैसे—ब्रह्म और माया दो चीजें भी द्वैतवाद में प्रचलित हैं, उसका निराकरण करने हेतु 'अद्वैतवाद' कहता है—"ब्रह्म और माया दो नहीं, 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म'—इस विश्व में एक ही ब्रह्म है, दूसरा नहीं।" निर्द्वन्द्वरूप एकत्व में न तो संघर्ष है, न ही स्थिरता है, बल्कि ज्ञानादिरूप में गतिमत्ता का मधुर बोध होता है। जैसे—शीत और उष्ण दोनों का द्वन्द्व है। निर्द्वन्द्व का अर्थ है—इस प्रकार के द्वन्द्व रहित एकत्व। निर्द्वन्द्वात्मक अकेलेपन में दूसरे की बिलकुल अपेक्षा, स्मृति या आकांक्षा नहीं रहती। द्वन्द्वात्मक अकेलेपन में कालान्तर में दूसरे की अपेक्षा, या आकांक्षा रहती है।

द्वन्द्वात्मक और निर्द्वन्द्व अकेलेपन में अन्तर

जैनसिद्धान्त द्वारा निरूपित निर्द्वन्द्व अकेलेपन में किसी दूसरों की अपेक्षा या स्मृति नहीं रहती, जब कि आजकल के अधिकांश लोगों में द्वन्द्वात्मक अकेलापन होता है। संसारमोही जीवों का द्वन्द्वात्मक अकेलापन

---

१ बारस अणुवेक्खा

नकारात्मक है। किसी की पत्नी पीहर चली गई, या बच्चे दूसरे शहर के किसी छात्रावास में रह रहे हैं। ऐसी स्थिति में वह व्यक्ति कहता है—आजकल तो बड़ा अकेलापन लगता है। ऐसा या इस तरह का द्वन्द्वात्मक अकेलापन अशान्तिदायक, अप्रसन्नतासूचक या परापेक्षित है। इस अकेलेपन में व्यक्ति दुःखी, परेशान, व्यथित, चिन्तित एवं उदास रहता है।

दूसरे की अनुपस्थिति में होने वाले इस अकेलेपन में व्यक्ति की आँखें दूसरे को खोजती हैं। जो अल्पकाल के लिये गया है, उसके सम्बन्ध में, तथा जो सदा के लिए इस दुनिया से चला गया है, उसके सम्बन्ध में भी लोग नाना व्यथाओं, चिन्ताओं, शोक, क्रन्दन, मोहजनित विलाप आदि से दुःखित होते रहते हैं। ऐसे अकेलेपन में आकांक्षा या अपेक्षा छिपी हुई है कि जो गया है, वह वापस लौट आए, अथवा दूसरा आ जाता या रहता तो मुझे सुविधा या निश्चितता हो जाती। जैनसिद्धान्त की दृष्टि निर्द्वन्द्व अकेलेपन की है। इसमें व्यक्ति कभी उदास, चिन्तित, दुःखी और बेचैन नहीं होता। न तो वह अल्पकाल के वियोग में दुःखी होता है, और न ही सदा के वियोग में। इसमें किसी के प्रति 'मेरापन' नहीं होता, और न ही आकांक्षा, अपेक्षा या चिन्ता रहती है। इसमें अप्रसन्नता का अनुभव नहीं होता; क्योंकि यह अकेलापन स्वेच्छा से स्वीकृत है, स्वाभाविक है, बाध्यतारहित है। इसमें व्यक्ति की दृष्टि किसी दूसरे को नहीं खोजती। आत्मा अपनी ही मस्ती में, अपने ही ज्ञान-दर्शन-आनन्दरूप स्वभाव में रहती है। भगवद्गीता के अनुसार इस प्रकार की आत्मा के साथ एकत्व की साधना करने वाला व्यक्ति आत्मा में ही प्रीति करता है, आत्मा में ही तृप्त और सन्तुष्ट रहता है, आत्मा से सम्बन्धित प्रवृत्ति के सिवाय उसके लिए और कोई कार्य नहीं रहता। इसमें व्यक्ति अन्तरात्मा में ही सुख (आनन्द) पाता है, आत्मा में ही आराम और आत्मा से ही सम्यग्ज्ञान-ज्योति पाता है, ऐसा ज्ञानयोगी शुद्ध आत्मा सच्चिदानन्द रूप परमात्मा के साथ एकीभाव को प्राप्त होकर एक ब्रह्म-निर्वाण (परमात्मपद रूप मोक्ष) को प्राप्त हो जाता है।[1] इस एकाकीपन में अपनी (आत्मा) की उपस्थिति

---

१ (क) यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते॥ —भगवद्गीता ३/१७

(ख) योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथाऽन्तर्ज्योतिरेव यः।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति॥ —भगवद्गीता ५/२४

ही सर्वांग-रसपूर्ण होती है। आत्मा के इस निर्द्वन्द्व अकेलेपन में व्यक्ति अपने (अपनी आत्मा) को ही पाता है; कर्मोदयवशात् जो शरीरादि या धन स्वजनादि प्राप्त हैं, उनको नहीं। उसके लिए सारा कमरा, सारा प्रान्त, समग्र राष्ट्र, सारा आकाश एवं समस्त ब्रह्माण्ड एकमात्र आत्मा से भरा होता है। उसका जीवनसूत्र यहीं बन जाता है—

एकः सदा शाश्वतिको ममात्मा।
विनिर्मलः साधिगम-स्वभावः॥
बहिर्भवाः सन्त्यपरे समस्ताः।
न शाश्वताः कर्मभवाः स्वकीयाः॥[1]

मेरी आत्मा सदैव एकाकी-अकेली और शाश्वत=अविनाशी है। वह निर्मल=शुद्ध है, केवलज्ञान-स्वभावी है, ये शेष जितने भी पदार्थ हैं, वे सब बाह्य हैं, आत्मा से भिन्न हैं। व्यवहारदृष्टि से अपने माने-कहे जाने वाले जो भी बाह्य पदार्थ हैं, वे सब अशाश्वत=अनित्य हैं और कर्मोदय से प्राप्त हैं।

आत्मा के साथ ही एकत्व क्यों ?

प्रश्न होता है, आत्मा के साथ ही एकत्व होना चाहिए, बाह्य-पदार्थों (परभावों) के साथ क्यों नहीं ? इसका मूल कारण क्या है ? इसका समाधान आचार्य अमितगति ने स्पष्ट बता दिया है—

"**एकः सदा शाश्वतिको ममाऽत्मा, विनिर्मलः साधिगम स्वभावः।**"[2]

मेरी एक आत्मा ही ऐसी है, जो सदा शाश्वत (नित्य) है, निर्मल है, यानी कर्ममल से रहित, अथवा रागद्वेषादि-विषय-कषायादि विकारों से रहित—शुद्ध है, तथा ज्ञान रूप स्वरूपवाली है।

इस प्रकार आत्मा के साथ ही एकत्व होना चाहिए, बाह्य-पदार्थों के साथ नहीं, इसकी कसौटी तीन प्रकार से की जा सकती है—(१) सदा-नित्यता, (२) सदा-शुद्धता और (३) सदा-ज्ञानममता।

इस संसार में आत्मार्थी के लिए अगर कोई मेरी कहलाने योग्य वस्तु है तो वह आत्मा ही है, शेष समस्त पदार्थ आत्मबाह्य हैं,

---

१ सामायिक पाठ श्लो. २६ (आचार्य अमितगति सूरि)
२ सामायिक पाठ श्लोक २६।

परभाव हैं, वे अपने कैसे हो सकते हैं ? क्योंकि वे अशाश्वत हैं, अशुद्ध हैं और जड़ (निर्जीव) हैं। जितने भी सजीव-निर्जीव पदार्थ हैं, वे सब पूर्वकृत शुभाशुभकर्म के कारण प्राप्त हुए हैं, संयोगजन्य हैं। वे संयोग परिवर्तनशील एवं अनित्य हैं। जन्म से लेकर मृत्यु तक न जाने कितने ही संगी-साथी और मित्र बनते हैं, मिटते-बिगड़ते हैं। पर क्या वे उसके थे ? शरीर के सम्बन्ध के कारण उसने उनके साथ सम्पर्क किया होगा। पर क्या आत्मा की दृष्टि से वे उसके सगे-सम्बन्धी या मित्र थे ?

'पुरिसा ! तुममेव तुमं मित्तं, किं बहिया मित्तमिच्छसि ?'[1]

"हे आत्मन् ! तू ही तेरा मित्र है। बाह्य मित्रों को क्या चाहता है ?' गहराई से सोचने पर स्पष्ट प्रतीत होता है कि बाह्य पदार्थों के साथ आत्मा का एकत्व कदापि नहीं रहा, न है और न होगा। कोई कहता है—शरीर के साथ आत्मा का एकत्व है। परन्तु शरीर के साथ आत्मा का एकत्व होता तो इस शरीर को आत्मा के साथ सदैव स्थायी रहना चाहिए। पर हम देखते हैं कि आत्मा के पृथक् होते ही लोग शरीर को फूंक देते हैं। मृत्यु आकर जब सिरहाने खड़ी होती है, तब परलोकयात्रा उसे अकेले ही करनी होती है, शरीर या शरीर से सम्बन्धित पुत्र, मित्र, पत्नी, माता-पिता आदि कोई भी साथ में नहीं जाता। इसीलिए आचार्यश्री कहते हैं—

यस्यास्ति नैक्यं वपुषाऽपि सार्धं,
तस्यास्ति किं पुत्र-कलत्र-मित्रैः।
पृथक्कृते चर्मणि रोमकूपाः।
कुतो हि तिष्ठन्ति शरीरमध्ये ?[2]

जिसका अपने शरीर के साथ ही एकत्व नहीं है, तब शरीर से सम्बन्धित या शरीर को लेकर माने जाने वाले कल्पित पुत्र, पत्नी, माता-पिता, मित्र आदि के साथ एकत्व सम्बन्ध तो हो ही कैसे सकता है ? यदि शरीर पर से चमड़ी उधेड़ कर उसे अलग कर दी जाए तो उसके जो रोम शरीर को छोड़कर अलग हो जाते हैं वे फिर शरीर के साथ नहीं रहते। इसी प्रकार आत्मा जब शरीर को छोड़कर अलग हो जाता है। तब शरीर

---

१ आचारांग सूत्र श्रु० १ अ० ३ उ० ३।
२ सामायिक पाठ श्लोक २७।

को लेकर माने जाने वाले ये सम्बन्ध भी कैसे साथ रह सकते हैं ? वे तो शरीर के साथ ही समाप्त हो जाते हैं। अधिकांश शास्त्रजीवी इस दोहे को बार-बार दोहराते हैं—

'देह विनाशी मैं (आत्मा) अविनाशी, बहिर्भाव हैं सारे।
बाह्य पदार्थ सब नाशवान हैं, आत्मा से सब ही न्यारे ॥'

अतः शरीरादि समस्त बाह्य पदार्थ अनित्य हैं, नाशवान है, पद, प्रतिष्ठा, यश, सत्ता, धन, मकान आदि सब परिवर्तनशील हैं, अस्थायी हैं, जबकि आत्मा—शुद्ध आत्मा ही एकमात्र ऐसी है, जो शाश्वत है, नित्य है, अजन्मा है। शस्त्रादि उसे काट नहीं सकते, आग उसे जला नहीं सकती, पानी उसे गला नहीं सकता, हवा उसे सोख नहीं सकती। इन बाह्य पदार्थों से वह प्रभावित नहीं होती इसके अतिरिक्त आत्मा शुद्ध, निष्कलंक, कर्म-मल-रहित, निर्विकार (रागादि विकारों से रहित) है। अतः आत्मा निश्चयदृष्टि से सर्वथा शुद्ध है, जबकि शरीरादि सभी परभाव अशुद्ध हैं, अपवित्र एवं विकृत हैं। प्रमाण के रूप में शरीरादि को ही देख लें। शरीर मलमूत्रादि से तथा रक्त, मांस आदि अपवित्र पदार्थों से भरा है। इसी प्रकार अन्य जड़-पदार्थों का भी यही हाल है। धन, मकान, दुकान, जमीन, जायदाद, कुटुम्ब, परिवार, जाति आदि समस्त पदार्थ अपवित्र हैं, विकृतिजनक हैं, आत्मा में रागादि विकार पैदा करते हैं, इनका संयोग-वियोग भी विकारजनक है, इसलिए अशुद्ध हैं। समस्त पौद्गलिक पदार्थ तो गलते-सड़ते और बदलते रहते हैं इसलिए विकृत हैं ही। इसके पश्चात् आत्मा के साथ एकत्व का तीसरा ठोस आधार है—ज्ञानमयता। आत्मा ज्ञानमय है, जबकि शरीरादि अन्य समस्त आत्म-बाह्य पदार्थों में ज्ञान नहीं है; चैतन्य नहीं है। ज्ञान और चेतना एकमात्र आत्मा में है। आत्मा के अतिरिक्त जितने भी बाह्य पदार्थ हैं वे स्वयं चिन्तन, मनन, निर्णय, निश्चय नहीं कर पाते। अतः आत्मा और बाह्य पदार्थों में इन तीनों अन्तरों को समझ कर साधक को यह पक्का निश्चय कर लेना चाहिए कि आत्मा के साथ ही एकत्व या अभिन्नत्व सध सकता है, शरीर, पुत्र, मित्र, कलत्र, परिजन, धन, विषयसुख आदि के साथ कभी एकत्व या अभिन्नत्व नहीं सध सकता।

केवलज्ञान होने पर आत्मा का पूर्ण एकत्व उसके साथ हो जाता है, क्योंकि शुद्ध—आत्मा ज्ञानमय है, और केवलज्ञान भी सिर्फ ज्ञानमय है।

ज्ञान के सिवाय और कुछ है ही नहीं। केवल शब्द तीन अर्थों में यहाँ प्रयुक्त होता है— शुद्ध, अकेला और परिपूर्ण। जब साधक केवलज्ञान से युक्त शुद्ध आत्मवान् हो जाता है, तब वह नितान्त ज्ञान ही करता है, उसके साथ किसी प्रकार का संवेदन नहीं करता। जब ज्ञान के साथ संवेदन का रंग नहीं मिश्रित किया जाता, तब कोरा (एकान्त एकमात्र) ज्ञान केवलज्ञान होता है। यही ज्ञान शुद्ध होता है, शुद्ध उपयोगमय होता है। इस प्रकार आत्मा के साथ ही केवलज्ञान का अकेला, शुद्ध और परिपूर्ण अर्थ घटित होता है, अन्य बाह्य पदार्थों के साथ नहीं।

निश्चयदृष्टि से आत्मा के साथ एकत्वभाव कैसे साधें ?

जिस साधक को निश्चयदृष्टि से एकत्वभाव साधना है, उसे परभावों के प्रति मोह का उन्मूलन करने के लिए ज्ञानसार के अनुसार निम्न प्रकार से चिन्तन एवं स्वरूपध्यान करना चाहिए।

"शुद्धात्मद्रव्यमेवाहं शुद्धज्ञानं गुणो मम।
नान्योऽहं न ममाऽन्ये, चेत्यदो मोहास्त्रमुल्बणम् ॥"[1]

अर्थात्—मैं शुद्ध आत्मद्रव्य हूँ, शुद्ध ज्ञान मेरा गुण है। न तो मैं परपदार्थों का हूँ, न ही परपदार्थ मेरे हैं। परपदार्थों के प्रति मोह को नष्ट करने वाला यह तीव्र अस्त्र है।

इसी प्रकार दशवैकालिक सूत्र में भी परपदार्थों—मनोज्ञ पदार्थों के प्रति राग (मोह) को नष्ट करने के लिए निषेधात्मक चिन्तन बताया गया है—

'समाए पेहाए परिव्वयंतो, सिया मणो निस्सरइ बहिद्धा।
न सा मह नो वि अहंपि तीसे, इच्चेव ताओ विणएज्जरागं ॥'[2]

समत्वयोग की पगडंडी पर प्रेक्षापूर्वक विचरण करते हुए भी साधक का मन कदाचित् आत्मभाव से बाहर (परभावों में) निकलने लगे तो वह आत्मत्राता, इस प्रकार का अन्तर् से चिन्तन करते हुए रागभाव को दूर करे कि वह (स्त्री आदि परवस्तु) मेरी नहीं है, और न ही मैं उसका हूँ। ज्ञानार्णव[3] में भी आत्मा पर छा जाने वाले मोहादि के कोहरे को दूर करने

---

१ 'ज्ञानसार' मोहत्यागाष्टक श्लो. २

२ दशवैकालिकसूत्र अ. २, गा. ४

३ मुनेर्यदिमनोमोहाद रागाद्यैरभिभूयते।
तन्नियोज्यात्मनस्तत्वे तानेव क्षिपति क्षणात्। —ज्ञानार्णव सर्ग ३२ श्लो. ५१

के लिए तात्कालिक उपाय बताया है—मन को तत्काल आत्मतत्व में लगाने का। भगवद्गीता में इससे भी आगे बढ़कर स्पष्ट व्यावहारिक उपाय बताया है—"अन्तर्मुख होकर मन को धीरे-धीरे आत्मा में—आत्मचिन्तन में स्थापित करना और अन्य कुछ भी चिन्तन न करना। जब-जब चंचल मन आत्मा से बाहर जाए, तब-तब तुरन्त उसे वहाँ से मोड़कर बार-बार आत्मा में ही लाकर आत्माधीन कर देना चाहिए।[1]

द्रव्यसंग्रह की टीका में निश्चयदृष्टि से आत्मैकत्व साधने का उपाय बताया है कि "निश्चय से आत्मा का सहज स्वाभाविक शरीर एकमात्र केवलज्ञान ही है। सप्तधातुमय यह औदारिक शरीर नहीं। निज आत्मतत्व या निज आत्मगुण ही एकमात्र सदा शश्वत एवं परम हितैषी परिवार है, पुत्र-कलत्र आदि नहीं। स्व-शुद्धात्म पदार्थ ही एकमात्र अविनाशी परमहितकर परमधन है, स्वर्णादिरूप धन नहीं। अकेला निजात्मसुख ही एकमात्र वास्तविक सुख है, आकुलता-उत्पादक इन्द्रिय-विषय-जन्य सुख नहीं। अकेला स्व-शुद्धात्मा ही अपना सहायक, त्राता उद्धारक है।[2] इस विधि से शुद्धात्मा के साथ ही निरन्तर एकत्व साधना चाहिए।

इस प्रकार 'शुद्धात्मा का सतत् अनुसन्धान परमात्मसमापत्ति का हेतु है।'

निश्चयदृष्टि से आत्मा के साथ एकत्व साधक की कसौटी

आत्मार्थी साधक जब इस प्रकार निश्चयदृष्टि से आत्मा के साथ

---

१ शनैः शनैरुपरमेद् बुद्धया धृतिगृहीतया।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि स्मरेत्॥
यतो यतो निश्चरति मनः चंचलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्॥

—भगवद्गीता अ. ६/२५-२६

२ निश्चयेन केवलज्ञानमेवैकं सहजशरीरम्; न च सप्तधातुमयौदारिकशरीरम्।.... निजात्मतत्त्वमेवैकं सदाशाश्वतं परमहितकारि, न च पुत्रकलत्रादि। स्वशुद्धात्मपदार्थ एक एवाऽविनश्वर हितकारी परमोऽर्थः, न च सुवर्णाद्यर्थाः।....स्वभावात्मसुखमेवैकं सुखं; न चाकुलत्वादिन्द्रियसुखम्। स्वशुद्धात्मैकः सहायीभवति। एवं एकत्वभावनाफलं ज्ञात्वा निरन्तरं शुद्धात्मैकभावना कर्त्तव्या।

—द्रव्यसंग्रह टीका ४३/१०७

एकत्व साध लेता है, तो शरीरादि बाह्य पदार्थों के प्रति जो अब तक ममत्व और एकत्व की भावना रही थी, वह भी मिट जानी चाहिए। इसकी कसौटी यह है कि साधक के शरीरादि बाह्य पदार्थों पर कोई प्रहार करे, उन्हें नष्ट करने का उपक्रम करे अथवा कोई मारने-पीटने-सताने, चीरने-फाड़ने या तोड़फोड़ करने लगे तो वह उस या उन निमित्तों पर जरा भी रोष या द्वेष न करे, वह इस स्थिति को कर्मजन्य माने। इसी प्रकार शरीरादि के बढ़ने, फूलने, मोटा-तगड़ा होने, पुष्ट होने या बलवान होने अथवा धनादि साधनों के वृद्धिगत होने पर अथवा अपना मनचाहा होने पर वह इसे भी कर्मजन्य माने, ऐसी स्थिति में राग, मोह, आसक्ति या ममत्व न करे। वैषयिक सुख या पदार्थनिष्ठ सुख को सुख न माने। 'व्यवहार सूत्र' में स्पष्ट बताया गया है[1] जिस साधक ने इस प्रकार की भावना उपलब्ध (सिद्ध) करली है कि मैं देह से भिन्न हूँ, वह देवकृत, मनुष्यकृत या तिर्यञ्चकृत उपसर्ग (कष्ट) के समय देह के विनष्ट होने पर भी उसे विषाद कैसे हो सकता है ?

इससे भी आगे बढ़कर जिनकल्पी साधु जब आत्मा के साथ विशुद्ध एकत्व स्थापित कर लेता है, तब वह स्वयं को बिलकुल अकेला मानता है, संघ से पृथक् अकेला ही रहता है। अकेले होने की स्थिति में किसी कष्ट, उपसर्ग या संकट के समय वह मन में जरा भी दुःख-संवेदन नहीं करता, बल्कि इस साधना के दौरान वह किसी से सहायता या सेवा लेना भी बन्द कर देता है। न तो वह दूसरों से सेवा लेता है, और न ही उन्हें सेवा देता है। न ही शिष्य बनाता है, और न ही रुग्ण होने पर शरीर की चिकित्सा करता है, न दवा लेता है।

आत्मा के साथ शुद्ध एकत्व की ऐसी स्थिति समाधिमरण (भक्त-परिज्ञा, पादपोपगमन एवं इंगितमरण, संल्लेखनासंथारापूर्वक यावज्जीव अनशन, साधना के समय भी होती है। इसीलिए ऐसे समय में प्राचीनकाल के उत्कृष्ट साधक या तीर्थंकर, गणधर एवं आत्मार्थी मुनिवर एकान्त, शान्त, विक्षेपरहित स्थान अन्तिम समाधिमरण के लिए पसन्द करते थे, ताकि एकमात्र आत्मा का ही चिन्तन हो, आत्मा के साथ ही सतत लौ

---

१ अण्णो देहातो अहंताणत्तं जस्स एवमुवलद्धं।
सो किं विसहारिक्कं कुणइ देहस्स भंगे वि। —व्यवहार सूत्र पृष्ठ १३

लगी रहे, शुद्ध आत्मभाव (परमात्मभाव) में ही सतत स्थिर रह सकें और परमात्मपद (सिद्ध-बुद्ध-मुक्त पद) को प्राप्त कर सकें।

निश्चयदृष्टि की कसौटी व्यवहार से होती है

बहुत-से शास्त्रजीवी एवं विद्वान लोग आत्मा को निश्चय दृष्टि से शुद्ध, नित्य और ज्ञानमय मानते हैं, और परभावों एवं विभावों को अशुद्ध, अनित्य और ज्ञानरहित समझते हैं। इस पर लम्बी-चौड़ी व्याख्या भी वे करते हैं। अनेक अपेक्षाओं से जनता को वे यह तत्व समझाने का प्रयत्न भी करते हैं। परन्तु इस निश्चय को व्यवहार में उतारने से वे कतराते हैं। अथवा उतनी उच्च भूमिका न होते हुए भी वे एकान्त निश्चय को पकड़ लेते हैं और व्यवहार को—शुद्ध व्यवहार को शुद्ध भी छोड़ बैठते हैं। उनकी कसौटी तो तब होती है, जब वे शरीरादि बाह्य भावों (परभावों) के साथ एकत्व, ममत्व, मोह का त्यागकर आत्मा के साथ ही एकत्व स्थापित करने की हितावह बात को जीवनव्यवहार में उतारते हैं। क्योंकि निश्चयदृष्टि की कसौटी व्यवहार से ही हुआ करती है।

महर्षि याज्ञवल्क्य के आश्रम में धनपति के पुत्र धर्मकीर्ति ने आध्यात्मिक, सामाजिक, नैतिक आदि सभी शास्त्रों का गहन अध्ययन कर लिया था। शास्त्रपारंगत होकर जब वह अपने गाँव में लौटा तो सारा गाँव उसके स्वागत के लिए उमड़ा। सभी ने उसकी विद्वत्ता की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की। पिता ने अपने पुत्र को योग्य समझकर अपने पैतृक व्यवसाय को सम्भालने और विवाह करने का प्रस्ताव रखा। किन्तु अध्यात्मविद्या के पण्डित धर्मकीर्ति ने इन सब लौकिक व्यवहारों को मायाजाल समझकर पारिवारिक दायित्वों को सम्भालने और विवाह करने से स्पष्ट इन्कार कर दिया। पिता ने उसे बहुत कुछ समझाया, परन्तु धर्मकीर्ति इन नाशवान सम्बन्धों को स्थापित करने के लिए कथमपि तैयार न हुआ। अन्ततोगत्वा उसके पिता महर्षि याज्ञवल्क्य के पास ले गए और उन्हें सारी आपबीती कह सुनाई। महर्षि ने जान लिया कि धर्मकीर्ति केवल पोथीपण्डित है। शाश्वत एवं शुद्ध आत्मा के प्रति उसकी निष्ठा परिपक्व नहीं है। इसके अन्तर् में शरीरादि अशाश्वत पदार्थों के प्रति अनासक्ति और विरक्ति नहीं है। उन्होंने धर्मकीर्ति को कुछ दिन आश्रम में रहने के लिए कहा। एक दिन उन्होंने धर्मकीर्ति को उपवन से फूल चुन लाने का आदेश दिया। जिस उपवन में धर्मकीर्ति फूल चुन रहा था, सयोगवश उसका मालिक वहाँ आ

पहुँचा। धर्मकीर्ति को बिना पूछे फूल तोड़ते देख वह क्रुद्ध होकर अपने हाथ में ली हुई कुल्हाड़ी तानकर उसे मारने दौड़ा।

धर्मकीर्ति वहाँ से बेहताशा भागा और आश्रम पहुंचा। महर्षि के चरणों में गिरकर स्वयं को उपवन के स्वामी के प्रहार से बचाने की प्रार्थना करने लगा। तब तक उपवन का स्वामी भी वहाँ आ पहुँचा था। महर्षि ने धर्मकीर्ति से कहा—'वत्स ! यह शरीर तो नाशवान् है। उपवन का स्वामी तुम्हारे इस शरीर को ही तो नष्ट करना चाहता था। अविनाशी आत्मा को तो वह कोई क्षति नहीं पहुँचा रहा था ; न ही पहुँचा सकता था ; तब फिर तुम क्यों इतने भयभीत और अपने सिद्धान्त से विचलित हो गए हो ? धर्मकीर्ति कुछ भी न बोल सका। वह मन ही मन समझ गया कि सत्य क्या है ? महर्षि ने उसे समझाया—"वत्स ! यथार्थ में आत्मा ही अविनाशी है, शरीरादि सब नाशवान् हैं। किन्तु जब तक शरीरादि के साथ पूर्वकृत कर्मोदयवशात् सम्बन्ध जुड़ा हुआ है, और आत्मा के साथ एकत्व की निष्ठा परिपक्व नहीं हो जाती, तब तक नाशवान् शरीर और शरीर-सम्बद्ध पदार्थों को अपनाना पड़ता है। लेकिन उन पर अनासक्ति रखकर जल-कमलवत् निर्लिप्त रहना चाहिए। यही तो परमार्थ (निश्चय) और व्यवहार का समन्वय है। घर जाओ, और शरीरादि के प्रति अनासक्त रहते हुए आत्म-कल्याण की साधना करो। आत्मा के प्रति निष्ठा परिपक्व हो जाने पर शुद्ध एकत्व की उच्च साधना को अपनाना।"

आत्मा के साथ एकत्व-साधक की दूसरी कसौटी है—शुद्धता की। आत्मा अपने आप में शुद्ध है, कोरा है, उसमें मिलावट नहीं है। शुद्ध उपयोग की स्थिति में, या स्वभाव में जब आत्मा रहता है, तब वह शुद्ध कहलाता है। वह अशुद्ध होता है—परपदार्थों को अपने मानकर उनके साथ संयोग करने से और उनके प्रति आसक्तिपूर्वक एकत्व स्थापित करने से। साधक जब शुद्ध चेतना से ओत-प्रोत, निर्विकार निर्मल आत्मा को भूलकर अशुद्ध, वैकारिक या अशुद्धता-उत्पादक पर-पदार्थों, या विभावों के साथ घुल-मिलकर उनके साथ एकत्व स्थापित करने लगता है, तब अपनी आत्मा को अशुद्ध बना लेता है। शुद्ध आत्मा के साथ एकत्व के इस निश्चय को व्यवहार में उतारते समय साधक की कसौटी होती है।

एक अध्यात्मज्ञानी प्रसिद्ध सन्त थे। हजारों की संख्या में उनके पास लोग आते थे। उनमें अच्छे भी आते, बुरे भी। एक दिन एक दुराग्रही

व्यक्ति सन्त के पास आया और सन्त को चिढ़ाने के लिए लगा प्रश्न पर प्रश्न पूछने। सन्त जो उत्तर देते, वह उसे समझना तो था नहीं, उसका मन हठाग्रह, द्वेष और व्यर्थ-विवाद से भरा था। फिर भी संत उसे शान्त-भाव से उत्तर देते रहे। किन्तु वह अपने ही हठ पर अड़ा रहा। सन्त परेशान हो गये। किन्तु वह सन्त को बार-बार ऊटपटांग पूछकर छेड़ता रहा। सन्त उत्तेजना में आ गए। वे ज्ञान-ज्योतिर्मय शुद्ध आत्मा के साथ एकत्व को भूलकर क्रोध, आवेश और अहंकार (विभावों) के साथ एकत्व जोड़ बैठे। आत्मभाव में टिके रहने की परिपक्व निष्ठा न होने से संत ने झल्लाकर कहा—"तुम अपना हठाग्रह छोड़कर समझना ही नहीं चाहते। निकल जाओ यहाँ से!" सन्त ने उसे धक्का देकर बाहर निकलवा दिया। किन्तु बाद में सन्त को अपनी गलती पर बहुत पश्चात्ताप हुआ। लेकिन अब तो तीर छूट चुका था। रात को ध्यान में बैठे-बैठे सन्त को अन्तः स्फुरणा हुई—"तुम उस व्यक्ति को निकालकर आत्मैकत्व की साधना से विचलित हो गए। माना कि वह दुराग्रही और कुतर्की था, लेकिन तुम्हें तो अपनी आत्मा की शुद्धता नहीं खोनी थी? शुद्ध आत्मा होकर तुम क्रोधादि से अशुद्ध हो गए। शुद्ध आत्मभावों में स्थिर रहने के बजाय अनात्मभावों में बह गए। अपनी की-कराई शुद्ध आत्मा के साथ एकत्व की साधना मिट्टी में मिला दी।" सन्त ने मन ही मन परमात्मा से क्षमा माँगी, भविष्य में ऐसी गलती न करने का संकल्प किया।

आत्मा के साथ एकत्व साधक की तीसरी कसौटी है—ज्ञानमयता। आत्मा अपने-आप में ज्ञानस्वरूप है। स्वभाव और परभाव का, आत्मगुणों का और परपदार्थों के गुणों का, आत्मस्वरूप और परस्वरूप का भेदविज्ञान करना ही वास्तव में सम्यग्ज्ञान है। आत्म-बाह्य पदार्थों के साथ एकत्व है ही नहीं, आत्मा के गुण और बाह्यपदार्थों के गुणों में रात-दिन का अन्तर है। फिर भी बाह्यपदार्थों अर्थात्—परभावों और विभावों के प्रति मोह, राग, ममत्व, मूर्छा, आसक्ति आदि रखना, अन्तर् में उन्हें अपने मानना उन पर मेरेपन की छाप लगाना, ईर्ष्या, द्वेष, छल, आदि करना अपनी ज्ञानमय आत्मा की भूल है, अज्ञानता है। वह कसौटी होने पर शुद्ध आत्मा को अज्ञान में लिपटाना आत्मार्थी साधक की हार है। उसे अपने हृदय में यह अंकित कर लेना चाहिए कि जब उसे भेदविज्ञान की इतनी उच्च भूमिका प्राप्त हो गई है, भेदविज्ञान की निष्ठा भी परिपक्व हो गई है, तब अपनी आत्मा को एकमात्र अपनी मानकर उसी के साथ एकत्व स्थापित

करना चाहिए। बाह्यपदार्थों के साथ एकत्व-ममत्व सम्बन्ध जोड़ना, अज्ञान, मोह आदि में आत्मा को लिपटाना सर्वथा छोड़ देना चाहिए।

आत्मविस्मृति से आत्मा एकाकी नहीं रहती

व्यक्ति जब आत्मबाह्य परपदार्थों=परद्रव्यों के प्रति अपनेपन का आरोपण कर लेता है, तब अपने आप (आत्मा) पर ध्यान नहीं दे पाता। मुंह से आत्मा के साथ एकत्व की बातें करते हुए भी वह बाह्यपदार्थों से सम्पर्क बनाए रखता है, तोड़ता नहीं। यही आत्मविस्मृतिरूप प्रमाद का मुख्य कारण है। यह मेरा है, ये मेरे हैं, इस प्रकार से मानने का अर्थ है—शुद्ध आत्मा को विस्मृत कर देना। परपदार्थों में मेरेपन की अनुभूति ही आत्मविस्मृति है, जो सबसे बड़ा प्रमाद है, वह अस्वाभाविक है, जबकि आत्मस्मृति स्वाभाविक है। पहली प्रयत्नसाध्य है, जबकि दूसरी प्रयत्न-साध्य नहीं है। आत्मा का जो स्वभाव है, स्वरूप है, उसे तो सदैव स्मरण रखना चाहिए।

व्यवहारदृष्टि से आत्मा का एकाकित्व

कर्मोदयवशात् व्यवहारदृष्टि से शरीर, पुत्र, मित्र, कलत्र आदि जो बाह्यपदार्थ मिले हैं, उन्हें साधारण व्यक्ति कहता है—ये मेरे हैं। मैं इनका हूँ। इस व्यवहार को कैसे छोड़ा जा सकता है? इसका उपयुक्त समाधान सामायिकपाठ में दिया गया है—

न शाश्वताः कर्मभवाः स्वकीयाः।

आत्मा से भिन्न, जो भी बाह्यपदार्थ हैं, शरीर, स्वजन आदि या धनादि, जिन्हें व्यक्ति अपने मानता है, वास्तव में ये उसके हैं ही नहीं। फिर भी आत्मा के एकाकित्व के लक्ष्य को छोड़कर अज्ञान-मोहवश व्यक्ति अन्तर् में उन्हें अपने मानता है। व्यवहार के स्तर पर कर्मोदय से प्राप्त इन बाह्यपदार्थों को लेकर साधारण व्यक्तियों को कहने लगता है—मैं अकेला नहीं हूँ, मेरे साथ मेरा गण, संघ, परिवार आदि हैं। परन्तु निश्चय के धरातल पर भी यही राग अलापने लगता है कि ये (परपदार्थ) भी मेरे हैं और आत्मा भी मेरी है—यह दोगली, दो घोड़ों पर एक साथ सवारी की-सी बात, आगे चलकर खतरनाक साबित होती है। जब व्यक्ति पहले से लेकर, अन्त तक यही मानता है कि मैं (आत्मा) अकेला नहीं हूँ। मेरे साथ अनेकों हैं—मेरा धन, मेरा मकान, मेरे स्वजन-मित्रजन एवं भाई-बहिन आदि। यह मेरा हृष्ट-पुष्ट शरीर है, यह मेरी बुद्धि है, ये मेरी

इन्द्रियाँ हैं, यह मेरा सम्प्रदाय है, यह मेरा बंगला है, कार है, ऑफिस है। ये और ऐसे ही बाह्यपदार्थों को जन्म से मृत्यु तक सदा के लिए अपने मान लेता है। यहीं आफत, समस्या या अशान्ति पैदा होती है, जब व्यक्ति निश्चय और व्यवहार दोनों को मिला देता है। अर्थात्—जैसे किसी ने कहा—'हम अकेले नहीं, पचास हैं।' तब वह व्यवहार से पचास को भी पूर्णतः यथार्थ (निश्चय) मान लेता है। पूर्वोक्त प्रकार से सदा के लिए अपने मान लेने पर जब इन अपने माने जाने वाले पदार्थों से वियोग होता है, अथवा जब ये अपने माने जाने वाले लोग या पदार्थ किनाराकसी या उपेक्षा करने लगते हैं, तब उस व्यक्ति को क्षोभ, दुःख या संक्लेश होता है। उसकी मानसिक शान्ति विदा हो जाती हैं, वह आर्त्तध्यान का मेहमान बन जाता है। इसलिए परपदार्थों के साथ विवशता से हुए मिथ्या एकत्व—अपनेपन से कर्मबन्धन, दुर्गति, दुर्बोध आदि का भविष्य में बहुत बड़ा खतरा पैदा हो जाता है।

निश्चय-व्यवहार दोनों दृष्टियों से समन्वय

अतः व्यवहारदृष्टि से आत्मा के साथ एकत्व साधने के लिए व्यक्ति शरीर, संघ, समाज आदि से कर्मोदयवशात् प्राप्त संयोग माने, व्यवहार के धरातल पर कर्मोदय प्राप्त वस्तुओं के मेरेपन का जो बोध होता है या है, उसे असत्य माने, सत्य नहीं। उसे केवल सम्पर्कजनित अनुभव माने। निश्चय के धरातल पर—यथार्थस्तर पर यह माने कि सही माने में मैं तो अकेला ही हूँ। मेरी आत्मा के सिवाय मेरा अपना कोई नहीं है। जहाँ अन्तिम सत्य या निश्चयदृष्टि से वास्तविक तथ्य है, वहाँ मैं (आत्मा) अकेला हूँ, मेरा कोई नहीं है, न मैं किसी का हूँ, यही अनुभूति हृदयंगम हो जानी चाहिए। रोम-रोम में यह अनुभूति रम जानी चाहिए। यह अनुभूति सदैव साथ-साथ, और तीव्र रूप में बनी रहनी चाहिए। ऐसी स्थिति में आत्मार्थी व्यक्ति के लिए निश्चय-व्यवहार के समन्वय का सर्वोत्तम राजमार्ग यही है कि शरीरादि के साथ सम्बन्धित होते हुए भी वह उनके साथ अपना एकत्व-ममत्व स्थापित न करके अनासक्तिपूर्वक रहे, आत्मा के साथ ही एकत्व स्थापित करे। वह व्यवहार में कर्मोदयवशात् प्राप्त बाह्य साधनों या पर-पदार्थों को यथायोग्य या यथावश्यकरूप में अपनाए, उनका धर्माचरण में उपयोग करे, किन्तु अन्तर् में उन्हें बाह्य पदार्थ जान कर अपने (आत्मा) से भिन्न माने। अन्तर् में उन्हें अपने न माने। उनके

प्रति मोह, ममत्व, मूर्च्छादि न रखे। उन पर मेरेपन की छाप न लगाए। व्यवहार में उनके साथ सम्पर्क रखे, किन्तु निश्चय में उनके साथ एकत्व सम्बन्ध न जोड़े।

स्थूल दृष्टि वाले लोगों को लगता है कि यह आत्मार्थी साधक परिवार, संघादि के प्रति कर्तव्यपालन तथा शरीरादि का आहारादि से पालन-पोषण करता हुआ भी सिर्फ आत्मा के साथ एकत्व कैसे साधे हुए है?

सूत्रकृतांगसूत्र में एक घटना का उल्लेख है—भगवान् महावीर के पास दीक्षित होने के लिए जाते हुए आर्द्रककुमार को रास्ते में ही गोशालक ने रोककर भ० महावीर के सम्बन्ध में ऐसा ही प्रश्न उठाया था कि तुम्हारे महावीर पहले तो एकाकी, मौन एवं आत्मध्यानी होकर विचरण करते थे, अब वे संघ के, स्त्री-पुरुषों के समूह के बीच में रहते हैं, प्रवचन करते हैं, शिष्यों की भीड़ को साथ लेकर चलते हैं, उन्होंने अपना आत्मार्थीपन छोड़ दिया। विरक्त आर्द्रककुमार ने इसका उत्तर दिया—भ० महावीर पहले अकेले विचरते थे, तब भी आत्मभाव में स्थिर रहते थे, और अब संघ के बीच रहते हैं, तब भी वे आत्मभाव में स्थित रहते हैं। एकमात्र आत्मा ही उनके उड़ने का परमात्मभावरूपी आकाश है। पूर्ण शुद्ध आत्मा ही उनकी साधना का एकमात्र साध्य और लक्ष्य है।[1]

अतः साधक चाहे जैसी दुष्परिस्थिति में पड़ जाए, लोगों की आलोचना का शिकार बन जाए, चाहे वृद्ध होने से उपेक्षित और तिरस्कृत हो जाए, चाहे किसी भी संकट से घिर जाए। अगर वह निश्चय व व्यवहार के पूर्वोक्त रीति से समन्वय के पथ से आत्मा के साथ एकत्व साधे रहेगा तो उसे किसी प्रकार की चिन्ता, व्यथा, क्लेश या हैरानी नहीं होगी। धर्मसंग्रह में इस विषय में सुन्दर मार्गदर्शन दिया गया है—

"एगत्त-भावणाए न कामभोगे गणे सरीरे वा।
सज्जइ वेरग्गगओ फासेइ अणुत्तरं करणं।"[2]

कर्मोदयवशात् व्यवहारदृष्टि से प्राप्त कामभोग गण (संघ) या शरीर आदि के साथ रहता हुआ भी जो व्यक्ति विरक्त होकर उन पर

---

१ सूत्रकृतांग सूत्र श्रु. २, आर्द्रककुमार प्रकरण से।
२ धर्मसंग्रह (उपाध्याय मानविजयजी कृत)

आसक्ति-ममता नहीं करता है, वह साधक अनुत्तर-करण का स्पर्श कर लेता है।

ऐसे आत्मैकत्वसाधक में शुद्ध ज्ञायकभाव प्रकट हो जाता है। तभी वह मुक्ति (परमात्मप्राप्ति) की लहर के स्पर्श का अनुभव कर लेता है। यानी समस्त बाह्य जगत् से वह स्वयं (आत्मा) को बिलकुल स्वतंत्र अनुभव करने लगता है। शरीर और मन से अर्थात्—शरीर की पर्यायों और मन की पर्यायों से स्वयं (आत्मा) को पृथक् (भिन्न) देख सकता है, वह अपने कर्मकृत व्यक्तित्व से ऊपर उठ जाता है। वह यह हृदयंगम कर लेता है कि शरीर और मन के समस्त परिवर्तनों के बीच में अविनाशी आत्मा एक अखण्ड सत्ता के रूप में अचल रहता है। और समस्त बाह्य परिवर्तनों, प्राप्तियों, संयोगों और विचारों से आत्मा को अर्थात्—स्वयं को, कोई हानि-लाभ नहीं है। इस प्रकार की स्पष्ट दृष्टि खुलने से वह रति-अरति या राग-द्वेष के भंवरजाल में फंसे बिना समभाव में स्थिर रहकर संकल्प-विकल्प की पकड़ से मुक्त हो जाता है। क्योंकि **जो अपनी आत्मा को सबसे विविक्त (पृथक्) सदानन्दमय मानता है, उसे न तो दुःख के प्रति द्वेष होता है, न ही सुख की स्पृहा होती है।**[1]

इस प्रकार जब आत्मा एकाकी हो जाता है, तब वह जगत् में रहता हुआ भी अलिप्त, अनासक्त, अमूर्च्छित और जागृत होकर साधना में आगे से आगे बढ़ता हुआ एक दिन परमात्म (मोक्ष) पद को प्राप्त कर लेता है। शुद्ध आत्मा ही तो परमात्मा है। सामायिक पाठ में भी कहा है—

विविक्तमात्मानमवेक्ष्यमाणो, निलीयसे त्वं परमात्मतत्वे।[2]

अगर तू आत्मा को परभावों-विभावों से विविक्त (पृथक्) और शुद्धरूप में देखता रहेगा, तो परमात्मतत्त्व में संलीन-विलीन हो जाएगा।

□□

---

१ ततो विविक्तमात्मानं सदानन्दं प्रपश्यतः।
नाऽस्य संजायते द्वेषो, दुःखे नाऽपि सुखे स्पृहा॥ —एजन श्लोक ५०३

२ सामायिक पाठ श्लो. २९

सन्दर्भ—ग्रंथानुक्रमणिका

१ अथर्ववेद
२ अध्यात्म बावनी
३ अध्यात्मसार
४ अध्यात्मोपनिषद्
५ अन्तकृद्दशांग सूत्र
६ अनुयोगद्वार
७ अणु और आत्मा (मदर जे० सो० ट्रस्ट)
८ अपूर्व अवसर
९ अमर जैन पुष्पांजलि
१० अमृतवेलनी सज्झाय
११ अमूल्य तत्त्व विचार
१२ आचारांग सूत्र
१३ आत्मसिद्धि
१४ आदिनाथ भक्तामर स्तोत्र
१५ आनंदघन चौबीसी
१६ आप्त मीमांसा
१७ आवश्यकनिर्युक्ति
१८ आवश्यक सूत्र
१९ उत्तराध्ययन
२० उपासक दशांग
२१ ऋग्वेद
२२ एजन श्लोक

२३ ओघनिर्युक्ति
२४ कठोपनिषद
२५ कबीर की साखियाँ
२६ कबीर भजनावली
२७ कबीर दोहावली
२८ कल्पसूत्र
२९ कल्याणमन्दिर स्तोत्र
३० केनोपनिषद्
३१ गीता
३२ गुप्तभारत की खोज (डा० पाल ब्रिटन द्वारा हिन्दी अनुवाद)
३३ चतुर्विंशतिस्तव (लोगस्स) का पाठ
३४ छांदोग्य उपनिषद्
३५ जवाहर किरणावली-भाग ४
३६ ठाणांग सूत्र
३७ तत्त्वार्थसूत्र
३८ तत्त्वोपप्लवसिंह
३९ तीर्थंकर महावीर
४० तुलसी दोहावली
४१ दशवैकालिक सूत्र
४२ दशाश्रुत स्कन्ध
४३ द्रव्यसंग्रह
४४ द्रव्यसंग्रह टीका
४५ धम्मपद
४६ धर्म संग्रह (उपाध्याय मानविजयकृत)
४७ नन्दीसूत्र
४८ नियमसार
४९ निशीथ भाष्य
५० नीति शास्त्र
५१ पंच तंत्र
५२ परमानन्द पंचविंशतिका
५३ प्रवचन सार
५४ पाणिनी अष्टाध्यायी

५५ ब्रह्म सूत्र
५६ बृहत्कल्प भाष्य
५७ बृहदारण्यक उपनिषद्
५८ बारस अणुवेक्खा
५९ भक्त परिज्ञा
६० भगवनीसूत्र शतक
६१ भगवद्गीता
६२ भावपाहुड
६३ महात्मा गांधी की आत्मकथा
६४ महाभारत
६५ मुण्डकोपनिषद
६६ मोक्षपाहुड
६७ योगबिन्दु (हरिभद्रसूरि)
६८ योगशास्त्र प्रकाश
६९ योगसार
७० रत्नकरण्ड श्रावकाचार
७१ राजप्रश्नीय (रायप्पसेणीय) सूत्र
७२ रामचरितमानस
७३ व्यवहार भाष्य टीका
७४ विनयचन्द चौबीसी
७५ विनयपत्रिका
७६ विशेषावश्यक भाष्य टीका
७७ विषापहार स्तोत्र
७८ वैराग्य कल्पलता स्तवक
७९ शंकराचार्य प्रश्नोत्तरी
८० शास्त्रवार्ता समुच्चय स्तवक
८१ शुक्ल यजुर्वेद माध्यंदिन संहिता
८२ श्वेताश्वतरोपनिषद्
८३ संस्तारक तत्त्व
८४ समयसार
८५ समयसार नाटक
८६ समवायांगसूत्र

८७ सम्यक्त्व के ६७ बोल
८८ समाधिशतक
८९ सवासो गाथानुं स्तवन
९० साढ़ी त्रण सो गाथानुं स्तवन
९१ सामायिक पाठ (अमितगतिसूरि)
९२ सिद्धचक्र स्तवन
९३ सुखविपाक सूत्र
९४ सूत्रकृतांग सूत्र
९५ स्थानांग सूत्र
९६ हितोपदेश
९७ ज्ञाताधर्मकथा सूत्र
९८ ज्ञानसार
९९ ज्ञानसार अनुभवाष्टक
१०० ज्ञानार्णव

आंग्लभाषा ग्रन्थ

Raman Maharshi and
the path of self knowledge.